गुरुकुल-पत्रिका

Mar.—2004 Jan.—2005

150802

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

जनवरी - अप्रैल 2004

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

२००४

संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती

रजि0 पंजीकरण सं0 : एल - 1277

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

जनवरी – अप्रैल 2004 – 05

सम्पादक

प्रो० ज्ञान प्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार – 249404

वर्ष : 55वाँ

सम्पादक-मण्डल

मुख्यसंरक्षक	प्रो. स्वतन्त्र कुमार कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
संरक्षक	प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
सम्पादक	प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
सहसम्पादक	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री, रीडर, वेदविभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
सहसम्पादक	डॉ. सत्यदेव निगमालङ्कार, रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
व्यवसाय-प्रबन्धक	डॉ. जगदीश विद्यालङ्कार पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
प्रकाशक	प्रो. ए.के. चोपड़ा कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
मूल्य	१०० रुपये वार्षिक

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334-245975

विषयानुक्रमणिका

1.	सम्पादकीयम्	प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री	1
2.	वेदमञ्जरी	आचार्य रामनाथ वेदालंकार	7
3.	उपासना का आनन्द	डा. रामनाथ वेदालंकार	8
4.	वैदिक वाङ्मय में सामाजिक व्यवस्था	डॉ. महावीर	13
5.	हिन्दू और सिक्खधर्म में जीवन-पद्धति, साधना और धार्मिक अनुष्ठान	डॉ. त्रिलोक चन्द	17
6.	इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि के साथ तादात्म्य नहीं	डॉ. प्रीति राठौर	23
7.	गीता में श्रद्धा की अवधारणा	डॉ. किशनराम बिश्नोई	29
8.	आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संरक्षण	डॉ. जगतनारायण त्रिपाठी	33
9.	पौराणिक सन्दर्भों व काव्य रूढ़ियों के प्रतिनिधि कवि बाणभट्ट	श्रीमती डॉ. वीना बिश्नोई	38
10.	प्राचीन भारत में सामाजिक संस्थाओं का विकास	डॉ. कृष्ण कुमार	44
11.	प्राचीन भारत में स्त्रियों के सम्पत्ति के अधिकार	डॉ. देवेन्द्र कुमार गुप्ता	49
12.	स्वाधीनता प्राप्ति में महर्षि दयानन्द का योगदान	यतीन्द्र कुमार विद्यालंकार	61
13.	वैदिक राष्ट्रवाद	आचार्य आर्य नरेश	65
14.	भक्तवर प्रह्लाद	महावीर 'नीर'	69
15.	सोम भाई: एक निष्ठावान् समर्पित गांधीवादी	श्री दत्तात्रेय तिवारी विद्यालंकार	76
16.	गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली	डॉ. सुमेधामित्र वेदालंकार	79
17.	प्रयोजनमूलक हिन्दी की संकल्पना	डॉ. ओमप्रकाश सिंघल	84
18.	टंकारा के रूपकार-सत्यदेव विद्यालंकार	श्री दत्तात्रेय तिवारी	87
19.	सद्विद्यासमुपासको गुरुकुलश्रीविश्वविद्यालय:	डॉ. धर्मदत्त चतुर्वेदी	90
20.	आयुर्वेदो हि जीवनविज्ञानम्	डॉ. ब्रजेन्द्र कुमार सिंह देव	92
21.	कविता की सम्प्रेषणीयता और जनभाषा	प्रो. ज्ञानचन्द रावल	96
22.	प्राचीन भारतीय लोकतन्त्र वर्तमान परिप्रेक्ष्य में	डॉ. शिवानी विद्यालंकार	100
23.	दार्शनिक विद्वान् डॉ. जयदेव वेदालंकार राष्ट्रिय पुरस्कार से सम्मानित		104
24.	गुरुकुल विश्वविद्यालय में अग्निहोत्र पर शोधगोष्ठी	प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री	105
25.	यज्ञ से मधुमेह चिकित्सा पर डॉ. खन्ना के व्याख्यान	प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री	108
26.	दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार, में दीक्षान्त समारोह	डॉ. प्रमोद शास्त्री	109
27.	A Report : National Conference on Biotechnology	Dr. S.K. Gupta	111

सम्पादकीयम्

धर्मादर्थश्च कामश्च

महाभारत में महर्षि व्यास कहते हैं कि मनुष्य को ऐसे अर्थ और काम का सेवन करना चाहिये जो धर्म से नियन्त्रित हो। सामान्यतया अर्थ और काम जीवन के साधन भी हैं और साध्य भी, परन्तु धर्म सर्वदा एक ही रूप रहता है और वह साधन अथवा साधक अर्थात् वह कभी साध्य रूप में नहीं होता है। धर्म साध्य नहीं हैं वह तो नियामक है। जब नियामकशक्ति धर्म का नियन्त्रण शिथिल हो जाता है या नहीं रहता है, तब जीवन एक दुःखद घटना बन जाता है। इसीलिये महर्षि व्यास बड़े आक्रोश और निराशा भरे स्वर में कहते हैं-

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष नहि कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते॥

मैं दोनों हाथ खड़े करके कहता हूँ, लेकिन मेरी कोई सुनता ही नहीं है। हे संसार के लोगो! धर्मपूर्वक अर्थ और धर्मपूर्वक ही काम का सेवन क्यों नहीं करते हो?

महर्षि व्यास के मन में जो पीडा है, वह कोई अपने स्वार्थ से उत्पन्न व्यथा नहीं है। वह राजनीति में बहाये जाने वाले घड़ियाली आँसू नहीं है, वह तो लोकमङ्गल की भावना से जनित क्षोभ है। यदि मानव महर्षि व्यास के कथन का अनुपालन करे तो उसे कष्ट हो ही नहीं सकता। समस्त समस्याओं का मूल जीवन में धर्म के नियन्त्रण का अभाव है।

महर्षि व्यास ने जिस धर्मपूर्वक अर्थार्जन का संकेत किया, उस विषय में आचार्य मनु भी कहते हैं-

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।[१]

सब प्रकार की शुचियों में अर्थ की शुद्धता सबसे बढ़कर है। जो अर्थ की दृष्टि से शुद्ध है, वही शुद्ध है, लेकिन जिसने अपने को मिट्टी, जल आदि साधनों से शुद्ध किया है, वह शुद्ध नहीं है।

यहाँ यह विचार करने का विषय है कि जिसने मिट्टी, जल, साबुन आदि से मलों को निर्मूल करने वाले साधनों से अपने को शुद्ध किया है, वह शुद्ध नहीं है, वरन् जिसने न्यायपूर्वक धन को अर्जित किया है, वह शुद्ध है, ऐसा क्यों? अपने आशय को स्पष्ट करते हुए तथा मन में उठने वाली उक्त शङ्का का समाधान करते हुए मनु कहते हैं:-

---

[१] मनु०,५.१०६.

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।[2]

शरीर की शुद्धि जल से, मन की शुद्धि सत्य का आचरण करने से, आत्मा की शुद्धि विद्या और तप से होती है, जबकि बुद्धि ज्ञान से निर्मल होती है। उक्त वक्तव्य से मनु ने स्पष्ट कर दिया है कि शरीर की शुद्धि का एकमात्र साधन जल है, जबकि अन्तःकरणसहित आत्मशुद्धि के साधन चार हैं:-१.सत्य, २.ज्ञान, ३.तप और ४.ब्रह्मविद्या। जो व्यक्ति सत्य और ज्ञान पर चल पड़ता है, वह अनीतिपूर्वक धन का अर्जन नहीं कर सकता या यह कह सकते हैं कि जिसे अपनी आत्मा को शुद्ध करना है, वह सत्य और ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकता और सत्य एवं ज्ञान के मार्ग पर चलने वाला अनीति का आश्रय कैसे ले सकता है?

छान्दोग्योपनिषद् कहती है:-

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिप्रतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोचनम्।[3]

भोजन की शुद्धि से बुद्धि निर्मल होती है। बुद्धि की निर्मलता से स्मृति निश्चल होती है और स्मृति की निश्चलता से सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

देश में चुनाव का महासमर प्रारम्भ हो चुका है, सभी दल अपने सत्तारूप कामसुख के लिये सब प्रकार के हथकण्डे अपनाने रहे हैं, लेकिन कोई भी धर्म का अनुपालन करने को तैय्यार नहीं है। चुनाव आचारसंहिता भी है, पर उसे कोई मानने वाला नहीं है। उसके मूल में निहित भावना की निरन्तर अवहेलना हो रही है। दु:ख की बात यह है कि आज देश शिक्षित है, परन्तु काम ऐसे किये जा रहे हैं, जब हम अशिक्षित थे तब भी नहीं करते थे। जिन बुराइयों का वर्णन ये राजनीतिज्ञ बड़े जोर-शोर से करते हैं और जिसकी पहिचान आज के आम आदमी को भी है, उस बुराई को अपनाने में सभी मान-मर्यादाओं की धज्जियाँ उड़ायी जा रही हैं। यह हम सभी जानते हैं कि इस देश की पराधीनता तथा देश की अधिकांश समस्याओं के मूल में जातिवाद एक अभिशाप के समान रहा है।

यदि हम इतिहास का अवलोकन करें तो हमें हमारी अकर्मण्यता और मूर्खता के एक से एक अच्छे उदाहरण दिखने को मिलते हैं। जिनको सुनकर व पढ़कर अपने पूर्वजों की बुद्धि पर तरस आता है। ऐसी ही एक घटना सन् ९८६ ई० की है, जिसमें सुबुक्तगीन और जयपाल के मध्य घमासान युद्ध हुआ और भारतीय सेना किसी तरह पराजित होने की स्थिति में नहीं थी, तब जिस तालाब या झील का भारतीय सेना पानी पीती थी, उसमें शराब मिला दी गयी, बस फिर क्या था, भारतीय सेना ने पानी पीने से मना कर दिया और अन्त में विवश होकर जयपाल को सुबुक्तगीन से सन्धि करनी पड़ी। आचरण के जिस स्वरूप का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था, उसको इस देश की जनता ने इतना अधिक महत्त्व देना प्रारम्भ कर दिया कि वही भारत के गले की हड्डी बन गयी। इतिहास के इन कटु

---

[2] मनु०,५.१०९.

[3] छान्दो०,३.७.२५.

अनुभवों को पढ़कर हमारे राजनीतिज्ञ सबक लेने को तैय्यार नहीं है। वे आज भी इस सोच में जी रहे हैं कि हम सत्ता का सुख भोग लें, देश का जो होता हो, उन्हें उनसे कुछ मतलब नहीं हैं।

महाकवि दिनकर संस्कृति के चार अध्याय नामक पुस्तक में लिखते हैं कि 'ज्यों-ज्यों हिन्दुओं का साहस और पुरुषार्थ घटता जाता था, त्यों-त्यों उनकी ऐंठ बढ़ती जाती थी। इनका धार्मिक संस्कार विकृत होगया था और वे मानने लगे थे कि संसार में सबसे तुनक चीज जनेऊ और जात है, जो एक बार गयी तो फिर वापिस नहीं लायी जा सकती है।[4]

हमारी दुर्बलताओं की पहिचान जितनी अच्छी उदार सम्राट् माने जाने वाले अकबर को थी, उतनी शायद इससे पूर्व किसी अन्य विदेशी शासक को नहीं थी। उसने भारतीयों की इसी कमजोरी को पहिचान कर उसका भरपूर लाभ उठाया, उसने सुजानसिंह हाड़ा को सेना लेकर काबुल जीतने का आदेश दिया, तब उस वीर पुरुष को विदेशी सेना का कोई भय नहीं था, परन्तु वह इस चिन्ता से भयभीत था कि वह काबुल जीतकर लौटने के बाद, पुनः अपनी जाति में सम्मिलित नहीं हो पायेगा, अतः, उसने अपने दोनों पुत्रों को काबुल विजय के लिये भेजा और उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, क्योंकि उपर्युक्त धारणा के कारण वे हिन्दू नहीं रह गये थे और उन्हें भी मुसलमान बन जाना पड़ा, क्योंकि वे अपने समाज में फिर वापिस नहीं आ सकते थे। उदार माने जाने वाले अकबर ने कितनी चालाकी से हाड़ा के दोनों पुत्रों और उसकी सेना को मुसलमान बना लिया और हम अपनी मूर्खता के कारण अपनों को पराया बनाते चले गये। बाप ने बेटों को मुसलमान बन जाने के लिये बाध्य किया। हमारी पराधीनता और उसके साथ पैदा होने वाली विवशता का इससे अच्छा उदाहरण शायद ही कोई दूसरा मिले। हम अपने अज्ञानजन्य आचरण के गुलाम बनते चले गये।

इस देश की दुर्दशा को देखकर महर्षि दयानन्द सरस्वती से न रहा न गया और वे कहने को विवश हो गये कि वे अगर विदेश आते-जाते रहते औरों से मिलते-जुलते रहते तो वे निश्चित रूप से इतने सङ्कीर्ण और बुद्धिहीन नहीं रहते। इसका कारण है कि इनके पूर्वज इतने सङ्कुचित विचारों के नहीं थे। महाभारत और मनुस्मृति में अनेकशः विदेश और समुद्रयात्रा पर जाने का उल्लेख मिलता है।[5] कल्पना कीजिये कि क्या विना विदेशगमन किये हुए बौद्ध धर्म इतने सुदूर देशों में फैल सकता था।

मध्यकाल या मुगलकाल तक आते-आते हमारा धर्म इतना अधिक सङ्कुचित, सङ्कीर्ण और नाजुक होगया था यदि गाँव के कुँए में कोई मुसलमान पानी डाल देता था तो उस पानी को पीने वाला सारा गाँव स्वतः मुसलमान हो जाया करता था। इसी प्रकार युद्ध के समय गाय सामने कर देने या युद्ध क्षेत्र में मन्दिर पड़ जाने पर हमारे हथियार एक ऐसे भय के कारण, जिसका कोई अस्तित्व नहीं था, हाथ से छूटने लगते थे। धर्म के साथ भय का विष घोलने वाले इन शास्त्र प्रहरियों को इसका कोई उपाय सूझता ही नहीं था। इन्होंने अपने तुच्छ स्वार्थ के लिये, मिथ्या अहङ्कार की पुष्टि

---

[4] दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ०,३०९.

[5] महा०शान्तिपर्व,३२५.१४-१५. 'मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः। क्रमेणैव समागम्य भारतं वर्षमासदत्। स दृष्ट्वा विविधान् देशान् चीनहूणनिषेवितान्।' मनु०,८.४०६. 'दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्। नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम्।' द्रष्ट० सत्यार्थप्रकाश, दशम समु० पृ० ४०८-४०९.

के लिये, विना परिश्रम के पीढ़ी दर पीढ़ी सम्मान और वैभवपूर्ण जीवन यापन करते रहने के लिये इस देश को इतने गहरे विनाश के गर्त में ढकेल दिया कि अब उसका उद्धार करने का कोई रास्ता ही दिखायी नहीं देता है।

इसी प्रकार की एक घटना अकबर के काल की है। अकबर ने राजपूत सरदारों से कहा कि वे अपनी बेटियों का विवाह शाही खानदान में करें और हमारी बेटियाँ अपने यहाँ लें, परन्तु यह प्रस्ताव भी राजपूतों के गले नहीं उतरा। उन्होंने सोचा कि एक मुसलमान लड़की हमारे यहाँ आने से हम सब मुसलमान हो जायेंगे, परन्तु अपनी बेटी देने से मात्र वह लड़की ही मुसलमान बनेगी, इसलिये उन्होंने मुसलमानों को दामाद बनाना तो स्वीकार किया, परन्तु उनकी लड़की को पुत्रवधू बनाने का साहस वे नहीं जुटा पाये।[६] कर भी कैसे सकते थे, जहाँ एक लोटा पानी से सारा गाँव मुसलमान बन जाता हो, वहाँ एक मुस्लिम लड़की के आने से क्या कुछ नहीं हो सकता था।

मध्ययुग की भारतीय धर्म की मानसिकता की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए दिनकर कहते हैं कि 'शास्त्रों का अत्याचार केवल इतना ही नहीं था कि उन्होंने खाने-पीने, चलने-फिरने, मिलने-जुलने और आने-जाने पर इतने अधिक प्रतिबन्ध लगा दिये थे कि उनके अनुसार आदम की जात, बात की बात में, चली जाती थी। उनका इससे बढ़ा अत्याचार, कदाचिद् यह था कि जातिभ्रष्ट व्यक्ति को फिर से जाति मिलाने का उन्होंने कोई उपाय नहीं निकाला था। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में जातिभ्रष्ट व्यक्ति को जाति में लाने का कोई प्रबन्ध नहीं था।[७] जहाँ तक स्मृतियों में जातिभ्रष्ट को पुन: जाति में वापिस लेने के विधान का प्रश्न है, के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि उस युग में ऐसी कोई समस्या नहीं थी। इसके अतिरिक्त उस समय जाति-व्यवस्था का कोई अस्तित्व नहीं था और उस युग में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण और कर्म थे, अत:, योग्यता के आधार पर कोई भी इन वर्णों को प्राप्त कर लिया करता था तथा अयोग्य होने पर उनसे बाहर कर दिया जाता था।[८]

प्रकृति का सहज सिद्धान्त है कि वंश का वंश में किया जाने वाला संयोग वृद्धि का नहीं, वरन् अवनति का कारक होता है। दुहिता शब्द से इसी अर्थ की पुष्टि होती है।[९] पुरोहित कहे जाने वाले वर्ग ने प्रकृति के इस सामान्य नियम की अवहेलना की और उसका परिणाम समाज, देश और धर्म के विघटन के रूप में हमारे सामने है। उक्त वर्ग को इस नाम से अभिहित किये जाने का यह

---

[६] वीर विनोद, द्वितीय भाग, पृ०,१७०. संस्कृति के चार अध्याय, पृ०,३१०. 'राजपूतों ने सोच-विचारकर कहा कि आपकी बेटियाँ तो हमारी सरदार हैं, जिनके साथ शादी करना बेअदबी में दाखिल होगा और अपनी बेटियाँ हम लोग आपको ब्याह देंगे। इन लोगों का इस बात से यह मतलब था कि बादशाहों की बेटियाँ हमारे घरों में आयीं तो उनके बड़प्पन से परहेज में खलल आकर मुसलमाना होना पड़ेगा और हमारी बेटी बादशाह के घर में गयीं तो ज्यादा अंदेशे की बात नहीं है। इसलिये राजा भारमल्ल (बिहारीमल्ल) कछवाहे ने सबसे अव्वल अपनी बेटी बादशाह को दी।'

[७] दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ०,३१३.

[८] मनु०,२.१६८. 'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय:।'

[९] निरु०,३.४. 'दूरे हिता।'

तात्पर्य था कि वह समाज (यजमान) का हित अपने सामने रखता था अर्थात् उसके लिये समाज हित से बढ़कर और कुछ नहीं था।[१०] लोक-कल्याण ही उसका जीवन था, लोकमङ्गल के लिये ही वह समर्पित था। जैसा कि कहा गया है कि 'स्वार्थी ब्राह्मण नष्ट हो जाता है।'[११] जब बुद्धिजीवी भ्रष्ट होता है, तो वह अन्यों की अपेक्षा बहुत अधिक देश, समाज या धर्म को क्षति पहुँचा सकता है। एक कर्मचारी के भ्रष्ट होने पर होने वाली हानि की तुलना में मन्त्री या प्रधानमन्त्री के भ्रष्ट होने वाली हानि का आकलन करना बहुत कठिन है। कुछ ऐसा ही बुद्धिजीवी वर्ग के चरित्रभ्रष्ट होने पर इस देश को झेलना पड़ा है और आज यह विपत्ति, यह चरित्र का सङ्कट अधिक विस्फोटक रूप में समाज की समझ को झुलसा रहा है। गत चार या पाँच सहस्र वर्ष में जो विघटन हुआ, मुगलकालीन पराधीनता के युग में जो सामाजिक मूल्य विनष्ट हुए, अंग्रेजों के दो सौ वर्ष के क्रूर और कुटिल हाथों हमारी संस्कृति जिस प्रकार लाञ्छित और अविश्वसनीय बना दी गयी। आजादी के ४० वर्षों में मानसिक दासता का परिचय देते हुए जो हमने अपने ही हाथों अपनी इज्जत चौराहे पर बेची। इन सबके समग्र उग्र रूप से भी अधिक भयङ्कर, समाज की बची हुई शक्ति और सुख-शान्ति को इतिहास का विषय बना देने वाली, अपने ही पैरों पर कुठाराघात कर देने जैसी भयङ्कर भूल की भूमिका अभी हम कुछ दिन पूर्व प्रस्तुत कर चुके हैं। उसके निरङ्कुश प्रहार आगे आने वाली पीढ़ियों को झेलने पड़ेंगे। हम आज भी उसी नीति पर चल रहे हैं, जिससे देश में वर्ग और सम्प्रदाय कैक्टस की तरह समाज को कण्टकमय बना रहे हैं। आज तो सब परिणाम को जानकर भी अनजान बन रहे हैं। बौद्धिक वर्ग का चरित्र-पतन पहले भी इस देश को अवनति के गर्त में ले गया था, आज भी सुपर सोनिक जैट की सी तीव्रता से उस ओर ले जा रहा है, जहाँ परतन्त्रता और विनाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह निश्चित रूप से, विना किसी सङ्कोच और औपचारिकता के कहा जा सकता है कि भारतीयों के सामाजिक सङ्गठन पर आज भी पराधीनता युग का प्रभाव देखा जा सकता है और जब तक जातिरूपी रसायन की विषैली परत भारतीय समाज पर पड़ी हुई है, उसके उद्धार का कोई मार्ग, न पहले था और न आज है। सृष्टि नियम का उल्लङ्घन करके, कदाचिद् भगवान् अवतार ले भी लें, तब भी इस देश और समाज का कल्याण सम्भव दिखायी नहीं देता है। जैसा गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि 'व्यक्ति स्वयं के उद्धार और विनाश का कारण है।[१२] जिसने अपने आपको जीत लिया है, वह स्वयं अपना उद्धारक और सहायक है और जो ऐसा नहीं करता, वह अपने साथ शत्रुता का व्यवहार करता है।[१३] यह कथन भारतवासियों के प्रति बिल्कुल खरा उतरता है। हम अपने स्वार्थ को नहीं जीत पा रहे हैं और इतिहास साक्षी है कि यही एक दुर्बलता हमें पराधीन बनाने के लिये पर्याप्त सिद्ध हुई है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती मनुस्मृति के आधार पर राजा और सभासदों की योग्यता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादिव्रत, वेदविद्या वा विचार से रहित, जन्ममात्र से

---

[१०] निरु०,२.१२. 'पुर एनं दधाति।'

[११] हितोपदेश,३.६२. 'असंतुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभृताः। सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः।'

[१२] गीता,६.५. 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।'

[१३] गीता,६.६. 'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।'

शूद्रवत् वर्तमान है, उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहाती है।[१४] आगे वे कहते हैं कि इन लोगों को आत्मविद्या का जानना वाला और जितेन्द्रिय भी होना चाहिये, क्योंकि जितेन्द्रिय ही प्रजा को वश में रख सकता है।[१५] इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मध्ययुग के राजा और सभासद् राजा और सभासद् होने के पात्र नहीं थे। अयोग्य और नीति में अकुशल नेतृत्व से इससे भिन्न की अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिये।

आज आवश्यकता है कि राजनीति में एक व्यवस्था हो, धर्म की एक नियामक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठा हो। राजनीति धर्म का नियन्त्रण न करे, इसके विपरीत आगे बढ़कर धर्म को राजनीति को संयमित करने का प्रयास करना चाहिये। इस कार्य में हमारा मार्गदर्शन महर्षि दयानन्द के सिद्धान्त कर सकते हैं, जो उन्होंने वेदविद्या के आधार पर अन्वेषित किये हैं। महर्षि ने जो मार्ग दिखाया है उस पर चलकर ही देश का कल्याण सम्भव है। जितेन्द्रियतारहित राजशक्ति के अभाव में इस देश की दुर्दशा निश्चित है। अब तक होती रही है और आगे भी निरन्तर होने वाली है। पर यह कार्य आज के धर्मपुरुष नहीं कर सकते, क्योंकि इन पर राजनीति की परछाईं पड़ चुकी है और उसकी कालिमा से ये कलुषित हो चुके हैं। इस कार्य को तो कोई चाणक्य जैसा आचार्य ही कर सकता है या फिर महर्षि जैसा घर फूँक तमाशा देखने वाला ऋषि होना चाहिये। हम आशा और विश्वास कर सकते हैं कि जिस प्रकार अन्धकार के पश्चात् सूर्य का उदय निश्चित है, उसी प्रकार वर्त्तमानयुगीन अन्धयुग अवश्य समाप्त होगा।

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
सम्पादक
गुरुकुल-पत्रिका

---

[१४] सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समु०, पृ०,२२८. मनु०,१२.११४. 'अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्। सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते।'

[१५] सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समु०, पृ०,२२८. मनु०,७.४३-४४. 'त्रैविधेभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्। आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भाश्च लोकतः। जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः।'

वेदमञ्जरी

तरणिः ज्योतिष्कृच्च

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।
विश्वमाभासित रोचनम्॥ ऋग्१.५०.४

ऋषिः प्रस्कण्वः। **देवता** सूर्यः। **छन्दः** गायत्री।

हे (**सूर्य**) परमेश्वररूप सूर्य! त्वम् (**तरणिः**) तारयिता (**विश्वदर्शतः**) सर्वैः दर्शनीयः किञ्च (**ज्योतिष्कृत्**) ज्योतिषः प्रदाता (**असि**) विद्यसे। त्वम् (**विश्वम्**) सकलं (**रोचनम्**) दीप्तियुक्तम् (**आभासि**) आदीपयसि।

हे परमेश्वर! त्वं सूर्योऽसि। अस्माकं सौरमण्डलस्य दृष्टिगम्येषु ज्योतिष्पिण्डेषु ज्योतिष्मत्तमः सूर्य एव दृश्यते, यत्र त्वदीयतेजसः स्तरं वयं द्रष्टुं शक्नुमः। अत एव वयं कथयामो यत् त्वं तेजसि साक्षात् सूर्योऽसि, सूर्यवत् स्वयं प्रकाशमानः प्रकाशकश्च वर्तसे। एतदतिरिक्तं सरणशीलत्वात्, सर्वव्यापकत्वात्, सर्वप्रेरकत्वात्, प्रकम्पकत्वाच्चापि त्वं सूर्यपदवाच्यो भवसि। अयि ज्ञानसूर्य! अयि गुणगरिमसूर्य! अयि प्रशस्तक्रियाशीलतायाः सूर्य! त्वं तरणिः असि, विपदां दुःखानाञ्च तमःस्तोमात् तारयिता वर्तसे, संसारसागरात् तारयिता विद्यसे, जन्ममरणचक्रात् तारयिता भवसि। त्वं निमज्जमानानामस्माकं तारयित्री नौकाऽसि। अयि प्रकाशपुञ्ज! त्वं विश्वदर्शतः असि स सर्वैर्दर्शनीयो विद्यसे। भौतिकं प्रचण्डं सूर्यं प्रति सुचिरं दृष्टिं बद्ध्वा यदि वयं पश्येम, तर्हि अस्माकं चक्षुषी अन्धे स्याताम्। किन्तु त्वम् एवंविधो विलक्षणः सूर्योऽसि यस्य दर्शनेन तृप्तिर्लभ्यते, अन्धोऽपि दृष्टिं प्राप्नोति। महर्षिर्याज्ञवल्क्यस्त्वां द्रष्टव्यं श्रोतव्यं मन्तव्यं निदिध्यासितव्यं च मन्यते-**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च (बृ०उप०३.४.५)।**

अयि देव! त्वं ज्योतिष्कृद् असि। यथा सूर्यो निशाया विस्तीर्णं तमोजालं विच्छिद्य दिवसस्य शुक्लं ज्योतिः प्रयच्छति, तथैव त्वं मानवस्य अविद्यान्धकारं विदार्य हृदयाकाशे ज्ञानस्य शुभ्रं ज्योतिः प्रद्योतयसि। सांसारिका जनाः कथयन्ति यत् पृथिवीमंगलबुधबृहस्पतिविद्युच्चन्द्रादीनां विद्योतयिता भौतिकः सूर्यो वर्तते। किन्तु वस्तुतस्तु अयि प्रकाशक प्रभो! सर्वाण्यप्येतानि तवैव दीप्त्या दीपितानि सन्ति। लोकानां प्रकाशयिता भौतिकः सूर्योऽपि तवैव दीप्त्या दीप्तिमान् भवति। विश्वस्य सर्वासु प्रभासु तवैव प्रभाया द्रष्टा ऋषिः सत्यमेव ब्रूते-'**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (मुण्ड०उप० २.१०)**' इति। किञ्च आसृष्टेः अधुनावधि येऽपि प्रख्याता योगीश्वरा दिव्यगुणानां प्रकाशेन प्रकाशिता भूतकाले जाताः, वर्तमानकाले वर्तन्ते, भविष्यत्काले च भविष्यन्ति तेषामपि सर्वेषां दिव्यप्रकाशेन प्रकाशयिता त्वमेव वर्तसे। अयि अलौकिकप्रभासमन्वित! अस्मानपि स्वप्रभया प्रभावतः कुरु।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

उपासना का आनन्द

उप त्वाग्ने दिवे दिवे, दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि।।[1]

ऋग्वेद के इस मन्त्र में भक्तजन भगवान् के प्रति अपने हृदयोद्गार प्रकट करते हुए कह रहे हैं कि हे प्रभो, हम प्रतिदिन सायं-प्रातः आपकी उपासना करते हैं। 'उपासना' का अर्थ है समीप बैठना (उप-समीप, आसना-बैठना)। एवं प्रभु की उपासना का अर्थ हुआ प्रभु के समीप बैठना। हम सभी मनुष्य कभी न कभी प्रभु के समीप बैठने की स्थिति में होते हैं। प्रयत्न से ऐसी स्थिति भी लायी जा सकती है कि हम जब चाहें तब प्रभु के समीप बैठ जाएँ। मैं यहाँ दार्शनिक भाषा नहीं बोल रहा। दार्शनिक दृष्टि से तो प्रभु सदा ही हमारे समीप है और हम उसके समीप हैं, क्योंकि वह सर्वव्यापक है। परन्तु यदि हम उनके सान्निध्य का अनुभव नहीं करते तो वह समीप होता हुआ भी हमसे दूर है। इसीलिए तो उपनिषद् के ऋषि ने गाया है-**'तद्दूरे तदु अन्तिके'**, वह दूर भी है और समीप भी है।

विद्वान् लोग कहा करते हैं कि उपासना योग की समाधि-अवस्था में होती है, और वे ठीक ही कहते हैं। पर मैं उनकी बात का खण्डन न करता हुआ भी सर्व-साधारण से यह कहना चाहता हूँ कि उपासना को योगियों के लिए ही सीमित न समझिए। आप और मैं सभी उपासना का आनन्द ले सकते हैं, भले ही हम योग-समाधि की उच्च स्थिति तक न पहुँचे हों।

हम सब प्रतिदिन प्रातः सायं सन्ध्योपासना करते हैं, प्रभु के साथ मिलने का प्रयत्न करते हैं। सर्वप्रथम गायत्री मन्त्र द्वारा शिखा बाँधते हुए प्रभु से मिलने की भावना को अपने अन्दर दृढ़ करते हैं। फिर आचमन द्वारा हृदय को पवित्र करते हैं। फिर जल से अंगस्पर्श करते हुए एक-एक इन्द्रिय को निमन्त्रण देते हैं कि प्रभु-मिलन में तुम सहायक होना, बाधक नहीं। फिर मार्जन-मन्त्र से सिर, नेत्र, कण्ठ, हृदय आदि सब अवयवों के दोषों को बुहारकर साफ कर देते हैं। फिर प्राणायाम द्वारा बुहारे हुए दोषों को जलाकर पवित्रता सम्पादन करते हैं। फिर अघमर्षण-मन्त्रों से यह भावना जागृत करते हैं कि प्रभु के पदार्पण के लिए स्वच्छ किए हुए हमारे इस देव-मन्दिर में यदि कोई पाप डेरा डालने आएगा तो उसका हम डटकर मुकाबला करेंगे। फिर मनसा-परिक्रमा द्वारा सब दिशाओं की परिक्रमा कर हम देखते हैं कि कहीं कोई शत्रु हमें अपवित्र करने के लिए तथा प्रभु-मिलन में बाधक होने के लिए घात लगाए तो नहीं बैठा है। यदि कोई ऐसा पाप-शत्रु दीखता है तो उसे हम उस दिशा के अधिपतियों; रक्षकों और इषुओं के शिकंजे में कसकर चकनाचूर कर देते हैं। इस प्रकार सर्वात्मना अपने-आपको प्रभु-मिलन के लिए तैयार कर उपस्थान-मन्त्रों

---

[1] ऋ01.1.7

से हम प्रभु के सान्निध्य का अनुभव करते हैं। आनन्द-विभोर हो हम पुकार उठते हैं-

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं
शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः
स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥[2]

अहा! यह सूर्यसम प्रकाशक, प्रभु मेरे अन्दर उदित हो गया है। मैं वैसे ही उसकी समीपता का अनुभव कर रहा हूँ, जैसे कोई सामने-स्थित वस्तु की समीपता का अनुभव करता है। इस ज्योति के प्रति मुग्ध हूँ। इसके प्रकाश में मैं सौ वर्षों तक देखता रहूँ, सौ वर्षों तक जीता रहूँ, सौ वर्षों तक सुनता रहूँ, सौ वर्षों तक प्रवचन करता रहूँ, सौ वर्षों तक अदीन बना रहूँ। सौ ही क्यों, सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवन की सब क्रियाएँ करता रहूँ। केवल मैं अकेला नहीं, हम सभी सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक इन कार्यों को करते रहें।

फिर हम गायत्री मन्त्र का पाठ करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि उपासना की इस वेला में हमने प्रभु के जिस अद्भुत तेज की झाँकी पाई है, वह तेज हमारी बुद्धियों को नया मोड़ देवे, नई दिशा में प्रेरित कर देवे। फिर आनन्द विह्वल हो प्रभु के चरणों से लिपट जाते हैं-

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च।
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च, शिवतराय च॥[3]

यह है हमारी दैनिक उपसना का ब्यौरा। पर यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हम प्रभु की उपासना क्यों करें?

वह माता-पिता

बालक स्वभावतः अपने माता-पिता के पास बैठने में सुख मानता है। बालक पढ़ रहा है, भोजन कर रहा है, पर वह माँ को अपने पास से हिलने देना नहीं चाहता। माँ कहती है तू तो कहानी पढ़ रहा है, मैं यहाँ बैठी क्या करूँगी, कुछ और काम कर लेती हूँ। पर बालक उसे पकड़कर बैठा लेता है, नहीं तुम यहीं बैठी रहो। बड़ा सुहावना दिन है, बादल छाये हुए हैं, कहीं घूमने जाने की योजना बनती है। पर जब बालक को पता चलता है कि पिताजी नहीं चल रहे तो वह कहता है मैं तो पिताजी के बिना नहीं जाता। बात क्या

---

2 यजु036. 24
3 यजु016.41

है? माता-पिता का सान्निध्य बालक को क्या देता है? आखिर कुछ तो बालक को मिलता ही है, तभी तो वह उनके बिना व्याकुल होता है। इसी प्रकार भक्तों को भी भगवान् के सान्निध्य से कुछ मिलता है। भगवान् भक्तों की माता है, भक्तों का पिता है-

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे।।[4]

"हे शतक्रतो इन्द्र, हे सैकड़ों कर्म करने वाले प्रभो, हे निवासक, तू ही हमारा पिता है, तू ही माता है। इसलिए हम तुझसे सुख की याचना करते हैं।"

अद्भुत सोमरस

भक्त को भगवान् से क्या मिलता है यह वेद के शब्दों में सुनिए। भक्त को भगवान् से मिलता है सोम-रस, जिसके लिए वेद गाते हैं-

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं
तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं,
न कश्चन सहत आहवेषु।।[5]

जिसने प्रभु से मिलनेवाले आनन्द-रस को पा लिया है उसके मुख से सहसा उद्गार निकल पड़ते हैं-"आहा, यह कैसा स्वादु है! कैसा मधुर है! कैसा तीव्र है! कैसा रसीला है! जिसने इसे पी लिया उसे देवासुर-संग्रामों में कोई असुर परास्त नहीं कर सकता।"

सोम का झरना

इसी रस का एक बार स्वाद लेकर भक्तजन आतुरता के साथ पुकार उठते हैं-

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः।।[6]

"हे प्रभु से झरनेवाले आनन्द-रस, तुम अपनी स्वादुतम धारा के साथ मेरे अन्दर झरो, तुम अपनी अतिशय मस्ती लाने वाली धारा के साथ मेरे अन्दर झरो। तुम मुझ-आत्मा के पान करने के लिए प्रस्तुत होते हो।"

---

4 ऋ08.98.11
5 ऋ06.47.1
6 साम0468

तरंगों का झूला

उपासना करने पर प्रभु भक्त को अपने साथ आनन्द-सागर की तरंगों में झुलाता है-

परि प्रासिष्यदत् कविः, सिन्धोरूर्मावधिश्रितः।
कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम्।।[7]

कवि प्रभु स्वयं आनन्द-सागर की लहरों पर उतरा रहा है। जब भक्त उपासना करता हुआ उसके समीप पहुँचता है, तब वह उस अतिशय प्यारे अपने उपासक को (कारु को) अंगुली पकड़कर अपने साथ तैराने लगता है और लहरों में झुला-झुलाकर कृत-कृत्य कर देता है।

अतः, आइए, हम भी उस प्रभु की उपासना करें-

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम्।।
अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम्।।
उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम्।।
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्।।[8]

हे प्रभो, आप (अम्भः) रसमय है, आनन्दस्वरूप हैं, (अमः) बली हैं, (महः) महिमाशाली हैं, (सहः) साहसी हैं (इति त्वा उपास्महे वयम्) इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं

हे प्रभो, आप (अम्भः) हम प्यासों के पानी हैं, (अरुणं) प्रकाशमय हैं, (रजतं) हम गरीबों की चाँदी हैं, (रजः) हम निर्बलों का रक्त हैं, इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं।

हे प्रभो, आप (उरुः) सर्वशक्तिमान् हैं, (पृथुः) सर्वव्यापक हैं, (सुभूः) सत्स्वरूप हैं, (भुवः) चित्स्वरूप हैं, इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं।

हे प्रभो, आप (प्रथः) प्रख्यात हैं, (वरः) वरणीय हैं, वर देनेवाले हैं, (व्यचः) विस्तीर्ण हैं, (लोकः) सर्वद्रष्टा हैं, इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं

आपकी उपासना हमें रस प्रदान करे, आनन्द प्रदान करे, सद्गुणों का प्रवाह प्रदान करे। **नमस्ते अस्तु पश्यत, पश्य मा पश्यत।।**[9] हे सर्वदर्शी, आपको नमस्कार हो। हे सर्वदर्शी, मुझे भी देखो।

---

[7] साम0486

[8] अथर्व013.4.50-53

[9] अथर्व013.4.55

मन्त्र-पदार्थ

1. (अग्ने) हे तेजस्वी पथ-प्रदर्शक प्रभो, (वयम्) हम सब (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) सायं-प्रातः (धिया) ध्यान द्वारा (नमो भरन्तः) नमस्कार की भेंट लाते हुए (त्वा) तेरी (उप एमसि) उपासना करते हैं।

2. (वसो) हे निवासक प्रभु, (त्वं हि) तू ही (नः) हमारा (पिता) पिता है। (शतक्रतो) हे शतप्रज्ञ शतकर्मा प्रभु, (त्वम्) तू ही (माता) माता (बभूविथ) है। (अध) इसलिए हम (ते) तेरे (सुम्नम्) आनन्द को (ईमहे) माँगते हैं।

3. (अयम्) यह सोमरस, आनन्दरस (किल) निश्चय ही (स्वादुः) स्वादु है, (उत) और (अयम्) यह (मधुमान्) मधुर है। (अयम्) यह (किल) निश्चय ही (तीव्रः) तीक्ष्ण है, (उत) और (अयम्) यह (रसवान्) रसीला है। (उतोनु) और (अस्य पपिवांसम्) इसके पीनेवाले (इन्द्रम्) आत्मा को (आहवेषु) देवासुर-संग्रामों में (कश्चन) कोई भी (न सहते) पराजित नहीं कर सकता।

4. (सोम) हे आनन्द-रस, तू (स्वादिष्ठया) स्वादिष्ठ और (मदिष्ठया) मस्ती लानेवाली (धारया) धारा के साथ (पवस्व) प्रवाहित हो। तू (इन्द्राय पातवे) जीवात्मा के पीने के लिए (सुतः) निचोड़ा गया है।

5. (कविः) कवि प्रभु (सिन्धोः) आनन्द-सिन्धु की (ऊर्मौ) लहरों पर (अधिश्रितः) सवार हुआ-हुआ, (पुरुस्पृहम्) बहुत प्यारे (कारुम्) स्तुतिकर्ता को (बिभ्रत्) पकड़े हुए (परिप्रासिष्यदत्) तैर रहा है, झूल रहा है।

डॉ० रामनाथ वेदालंकार
वेद मन्दिर, ज्वालापुर, हरिद्वार

वैदिक वाङ्मय में सामाजिक व्यवस्था

वैदिक साहित्य में प्रतिबिम्बित सामाजिक व्यवस्था किसी एक स्थान अथवा काल की परिधि से बँधी हुई नहीं है। वह शाश्वत् है और सार्वभौम है। युगों तक मानवमात्र का मार्गदर्शन करने की उसमें क्षमता है।

समाज शब्द सम-उपसर्ग पूर्वक अज् (चलना) धातु से बना है। दूसरे शब्दों में मनुष्यों का एक साथ रहकर, मिलकर एक दूसरे का सहयोग करते हुए जीवन यापन करना ही समाज है। जहाँ यह सहयोग जितना अधिक होगा, सामञ्जस्य जितना सुदृढ़ होगा, उतना ही वह उन्नत समाज होगा।

वेद के अधिकांश मन्त्रों में प्रार्थना करते हुए उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रयोग किया गया है। प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में हम सबकी बुद्धियों को प्रेरित करने की प्रार्थना है।[1] एक अन्य मन्त्र में हम सबके लिए अन्धकार से निकलकर उत्तम ज्योति सूर्य के समान ऊपर, उठने की प्रार्थना है।[2] इसी प्रकार 'हे सबका नेतृत्व करने वाले परमेश्वर (अग्ने) हम सबको उत्तम धन के लिए शोभन मार्ग से ले जाओ'।[3] आदि प्रार्थनाओं में सबके लिए सामूहिक प्रार्थना है, व्यष्टि के लिए नहीं है।

वैदिक ऋचाएं सब प्राणियों को अपनी आत्माओं और अपनी आत्मा को सब प्राणियों में देखने की प्रेरणा देती हैं।[4]यही वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति समष्टि से एकरूप होकर घृणा से, ऊँचनीच की अलगाव की भावना से सर्वथा मुक्त हो सकता है। वेद निर्देश देता है-तुम समान मन वाले सखा होकर जागो।[5]

इन उत्तम भावों को प्राप्त करने की प्रथम पाठशाला है परिवार। परिवार ही वह स्थान है जहाँ मनुष्य शैशवावस्था से ही सामाजिकता को प्राप्त करता है। इसीलिए अथर्ववेद के प्रसिद्ध सौमनस्य सूक्त में माता-पिता तथा पुत्र, भाई-बहन, पति-पत्नी में पूर्ण सौमनस्य की कामना व्यक्त की गई है।[6] वेद में ऐसे सम भाव का एवं परस्पर प्रेम का उपदेश दिया गया है जैसा गाय का अपने नवजात वत्स के प्रति होता है।[7]

परिवार में ग्रहण की हुई यह सौमनस्य-भावना सामाजिक जीवन में पूर्णता को प्राप्त

---

[1] धियो यो नः प्रचोदयात्।

[2] उद्वयं तमसस्परि..................सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममम्।

[3] अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्।

[4] यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। वा.स.40.4

[5] उद् बुध्यध्वं समनसः सखायः (ऋ.10.10.9)

[6] अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।। मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।। (अथर्व.3.30. 2,3)

[7] सहृदयं सौमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।। (अथर्व.3.30.1)

होती है। वेद सब मनुष्यों को उसी परमपिता परमात्मा की सन्तान मानकर सब में समदृष्टि से रहने का उपदेश देता है। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये सब मनुष्य भाई हैं, इनमें से कोई जन्म से बड़ा नहीं-और कोई छोटा नहीं, इस समानता के भाव को अपनाते हुए सब ऐश्वर्य या उन्नति के लिए मिलकर, आगे बढ़ते हैं।[8]

वेद के अनुसार व्यक्ति समाज का एक अंग है और इसीलिए समाज की उन्नति के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को लगा देना सबका प्रधान धर्म है। वेद में मनुष्य के लिए 'व्रात' शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ समुदाय अथवा संघप्रिय है।

वैदिक समाज-व्यवस्था का दूसरा आधार है त्याग पूर्वक उपभोग।[9] सामाजिक जीवन में हम एक दूसरे के लिए त्याग करने के लिए सदैव तत्पर रहें। मेरे पास जो कुछ है वह सब समाज ने ही दिया है अतः आवश्यकता पड़ने पर समाज के लिए प्रिय से प्रिय वस्तु का प्रसन्नता पूर्वक त्याग करना स्वस्थ समाज की पहचान है।

वैदिक व्यवस्था में संगति का विशेष महत्त्व है किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि इससे विविधता समाप्त हो जाये। वेद में स्वीकार किया गया है कि मनुष्य के दोनों हाथ देखने में एक समान होते हुए भी एक समान कार्य नहीं करते। सृष्टि के अस्तित्व में आने के लिए भी विषमता आवश्यक है। जब तक सत्त्व, रजस्, तमस्-ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं, तब तक सृष्टि रचना नहीं होती है। पुनरपि सर्व-कल्याण का एक उद्देश्य लेकर भी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार मनुष्य कार्यरत रह सकता है, जिस प्रकार पृथ्वी विविध रूपों वाली होती हुई भी सब प्रकार के मनुष्यों की रक्षा करने में उसी प्रकार तत्पर रहती है जैसे एक घर की।[10]

इस प्रकार स्वाभाविक विषमताओं को स्वीकार करते हुए भी समान लक्ष्य का प्रतिपादन करने वाला वैदिक समाजवाद आधुनिक ध्वंसात्मक, समाजवाद अथवा साम्यवाद से नितान्त भिन्न है, वह हृदय परिवर्तन में विश्वास करता है। यज्ञभावना, दानभावना इसका प्राणतत्त्व है। वेद के अनुसार बिना बांटे अकेले भोग करने वाला व्यक्ति केवल पाप का भोग करता है।[11] तैत्तिरीय उपनिषद् में भी अनेक प्रकार से दान की प्रेरणा दी गई है। मनुष्य को श्रद्धापूर्वक देना चाहिए, अपने सामर्थ्य के अनुसार देना चाहिए, समाज की लज्जा से देना चाहिए, भविष्य के भय से देना चाहिए, और मित्रता के लिए देना चाहिए।[12] वेदों में इष्ट और पूर्त्त का उपदेश दिया गया है। यज्ञों से वायु शुद्धि द्वारा समस्त प्राणियों का उपकार, इष्ट

---

[8] अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते। सं भ्रातरो वावृधुः सौभागाय।। (ऋग्.5.60.5)

[9] तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। यजु.40.1

[10] जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। (अथर्व.12.1.45)

[11] केवलाघो भवति केवलादी। ऋ.10.117.6

[12] तै0 उ01.11

है और प्याऊ लगवाना, धर्मशाला बनवाना, कुएँ खुदवाना, अन्नदान, उद्यान आदि सुख, सुविधाएं प्रदान करना-ये सब पूर्त्त हैं। यह उदार-भावना उन्नत समाज का निर्माण करती है।

वेद के अनुसार, वास्तविक दाता वह है जो कृशकाय, अन्न की कामना से इधर-उधर भटकने वाले तथा दिये हुए को ग्रहण करने वाले को दान देता है।[13] जो जितना अधिक दान देता है वह उतना ही अधिक यशस्वी होता हैं एक चौथाई अपने पास रखकर, तीन चौथाई देने वाला उत्तम है। आधा दान देने वाला चौथाई दान देने वाले से अच्छा है और जो व्यक्ति सारा ही अपने पास रख लेता है, वह पशुतुल्य है। उसे तो आधा दान देने वाले से भी शिक्षा लेनी पड़ती है। वह बेचारा जीवन के अन्तिम क्षणों में उनके पदचिह्नों को देखता खड़ा रहता है कि कहीं कोई आकर, उसे दान का मर्म समझाये।[14] दान की प्रेरणा देने वाले अनेक मन्त्र वेदों में देखे जा सकते हैं।

दान और त्यागभावना का ही दूसरा नाम यज्ञ है। यज्ञ वैदिक सामाजिक विचारधारा का महत्त्वपूर्ण अंग है। एक मन्त्र में यह कामना व्यक्त की गई है कि मेरा प्राण, मेरा अपान, व्यान, प्रत्येक श्वास, मन, ध्यान, वाणी, निपुणता और बल सब यज्ञ भावना से युक्त हों। यह सब यज्ञ में समर्पित कर देने की उदात्त भावना है। इसकी पराकाष्ठा इस बात में है कि स्वयं यज्ञ के भी यज्ञ भावना से युक्त होने की कामना है।[15] देना, सहायता करना, दुःख दूर करना और मन से भी किसी का अशुभ न सोचना-यह यज्ञ है, उन्नत शिल्प, उन्नत उद्योग, उन्नत विज्ञान में प्रवृत्त होना भी यज्ञ है, यदि उसमें क्षुद्र स्वार्थ का त्याग किया जाये।

समस्त समाज में परस्पर मित्र-दृष्टि, बन्धुत्व वैदिक सामाजिकता का आदर्श है। वेद में उद्घोषणा पूर्वक कहा गया है कि मैं मनुष्यों सहित सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।[16] अथर्ववेद में प्रार्थना की गयी है कि भगवन्! ऐसी कृपा कीजिये, जिससे मैं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना रख सकूँ।[17] हमारा आचरण इतना स्नेहपूर्ण और सहानुभूति पूर्ण हो कि कोई भी हमारे प्रति द्वेष न करे।[18] हम एक दूसरे की सहायता करें। मनुष्यमात्र की सब ओर से रक्षा करें।[19] इस विचार धारा में जाति, वर्ण, ऊँच, नीच, देश आदि के सब भेद समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य की रक्षा केवल

---

[13] स इद् भोजो यो गृह्णते ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय (ऋ.10.117.3)

[14] एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्। चतुष्पादेति द्विपदामभिश्चरे संपश्यन् पंक्तीरुपतिष्ठमान:।। ऋ10.117.8

[15] प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे.........वा0सं018.29

[16] मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। वा.सं.36.18

[17] ....यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि। अथर्व-17.1.7

[18] मा नो द्विक्षत कश्चन। अथर्व-12.1.24

[19] पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः। ऋ.6.75.14

इसीलिए की जानी चाहिए क्योंकि वह मनुष्य है। यही व्यापक विश्व-परिवार की भावना है। वेद के अनुसार कर्महीन, आलसी और मानवीय गुणों से रहित व्यक्ति दस्यु है।[20]

वेद में विश्व-शान्ति की और सबकी स्वस्ति की स्थान-स्थान पर प्रार्थनाएं हैं-

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन॥[21]

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥[22]

वेद में समाज की कल्पना एक सुगठित शरीरधारी पुरुष के रूप में की गई है। पुरुष के विभिन्न अंगों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन चार वर्णों की उत्पत्ति बतलायी गयी है। वहाँ व्यञ्जना यह है कि जिस प्रकार शरीर के सब अंग एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित हैं और यदि अंग में पीड़ा हो जाये तो उसका अनुभव समस्त शरीर में होता है उसी प्रकार समाज में भी संगठन व जीवन शक्ति रहनी चाहिए।

डॉ० महावीर, डी-लिट.
प्रोफेसर संस्कृत विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

---

[20] अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो आमानुषः। त्वं तस्यामित्रहन्वधर्दासस्य दम्भय॥ ऋ.10.22.8

[21] ऋ.10.63.15

[22] ऋग्.9.90.9

हिन्दू और सिक्खधर्म में जीवन-पद्धति, साधना और धार्मिक अनुष्ठान

सिक्ख धर्म एक प्रकार से हिन्दू धर्म का भक्ति आन्दोलन है। इसमें भक्ति की प्रधानता है। गुरु नानक देव जी का सन्देश आध्यात्मिक था। इन्हे रामानुज, रामानन्द, चैतन्य, नामदेव, तुकाराम, मीराबाई, कबीर आदि के समकक्ष की भक्ति परम्परा में रखा जा सकता है। कुछ लोग तो गुरुनानक देव को दूसरा कबीर मानते हैं। चूँकि इनके पाँचवे गुरु (अर्जुन देव) और नौवें गुरु (तेगबहादुर सिंह) गुरुओं को मार डाला गया था, इसलिए सिक्खों में विरोध और युद्ध की भावना उद्दीप्त हुई। गुरु ग्रन्थ साहिब को यदि देखें तो इसमें त्रिलोचन के चार पद, नामदेव के बासठ, कबीर के दो सौ चालीस साखियाँ और दो सौ सत्ताईस पद पाये जाते हैं। जयदेव के दो दोहे, वेणी के तीन पद, रामानन्द का एक पद, पीपा का भी एक पद, धन्ना के चार पद पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त रविदास, सूरदास, मीरा की रचनायें भी इसमें सम्मिलित की गयी हैं। इस प्रकार गुरु ग्रन्थ साहिब में गुरुनानक देव तथा अन्य सिक्ख गुरुओं की रचना के साथ-साथ हिन्दू सन्तों की वाणियाँ भी हैं। लगलभ 35 रचनाकारों को इसमें सम्मिलित किया गया है, परन्तु कबीर की वाणियों का प्रमुख स्थान रहा है। गुरु ग्रन्थ साहिब को सन्तों की रचनाओं की तरह ही संगीत के रूप में गाया जाता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि गुरु-ग्रन्थ-साहिब एक भक्तिसंग्रह है।

सिक्ख धर्म भक्ति आन्दोलन होने के कारण इसकी साधना भी हिन्दू धर्म के जैसी साधना है, प्राय: वैसी ही साधना सिक्खों में है।

हिन्दू साधना में जाप करने का बड़ा महत्त्व है। प्राचीन काल से लेकर आज तक जाप करने की परम्परा है। महर्षि वाल्मीकि का राम नाम जप तो प्रसिद्ध ही है। हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदायों में अपने-अपने इष्ट देवों, मन्त्रों आदि का जाप किया जाता है। कोई राम नाम, कोई ओ३म् नम: शिवाय, कोई विष्णु, कोई राधे कृष्ण, कोई सीता राम, कोई हनुमान् आदि मन्त्रों का जाप करते हैं। आर्य समाजी ओ३म् और गायत्री मन्त्र आदि का जाप करते हैं।

सिक्खों में भी इसी प्रकार जाप करना बहुत ही मुख्य बतलाया गया है। सिक्ख सत् नाम, वाहे गुरु का जाप करते हैं। यह परमात्मा का ही नाम है। गुरुनानक देव का आदेश है-(1) नाम जपो, (2) किरत करो, (3) वण्डके छको।

बार-बार गुरु ग्रन्थ साहिब में ईश्वर स्मरण को मुक्ति का मार्ग कहा गया है। कारण यह है कि जब ईश्वर सुमिरण होता रहेगा तो तब गलत विचार नहीं होंगे। सिक्ख धर्म में बतलाया गया है कि शरणागति के भाव के साथ ईश्वर का नाम सुमिरण करना चाहिए। कबीर, नामदेव आदि ने भी ईश्वर का नाम सुमिरण और भजन करना बतलाया है। गोस्वामी

तुलसीदास जी ने कहा ही है-

कलयुग केवल नाम अधारा।
सुमिर-सुमिर नर उतर हीं पारा।।

सिक्ख धर्म में भी कहा है-

नाम न जपहि ते आतमघाती

और भी कहा है-

राम सिमर एहो तेरो काज।

गुरु अर्जुनदेव ने कहा है-

राम राम राम राम जाप
कलि कलेस लोभ मोह विनसी जाइ अहंताप

शुद्ध हृदय से ईश्वर पर ध्यान लगाना (ध्यानना) तथा नाम स्मरण करना, यही अन्तिम गति प्राप्ति का असली नुस्खा है।

इस प्रकार जाप की साधना हिन्दुओं और सिक्खों दोनों में ही बहुत मुख्य एवं प्रचलित है और इसे मोक्ष का साधन माना गया है।

हिन्दू धर्म के वेदों, उपनिषदों, गीता, पुराणों आदि में ''समर्पण'' ईश्वर प्राप्ति का सबसे मुख्य साधन है। गीता के कर्मयोग का मूलमन्त्र यही है। भक्ति साधना का भी आधार यही है। श्री अरविन्द के पूर्णयोग का रहस्य भी यही है। अनेक हिन्दू सन्तों ने समर्पित होकर ईश्वर का साक्षात्कार किया। महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन में समाधि प्राप्ति का सबसे मुख्य साधन समर्पण को ही कहा गया है-**ईश्वर प्रणिधानाद्वा।** (यो0सू01-23) इस प्रकार हिन्दू साधना में सबसे मुख्य सूत्र ईश्वर समर्पण ही है।

हिन्दू धर्म की ही भाँति सिक्ख धर्म में भी ''शरणागति'' अर्थात् समर्पण को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसके अनुसार भक्त जब अपनी इच्छा को उस अकाल पुरुष की इच्छा में समर्पित कर देता है तो वह लोक कल्याण के लिए कार्य करता है। कहा गया है कि झूठ का पर्दा कैसे उठे? सत्य के दर्शन कैसे हों? इसका एक ही उपाय है ''हुकमि रजाई चलणा'' जिसका अर्थ है उस मालिक की मर्जी पर अपने को छोड़ देना। उसकी आज्ञा के अनुसार चलना, उसके आदेश पर चलना यही एक रास्ता है। कहा गया है-

ठाकुर तुम्ह सरणाई आइया
उतरि गइयो मेरे मन का संसा जबते दर-सनु पाइया।।
अनबोलत मेरी विरथा जानी अपना नामु जपाइआ।
दुख नाठे सुख सहजि समाए अनद अनद गुण गाइआ।।

कहु नानक गुरि बन्धन काटे बिधुरत आनि मिलाइआ।।

सिक्ख धर्म के अनुसार कहा गया है कि मानवजन्म बहुमूल्य है। इसमें मानव अपनी इच्छा को ईश्वर में समर्पित कर अपनी परम गति को प्राप्त कर लेता है। ऐसा ही गीता में कहा गया है।

हिन्दुओं और सिक्खों, दोनों में ही आन्तरिक शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। हिन्दू धर्म में शुद्धि साधना का एक अंग है। हिन्दुओं के जीवन में सर्वत्र शुद्धि का बड़ा महत्त्व है। खान-पान, रहन-सहन, धार्मिक अनुष्ठानों और साधना में शुद्धि का विशेष ध्यान रखा गया है। इसी प्रकार सिक्खों के जीवन में भी शुद्धि को महत्त्व दिया गया है। कहा गया है-

कर इशनान प्रभु अपना तन मन भै अरोगा।

सिक्ख गुरुओं ने आन्तरिक विशुद्धि पर बहुत बल दिया है। कहा है कि शुद्ध हृदय से ईश्वर का ध्यानना तथा नामस्मरण करना यही अन्तिम गति प्राप्ति का असली नुस्खा है।

हिन्दू धर्म में झूठ न बोलने, सत्संग करने, धोखा न देने, लालच न करने, सन्तोष का पालन करने को महत्त्व दिया गया है। हिन्दू साधना में यम और नियम के अन्तर्गत इनकी चर्चा की गयी है, जिनका प्राय: सभी प्रकार की हिन्दू साधनाओं में पालन किया जाता है, यही सिक्ख धर्म में भी है। कहा गया है कि हे सिक्खो! तुम कर्ज न लो यदि लेना ही पड़े तो उसे ईमानदारी से अदा करो, झूठ न बोलो। यहाँ तक कि झूठे का साथ भी न दो। सत्संग करो, सत्य बोलो, सत्य से प्रेम रखो और ईमानदारी के साथ परिश्रम से कमाओ। धोखा न दो, लालच न करो आदि-आदि।

जपुजी साहिब में गुरुनानक देव जी ने कहा है-

मुंदा संतोखु सरमु पतु झोली धियान की करहि विभूति।
खिंया कालू कूआरी काइया जुगति डंडा परतीति।।
आयी पंथी सगल जमाती मनु जीतै जगु जीतु।
आदेसु तितै आदेसु।।
आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु-जुगु एको वेसु।।

अर्थात् तू सन्तोष की मुद्रा धारण कर अर्थात् सन्तोषी हो जा। श्रम की झोली ले पाने के लिये श्रम कर। ध्यान की विभूति लगा अर्थात् ध्यान कर। काल ही तेरी गुदड़ी है। काया तेरी कुँवारी रहे अर्थात् निष्कलंक पवित्र रहे। विश्वास ही तेरा डंडा हो। सबको तू अपनी जमात का मान अर्थात् सबको अपना मान। मन को तू जीत ले, मानो तूने सारा जग जीत लिया। जो आदि ईश है, उसे प्रणाम कर। जो अनादि है। जिसका कोई रंग-रूप नहीं, कोई अन्त नहीं और जुग-जुग से एक है।

सत्संग का हिन्दुओं में बड़ा महत्त्व है। सत्संग को मोक्ष प्राप्ति का ज्ञान प्राप्ति का

साधन माना गया है। गोस्वामी तुलसी दास जी ने कहा है-

बिन सत्संग विवेक न होई।
राम कृपा बिन सुलभ न सोई।।

इसी प्रकार सिक्ख धर्म में सत्संग करने पर बहुत बल दिया गया है।

जिस प्रकार हिन्दुओं में भजन, कीर्तन का महत्त्व है। वैसा ही सिक्खों में भी है। हिन्दुओं की तरह आपको सिक्खों में कीर्तन, भजन होता हुआ दिखाई देगा। रामायण आदि की तरह गुरु ग्रन्थ की वाणियाँ भी संगीतमय हैं, गायी जाती हैं। जैसे गुरु का महत्त्व हिन्दुओं में है वैसा ही सिक्खों में है।

हिन्दू धर्म के अनुसार-

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय।।
सिक्ख धर्म में भी कहा गया है-
गुरु गोविन्द दून्यू खड़े काके लागूँ पाई।
बलिहारी गुरु आपणौ जिमि गोविन्द दिया दिखाई।।

और भी कहा गया है-

गुरु मेरी पूजा गुरु गोविन्द।
गुरु मेरा पार ब्रह्म गुरु भगवन्तु।।

हिन्दू धर्म में इसे इस प्रकार कहा है-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वर.........

सिक्ख धर्म में मोक्ष की साधना के तीन तत्त्व बतलाये गये हैं-निज साधना, गुरु निर्देश और ईश्वर प्रसाद अर्थात् ईश्वर कृपा। ये हिन्दू साधना में पहले से ही मान्य है। साधना से जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह भी हिन्दू धर्म की ही मान्यन्ता के अनुसार ही चार प्रकार की है-सामीप्य, सान्निध्य, सारूप्य और सापूज्य।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिक्ख धर्म में वही साधना है जो कि हिन्दू धर्म में। मुख्य रूप से भक्ति सम्प्रदाय में। यदि भेद है तो बाह्य है, शब्दों का है। वास्तविक रूप में तो एक ही है।

हिन्दुओं की भाँति सिक्ख भी यही मानते हैं कि मनुष्य अपने कर्मों का फल पाता है चूँकि सिक्ख धर्म एक प्रकार से हिन्दू धर्म ही है, इसलिए हिन्दुओं की भाँति सिक्खों के धार्मिक अनुष्ठान और जीवन पद्धति प्राय: एक ही प्रकार की हैं। हिन्दुओं की भाँति सिक्खों में भी कुछ संस्कार किये जाते हैं। जन्म के पश्चात् पाँचवे दिन सिक्खों में बच्चे को अमृत छकाया जाता है जिसमें कुण्डी में जल में बताशे डाल कर बच्चे के मुख में कुछ बूंद एक

गुरुवाणी का पाठ करके डालते हैं। फिर कुछ बड़ा होने पर दूसरा संस्कार कराया जाता है, जिसमें उसे साथ में सिक्खों के पाँच चिह्न धारण कराये जाते हैं, और उसे स्वयं की तथा राष्ट्ररक्षा एवं चरित्र आदि की शिक्षा दी जाती है। इस अवसर पर गुरुवाणी का पाठ होता है और अमृत छकाया जाता है।

पहले हिन्दुओं की ही भाँति सिक्खों में भी वैसे ही विवाह संस्कार होता था। ब्राह्मण मन्त्रों के पाठ से वेदी का प्रयोग करके ही विवाह कराते थे। कालान्तर में इसमें कुछ परिवर्तन कर दिया गया। अब भाई जी फेरे कराते हैं, यज्ञ के स्थान पर गुरुग्रन्थ साहिब को साक्षी मानकर केवल चार फेरे कराते हैं। एक लावाँ कहते हैं फिर एक फेरा, फिर दूसरा लावाँ कहकर दूसरा फेरा। इसी प्रकार चारों फेरे एक-एक लावाँ पढ़कर कराये जाते हैं। फेरों के समय श्रीकृष्ण और रुक्मणी का नाम लिया जाता है। फेरों के पश्चात् पुष्पवर्षा के साथ आशीर्वाद दिया जाता है। नामधारी सिक्खों के यहाँ अभी भी वेदी से फेरे होते हैं।

हिन्दुओं ही की भाँति अन्तिम संस्कार होता है। मृतक को स्नान कराते हैं। शरीर पर दही, शहद मलते हैं। मुख में पवित्र जल डालते हैं। गुरुनानक देव, गुरुगोविन्द सिंह और गुरुग्रन्थ साहिब को साक्षी मानकर अरदास (प्रार्थना) करते हैं। प्रार्थना में मृतक को ईश्वर के चरणों में स्थान देने और उसके परिवार को कष्ट सहन करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की जाती है। फिर चिता को अग्नि दी जाती है। हिन्दुओं की तरह से अस्थिचयन भी किया जाता है। उन अस्थियों को पवित्र नदी में प्रवाहित किया जाता हैं, यहाँ तक कि तेरह दिन बाद तेरहवीं भी की जाती है। इतना ही नहीं हिन्दुओं की ही भाँति कुछ सिक्ख श्राद्ध भी करते हैं। बस अन्तर केवल इतना है कि मन्त्रों, श्लोकों के स्थान पर गुरु वाणियों का पाठ करते हैं।

जैसे हिन्दू तीर्थो पर जाते हैं, वैसे ही सिक्ख भी अमृतसर, आनन्दपुर, साहिब, पटना साहिब, हेमकुण्ड आदि स्थानों पर जाते हैं। साथ ही वे हरिद्वार आदि स्थानों पर भी जाते हैं। उन्हें गंगास्नान करते हुए आप खुद देख सकते हैं। यद्यपि गुरुनानक देव ने पौराणिक देवी-देवताओं को नहीं माना है, परन्तु बहुत सारे सिक्ख वैष्णो देवी आदि के मन्दिरों में दर्शन व पूजा अर्चना करने जाते हैं। अधिकतर सिक्ख शाकाहारी होते हैं। समय की माँग के अनुसार गुरु गोविन्द सिंह जी ने पाँच ककार (कड़ा, केश, कच्छ, कंघी और कृपाण) धारण कराये और खालसा पन्थ की स्थापना की, जो आगे चलकर सिक्ख धर्म के रूप में जाना जाने लगा।

गुरुनानक देव और उनके पिता श्री कालूलाल खत्री दोनों हिन्दू ही थे। गुरुनानक देव के दोनों पुत्र, श्रीचन्द और श्री लक्ष्मीचन्द भी दोनों ही हिन्दू थे जिन्होंने क्रमशः उदासीन पन्थ और निर्मल पन्थ चलाया। यें दोनों ही पन्थ हिन्दुओं के अत्यधिक निकट हैं। सिक्खों के दसों गुरु भी जन्म से हिन्दू ही थे। पंच प्यारे भी पहले हिन्दू ही थे, बाद में उन्हें सिक्ख बनाया गया।

गुरुनानक देव की विचार शैली भी पूर्ण रूप से हिन्दू विचार शैली है। वर्ण भेद, पौराणिक

देवी-देवता, अवतार वाद आदि को न मानने के कारण उन्होंने अपने को हिन्दू कहने से इन्कार कर दिया था। पर व्यापक अर्थ में सिक्ख धर्म ने हिन्दू धर्म की उसी प्रकार रक्षा की, जैसे शंकराचार्य, राणा प्रताप, शिवाजी, दयानन्द आदि ने अपने-अपने अनुसार की। सिक्खों का एक मुख्य कार्य गो और ब्राह्मण की रक्षा करना रहा है। उदाहरण के रूप में गुरु तेगबहादुर का बलिदान ब्राह्मणों की रक्षा के लिए ही हुआ था। सिक्ख का अर्थ शिष्य है। सिक्खों को हिन्दुओं का संरक्षक योद्धा माना जाता था। गुरु गोविन्द सिंह जी ने कहा है कि जब सब उपाय निष्फल हो जाये तब तलवार उठाना ही धर्म कहा जायेगा। ऐसी ही मान्यता मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम और योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र जी की रही है। हिन्दू शास्त्रों को पढ़ने से भी ऐसा ही स्पष्ट होता है। इस प्रकार हम फिर से कह सकते हैं कि सिक्खधर्म हिन्दू परम्परा में ही गिना जायेगा। हिन्दुओं की भाँति सिक्ख धर्म में कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के चतुष्पदी स्तम्भ पाये जाते हैं। अनेक गुरुद्वारों में उदासीन शाखा के लोग पुजारी बनते हैं, जो हिन्दुओं जैसे ही हैं। इन सब बातों के आधार पर ही भारत के संविधान धारा 25, 2बी स्पष्टीकरण में सिक्खों को हिन्दू की संज्ञा दी गयी है।

वर्तमान समय में सिक्खों और हिन्दुओं के बीच जो दूरी बढ़ गयी है उसका मुख्य कारण राजनैतिक है, जो एक प्रकार की संकीर्णता है। सिक्ख उग्रवादियों ने राजनैतिक स्वार्थों के लिए बहुत से हिन्दुओं को मारा और हिन्दुओं ने सिक्खों को मारा। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि सिक्ख उग्रवादियों ने तो बहुतसारे सिक्खों को मार डाला। श्री हरचन्द सिंह लोगोंवाल को भी इसलिए मार डाला गया था।

अन्त में मैं निष्कर्ष के रूप में यह कह सकता हूँ कि हिन्दुओं और सिक्खों में भीतर से कोई भेद नहीं है। बाह्य थोड़ा है। बहुत लम्बे समय तक यह हिन्दू धर्म में ही एक पन्थ के रूप में माना जाता रहा और वास्तव में अपने स्वरूप में आज भी वही है।

डॉ० त्रिलोक चन्द
रीडर दर्शन शास्त्र विभाग

इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि के साथ तादात्म्य नहीं

इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाना मात्र इन्द्रियसंयम नहीं कहा जा सकता। यह तो केवल एक पक्ष हुआ। आत्मसंयम की सफलता तो इन्द्रियों सहित मन द्वारा एकाग्रभाव से दृढ़ता के साथ आत्मा के विषय में ध्यान करने से हैं। जब मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं एवं बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, तब उसे परम गति कहते हैं-

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गति॥[1]

ज्ञान तीन प्रकार का होता है:-एक इन्द्रियगत ज्ञान, दूसरा बुद्धिगत ज्ञान और तीसरा सनातन ज्ञान। इन्द्रियगत ज्ञान, ज्ञान तो हैं लेकिन अधूरा ज्ञान है। आँखें देखती हैं लेकिन उसमें बुद्धिवृत्ति न मिलाओ तो सामने दिखने वाला व्यक्ति कौन है? कैसा है? इसका पता नहीं चलता। आँखें तो दिखा देती हैं कि ठूँठ में चोर है पर चोर है नहीं। आँख दिखा देती हैं सब, लेकिन वह सब वास्तविक ज्ञान नहीं है। इन्द्रियगत ज्ञान में जो आकर्षण पैदा होता है यदि उस आकर्षण को बुद्धि रूपी छाननी में छाना जाए तो मनुष्य पशु से भी नीचे गिर जायेगा। पशु तो अपने कर्मों को काट कर उन्नति की ओर जा रहे हैं, परन्तु इस प्रकार का मनुष्य अपने पुण्यों का नाश करके पतन की ओर जा रहा है। मनुष्य इन्द्रियगत ज्ञान के आकर्षण में बह जाता है। जिसके कारण वह बुद्धिगत ज्ञान का आदर नहीं कर पाता है। इन्द्रियगत ज्ञान में अगर धर्म का संपुट न हो, बुद्धि का उपयोग न हो तो कुछ न कुछ पदार्थ के सुख की लालसा बनी रहेगी। बुद्धिगत ज्ञान का आदर करने से विचार का उद्भव होता है कि यह भोगने के बाद का परिणाम क्या? शराब पीने के बाद का परिणाम क्या? अवैध वस्तुओं का उपयोग करने के बाद परिणाम क्या? धर्म विरुद्ध आचरण करने से परिणाम क्या? बुद्धि के द्वारा यह पता चलता है। बुद्धिगत ज्ञान का आदर करने से इन्द्रियगत आकर्षण टूट जाता है। इन्द्रियाँ भोग में खींचती हैं और बुद्धि परिणाम की खबर देती है। बुद्धि का हम जितना आदर करते हैं बुद्धि उतनी अधिक विकसित होती हैं। जितना हम बुद्धि का अनादर करते हैं इन्द्रियों की बाढ़ में बह जाते हैं। उतना ही बुद्धि मन्द हो जाती है। बुद्धि का विनाश होता है-**"बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥**[2]"इन्द्रियगत ज्ञान के आकर्षण से मनुष्य के चित्त में भिन्न-भिन्न प्रकार की कामनायें उत्पन्न होती हैं और यदि कामनायें पूरी हुई तो आकर्षण पैदा होता है। कामनाओं की पूर्ति में यदि किसी बड़े आदमी ने विघ्न डाला

---

[1] कठोपनिषद् स्वामीचिन्मयानन्द सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, मुम्बई द्वितीय अध्याय, तृतीय वल्ली, पृष्ठ संख्या 242

[2] जीते जी मुक्ति, पूज्यपाद सन्त श्री आराराम जी महाराज, श्री योगवेदान्त समिति, सन्तश्री आसाराम जी आश्रम, साबरमती, अहमदाबाद-380005 पृष्ठ संख्या 84

तो भय, यदि किसी बराबर के व्यक्ति ने विघ्न डाला तो ईर्ष्या और यदि किसी छोटे मनुष्य ने विघ्न डाला तो क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार कामना से ही क्रोध, ईर्ष्या और भय का जन्म होता है और कामनाओं का जन्म इन्द्रियगत ज्ञान का आदर करने से होता है। इन्द्रियगत ज्ञान का आदर करने तथा बुद्धि का अनादर करने से मनुष्य कामना रूपी भट्टी में जलता है। बुद्धिगत ज्ञान का आदर करने तथा मनुष्य का चित्त कामना रहित होता है। इन्द्रियगत ज्ञान अति तुच्छ है। जो लोग इन्द्रियगत ज्ञान को सर्वस्व मानते हैं उन लोगों के जीवन में बस, भोग...........भोग............भोग..........। परन्तु बुद्धिगत ज्ञान का आदर करने से मन निःसंकल्प होता है और मन के निःसकल्प होने से सामर्थ्य बढ़ता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मन ही सबका कारण है। यदि मन में सत्य, ज्ञान, वैराग्य का चिन्तन होता रहे तो मनुष्य एक अलौकिक एवं दिव्य जीवन को प्राप्त कर लेता है और मन से बार-बार इन्द्रियविषयों का चिन्तन होता रहने से विषयों के प्रति आसक्ति हो जाती है। आसक्ति की जहाँ प्रबलता हुई कामवेग का आना स्वाभाविक है और कामना की पूर्ति न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है-

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।[3]

क्रोध से मूढता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति के नाश होने से बुद्धि विनष्ट हो जाती है और बुद्धि के नष्ट होने से मनुष्य स्वयं पतित हो जाता है।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।[4]

जब मनुष्य के मन में क्रोध उत्पन्न होता है तब उसके हृदय और मस्तिष्क में घोर अंधकार छा जाता है। इस अंधकार या अविवेक के आ जाने पर वह न कहने योग्य बात कहता है, न करने योग्य काम करता है और न सोचने योग्य बात सोचता है। ऐसी स्थिति में उसकी स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मरणशक्ति के नष्ट होने पर सत्य-असत्य में अन्तर करने वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है। सत्य क्या है? असत्य क्या है? विधि एवं निषेध क्या है? कर्तव्य एवं अकर्तव्य क्या है? इसका ज्ञान जिसको नहीं रहता, वह सन्मार्ग पर चलेगा, इसकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। अत एव जिसकी बुद्धि नष्ट हो गयी है वह व्यक्ति स्वयं नष्ट हो जाता है।

राग द्वेष से सर्वथा रहित पुरुष ही जीवनमुक्त है। ऐसा व्यक्ति किसी प्राणी पदार्थ की आशा नहीं करता और न हीं वह किसी को पराधीन बनाने की चेष्टा करता है। जो मनुष्य अपने मन को अपने वश में कर लेता है, उसकी इन्द्रियाँ भी उसके वश में हो जाती

---

[3] गीतासार, अभिलाषदास, कबीर पारख संस्थान, अध्याय 2 पृष्ठ संख्या-63

[4] श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप, कृष्णकृपाश्रीमूर्ति, भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, मुम्बई, अध्याय-2 पृष्ठ संख्या-128

है। ऐसा व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों में अनासक्त होकर विचरता है और अन्तःकरण की पवितत्रा को प्राप्त कर लेता है-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छिति।।[5]

यहाँ पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मनुष्य इन्द्रियों के कौन-कौन से विषयों में अनासक्त होकर विचरता है? क्या वह अनासक्त होकर मैथुन करता है, शराब पीता तथा जीव हत्या करता है? नहीं ज्ञानी पुरुष को मैथुन करने, शराब पीने तथा हत्या करने का कोई हेतु ही कभी नहीं उत्पन्न हो सकता। ममता, मैथुन, नशा, कामना, क्रोध, अहंकार आदि का त्याग तो साधना के आरम्भिक काल में ही हो जाता है। दूषित भोंगों में लगा रहने वाला पुरुष ज्ञानी कैसा? जिनसे शरीरनिर्वाह नहीं चलता, जो केवल मन सुख के लिए कल्पित भोग है, साधक उन्हें पहले छोड़ देता है। फिर ज्ञानी पुरुष को राग द्वेष से रहित इन्द्रियों के विषयों में विचरने को क्यों कहा गया है? इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता हैं कि पाँचों इन्द्रियों के विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सर्वथा छोड़े नहीं जा सकते हैं प्रत्युत उनके दूषित अंशों को छोड़कर शुद्धरीति से शरीर-निर्वाह लेना पड़ता है। विवेकवान् सुनता, छूता, देखता, चखता तथा सूँघता है, परन्तु विकारोत्पादक नहीं, अपितु निर्वाहार्थ, वह भी अनासक्त होकर। सार यह हुआ कि ज्ञानी पुरुष कामादि भोगों को तो, पहले ही सर्वथा छोड़ चुका होता है। शेष बचा शरीरनिर्वाह, उसमें भी वह अनासक्त होकर विचरता है अर्थात् उसके सारे कार्य आसक्तिपूर्वक नहीं होते, अपितु यह सब वह अनासक्त होकर करता है। इस प्रकार वह मनःकल्पित भोगों को सर्वथा छोड़े हुए, शरीर निर्वाह में भी अनासक्ति पूर्वक विचरता है।[6]संयम से ही एकाग्रता आती है। तब मनुष्य संयत नहीं होता तो वह एकाग्र भी नहीं होता। जहाँ एकाग्रता नहीं है वहाँ शान्ति का अभाव ही है। जहाँ शान्ति का अभाव है, वहाँ सुख कहाँ मिल सकता है। सुख के लिए शान्ति प्राप्त करना चाहिए और इसके लिए मन को एकाग्र करना चाहिये। विषयों में भटकती हुई इन्द्रियों के पीछे मन का दौड़ना आपत्ति से रिक्त नहीं है। जब मन इन्द्रियों के पीछे दौड़ता है तब वह मनुष्य की बुद्धि को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे जल में विचरती हुई नाव को वायु पानी में डुबा देता है-

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।[7]

जो मनुष्य मन से इन्द्रियों को वश में रखता है तथा आसक्ति रहित होकर कर्मयोग में इन्द्रियों को लगाता है वह मनुष्य उत्तम है। इन्द्रियों को मात्र रोक लेना पर्याप्त नहीं है, मन का परिष्कार एवं एकाग्र होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा मनुष्य अनासक्त होकर

---

[5] श्रीमद्भगवद गीता, स्वामी चिन्मयानन्द, अ02.सांख्ययोग, पृष्ठ-108

[6] गीतासार, अभिलाषदास, अध्याय-2 पृष्ठ सं064-65

[7] श्रीमद्भगवद्गीता,स्वामी चिन्मयानन्द, तृतीय संस्करण, अध्याय-2 पृष्ठ सं.110

इन्द्रियों द्वारा सत्कर्म करता है, परन्तु किसी कर्म में उसकी किञ्चित् भी आसक्ति नहीं होती, क्योंकि उसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिये, वह तो लोक कल्याण के लिए कर्म करता है ऐसा पुरुष महान्, महान्तर ही नहीं महान्तम है-

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।[8]

ज्ञानी पुरुष के मन, शरीर तथा इन्द्रिय स्ववश होते हैं। वह कभी भी मन इन्द्रियों की दासता को स्वीकार नहीं करता तथा समस्त सामग्रियों का भी परित्याग कर देता है। वह केवल शरीर निर्वाह ही लेता है। अर्थात् खाता है स्वाद के लिए नहीं, अपितु पेट भरने के लिए। पहनता है-रूप सौन्दर्य बनाने के लिए नहीं, तन की रक्षा के लिए। इसी प्रकार उसके शरीरनिर्वाह के समस्त कार्य आसक्ति रहित होते हैं। इस प्रकार शरीर निर्वाह में आसक्ति न होने से वह शरीर की क्रिया करते हुए भी किसी प्रकार के विकार में लिप्त नहीं होता-

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।।[9]

इन्द्रिय मन और बुद्धि में काम का निवास स्थान है। अर्थात् मन से विषयों का चिन्तन कर, बुद्धि से विषयों में सुख निश्चय कर तथा इन्द्रियों से विषयों का उपभोग कर कामवासना का सिंचन किया जाता है और जब काम वासना द्वारा इन्द्रियाँ प्रमथित होकर व्याकुल हो जाती हैं, उस समय ज्ञान की बड़ी-बड़ी युक्तियों का पता नहीं रहता। यही काम वासना सहित मन, बुद्धि इन्द्रियों द्वारा ज्ञान का ढक जाना है। ऐसी अवस्था में मनुष्य मूढ़ हो जाता है-

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।[10]

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँच विषय हैं, श्रोत्र चक्षु, रसना तथा घ्राण, इन पाँच इन्द्रियों से क्रमशः इनका सम्बन्ध होता है। जिन विषयों का शरीरनिर्वाह में अनासक्ति पूर्वक उपयोग होता है, वह तो ठीक है परन्तु जो भोग केवल मनःकल्पित सुख के लिए भोगे जाते हैं जैसे-कामाचार, ममता, क्रोध, लोभ तथा अन्य नाना प्रकार के भोग, ये सब केवल दुःखों को ही उत्पन्न करते हैं-**"ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।"** सतगुरु कबीर ने कहा है-**"चाहत सुख दुःख संग न छाडा।"** अर्थात् मनुष्य चाहता है सुख, परन्तु दुखःदायी भोगों का संग नहीं छोड़ता। सुख भोग की लालासा ही दुःखों की

---

[8] गीतासार, अभिलाषदास, अध्याय-3 कर्मयोग, पृष्ठ सं. 73

[9] गीता04.29 गीता-रसामृत, शिवानन्द, सर्वन्सेग-सघं-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसीस,1986 पृष्ठ संख्या-129

[10] गीता03.40 श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद् एस.सी. भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, हरेकृष्णधाम, जुहू, मुम्बई, पृष्ठ संख्या-162

जननी है। जिसने अपने आपको इन्द्रिय-मन की सारी मलिनताओं से अछूता रखा, वह मनुष्य दु:खों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। शरीर से श्रेष्ठ या सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों से श्रेष्ठ या सूक्ष्म मन है मन से श्रेष्ठ या सूक्ष्म बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त श्रेष्ठ या सूक्ष्म है वह चेतन आत्मा है। जो अपने चेतन स्वरूप की सबलता, महत्ता, तथा सर्वोपरिता समझता है और जिसे स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने की अभिलाषा है, वह सत्संग-सद्ग्रन्थ आदि का आधार लेकर अपनी बुद्धि को अपने वश में रखता है, बुद्धि के नियन्त्रित हो जाने पर मन हाथ में आ जाता है और मन के स्ववश हो जाने पर इन्द्रियों पर स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है और इन्द्रियों पर स्वाधीनता का पाना ही शरीर पर विजय प्राप्त करना है-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥[11]

कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह शरीर एक रथ है इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है, तथा जीवात्मा रथी अर्थात् रथ का स्वामी है-

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिस्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥[12]

यदि रथी, सारथी पर शासन रखे तथा सारथी लगाम कड़ी रखे एवं घोड़े मचलने न पावे तो रथ निश्चित ही ठीक चलेगा। अर्थात् चेतन आत्मा बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखे तो शरीर को विषय-गड्ढे में जाने की बात ही नहीं हैं। जब चतेन आत्मा बुद्धि, की ओर, बुद्धि मन की ओर, मन इन्द्रियों की ओर लालायित रहते हैं, तब चेतन परतन्त्र रहता है और जब इन्द्रियाँ मन की ओर, मन बुद्धि की ओर बुद्धि चेतन (आत्मा) की ओर अभिमुख हो जाती हैं तब उच्चतम स्वतन्त्रता की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि इन्द्रिय, मन और बुद्धि के साथ तादात्म्य न रखकर इन्हें साधन समझकर प्रत्येक मनुष्य को कर्म करना चाहिए। इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर विजय प्राप्त करना अति आवश्यक है। जिसकी इन्द्रियाँ दमित नहीं है, मन शमित नहीं है और जिसकी बुद्धि नियन्त्रित नहीं है, वह एकाग्रता नहीं पा सकता। अत एव एकाग्रता पाने के लिए इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को अपने वश में करना चाहिए। जब मनुष्य बाहरी विषयों को छोड़ देता है तथा इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि पर विजय प्राप्त कर अन्त:करण को भी स्ववश तथा स्वच्छ कर लेता है, तब वह इच्छा, भय, क्रोध, लोभ एवं मोह आदि से रहित हो जाता है क्योंकि अन्दर-बाहर विषयों का त्याग हो जाने से तथा इन्द्रिय स्ववश हो जाने से कुछ कामना रहती ही नहीं। जब कामना नहीं रहती तब क्रोध उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार जिसने भोगविलास को छोड़ दिया, अपनी इन्द्रियाँ, मन तथा

---

[11] श्रीमद्भगवद् गीता, स्वामी चिन्मयान्द, अ0.3, कर्मयोग, पृष्ठ संख्या-163

[12] कठोपनिषद् स्वामी चिन्मयानन्द, प्रथम अध्याय, तृतीय वल्ली, पृष्ठ सं.147

बुद्धि को अपने वश में कर लिया, और कामना, क्रोध एवं भय से सर्वथा रहित हो गया, ऐसा पुरुष सदैव मुक्त ही है।

डा. प्रीति राठौर
प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग
डी.बी.एस. कालेज, गोविन्द नगर, कानपुर

गीता में श्रद्धा की अवधारणा

भारतीय धर्म परम्परा में श्रद्धा को आत्मनिष्ठा का सहज विश्वास बताया गया है। यह सहज विश्वास मनुष्य के अत:करण में स्वत: ही रहता है। मनुष्य की श्रद्धा जागृत करने के लिये किसी अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती है। यह मनुष्य की आन्तरिक स्वीकृति है, जो आत्मा के नियमों पर आधारित है। जो आत्मा पर आधारित होता है उसमें सहजता स्वत: ही रहती है। इसलिये विश्व के सभी धर्मों में श्रद्धा को विशेष महत्त्व दिया गया है और खासकर हिन्दू धर्म एवं दर्शन में तो यह आध्यात्मिकता का केन्द्र बिन्दु है। वेदों और उपनिषदों के बाद श्रद्धा की सबसे ज्यादा व्याख्या श्रीकृष्ण ने गीता में की है। श्रीकृष्ण ने गीता में अनेक आध्यात्मिक रूपों की चर्चा की है। उन्होंने जीवन के धार्मिक मूल्यों की अनेकानेक बातें बतायी है। जिसमें जीव, ब्रह्म, जगत्, माया, योग, कर्म, बुद्धि समभाव, स्वर्ग-नरक दु:ख-सुख, आचारगत नियम, गुरु आज्ञा, पुनर्जन्म, साधना तथा कर्मबन्धन के कारण और निवारण भी बताये हैं। इसके साथ ही उन्होंने ज्ञानयोग, कर्मयोग और बुद्धियोग की विस्तृत समीक्षा की है। अब प्रश्न उठता है कि इन सब बातों की सत्यता का प्रमाण क्या है? क्या पुनर्जन्म प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। यदि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध हो सकता है तो कोई नास्तिक होता ही नहीं। पाणिनि ने पुनर्जन्म को न मानने वाले को नास्तिक तथा मानने वाले को आस्तिक कहा है इन सब बातों को कैसे सिद्ध किया जाए? पुनर्जन्म के पक्ष में हम जो भी तर्क देंगे, नास्तिक उसके प्रतिपक्ष में अवश्य युक्ति प्रस्तुत कर देगा, क्योंकि प्रत्येक तर्क का प्रतितर्क अवश्य होता है। अत: आस्तिक भाव के लिये श्रद्धा ही एकमात्र साधन बच जाता है। मनु ने कहा है कि वेद से वे सत्य जाने जाते हैं, जिन सत्यों को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा नहीं जाना जा सकता-

प्रत्यक्षेणामित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
तद्विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

इसलिये सभी आस्तिकों को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के अतिरिक्त आगम प्रमाण भी मानना पड़ता है। साथ ही यह भी मानना पड़ता है कि आगम प्रमाण में अनुमान की बात ही क्या, प्रत्यक्ष प्रमाण का भी दखल नहीं है। प्रश्न होता है कि ऐसे में अनुमान प्रमाण अर्थात् तर्क का क्या महत्त्व है। उत्तर है कि तर्क का उपयोग वेद की रक्षा करने के लिये है, न कि वेद का खण्डन करने के लिये। वेद का मण्डन करे तो वह तर्क तो स्तुत्य है किन्तु वेद का खण्डन करे तो वह तर्क निन्दनीय है। क्योंकि वह हमारी श्रद्धा को ही काट देता है।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥[1]

वैदिक धर्म न तो अन्धविश्वासी है न बुद्धि विरुद्ध। वह तो अच्छे कर्मों की ओर प्रेरित करता है। अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का बुरा फल होता है। यदि हमारा यह विश्वास ही डिग जाये तो हमारा जीवन लक्ष्य से भटक जायेगा। इस विश्वास के बिना तो समाज भी विखण्डित हो जायेगा। आज यही हो रहा है। हम यह देखते हैं कि भ्रष्ट तरीकों से धनार्जन करने वाले फल-फूल रहे हैं और ईमानदारी से रोजी रोटी का गुजारा करना भी मुश्किल हो गया है। ऐसे में ईमानदार व्यक्ति का विश्वास डोल जाता है। लगता है धर्मशास्त्र ढ़कोसला है। अधर्माचरण से अनिष्ट होना तो दूर प्रत्युत अधर्मी पुरस्कृत हो रहे हैं। उन्हें पैसा ही नहीं पद और प्रतिष्ठा मिल रही है। फिर धर्माचरण क्यों किया जाये? यह स्थिति कोई नई नहीं है। मनु ने इस स्थिति को देख लिया था और यह घोषणा की थी कि ठीक है कि अधर्म से मनुष्य उन्नति करता है, सारे सुख वैभव भोगता है और अपने साथियों से आगे भी निकल जाता है किन्तु वह समूल जड़ से नष्ट हो जाता है।

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥[2]

बहुत कठिन है उस मूल को देख पाना जो अधर्माचरण से नष्ट हो जाता है। अर्थ से शरीर और काम से मन पुष्ट और तुष्ट हो जाते हैं किन्तु अधर्मपूर्वक अर्जित अर्थकाम अन्तरात्मा की शान्ति भंग कर देते हैं। जहाँ शान्ति नहीं है, वहाँ संसार का समस्त वैभव भी सुख नहीं दे सकता। इसलिये वेद व्यास ने तो धर्म के बिना अर्थ और काम की सिद्धि मानी नहीं। उनका कहना है कि मैं दोनों भुजायें उठाकर कह रहा हूँ। किन्तु मेरी बात कोई सुनता ही नहीं है, धर्म से ही अर्थ और काम की सिद्धि होती है, फिर धर्म का सेवन क्यों नहीं किया जाता?

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते॥

दो मनीषियों के दो विरोधाभासी स्वर हैं। मनु कह रहे हैं अधर्म से सब सुख वैभव मिलता है व्यास कह रहे हैं अर्थ काम की सिद्धि धर्म से ही होती है।

यह समझना होगा कि सरस्वती और लक्ष्मी में अन्तर है। सरस्वती व्यक्ति के व्यक्तित्त्व में निखार लाती है। लक्ष्मी के चिह्न हैं कि जमीन जायदाद धन दौलत और आभूषण हों किन्तु व्यक्तित्त्व दीनहीन हो। करोड़ों का बैंक बैलेंस है किन्तु शरीर व्याधियों का मन्दिर और मुख मलीन है। यह लक्ष्मीपति का रूप है। सरस्वती पुत्र के पास सम्पत्ति

---

[1] मनु0 2.11
[2] मनु04.174

इतनी ही है, जितने से उनकी आवश्यकता पूरी हो जाये। किन्तु शरीर कान्ति से देदीप्यमान है अधर्म से व्यक्ति लक्ष्मीपति बन सकता है किन्तु श्रीमान् धर्माचरण से ही बन पाता है। जब किसी करोड़पति के अधर्माचरण का भण्डा फूटता है तो न्यायालय में जाते समय अपना मुख भी वह कपड़े से ढ़क लेता है। श्रीहीन को मुख दिखाने से लज्जा आती है। यह अधर्माचरण से प्राप्त सुख का स्वरूप है। इसे ही मनु ने जड़ का सूख जाना कहा है। यह हम देख रहे हैं किन्तु फिर भी यदि अधर्माचरण से लाभ होता दिखाई दे तो मन फिसल ही जाता है। ऐसा क्यों होता है क्योंकि हममें श्रद्धा का अभाव है।

श्रीकृष्ण कहते हैं जो मनुष्य मेरे मत का नित्य श्रद्धायुक्त तथा अनसूयापूर्वक पालन करते हैं। वे ही कर्मबन्धन से छूट जाते हैं और जो अनसूयापूर्वक मेरे मत का पालन नहीं करते वे ज्ञान से विमूढ़ होकर मूर्च्छा में रहते हुये नष्ट ही हो जाते हैं।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥[3]

ज्ञानियों का मत है कि कर्म छोड़ देना चाहिए। गीता में इसे सांख्यमत कहा गया है। कर्मवादियों का कहना है कि जब तक जीवन है, कर्म करते ही रहना चाहिये। यह पूर्व मीमांसिसकों का मत है। इन दोनों ही मतों के समर्थन में श्रुति प्राप्त हो जाती है। श्रीकृष्ण का मत है कि कर्म तो करने चाहिये किन्तु फल की इच्छा नहीं करनी चाहिये, यही बुद्धियोग है। सांख्यमत कपिल का है, कर्ममार्ग हिरण्यगर्भ का है। बुद्धियोग गीता का है। इस बुद्धियोग में कर्म और ज्ञान दोनों का समन्वय हो जाता है। इसी बात को गीता ने इस रूप में कहा कि अल्पज्ञानी सांख्य और कर्मयोग को अलग-अलग बताते हैं, बुद्धिमान् लोग नहीं। **सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।** (गीता5.4॥) यही भगवान् के मत का वैशिष्ट्य है कि जिसके सम्बन्ध में वे कहते हैं कि साधक को उस मत में श्रद्धा रखनी चाहिये। यद्यपि इस मत का प्रतिपादन श्रीकृष्ण जी ने पहले युक्तिपूर्वक कर दिया है, तथापि कोई भी प्रखर तार्किक उनके मत के विरुद्ध तर्क दे सकता है, वस्तुतः तर्क से कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

श्रद्धा अपने से बड़े के प्रति होती है। गुरु और शास्त्र हमसे ऊपर हैं, उनके प्रति श्रद्धा का अर्थ है कि वहाँ तर्क का उपयोग उनके समर्थन में ही किया जाये। किन्तु बार-बार हमारा मन कुतर्क करता है और हम श्रद्धा से विचलित हो जाते हैं। इसलिये तो यह स्थिति बनती है कि हम धर्म का स्वरूप जानते हुए भी धर्म का आचरण नहीं कर पाते और अधर्म को हेय समझाने पर भी अधर्म से हट नहीं पाते।

---

[3] गीता3.31-32

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः। जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।।

ऐसे में मन की श्रद्धा को स्थिर बनाने के लिये बुद्धि का सहयोग आवश्यक है। तभी धर्म का अनुष्ठान नित्य हो सकता है और श्रद्धापूर्वक धर्मशास्त्रों की बातों को आचरण में लिया जा सकता है।

डॉ० किशनाराम बिश्नोई
प्रभारी
गुरु जम्भेश्वर धार्मिक अध्ययन संस्थान
गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार

आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संरक्षण

बंकिमचन्द चटर्जी के **'सुजलां सुफलां मलयजशीतलां शस्यश्यामलाम्'** में जिस पृथ्वी का चित्र अंकित है, उसमें पर्यावरण संरक्षण का समग्र जीवन दर्शन निहित है। आधुनिकतम वैज्ञानिक उपायों से भौतिक संसाधनों का विकास तो हुआ है। देश की जनसंख्या का एक बड़ा भाग छोटे-बड़े उद्योगों में लगा हुआ है। परन्तु यदि खुली हवा में साँस न लिया जा सके, प्रकृति प्रदत्त जल पिया न जा सके तथा पृथ्वी से उत्पन्न अन्न एवं फल खाया न जा सके तो विकास की सभी व्यवस्थायें अर्थहीन हो जायेंगी।

प्राचीन ऋषियों ने पर्यावरण की महत्ता को समझकर ही वन-उपवन लगाने की परम्परा आश्रम के साथ डाली थी। अग्नि, हवा, पर्जन्य, वरुण, सोम, सविता, पृथ्वी, वृक्ष इत्यादि सभी वैदिक ऋषियों के पूज्य रहे हैं। भारतीय दृष्टिकोण में प्रकृति हमेशा से पूजनीय रही है। प्राकृतिक शक्तियों की यह उपासना श्रद्धा संवलिता कृतज्ञता की अभिव्यक्ति थी। भूमंडलीय पर्यावरण संरक्षण हेतु प्राकृतिक शक्तियों के सन्तुलन विषयक ऋषियों द्वारा की गई मंगलकामना द्रष्टव्य है-

ओम् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।।[1]

पर्यावरण के प्रमुख घटक वृक्ष वनस्पतियों के संरक्षण के सन्दर्भ में प्राचीन दृष्टिकोण आज भी अत्यन्त उपयोगी एवं व्यावहारिक है। ज्ञातव्य है कि कुछ वृक्षों में एक रस स्राव 'मेलाटोनिन' पाया जाता है।[2] यह हारमोन केले, पीपल और बरगद जैसे पेड़ों में सर्वाधिक परिमाण में पाया जाता हैं। शायद इसीलिये धार्मिक और आध्यात्मिक कृत्यों में इनका ज्यादा महत्त्व बताया गया है। ज्यादातर धर्मकृत्यों में केले के तने और पत्तियों के प्रयोग का विधान है। गीता में श्रीकृष्ण ने पेड़ों में स्वयं को पीपल बताया है। बुद्ध को बुद्धत्व की प्राप्ति बरगद के नीचे ही प्राप्त हुई थी। वैज्ञानिकों की मान्यता है कि इस हारमोन की वजह से व्यक्ति को चिरयुवा बनाया जा सकता है। इसके अतिरक्ति वृक्ष वनस्पतियों में चेतना की स्वीकृति, देवत्व की प्रतिष्ठा, पारिवारिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति पाप-पुण्य की अवधारणा आदि प्राचीन अवधारणायें पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

मत्स्य पुराण में पुत्रों से भी अधिक वृक्षों के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाला निम्न कथन पर्यावरण की दृष्टि से अतिसार्थक है-

---

[1] शुक्ल यजुर्वेद

[2] द्रष्टव्य अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, अक्तूबर 1996 पृ0 17

'दशकूपसमो वापी, दशवापी समो ह्रदः।
दशह्रदसमः पुत्रो, दशपुत्रसमो द्रुमः॥'

अर्थात् दसकूप के समान पुण्य एक वापी बनाने में, दस वापी का पुण्य एक तालाब बनवाने में, दस तालाबों का पुण्य एक पुत्र से तथा दस पुत्र के समान पुण्य एक वृक्ष लगाने से होता है। कुपुत्र या धर्मविमुख पुत्र से अपयश की आशंका रहती है, लेकिन वृक्षरूपी पुत्र तो सदा कल्याणकारी होते हैं-

'पुत्रैर्विना शुभफलं न भवेन्नराणाम्,
दुष्पुत्रकैरपि तथोभयलोकनाशः।
एतद्विचार्य सुधिया परिपाल्यवृक्षान्,
यत्नेन वेदविधिना परिकल्पनीयाः॥'[3]

वृक्षों की पुत्ररूप से प्रतिष्ठा तथा इससे भी बढ़कर उनके प्रति कृतज्ञता एवं श्रद्धा का भाव प्रायः प्रत्येक पुराण में मिलता है। वृक्षों की धर्मपुत्र या पुत्ररूप में मान्यता का उल्लेख अग्निपुराण में निम्नप्रकार से किया गया है-

तस्माद् सुबहवो वृक्षा रोप्या श्रेयोऽभिवाञ्छता।
पुत्रवत् परिपाल्याश्च ते पुत्रा धर्मतः स्मृताः॥ अग्नि पुराण

प्रायः समस्त संस्कृत साहित्य पर्यावरण संरक्षण के इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से परिचित था। महाभारत में तो वृक्षों को पुत्र के समान मनुष्यों को तारने वाला तथा यश प्रदान करने वाला बताया गया है

पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान्।
वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र तु॥[4]

न केवल वृक्ष वनस्पतियों वरन् धार्मिक व्रत अनुष्ठान, त्यौहार, पूजापद्धति इत्यादि सभी क्रियाओं में पर्यावरण संरक्षण की व्यापक भावना समाहित है। श्रीकृष्ण का गोवर्धन पूजा का संदेश पर्यावरण के प्रति इसी सजगता का निदर्शक है। पर्वत शिखर मेघों को रोककर वर्षा के कारक बनते हैं। राजस्थान की अरावली पर्वत श्रेणियों के आस-पास अच्छी वर्षा तथा शेष भाग में तपता दहकता रेगिस्तान इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। कृषि का सफल होना मेघों पर निर्भर है। संस्कृत कवि कालिदास ने मेघदूत में मेघ की इसी महत्ता को समझकर ही उससे भ्रातृत्व सम्बन्ध स्थापित किया है। यदि इसके मर्म को न समझकर इसके स्वरूप धूम, ज्योति, जल और हवा को प्रदूषित होने से नहीं बचाया गया तो उसकी

---

[3] ब्रह्मवैवर्त पुराण

[4] अनुशासन पर्व30

तेजाबी वर्षा जल को तेजाब में बदल देगी। जो मानव ही नहीं बल्कि समूची प्रकृति के विनाश का कारण सिद्ध होगी।

पर्यावरण की शुद्धता का रहस्य भी हमारे त्यौहारों में छिपा है। निदर्शन के लिये होली का त्यौहार ही लें। शीतकाल का संचित कफ वसन्त की गरमी पाकर पिघलता है। उसके सब कीटाणु शरीर में फैलकर नाना रोग पैदा करते हैं। यह ऋतु कफरोग के लिये आयुर्वेद और लोक में प्रसिद्ध है। विशेषकर बालकों को भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग इस मौसम में होते हैं। घरों में शीतकाल में पूर्व गरमी न पहुँचने के कारण कई प्रकार की हानि करते हैं। शरीर में उत्साह लाना, कूदना, अग्नि जलाकर उसके पास रहना, ऊँची आवाज से गाना आदि सभी काम कफ के निवर्तक हैं। इन वैज्ञानिक अनुष्ठानों से कफ रोगों की निवृत्ति में किसी को सन्देह नहीं। इस अवसर पर हास्यरस प्रधान गान और यथेच्छ भाषण स्वभावत: उच्च स्वर से बोले जाने के कारण कफ हट जाने से फेफड़े साफ हो जाते हैं।

आज का मानव पूर्णतया भौतिकता में निमग्न है। स्वार्थ के वशीभूत मानव अपने परिवेश के प्रति संवेदना शून्य हो गया है। पर्यावरण संरक्षण की प्राचीन महत्ताओं को अज्ञानतावश या आधुनिकतावाद के कारण न समझकर विनाश के दलदल में फंसता चला जा रहा है। वनों की अंधाधुंध कटाई से पर्यावरण सन्तुलन का आधार डगमगा रहा है। सबके मूल में एक संकट है-जनसंख्या वृद्धि। आज हम जहाँ रह रहे हैं, उसके साधन सीमित हैं। आबादी बढ़ने के साथ-साथ अन्न उत्पादन भी बढ़ना चाहिये। खाद्यान्न उत्पादन नई-नई वैज्ञानिक विधियों द्वारा बढ़ाया जा रहा है। इससे तात्कालिक राहत तो जरूर मिल रही है। लेकिन इन रासायनिक उर्वरकों तथा कीटनाशक दवाओं का प्रयोग उपभोक्ता और मिट्टी की उर्वरता दोनों के लिये गम्भीर परिणाम की चेतावनी है। दूसरी मुख्य समस्या आवास की है। जमीन का दो तिहाई भाग जल से भरा है। एक तिहाई हिस्से में पर्वत, वन सभी सम्मिलित हैं। यदि आवास योग्य भू-भाग में ही आबादी को रखा जाय तो यह एक छोटे से बाड़े में अनेक पशुओं को रखने जैसी स्थिति हो जायेगी। ऐसे वातावरण में सभी के लिये शुद्ध हवा, प्रकाश एवं जल की कल्पना निरर्थक है। ऐसे में विकल्प बचता है वनों को काटा जाये, पहाड़ों को समतल बनाया जाये। इससे प्रकृति और पर्यावरण दोनों प्रभावित होंगे। जंगल कटेंगे तो वर्षा घटेगी, आबादी बढ़ेगी तो उद्योग बढ़ेंगे। उद्योग बढ़ेंगे तो प्रदूषण बढ़ेगा और पर्यावरण अस्वास्थ्यकर बनता चला जायेगा। विश्व जन सांख्यिकी रिपोर्ट के अनुसार दुनियाँ की कुल आबादी आज से 9 हजार साल पूर्व मात्र 45 लाख थी। सन् 1501 में यह 44 करोड़, 1630 में 52 करोड़, 1855 में 98 करोड़, 1950 में 210 करोड़, 1975

में 400 करोड़ तथा 1996 में 620 करोड़ हो गई।[5] इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि को पर्यावरण प्रदूषण का सबसे प्रमुख कारण कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त विलासिता के लिये किये जा रहे आविष्कारों से भी पर्यावरण का खतरा मंडरा रहा है। पर्यावरण प्रदूषण का गम्भीर स्रोत परमाणु अस्त्रों के परीक्षण निर्माण और दुर्घटना से जुड़ा है।

आधुनिक विकास की जो भी रीति या नीति रही है, इसके द्वारा भौतिक संसाधनों का विकास तो हुआ है, परन्तु मानवता का अपेक्षित विकास नहीं हुआ। प्रकृति और मनुष्य एक दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरे के सद्भाव की कल्पना नहीं की जा सकती है। प्राचीन ऋषि आश्रमों में जहाँ विवाह, पुत्र जन्मोत्सव आदि शान्तिमय वातावरण में सम्पन्न होते थे, वहीं आज छोटे-छोटे कार्यों में भी लाउड स्पीकरों की भयावह ध्वनि लोगों के सुनने की शक्ति में ह्रास पैदा कर रही है। स्वस्थ पर्यावरण में पलने के कारण ही दुष्यन्त पुत्र भरत में सिंह शिशु के साथ खेलने की क्षमता रही है। यज्ञाग्नि में डाली गई विधिवत् आहुतियों से वर्षा होती है। जिससे शस्यश्यामला धरती परिकल्पित है। किन्तु आज बढ़ते उद्योगों के कारण वायु प्रदूषण का गम्भीर खतरा बना हुआ है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भौतिक विकास के लिये किये जा रहे सम्पूर्ण प्रयास पूर्णतया व्यर्थ हैं। अपितु आवश्यकता है वर्तमान विचारधाराओं तथा प्राचीन तथ्यपूर्ण मान्यताओं में समन्वय स्थापित करने की। जरूरत औद्योगिक विकास और भौतिक उन्नति को अवरुद्ध करने की नहीं, अपितु इसके मूल में प्रवाहमान पाश्चात्त्य एकांगी विचार धारा में परिवर्तन की है। इसके लाभ और हानि को समझते हुए इस उन्मत्त हाथी के ऊपर अंकुश रखा जाये। भौतिक प्रगति के इस बाघ को यदि खुला छोड़ा गया तो यह किसी को छोड़ने वाला नहीं है। इस टेक्नोलॉजी और बौद्धिक विकास, आर्थिक विकास के पीछे आध्यात्मिकता का अंकुश उसी प्रकार रखा जाये जिस प्रकार पागल हाथी के सूँड के ऊपर एक अंकुश रखा जाता है। आध्यात्मिकता का अभिप्राय केवल धार्मिक अनुष्ठानों से नहीं है, बल्कि मानवता से है, प्राणिमात्र की कल्याणभावना से हैं तथा कर्तव्य परायणता से हैं। जिसके विकास से परमाणु अस्त्रों की विभीषिका तथा भीषण रक्तपातादि जनित प्रदूषणों से सहज मुक्त हुआ जा सकेगा। पर्यावरण प्रदूषण का कारण बने इन अस्त्र-शस्त्रों के निर्माणादि पर जो धन-बल लग रहा है, उसे राष्ट्र के अन्यत्र विकास में लगाया जा सकेगा। बड़े-बड़े उद्योगों से उत्पादन

---

[5] द्रष्टव्य अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, दिसम्बर 1996 पृ0 33

तो बढ़ता है किन्तु उनसे उत्पन्न होने वाली घातक विषाक्तता उत्पादन की अपेक्षा अधिक मँहगी पड़ती है, प्रदूषण वृद्धि रोकने के लिये बड़े उद्योगों को कुटीर उद्योगों में परिवर्तन किया जाये। जिससे उत्पादन में कमी तो हो सकती है किन्तु दूरगामी परिणामों की दृष्टि से देखा जाये तो बड़े उद्योगों की अपेक्षा प्रदूषण में कमी अवश्य होगी। आवश्यकताओं को कम करके काम चलाया जा सकता है। किन्तु उद्योगों के प्रदूषण की प्रतिक्रिया स्वरूप होने वाले प्राकृतिक विक्षोभों को सहन करना असह्य है। पर्यावरण के परिशोधन के लिये प्राचीन ऋषि चिन्तन को जनसामान्य के चिन्तन में उतारा जा सकता है। पर्यावरण की शुद्धता के साथ-साथ कर्तृत्व की निकृष्टता तथा चिन्तन की भ्रष्टता का परिष्कार सम्भाव्य है प्राचीन चिन्तन की सार्थकता और उद्देश्य को समझ लेने पर शायद हम पर्यावरण को बचा पायेंगे और मानव जीवन को सुरक्षित कर सकेंगे।

डॉ० जगत नारायण त्रिपाठी
सहायक प्राध्यापक-संस्कृत
शासकीय संस्कृत महाविद्यालय
देवेन्द्र नगर, पन्ना (म0प्र0)

पौराणिक सन्दर्भों व काव्य रूढ़ियों के प्रतिनिधि कवि

बाणभट्ट

बाणभट्ट के गद्यकाव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उनके विस्तृत वर्णन हैं, जहाँ शब्दों का कलात्मक विनिवेश पाया जाता है। अलंकृत शैली की यह प्रधान विशेषता है कि उसमें लघु कथानक का विस्तार से वर्णन किया जाता है। इस प्रकार बाण ने अपने अलंकृत गद्यकाव्य में विस्तार की छूट मिलने से जिस विषय का भी वर्णन किया है उसका चित्र सा उपस्थित कर दिया है। इसके लिए वर्णन में अनुरणात्मक ध्वनि और लय को वे सहज ही उपस्थित कर देते हैं। उनकी उपमाएँ विषय को और भी विशद और रंगीन बना देती हैं। बाण ने अपने विस्तृत वर्णनों में पहले स्वभावोक्ति के द्वारा विषय का यथार्थ चित्रण किया है। तत्पश्चात् विषय के सम्पूर्ण स्वरूप को अधिक स्पष्ट और वास्तविक बनाने के लिए उपमा और उत्प्रेक्षा का प्रयोग करते हैं और अन्त में शब्दचित्र का वैचित्र्य लाने के लिए श्लेष, विरोध, परिसंख्या आदि का सन्निवेश करते हैं।

बाण के गद्य काव्य की दूसरी विशेषता प्रकृति के भयावह और मधुर दोनों रूपों का विशद चित्रण किया है। बाण प्रकृति के परम प्रेमी थे। अनेक स्थानों का भ्रमण करने के कारण कवि ने प्रकृति के रंगीन, मधुर, मृदु, रूक्ष और भयानक आदि अनेक रूपों का दर्शन कर अपने काव्य में उतारा है।

बाणभट्ट के गद्यकाव्य की तीसरी विशेषता मानवीय सौन्दर्य का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है। कादम्बरी और महाश्वेता के सौन्दर्य में बाण की कल्पनाशक्ति पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। कादम्बरी के सौन्दर्य में कवि की कल्पना की उड़ान द्रष्टव्य है-

अभिनवयौवनपवनक्षोभितस्य रागसागरस्य तरंगाभ्यामिवोद्गताभ्यां विद्रुमलतालोहिताभ्यामधराभ्यां रक्तावदातस्वच्छकान्तिना च मदिरारसपूर्ण-माणिक्यशुक्तिसंपुटच्छविना कपोलयुगलेन रतिपरिवादिनीरत्नकोणचारुणा नासावंशेन च विराजमानम्।[1]

इसी प्रकार महाश्वेता की अवदात देहच्छवि का वर्णन[2] और संचारिणी-इन्द्रनीलमणि की पुतली की भाँति चाण्डाल कन्या का रूप भी कम मनोहारी नहीं हैं।[3] बाण ने अपने

---

[1] कादम्बरी-पृ0 701.

[2] कादम्बरी-पृ0 497. अन्तर्द्रष्टुरपि लोचनपथप्रविष्टेन श्वेतिमानमिव मनोनयन्तीम्, अतिधवलीप्रभा-परिगतदेहतया स्फटिकगृहगतामिव दुग्धसलिलमग्नामिव विमलचेलांशुकान्तरितमिव आदर्शतलसंक्रान्तमिव शरदभ्रपटलतिरस्कृतमिव अपरिस्फुटविभाव्यमानावयवाम्......................

[3] कादम्बरी-पृ0 36. असुरपरिगृहीतामृतापहरणकृतकपटपटुविलासिनीवेषस्य श्यामतया भगवतो हरेरिवानुकुर्वतीम्, संचारिणीमिव इन्द्रनीलमणिपुत्रिकाम्, गुल्फावलम्बितनीलकुञ्चकेनावच्छन्नशरीरम्,

सौन्दर्य वर्णन में काव्य रूढ़ियों का उपयोग किया है। उन्होंने वक्रोक्ति मार्ग को अपनाया।

वक्रोक्ति मार्ग एवं पाञ्चाली रीति का प्रतिनिधित्व-

बाण सौष्ठव काल (अलंकृत) के महान् कवि थे। तत्कालीन उत्कृष्ट शैली के आदर्श थे। वक्रोक्तिमय श्लिष्ट प्रयोग, सरस कल्पनाएं, समास बहुलता तथा वस्तुवर्णन में दीर्घकाय वाक्यों की योजना होती है। बाण के गद्य काव्य में ये विशेषताएं स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। बाण ने अपने गद्य काव्य में वक्रोक्तिमय सरल श्लिष्ट प्रयोग किए हैं। आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को व्यापक रूप में वाक्य का भूषण माना है। अतः उनके अनुसार काव्य का वक्रोक्ति गर्भित होना आवश्यक है। यथा-

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।[4]
वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।[5]

भामह ने अतिशयोक्ति अलंकार के निरूपण में वक्रोक्ति का महत्त्व स्पष्ट कर दिया है। पहले वे अलौकिक वर्णन को अतिशयोक्ति अलंकार बताते हैं और फिर वक्रोक्ति का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं-

सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम्।
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।[6]

बाण के काव्य में जैसा शब्द वैचित्र्य मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। बाण ने भी वक्रोक्तिमार्ग अपनाया है। उनके गद्यकाव्य में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों की बहुलता है और इन अलौकिक वर्णनों में उन्होंने वक्रोक्ति का प्रयोग किया है।

अलंकार सम्प्रदाय में तो समस्त अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को स्वीकार किया गया है। भामह अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। बाणभट्ट ने अलंकार सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति मार्ग को अपने गद्यकाव्य के लिए उपयुक्त माना है। उनकी कादम्बरी में वक्रोक्तिमय श्लिष्ट प्रयोगों की भरमार है। यथा-

निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्त्रजश्चम्पककुड्मलैरिव।[7]

आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में भामह द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति के महत्त्व को

उपरिरक्तांशुकरचितावगुण्ठनाम्, नीलोत्पलस्थलीमिव निपतितसंध्यातपाम्, एककर्णावसक्तदन्तपत्र-प्रभाधवलितकपोलमण्डलाम्, उद्यदिन्दुकिरणच्छुरितमुखीमिव विभावरीम् ....।

[4] काव्यालंकार 1.16

[5] काव्यालंकार 5.66

[6] काव्यालंकार 2.84-85.

[7] कादम्बरी भूमिका 9

इन शब्दों में स्वीकार किया है।-

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रयोगवक्रोक्तिषु श्रियम्।[8]

इस प्रकार अलंकृत शैली में श्लेष का महत्त्व है और श्लेष का पोषण वक्रोक्ति से होता है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है।[9] वक्रोक्ति से युक्त श्लिष्ट प्रयोग से ही बाणभट्ट कादम्बरी में अलौकिक एवं अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करने में सफल हुए हैं।

पाञ्चाली रीति

बाण पाञ्चाली रीति के प्रतिनिधि कवि हैं। पाञ्चाली रीति की प्रंशसा भोज ने इस प्रकार विशेषित की है।

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।
शीला भट्टारिका वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि।। [10]

बाण भी भाषा में पाञ्चाली रीति के अनुरूप समान रूप से गुम्फन कर शब्दों और अर्थों का अपूर्व समन्वय उपस्थित करते हैं। कादम्बरी में बाण ने राजकुल का वर्णन करते हुए उत्कृष्ट कवि की विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार किया है-

उत्कृष्टकवि गद्यमिव विविधवर्णश्रेणीप्रतिपाद्यामानाभिनवार्थसंचयम्।

अर्थात् उत्कृष्ट कवि के गद्य में अभिनव अर्थ और चमत्कृति का अपूर्व समन्वय होना चाहिए। बाण ने हर्षचरित और कादम्बरी के प्रारम्भिक श्लोकों में अपने इस लक्ष्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति भी की है-

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।। [11]

बाण के गद्यकाव्यों में उपर्युक्त सभी गुणों का सुन्दर समन्वय है। बाण की दृष्टि में एकांगी रचना सर्वप्रिय नहीं हो सकती, अतः उन्होंने प्रयत्न किया है कि श्लेष, अर्थगौरव, उत्प्रेक्षा और समस्त पदावली भावानुकूल भाषा और विषयानुरूप शैली इन सभी का एकत्र सन्निवेश हो। उन्होंने कथासरित्सागर के नीरस कथानक को इस प्रकार संजोया है कि उसमें कुछ भी प्राचीनता नहीं झलकती, हर वृत्तान्त नया होकर ही सामने आया है। चाहे विदिशा

---

[8] काव्यादर्श 2.36

[9] वक्रोक्तिजीवितम्

[10] सरस्वती कण्ठाभरण. भोज

[11] हर्षचरित-8

का वर्णन हो या राजा शूद्रक का, चाण्डाल कन्या का या शुक का। विन्ध्याटवी तो साकार होकर पाठक के समक्ष प्रस्तुत होती है।[12] जाबालि का आश्रम जहाँ अन्धवृद्ध तापस यष्टियों के सहारे वानरों द्वारा कुटियों में से बाहर भीतर लाये ले जाए जा रहे हैं, आदि विषय की नीवनता के साथ-साथ काव्य-रूढ़ियों से ओतप्रोत हैं।

प्राकृतिक वर्णनों में विविध दृश्यों का विशद वर्णन करने के पश्चात् बाण ने श्लेष तथा परिसंख्या आदि अलंकारों की सुन्दर छटा से युक्त वाक्य प्रयुक्त किए हैं। पम्पासरोवर के वर्णन में समस्त किन्तु मधुर शब्दावली की शोभा विशेष रूप से द्रष्टव्य है-

उन्निद्रारविन्द-मधुबिन्दु-निष्यन्द-बद्धचन्द्रकम्, अलिकुलपटलान्ध-कारितसौगन्धिकम्, सारसितसमदसारसम्, अम्बरुह-मधुपानमत्तकलहंस-कामिनीकृतकोलाहलम्, अनिलोल्लोसितकल्लोलशिखरसीकरारब्धदुर्दिनम्, अशाङ्कतावतीर्णाभिरम्भः क्रीडारागिणीभिः स्नानसमये वनदेवताभि् केशपाशकुसुमैः सुरभीकृतम्, ... अगाधमनन्तमप्रतिममपांनिधानं पम्पाभिधानं पद्मसरः।[१३]

जहाँ कवि ने पम्पा सरोवर के वर्णन में मधुर पदावली प्रयुक्त की है, वहीं वह विन्ध्याटवी, चण्डिका शबर सेनापति आदि के भयानक रूपों का वर्णन करने के लिए कठोर और कर्णकटु शब्दों की योजना करता है।

ग्रीष्म का यह वर्णन देखिए-

"रुधिराहुतिभिरिव परिभद्रमस्तवकवृष्टिभिस्तर्पयन्तस्तारवान् विभावसून ...."[14]

जाबालि के आश्रम का वर्णन कालिदास के कण्व आश्रम जैसा स्वाभाविक है यथा-

अनतिदूरमिव गत्वा दिशि दिशि सदा सन्निहितकुसुमफलैस्तालतिलकतमालहिन्तालबकुलबहुलैरेलालताकुलितनालिकेरी कलापैः .... आश्रममपश्यम्।"[१५]

बाण ने अपने गद्य में समासों का प्रचुरता से प्रयोग किया है, तीन प्रकार की समास शैली उनके गद्य में मिलती है (1) दीर्घ समास वाली उत्कलिका शैली (2) अल्प समास वाली चूर्णक शैली (3) समास रहित आविद्ध शैली। बाण के वर्णन उत्कलिका शैली में

---

[12] कादम्बरी-कथामुखम्-पृ073. क्वचित्प्रलयवेलेव महावराहदंष्ट्रासमुत्खातधरणिमण्डला, क्वचिद्-दशमुखनगरीव चटुलवानरवृन्दभज्यमानतुंगशालाकुला, क्वचिदचिरनिर्वृत्तविवाहभूमिरिव हरितकुश-समित्कुसुमशमीपलाशशोभिता, क्वचिदुद्वृत्तमृगपतिनादभीतेव कण्टकिता, क्वचिन्मत्तेव कोकिल-कुलप्रलापिनी, क्वचिदुन्मत्तेव वायुवेगकृततालशब्दाः, क्वचिद्विधवेवोन्मुक्ततालपत्रा, क्वचित्समर- भूमिरिव शरशतनिचिता .... पुष्पवत्यपि पवित्रा विन्ध्याटवी नाम।

[13] कादम्बरी-कथामुखम्-पृ082.

[14] हर्षचरित।

[15] कादम्बरी पूर्वभाग पृ0141.

प्रारम्भ होते हैं और आविद्ध शैली में समाप्त होते हैं। बाण की अल्प समास वाली चूर्णक शैली प्रकृति वर्णन के सन्ध्याकालीन चित्रण में इस प्रकार दिखाई देती है-

अनेन च समयेन परिणतो दिवसः। स्नानोत्थितेन मुनिजनेनार्घविधिमुपपादयता यः क्षितितले दत्तहस्तमम्बरतलगतः साक्षादिव रक्तचन्दनांगरागं रविरुदवहत्। ऊर्ध्वमुखरैर्कबिम्बविनिहतदृष्टिभि- रुष्मपैस्तपोधनैरिव परिपीयमानतेजः प्रसरो विरलातपस्तनिमानमभजत् .... क्षणेन चोन्मुखेन मुनिजनेनोर्ध्वविप्रकीर्णैः प्रणामाञ्जलिसलिलैः क्षाल्यमान इवागलदखिलः सन्ध्यारागः।[16]

कादम्बरी उत्तर भाग में उत्कलिका शैली का उदाहरण द्रष्टव्य है-

“कृतहारश्च वैशम्पायनविरहशोकाग्नेर्बहिरपि सन्तापदानाय सहायकमिव कर्तुमुपरिस्थितश्चातिकष्टमष्टास्वपि दिक्षु............”[17]

स्थानस्थानेषु पवनबलकुटिलिभिर्कोटिहोमधूमलेखाभिरुल्लासन्तीभिरयम् महिषविषाणकोटिभिरिवोल्लिख्यमानं कृतान्तपाशगुरराभिरिवावेष्ट्यमानम्........”[18]

बाण ने इस वर्णन को समासरहित आविद्ध शैली में इस प्रकार पूर्ण किया है।

‘शून्यमिव सुप्तमिव मुषितमिव विलक्षितमिव छलितमिव मूर्च्छितमिव स्कन्धावार समाससाद।[19]**’**

पौराणिक सन्दर्भ

कादम्बरी में पौराणिक सन्दर्भ दो रूप में आए हैं। एक तो किसी स्थल के पूर्ण इतिहास के रूप में और दूसरे विशद वर्णनों में सादृश्यविधान के रूप में। बाण अपने वर्णनों में पौराणिक सन्दर्भ प्रस्तुत करने में अधिक रुचि लेते हैं। चाहे वह विन्ध्याटवी का वर्णन हो या शबर सेनापति का, बाण की प्रतिभा सादृश्यविधान में पौराणिक सन्दर्भ प्रस्तुत करने में जागरूक परिलक्षित होती है।

कादम्बरी में लोककथा की कई रूढ़ियाँ हैं- यथा सर्वशास्त्र विशारद मनुष्य की तरह बोलता हुआ शुक, त्रिकालदर्शी जाबालि, स्वर्गीय वातावरण में रहने वाले किन्नर, गन्धर्व और अप्सराएँ, शाप के कारण आकृति परिवर्तन, पुनर्जन्म की धारणा तथा पूर्वजन्म के जातिस्मरण से संबद्ध कई लोककथा रूढ़ियों की बाण ने विनियोजना की है। बाण के पात्र चन्द्रलोक, गन्धर्वलोक तथा मृत्युलोक में निर्बाध गति से संचार करने वाले आदर्श पात्र हैं। पंचवटी का वर्णन पौराणिक सन्दर्भ से संयुक्त है-**‘यत्र च दशरथ-**

---

16 कादम्बरी पूर्वभाग पृ0176.

17 कादम्बरी उत्तर भाग

18 हर्षचरित

19 हर्षचरित

वचनमनुपालयन्नुत्सृष्टराज्यो दशवदनलक्ष्मीविभ्रमविरामो रामो महामुनिमगस्त्यम् अनुचरन् सह सीतया लक्ष्मणो परिचितरुचिरपर्णशालः पञ्चवट्यां कञ्चित्कालं सुखमुवास'।[20]

इसके अतिरिक्त सादृश्यविधान में भी कवि ने पौराणिक सन्दर्भ प्रस्तुत किए हैं।-

शाल्मली वृक्ष के वर्णन में **'दुर्योधन इवोपलक्षितशकुनिपक्षपातः**[२१] आदि विन्ध्याटवी के वर्णन में भी सादृश्य विधान में कवि ने पौराणिक सन्दर्भ दिए हैं, यथा-

क्वचिन्नारायणमूर्तिरिव तमालनीला। क्वचिदमरपतितनुरिव नेत्र सहस्त्रसङ्कुला क्वचिद्विराटनगरीव कीचकशतकुला गिरितनयेव स्थाणुसङ्गता मृगपतिसेविता च। जानकीव प्रसूतकुशलवा निशाचरपरिगृहीता च।[22]

बाण की शैली एक ओर जहाँ प्रौढ़ साहित्यिक गद्य को सफलतापूर्वक प्रस्तुत करती है, वहीं दूसरी ओर व्यावहारिक गद्य की कसौटी पर भी खरी उतरती है। उन्होंने गद्यात्मक काव्यरूढ़ियों का व पाञ्चाली रीति तथा अलंकृत गद्यशैली का सफल समन्वय प्रस्तुत कर सहृदयों व आलोचकों को आकृष्ट किया है। साथ ही गद्य में सादृश्यविधान या चमत्कार हेतु पौराणिक सन्दर्भों को भी यथास्थान प्रस्तुत किया है।

डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी के शब्दों में 'बाण में भाषा का सौन्दर्य, भावों की उदात्तता, विचारों की नवीनता, कला व भाव दोनों पक्षों का समन्वय, अर्थगौरव, अलंकारों का मनोरम प्रयोग, उपमा, श्लेष, परिसंख्या आदि की मनोहर छटा के साथ ही भाषा में संगीतात्मकता का संयोग स्वर्णमाला में मणि की शोभा प्रस्तुत करता है।[23]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाणभट्ट ने अपनी अलंकृत शैली में, अपने स्वच्छन्द स्वभाव के अनुरूप अपने गद्यकाव्य का निर्माण किया है। साथ ही काव्य की रूढ़ियों से व पौराणिक सन्दर्भों के माध्यम से ऐसा धरातल उपस्थित किया है कि पृथ्वी पर स्वर्ण जैसी महिमा मण्डित हुई। पात्रों को भूलोक से आकाश पर्यन्त विचरण करा कर अद्भुत पौराणिक भावना को प्रदर्शित किया व जन्मजन्मान्तर की धारणा को सिद्ध किया है।

श्रीमती डॉ० वीना बिश्नोई
प्रवक्ता संस्कृत-विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

---

[20] कादम्बरी कथामुख
[21] कादम्बरी कथामुख
[22] कादम्बरी कथामुख
[23] संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्राचीन भारत में सामाजिक संस्थाओं का विकास

भूमिका

परिवार के संगठन के साथ ही समाज के निर्माण और विकास का प्रारम्भ होता है। प्रणय में बंध कर कोई युवक प्रणय के परवश हुई हृदय की प्रिय युवती से विवाह करके परिवार के संगठन को प्रारम्भ करता है। समय के क्रम से सन्तानों की उत्पत्ति होकर यह परिवार बढ़ता है और अनेक परिवारों में विभक्त हो जाता है। तदनन्तर ये परिवार बहुत संख्या में विभक्त होकर आपस में मिल कर विस्तृत और विशिष्ट समाज की संरचना करते हैं। अब समाज की व्यवस्था को ठीक प्रकार से संचालित करने, आपस में सौहार्द को बनाये रखने और अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि के लिये प्राचीन समाज के नेता मनीषियों ने विधिध नियमों की स्थापनायें कीं।

समाज के विकास के साथ ही राजनीतिक संस्थाओं की गतिविधियाँ प्रारम्भ हुई। आर्थिक गतिविधियाँ, साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्पराओं, लौकिक और आध्यात्मिक विचार-धाराओं का जन्म हुआ तथा धर्म की स्थापना की कल्पना जागृत हुई।

समाज के निर्माण में इतिहास का भी महान् योग है। प्राचीन काल से प्रचलित सामाजिक परम्पराओं, शिक्षा-व्यवस्थाओं और शास्त्रों की संरचनाओं की भित्तियों पर ही वर्तमानकालीन विकास निर्भर है। इससे ही समाज की स्थिति होती है तथा परम्परायें विकसित तथा स्थिर होती है। अतः समाज के विकास के लिए समष्टि एवं व्यष्टि रूप से समुन्नति के लिये, शान्ति और सुख को प्राप्त करने के लिये यह अनिवार्य है कि प्राचीन सामाजिक संस्थाओं का प्राचीन साहित्य के माध्यम से विशद अध्ययन विद्वान् मनीषियों द्वारा किया जाये। इस विषय में अत्यधिक गहन अनुसन्धान कार्य की महती आवश्यकता है।

प्राचीन काल में भारतवर्ष में सामाजिक संस्थाओं के विकास के प्रमाण हमको मुख्य रूप से प्राचीन साहित्य में प्राप्त होते हैं। यह साहित्य मुख्य रूप से निम्न है-

चार वेद (ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद), उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य (ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् साहित्य), वेदांग, कल्पसूत्र, स्मृतियाँ रामायण, महाभारत, पुराण, धर्मशास्त्र आदि।

इन ग्रन्थों के अध्ययन से प्राचीन सामाजिक संस्थाओं के विकास का स्वरूप निश्चित रूप से प्राप्त होता है। प्राचीन समय में जिस प्रकार का जनजीवन का विकास हुआ था, जिस प्रकार सामाजिक परम्परायें प्रचलित हुई थीं, उनका परिचय तत्कालीन साहित्य के अध्ययन से निश्चित रूप से होता है। प्राचीन काल के अवशेष भी उस युग की सामाजिक संस्थाओं का परिचय प्राप्त कराने में सहायक होते हैं। ये अवशेष साहित्य में वर्णित अवस्थाओं को प्रमाणित करते हैं।

प्राचीन काल में भारतीय समाज में आर्यजाति के जनों की बहुलता थी। परन्तु आर्यों के समाज के विकास में कुछ थोड़ी सी आर्येतर परम्परायें भी प्रभावशालिनी हुईं। उस समय के मुनियों, मनीषियों, शास्त्रकारों ने उन परम्पराओं को ग्रहण कर लिया तथा उनको आर्य परम्पराओं का ही अंग कल्पित कर लिया। आर्यों-आर्येतरों तथा देवों-असुरों के युद्ध-वर्णनों से उनके सौहार्द से भरे सम्पर्कों के भी अनेक उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। शबर, निषाद किरात, दाशेर, व्याध, भिन्न-म्लेच्छ-यवन-शक-खश-हूण-कुषाण-पारसीक-कंक आदि जातियों के भारतीय आर्यों के साथ सम्पर्क के प्रचुर वर्णन प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। इन वर्णनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

यह प्रश्न विचारणीय है और विवादास्पद भी है कि आर्यों का मूल अभिजन-स्थान कौन-सा था। कुछ पाश्चात्त्य इतिहासज्ञ और उनके मत का अनुसरण करने वाले भारतीय इतिहासज्ञ यह प्रमाणित करते हैं कि पूर्व वैदिक काल में आर्यों ने किसी पश्चिमोत्तरवर्ती प्रदेश से प्रवजन करके सिन्धु नदी को पार करके इस भारत देश पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। परन्तु इस भारत देश के आर्य मनीषियों का यह परम्परागत विश्वास है कि आर्यों का मूल देश हिमालय और विन्ध्याचल का मध्यवर्ती भू-भाग था। परन्तु इस विषय में यहाँ विवाद में नहीं उलझ रहे।

निश्चय से यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग में इस देश पर आर्य जातियों का ही अधिकार था और यहाँ आर्य संस्कृति की प्रधानता थी। वैदिक संहिताओं तथा उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य के प्रबल प्रमाणों से यह तथ्य स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है। आर्यों की संस्कृति को ही आर्येतर जातियों ने भी स्वीकार कर लिया था। आर्येतरों के कुछ गुणों तथा विशेषताओं को आर्यों ने भी स्वीकार कर लिया।

प्राचीन भारतीय समाज का संगठन परिवार से प्रारम्भ होता है। वैवाहिक सम्बन्धों के माध्यम से एक परिवार का उद्भव होता है। अनेक परिवार मिलकर समाज की रचना करते हैं। प्राचीन भारत में परिवारों की संरचना मुख्य रूप से संयुक्त परिवार प्रणाली पर आश्रित थी। यहाँ एक ही परिवार में पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र, पिता-पितामह-प्रपितामह आदि सभी सम्मिलित रूप से सहभागी होते थे। परदादा-परदादी, दादा-दादी, माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहनें, चाचा-चाची आदि सभी एक ही परिवार के सदस्य होकर परस्पर मिलकर स्नेह से जीवन व्यतीत करते थे। वे एक-दूसरे के सुख-दुःख में सहयोगी होते थे। परिवार का यह संगठन पितृमूलक था।

भारतीय परिवारों के संगठन में संस्कारों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्राचीन भारतीय परिवारों में सामान्यत: 16 संस्कारों की प्रधानता थी। उनके अतिरिक्त कुछ और संस्कार भी थे। संस्कारों के बिना किसी भी व्यक्ति की, परिवार की और समाज की पहचान की कल्पना सम्भव नहीं थी। उनकी सामाजिक स्वीकृति संस्कारों के माध्यम से ही होती थी।

प्राचीन काल में भारतीय समाज के संगठन में समाज के विधायक मनीषियों और ऋषियों ने वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था को मूल आधार के रूप में स्वीकार किया था। वर्ण चार है- ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र। वैदिक युग में यह वर्ण-व्यवस्था गुणों और कर्मो के आधार पर स्वीकृत हुई थी। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा-**"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:"**। मैंने चारों वर्णो का निर्माण गुणों और कर्मो के आधार पर किया है।

परन्तु उत्तरवर्ती काल में वर्णो का निर्धारण जन्म के अनुसार होने लगा। महाभारतकार ने वर्णो के निर्धारण के विषय पर बहुत विचार किया है। उसने इसको गुण-कर्मगत प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उसके प्रयास सफल नहीं हो सके। आर्यो की यह वर्ण-व्यवस्था गुण कर्म के आधार को छोड़ कर जन्म को आधार मानकर जन्म के अनुसार जाति-व्यवस्था के रूप में परिणत हो गयी। इस तथ्य को प्राचीन आर्य शास्त्रों की परम्परायें और इतिहास स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं।

प्राचीन काल में भारतवर्ष में आर्य जातियों के साथ अनेक आर्येतर जातियाँ भी निवास करती थीं। इस तथ्य के अनेक प्रमाण मिलते हैं। समाज की संरचना में आर्यो की वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म के अनुसार थी। अत: इस स्पष्टरूप को आधार बनाकर उस समय के समाज के नेताओं ने तथा आर्य मनीषियों ने आर्येतर जातियों के व्यक्तियों को अपने गुण-कर्म के अनुसार आर्यो के समाज में समाविष्ट कर लिया।

यही कारण है कि मुसलमानों के आक्रमणों से पूर्व जितनी भी आक्रमणकारी जातियाँ पश्चिमोत्तर प्रदेशों से सिन्धु नदी को पार करके यहाँ आयीं, जैसे कि यवन-शक-हूण-कुषाण-खश आदि, उनका अब नाम भी उपलब्ध नहीं होता। उन सभी जातियों का विशाल भारतीय समाज में समायोजन हो गया। वह भारतीय समाज की ही अंग बन गई। सैकड़ों-हजारों वर्षो के अन्तराल में उनकी पृथक् रूप से पहचान अब सम्भव नहीं है।

परन्तु नये धार्मिक उन्माद से भरे हृदयों और मनवाले मुसलमान आक्रमणकारी भारत की जीर्ण और अति जीर्ण वर्ण-व्यवस्था के कारण तथा सामाजिक कुरीतियों के बहुत अधिक फैल जाने के कारण आर्यो को जीत कर इस देश के शासक हो गये। भारतीय मनीषियों और ऋषियों के अनेक प्रयासों के करने पर भी वे भारतीय समाज के अंग नहीं बन सके। भारतीयों के समाज में उनकी अलग पहचान और अलग स्थिति अब भी सर्वत्र परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में शासन पर अधिकार करके उन्होंने बल का प्रयोग करके, भय दिखाकर तथा प्रलोभन देकर अनेक आर्यजनों को मुस्लिम धर्म को स्वीकार करने के लिये विवश कर दिया। परन्तु आर्यो के धर्म और संस्कृति के महनीय होने के कारण वे सम्पूर्ण भारतवर्ष को मुस्लिम धर्म में दीक्षित करने में समर्थ नहीं हो सके, जिस प्रकार कि उन्होंने ईराक-ईरान-अफगानिस्तान आदि देशों को सम्पूर्ण रूप से मुसलमान बना लिया।

समाज के संगठन में नारी की स्थिति विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है। परिवार के संगठन

की वह मूल इकाई है। घर, परिवार और समाज की वह मूल आधार है। प्राचीन भारतीय समाज में नारी के दो रूप दृष्टिगोचर होते है- प्रथम तो नारी परिवार की अंगभूत- पत्नी, माता, बहन, पुत्री आदि संबन्धों के रूप में दिखाई देती है और प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। नारी का दूसरा रूप सामान्या गणिका आदि रूप में है। वह सर्वजन के लिये सुलभ है और दूसरों के मनोरंजन के लिये अपने आप को समर्पित करती है। प्राचीन संस्कृत शास्त्रों और अन्य काव्य आदि ग्रन्थों के अध्ययन से इस प्रकार की नारियों का विशद परिचय प्राप्त होता है। उस नारी का भी समाज में प्रतिष्ठित स्थान था।

प्राचीन भारतीय समाज में मनोविनोदों, उत्सवों और पर्वो का महत्त्वपूर्ण स्थान था। समाज की पहचान और हर्षोल्लास के वे महत्त्वपूर्ण संघटक थे। प्राचीन भारतीय जन विविध मनोविनोदों, उत्सवों आदि में मनोरंजन प्राप्त करते थे। वे विविध महत्त्वपूर्ण विशिष्ट, अवसरों, तिथियों में धार्मिक पर्वो में सम्मिलित होते थे। धार्मिक पर्वो के ये उत्सव सार्वजनिक रूप से संयोजित होते थे। अतः समाज के संगठन में उन उत्सवों और पर्वो का विशिष्ट योग था और ये अनेक धार्मिक विधि-विधानों में समाविष्ट हो गये थे।

प्राचीन भारतीय सामाजिक संस्थाओं को दो प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है, प्रथम प्रकार यह हो सकता है कि इसको वर्तमान ऐतिहासिक परम्पराओं के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाये। भारतीय इतिहास को विविध युगों में विभक्त किया गया है-जैसे कि प्रागैतिहासिक युग, पूर्ववैदिक युग, उत्तरवैदिक युग, सूत्र-स्मृति युग, बौद्ध युग, महाकाव्य युग, मौर्य युग, गुप्त युग, वर्धन युग आदि। इस प्रकार से विविध युगों के अनुसार संस्कृति और सभ्यता की संस्थाओं की स्थितियों का वर्णन किया जाये।

द्वितीय प्रकार यह है कि प्राचीन भारतीय सामाजिक संस्थाओं के समन्वित रूप को लेकर, विवेचना करके एक-एक सामाजिक संस्था का स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया जाये। आवश्यकता के अनुरूप उनके ऐतिहासिक विकास को कहा जाये कि विभिन्न युगों में उनमें किस प्रकार परिवर्तन हुये। भारतीय सामाजिक संस्थाओं के रूप में अति प्राचीन काल से ही परिवर्तनों की हल्की झलक दिखाई देती है। जो परिवर्तन दिखाई भी देते है, उनकी गति को अति सूक्ष्मता से देखना न तो प्रभावशाली है और नहीं अति उपयोगी।

ऐतिहासिक युगों के क्रम से सामाजिक संस्थाओं की विवेचनाओं में प्रायः पुनरावृत्ति ही होगी। अतः प्राचीन सामाजिक संस्थाओं की विवेचनाओं और वर्णनों में दूसरे पथ का अवलम्बन करना ही अधिक उपयोगी है।

प्राचीन समाज के संगठन में प्राचीन सामाजिक संस्थाओं का अत्युज्ज्वल रूप भारतीयों के मनों में निहित है। भारतीय जनों के हृदयों में यह रूप अक्षय गौरव और आदर को निहित करता है। उस रूप की विशेषतायें वर्तमान भारतीय समाज में अनिवार्य रूप से विद्यमान दिखाई देती हैं। यह राष्ट्रिय गौरव और स्वाभिमान के उज्जवल रूप का द्योतक है। यह हमारे हृदयों में वर्तमानकालीन और भविष्यत्कालीन प्रेरणाओं को संयोजित करता है। अतः भारत राष्ट्र के गौरव की अभिवृद्धि के लिये, विकास के लिए और समुन्नति के लिये

प्राचीन भारत की सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन और इसके लिये प्राचीन शास्त्रों का अवलोकन परम आवश्यक है और निश्चय से अनिवार्य है।

डॉ० कृष्ण कुमार
मिश्रा बाग, हनुमान गढ़ी
कनखल (हरिद्वार)

प्राचीन भारत में स्त्रियों के सम्पत्ति के अधिकार

विश्व के अधिकांश सभ्य समाजों के विपरीत भारतीय समाज में स्त्री को न तो कभी सम्पत्ति माना गया और न ही पति को यह अधिकार दिया गया कि वह जब चाहे उसे बेच दे। यद्यपि साहित्य में इसके कतिपय उदाहरण अवश्य मिलते है, लेकिन वे अपवादस्वरूप ही हैं और ऐसे कृत्यों की भृर्त्सना की गई है। वास्तव में प्राचीन भारत में स्त्री की सामाजिक स्थिति अत्यन्त उन्नत थी। पति और पत्नी दोनों को परिवार की सम्पत्ति का संयुक्त स्वामी समझा जाता था। यहाँ तक कि विवाह के अवसर पर पति को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह अपनी पत्नी के वित्तीय अधिकारों की रक्षा करेगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन हिन्दू समाज में स्त्रियों को एक सीमा तक साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त थे। तैत्तिरीय-संहिता में पत्नी को पारिणाह्य अर्थात् घर की वस्तुओं की स्वामिनी स्वीकार किया गया है।[1] शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टरूप से कहा गया है कि पत्नी पति के दाय की उत्तराधिकारिणी होती है।[2] दम्पती शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि पति पत्नी दोनों परिवार की सम्पत्ति के संयुक्त स्वामी होते थे। लेकिन कालान्तर में कर्मकाण्डो में पवित्रता का विचार बहुत अधिक बढ़ने से स्त्रियों को पहले तो याज्ञिक कार्यो से बहिष्कृत कर दिया गया और फिर साम्पत्तिक अधिकारों से।

परवर्ती शास्त्रकारों में सर्वप्रथम बौधायन ने स्त्री को दायाधिकार से वंचित किया। उनके अनुसार पत्नी का पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता क्योंकि वह अबला है और इसलिये वह सम्पत्ति की रक्षा नहीं कर सकती।[3] मनु के अनुसार पति के जीवनकाल में पत्नी को किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का अधिकार नहीं है। उसे पति से केवल भरण-पोषण प्राप्त करने का ही अधिकार है, जो कि उसकी पतिता एवं दूषिता होने अथवा नैतिक पतन की अवस्था में भी मान्य है।[4] मध्यकालीन टीकाकारों जैसे जीमूतवाहन, अपरार्क, देवण्णभटट् तथा मित्रमिश्र आदि ने भी पत्नी के साम्पत्तिक अधिकार का विरोध किया है।[5] लेकिन इसके बाबजूद शास्त्रकारों का एक ऐसा वर्ग था, जिसने स्पष्ट रूप से पत्नी के इस अधिकार का समर्थन किया है। धर्मशास्त्रकारों में सर्वप्रथम जैमिनी ने स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार का समर्थन किया है।[6] आपस्तम्ब के अनुसार चूँकि पति और पत्नी

---

[1] तैत्तिरीय संहिता,6.2.1.1

[2] शतपथ ब्राह्मण,14.7.3.1-2. 14.5.4.1

[3] बौधायन धर्मसूत्र, 2.2.53, 'न दायं, निरिन्द्रियाः ह्यदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः'।

[4] मनुस्मृति,11.176,177,188

[5] जीमूतवाहन, दायभाग, पृ0 209 अपरार्क, 2.124, देवण्णभटट्, स्मृतिचन्द्रिका, पृ0 27, मित्रमिश्र, वीर-मित्रोदय-संस्कार-प्रकाश, पृ0529

[6] हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ0447

दोनों बराबर है, इसलिए पति की अनुपस्थिति में उसे परिवार के आवश्यक कार्य के लिए धन खर्च करने का अधिकार है।[7] याज्ञवल्क्य के अनुसार यद्यपि पत्नी को विभाजन की मांग करने का कोई अधिकार नहीं है, लेकिन यदि पिता अपने जीवन काल में पुत्रों के बीच सम्पत्ति का बँटवारा करता है तो पत्नी को भी पुत्रों के समान सम्पत्ति का एक भाग प्राप्त करने का अधिकार है, किन्तु उसका यह अधिकार उस अवस्था में ही मान्य है, जबकि उसे पति या ससुर से स्त्रीधन नहीं मिला हो।[8] लेकिन यदि उसे स्त्रीधन मिला है तो सम्पत्ति का उतना भाग ही और दिया जाएगा, जिसे मिलाकर पुत्र के एक भाग के बराबर हो जाए।[9] अन्यत्र उसका कथन है कि जो पति अनुचित रूप से आज्ञाकारिणी, कुशल, वीरपुत्रों को जन्म देने वाली और मधुरभाषिणी पत्नी का त्याग करता है तो उसे पति की सम्पत्ति का एक तिहाई भाग मिलना चाहिए।[10] लेकिन अल्तेकर के अनुसार समाज ने शायद ही स्त्री के इस अधिकार को स्वीकार किया हो, क्योंकि अन्य धर्मशास्त्रकारों ने इसका कहीं भी समर्थन नहीं किया है।[11] विज्ञानेश्वर के अनुसार पत्नी पति की इच्छा से ही सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है, अपनी इच्छा से नहीं[12] विश्वरूप के अनुसार पति-पत्नी में कोई विभाजन नहीं होता। पति यदि चाहे तो स्नेहवश अपनी पत्नी को एक भाग दे सकता है।[13] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि पत्नी को किसी भी अवस्था में पति के जीवन काल में सम्पत्ति के विभाजन की मांग करने का अधिकार नहीं था, और न ही वह पति से पृथक् सम्पत्ति की स्वामिनी होती थी। वास्तव में परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी पति ही माना जाता था। लेकिन इतना अधिकार उसे अवश्य था कि पति की अनुपस्थिति में वह परिवार के आवश्यक कार्यों हेतु धन खर्च कर सकती थी।

विधवा स्त्रियों को भी प्रारम्भ में अपने मृतपति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं था। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार विधवाओं का अपने पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता।[14] आपस्तम्ब ने भी विधवा के इस अधिकार को स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार पति की मृत्यु के बाद पुत्र के अभाव में उसका उत्तराधिकारी सपिण्ड, सपिण्ड के अभाव में आचार्य और आचार्य के अभाव में उसका अन्तेवासी सम्पत्ति का अधिकारी होता

---

[7] आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.6.14.16-20,

[8] याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.115, 'यदि कुर्यात्समानंशान् पत्न्यः कार्याः समांशिका। न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा।।

[9] वही, 2.148,

[10] वही,1. 76, (आज्ञासंपादिनीं दक्षां वीरसूं प्रियवादिनीम्। त्यजन्दाप्यस्तृंयांशमद्रव्यो भरणं स्त्रियाः।।

[11] ए0एस0 अल्तेकर, दि पोजीशन ऑफ विमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ0216

[12] मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका, 2.52, 'तस्माद् पत्युरिच्छया भार्याया अपि द्रव्यविभागो भवत्येव, न स्वेच्छया।'

[13] विश्वरूप, याज्ञवल्क्यस्मृति टीका, 2.119

[14] तैत्तिरीय संहिता,6.5.8. 2,

है।[15] बौधायन ने भी उत्तराधिकारियों की जो एक लम्बी सूची दी है। उसमें विधवा पत्नी का उत्तराधिकारियों के रूप में नामोल्लेख तक नहीं मिलता।[16] कौटिल्य के अनुसार जिस सम्पत्ति का कोई उत्तराधिकारी न हो, उसे राजा ले किन्तु स्त्री के जीवन निर्वाह और श्राद्धकार्यों के लिए उसे अवश्य धन दे।[17] इससे स्पष्ट होता है कि पुत्रहीन विधवा अपने पति की सम्पत्ति की स्वामिनी नहीं होती थी। मनु ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी उसके पुत्र होते हैं, लेकिन यदि पुत्र न हो तो उसके उत्तराधिकारी पिता या भाई होते हैं। लेकिन यदि ये भी न हो तो सपिण्डों में सबसे निकट सम्बन्धी उस धन का भागी होता है, और इसके अभाव में क्रमशः सजातीय, आचार्य, अथवा शिष्य उस धन के भागीदार होते हैं।[18] इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि दूसरी शताब्दी ई0पू0 तक विधवा स्त्री को पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं माना जाता था। अल्तेकर के अनुसार विधवाओं के पुनर्विवाह तथा नियोग की प्रथा प्रचलित थी, जिसके कारण विधवाओं की संख्या कम थी। लेकिन ईसा की पहली सहस्राब्दी में इन दोनों प्रथाओं का लोप हो जाने के कारण समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी। जिसके कारण सामाजिक दृष्टि से यह आवश्यक समझा गया कि परिवार में स्त्री को कुछ आर्थिक अधिकार प्रदान किए जायें। इसलिए परवर्ती शास्त्रकारों ने पुत्रहीन विधवा को पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी घोषित किया, जिससे उसकी दशा में कुछ सुधार हुआ।[19]

प्रो0 हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार[20] यद्यपि पहली सदी से पूर्व के कुछ शास्त्रकारों जैसे- गौतम, विष्णु तथा शंख ने विधवा के साम्पत्तिक अधिकारों का समर्थन किया है। लेकिन उनके अर्थ तथा काल के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। उनके अनुसार सम्भवतः याज्ञवल्क्य पहला स्मृतिकार था, जिसने स्पष्ट रूप से पुत्रहीन विधवा को मृत पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी घोषित किया। याज्ञवल्क्य के अनुसार पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसके अधिकारी क्रमशः पत्नी, कन्या, दौहित्र, माता-पिता, भाई-भतीजे, बन्धु तथा शिष्य होते हैं।[21] बृहस्पति ने भी विधवा के इस अधिकार का प्रबल समर्थन किया है। उनके अनुसार चूँकि पत्नी अपने पति के शरीर का आधा भाग मानी जाती है, इसलिए उसके होते हुए कोई दूसरा व्यक्ति कैसे

---

[15] आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.14. 2-3, पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः। तदभावे आचार्यः। आचार्याभावेऽन्तेवासी हृत्वा तदर्थेषु धर्मकृत्येषु वोपयोजयेत्।।

[16] बौधायन धर्मसूत्र,1.5.113-114,

[17] अर्थशास्त्र,3.5,

[18] मनुस्मृति,9.185,87 न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहरा पितुः। पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च। अनन्तरंः सपिण्डाद्यस्तस्य धनं भवेत्। अत उर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा।।

[19] ए0एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृ0174,178,179,183,

[20] प्रो0 हरिदत्त वेदालंकार, पूर्वोक्त, पृ0476-77,

[21] याज्ञवल्क्यस्मृति,1.135-136,

उसके पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है। लेकिन साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि यदि वह अपने पति के प्रति ईमानदार है, तभी वह उसका उपभोग कर सकती है।[22] कात्यायन ने भी बृहस्पति के मत का समर्थन करते हुए पतिव्रता स्त्री को उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी माना है, लेकिन साथ ही यह भी कहा है कि उसे इस सम्पत्ति के दान, विक्रय तथा गिरवी रखने का अधिकार नहीं है।[23] विज्ञानेश्वर के अनुसार यदि विधवा ब्रह्मचारिणी बनी रही तो वह बिना किसी रुकावट के अपने पति की सम्पत्ति की स्वामिनी होगी।[24] किन्तु जीमूतवाहन के अनुसार सिर्फ पुत्रहीन विधवा ही मृत पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है।[25] जबकि स्मृतिचन्द्रिका के अनुसार माता पुत्रों के साथ मृत पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है।[26]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में विधवाओं को सम्पत्ति में कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। लेकिन कालान्तर में शास्त्रकारों ने उनके इस अधिकार का समर्थन किया। इस प्रकार यद्यपि वह जीवन पर्यन्त अपने पति की सम्पत्ति का उपभोग कर सकती थी किन्तु उसे इस सम्पत्ति के विनियोग का अधिकार नहीं था। वह केवल पति के उत्तराधिकारियों की सहमति से ही उसका दान तथा विक्रय कर सकती थी किन्तु धार्मिक कार्यों तथा पति को लाभ पहुँचाने वाले पुण्य कार्यों के लिए उसे व्यय कर सकती थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् यह सम्पत्ति उसके पति के अन्य उत्तराधिकारियों को प्राप्त हो जाती थी।

पुत्रियों को भी प्रारम्भ में पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। ऋग्वेद के अनुसार केवल वही कन्या पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होती थी, जा अभ्रातृका होती थी।[27] ऐसी अवस्था में साधारणतया कन्या का पिता अपने दामाद से समझौता कर लेता था कि वह पहले पुत्री के पुत्र को उसे अपना वंश चलाने के लिए देगा, लेकिन यदि भ्रातृयुक्त कन्या अविवाहित रहती थी तो वह पिता की सम्पत्ति के कुछ भाग की अधिकारिणी मानी जाती थी।[28] परन्तु साधारणतया पुत्री को पिता की सम्पत्ति में कोई भाग नहीं मिलता था।[29] प्रो. हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार पुत्री को पैतृक सम्पत्ति से वंचित रखने का प्रधान कारण पिण्डदान में उसकी असमर्थता थी।[30]

---

22 बृहस्पति, 2.47-49

23 कात्यायन, याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.126 पर मिताक्षरा द्वारा उद्धृत

24 मिताक्षरा, 2.135,

25 दायभाग,11.1, 2, 7

26 स्मृतिचन्द्रिका, 2.167

27 ऋग्वेद,1.124. 7, 'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।'

28 वही, 2.17. 7,

29 ऋग्वेद,3.31. 2, 'न जामये तान्वो रिक्थमारैक्।'

30 प्रो. हरिदत्त वेदालंकार, पूर्वोक्त, पृ0420-21,

लेकिन कालान्तर में शास्त्रकारों के एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ, जिसने भाई के न रहने पर भी बहिन के उत्तराधिकार को स्वीकार नहीं किया। बौधायान, वशिष्ठ तथा गौतम आदि शास्त्रकारों ने उत्तराधिकारीयों की गणना में पुत्री का नामोल्लेख तक नहीं किया है।[31] आपस्तम्ब के अनुसार उत्तराधिकारियों के अभाव में जब सपिण्ड, गुरु या शिष्य कोई न हो, तभी पुत्री सम्पत्ति की अधिकारिणी हो सकती है। लेकिन साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि पुत्र के न होने पर पिता को अपनी सारी सम्पत्ति धर्मकार्य में लगा देनी चाहिए, परन्तु पुत्री को नहीं देनी चाहिए।[32] परन्तु इसके विपरीत कुछ शास्त्रकारों ने उदारतापूर्वक पुत्री के इस अधिकार को स्वीकार किया है। महाभारत के अनुसार अभ्रातृका कन्या को पूरी सम्पत्ति नहीं तो कम से कम आधी अवश्य मिलनी चाहिए।[33] कौटिल्य ने भी पुत्री के प्रति सदाशयता दर्शित करते हुए अभ्रातृ कन्या को उत्तराधिकारी माना है, चाहे उसे कम ही हिस्सा क्यों न मिले।[34] याज्ञवल्क्य के अनुसार विधवा पत्नी तथा पुत्र के अभाव में पुत्री ही पिता की संपूर्ण सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती है।[35] इस सम्बन्ध में बृहस्पति का कथन है कि चूँकि पुत्र और पुत्री दोनों समान रूप से माता-पिता के शरीर के अंश को लेकर उत्पन्न होते है, अतः पुत्र के अभाव में उसे उत्तराधिकार से कैसे वंचित किया जा सकता है।[36] नारद ने भी इसका समर्थन किया है।[37] कात्यायन ने भी पुत्र के अभाव में पुत्री को पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी माना है।[38]

इस सन्दर्भ में यह भी विचारणीय है कि क्या भ्रातृयुक्त कन्याओं को सम्पत्ति में हिस्सा मिलता था? वैदिक साहित्य में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता कि कन्या अपने भाई के साथ पैतृक सम्पत्ति की अधिकारी होती थी। लेकिन यदि वह अविवाहित रहती थी तो पिता की सम्पत्ति के कुछ भाग को प्राप्त करने की अधिकारिणी मानी जाती थी। परवर्ती शास्त्रकारों ने भी भाइयों के साथ बहिनों के उत्तराधिकार को स्वीकार नहीं किया है। लेकिन फिर भी कुछ शास्त्रकारों ने कन्या के इस अधिकार को स्वीकार किया है। यास्क ने ऋग्वेद के एक मन्त्र के आधार पर कन्याओं को भाइयों के साथ पैतृक सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी

---

[31] बौधायन,1.5.113-14, वशिष्ठ,15. 7, गौतम, 28. 21,

[32] आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.14. 2-4, पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः। तद्भावे आचार्यः। आचार्याभावे अन्तेवासी हृत्वा धर्मकृत्येषु योजयेत। दुहिता वा।

[33] महाभारत,13.88. 22, अभ्रातृका समग्राही चार्धार्हेत्यपरे विदुः।

[34] अर्थशास्त्र,3.5, 'द्रव्यम् पुत्रस्य सौदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयुः कन्याश्च।'

[35] याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.135,

[36] बृहस्पतिस्मृति,15.35, 'पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानकारणात्।'

[37] नारदस्मृति,13.50

[38] कात्यायन, याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.135-36, 'पत्नी पत्युर्धनहरी या स्याद्व्यभिचारिणी। तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेदितरा।।'

माना है।[39] इसी प्रकार विष्णु[40]तथा नारद[41] ने कन्या के हिस्से का समर्थन तो किया है किन्तु उसे अपने हिस्से को ले जाने की अनुमति नहीं दी है। नारद के अनुसार कन्या उतना ही हिस्सा प्राप्त करे, जितना उसके अविवाहित रहने तक व्यय होता है।[42] मध्यकालीन टीकाकारों में विज्ञानेश्वर ने स्पष्टरूप से पैतृक सम्पत्ति में कन्या को भाई के हिस्से का एक चौथाई देने का समर्थन किया है।[43] जीमूतवाहन ने भी विज्ञानेश्वर के इस मत का समर्थन किया है।[44] प्रो0 हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार दुर्भाग्यवश शास्त्रकारों के समर्थन के बाबजूद समाज ने कन्या के इस अधिकार का समर्थन नहीं किया। उनके अनुसार इसका कारण शास्त्रकारों द्वारा भाइयों के इस कर्तव्य पर अत्यधिक बल देना था कि पिता की मृत्यु के पश्चात् वे अपनी बहिनों का विवाह करें। विवाह के कर्तव्य पर अत्यधिक बल देने का यह परिणाम हुआ कि कन्या का पैतृक सम्पत्ति में कोई स्वतन्त्र भाग नहीं रहा और यह समझा जाने लगा कि चूँकि कन्या को वैवाहिक धन और दहेज के रूप में पैतृक सम्पत्ति में पर्याप्त हिस्सा मिल जाता है, इसलिए उसे पृथक् रूप से धन देने की आवश्यकता नहीं है।[45]

निष्कर्ष रूप से प्रो0 हरिदत्त वेदालंकार का यह मत अत्यन्त उचित प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्रकारों ने स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकारों की जानबूझ कर उपेक्षा नहीं की, अपितु इसके पीछे दो प्रमुख कारण थे-एक तत्कालीन परिस्थितियाँ और दूसरा स्त्रीधन की व्यवस्था। संयुक्त परिवार की व्यवस्था के कारण स्त्रियों के अधिकारों का प्रश्न नगण्य सा था। इस कारण शास्त्रकारों ने इसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा। दूसरा कारण स्त्रीधन की व्यवस्था थी। स्त्रियों को विवाह आदि अवसरों पर माता-पिता, भाई तथा पति आदि सम्बन्धियों से पर्याप्त मात्रा में धन (वस्त्राभूषण) मिल जाता था। जिस पर उसका पूर्ण स्वत्व होता था और वे इसका यथेच्छ विनियोग करने के लिए स्वतन्त्र होती थीं। अतः इस प्रकार की व्यवस्था होने के कारण शास्त्रकारों ने स्त्रियों को पुरुषों की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाने की आवश्यकता नहीं समझी।[46]

हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने स्त्रीधन का भी विस्तार से वर्णन किया है, लेकिन उसके स्वरूप, उस पर स्त्री का आधिपत्य तथा उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर उनमें बहुत मतभेद हैं। वस्तुतः स्त्रीधन से तात्पर्य उस धन से है, जिस पर उसका पूर्ण आधिपत्य होता था और

---

[39] ए0एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृ0 286-87,

[40] विष्णु,18.34, 'मातरः पुत्रभागानुसारेण भागहरिण्यः। अनूढा दुहितरश्च।'

[41] नारद,13.13, 'ज्येष्ठायांशोऽधिको देयः कनिष्ठायापरः स्मृतः।' समांशभाजः शेषा स्युरप्रमत्ताः भगिनी तथा।।

[42] वही,13. 27, 'या तस्य दुहिता तस्याः पित्र्योंऽशो भरणे मतः। आसंस्कारं भजेरंस्ताः परतो बिभृयात् पतिः।।'

[43] मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका, 2.135,

[44] दायभाग,11.2.4,

[45] हरिदत्त वेदालंकार, पूर्वोक्त, पृ0434,

[46] वही, पृ0 265

जो उसे वस्त्र, आभूषण तथा धनराशि के रूप में विवाह के अवसर पर तथा अन्य विशिष्ट अवसरों पर भेंट स्वरूप माता-पिता, भाई तथा पति आदि सम्बन्धियों से प्राप्त होता था। वैदिक ग्रन्थों में भी विवाह के अवसर पर कन्या को प्राप्त होने वाले वहतु (दहेज) का उल्लेख मिलता है।[47] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रीधन का प्रारम्भ वैदिक युग में विवाह के अवसर पर कन्या को दिये जाने वाले दहेज की वस्तुओं यथा वस्त्र, आभूषण तथा घर की अन्य सामग्री (परिणाह्य) से हुआ। परवर्ती शास्त्रकारों बौधायन तथा वशिष्ठ ने भी विवाह के अवसर पर भेंट स्वरूप प्राप्त आभूषणों एवं द्रव्यों (परिणाह्य) को स्त्रीधन कहा है।[48] आपस्तम्ब ने कुछ आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि वस्त्राभूषण तथा पिता, भाई आदि सम्बन्धियों से प्राप्त सम्पत्ति स्त्री की होती है।[49] परन्तु इन शास्त्रकारों में से किसी ने भी स्त्रीधन की स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। यद्यपि गौतम ने सर्वप्रथम स्त्रीधन शब्द का प्रयोग किया है।[50] परन्तु उन्होंने भी इसके स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। सर्वप्रथम कौटिल्य ने स्त्रीधन के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया है। उनके अनुसार स्त्रीधन दो प्रकार का होता है- एक वृत्ति और दूसरा आबाध्य। वृत्ति अधिक से अधिक दो सहस्रपण हो सकती है, जो स्त्री के जीवन निर्वाह के लिए उसे दी जाती है। जबकि विवाह के समय प्रदान किए जाने वाले आभूषण एवं जवाहरात आदि अन्य कीमती वस्तुएँ आबाध्य के अन्तर्गत आती हैं, जिसकी कोई निर्धारित सीमा नहीं होती है।[51] इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक युग की अपेक्षा मौर्य काल में स्त्रीधन का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया था।

स्मृतिकारों के समय में आकर तो इसके भेदों में और अधिक वृद्धि होने लगी। मनु ने छः प्रकार के स्त्रीधनों का उल्लेख करते हुए कहा है कि वैवाहिक अग्नि के सम्मुख पिता द्वारा दिया गया धन, विदाई के समय दिया गया धन, प्रेम सम्बन्धी किसी अवसर पर पति के द्वारा दिया गया धन, भाई, माता तथा पिता आदि के द्वारा विविध अवसरों पर दिया गया धन स्त्रीधन कहलाता है।[52] इसके अतिरिक्त मनु ने विवाह के पश्चात् मिली भेटों को भी स्त्रीधन की श्रेणी में गिना है।[53] नारद ने भी मनु की भाँति छः प्रकार के स्त्रीधन का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने मनु के प्रीतिदत्त धन को भर्तृदाय की संज्ञा देकर केवल पति द्वारा दी गई भेटों तक ही सीमित कर दिया है।[54] विष्णु तथा याज्ञवल्क्य ने मनु द्वारा

---

47 ऋग्वेद,10.85.13,38, अथर्ववेद,14.1.13,14. 2.21, तैत्तिरीय संहिता,6. 2.1.1,

48 बौधायन, 2.2.49, 'मातुरलंकारं दुहितरः साम्प्रदायिकं लभ्येरन्न यद्वा। वशिष्ठ,17.46, मातुः परिणेयं स्त्रियो बिभतेरन्।'

49 आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.6.14.9, 'अलंङ्कारो भार्यायाः ज्ञातिधनं चेत्येके'।

50 गौतम धर्मसूत्र, 28. 25,

51 अर्थशास्त्र,3. 2, 'वृत्तिराबाध्यं वा स्त्रीधनम्। परिद्विसाहस्रास्थाप्या वृतिः। आधाध्यानियमः।'

52 मनुस्मृति,9.194, 'अध्यग्न्यध्यावाहनिक दत्तं च प्रति कर्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीघनं स्मृतम्।।'

53 वही,9.145,

54 नारद, दायभाग, पृ048

उल्लिखित छः प्रकारों के अतिरिक्त स्त्रीधन में तीन अन्य प्रकारों की और वृद्धि कर दी है, ये हैं-1. आधिवेदनिक (पति द्वारा दूसरा विवाह करने पर पहली पत्नी को दिया गया धन), 2. बन्धुदत्त (मातृपक्ष और पितृपक्ष के बन्धुओं द्वारा दिया गया धन) तथा 3. शुल्क (धन देकर कन्या को विवाह में प्राप्त करना)।[55] स्मृतिकारों में कात्यायन ने स्त्रीधन का सबसे अधिक विस्तार से उल्लेख करते हुए लिखा है कि विवाह के समय अग्नि के समक्ष पिता द्वारा जो धन दिया जाता है उसे 'अध्याग्नि' कहते हैं। पितृगृह से पति गृह जाते समय जो धन स्त्री को पिता से प्राप्त होता है, उसे 'अध्यावहनिक' कहते हैं। ससुर या सास द्वारा प्रीतिपूर्वक जो धन दिया जाता है, उसे 'प्रीतिदत्त' कहा जाता है। जो बर्तनों, भारवाही पशुओं, दुधारू पशुओं, पतिकुल एवं पितृकुल के बन्धुओं से जो धन प्राप्त होता है, वह 'अन्वाधेय' कहलाता है। जो धन विवाहिता या अविवाहिता कन्या को अपने पति या पिता के घर में भाई और माता-पिता से मिलता है, वह 'सौदायिक' कहलाता है।[56] शनैः-शनै स्त्रीधन के घेरे में और भी सम्पत्तियाँ आने लगीं। विज्ञानेश्वर ने स्त्रीधन में उन सभी सम्पत्तियों को गिना है, जो किसी स्त्री को उत्तराधिकार (रिक्थ) में मिली हों, उसने स्वंयं क्रय की हों, बँटवारे (संविभाग) में मिली हों, सौभाग्य से उसे प्राप्त हुई हों (परिग्रहाधिकृत) या दीर्घकाल तक उसके पास रहने के कारण (अधिगम) उसे मिली हो।[57] इस प्रकार इसमें सभी प्रकार से प्राप्त स्त्री की सम्पत्ति शामिल हो गई। किन्तु जीमूतवाहन विज्ञानेश्वर के इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार वे केवल वही सम्पत्ति स्त्रीधन है, जिसका कोई स्त्री स्वेच्छा से दान, विक्रय एवं उपभोग पति की अनुमति के बिना कर सकती है। उनके अनुसार सम्बन्धियों द्वारा प्रदत्त भेंट, अचल सम्पत्ति के अतिरिक्त पति द्वारा प्रदत्त उपहार, विवाह अग्नि के सम्मुख तथा पतिगृह जाते समय प्राप्त भेटें ही स्त्रीधन के अन्तर्गत आती हैं। लेकिन वह धन जो उसे सम्बन्धियों से भिन्न व्यक्तियों से भेंट में, शिल्प आदि कर्मों से तथा उत्तराधिकार अथवा विभाजन में स्थावर सम्पत्ति के रूप में प्राप्त होता है, स्त्रीधन नहीं कहलाता।[58] अल्तेकर के अनुसार स्त्रियों को स्थावर सम्पत्ति के यथेच्छ विनियोग से मुक्त रखने का प्रधान कारण परिवार की संयुक्त सम्पत्ति को अखण्ड बनाए रखने का प्रयास था।[59]

काणे के अनुसार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्त्रीधन एक ऐसा धन था, जिसके अन्तर्गत छः प्रकार की सम्पत्ति की गणना होती थी। लेकिन आगे चलकर उसमें सभी प्रकार की (चल या अचल) सम्पत्ति सम्मिलित हो गयी, जिसे कोई स्त्री कुमारी अवस्था में, विवाहित होते समय, विवाह के उपरान्त माता-पिता तथा

---

[55] विष्णु17.18, याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.143-44,

[56] कात्यायन, मिताक्षरा, 2.143, स्मृतिचन्द्रिका 2.280-81, दायभाग, पृ093

[57] मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका, 2.143, 'आद्यशब्देन रिक्थक्रयसंविभाग-परिग्रहाधिगमप्राप्तमेतत्स्त्रीधनं मन्वादिभिरुक्तम्'

[58] दायभाग, पृ0 76-77

[59] ए0एस0 अल्तेकर पूर्वोक्त पृ0 268

अन्य सम्बन्धियों से और पति या उसके कुल से (पति द्वारा प्रदत्त अचल सम्पत्ति को छोड़कर) प्राप्त करती थी। लेकिन वह धन जिसे विवाहोपरान्त स्वयं अपने परिश्रम से अर्जित करती थी या सम्बन्धियों से भिन्न व्यक्तियों से प्राप्त करती थी, तथा उत्तराधिकार में प्राप्त करती थी, स्त्रीधन नहीं कहलाता था।[60]

स्वत्व की दृष्टि से स्त्रीधन दो प्रकार का होता था, एक सौदायिक- वह सम्पत्ति जिस पर स्त्री का पूर्ण स्वत्व होता था और दूसरा असौदायिक-वह सम्पत्ति, जिसका उपभोग तो स्त्री कर सकती थी, परन्तु जिस पर नियन्त्रण उसके पति का होता था। काणे के अनुसार इस विषय में प्रामाणिक जानकारी हमें कात्यायन एवं नारद के कथनों से प्राप्त होती है। कात्यायन के अनुसार विवाह के समय तथा उसके बाद माता-पिता, पति तथा अन्य सम्बन्धियों से प्राप्त धन सौदायिक कहलाता था, जिस पर स्त्री का पूर्ण स्वत्व होता था और वह अपनी इच्छानुसार इस सम्पत्ति का दान, विक्रय तथा उपभोग कर सकती थी।[61] लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों में शास्त्रकारों ने पति को सौदायिक स्त्रीधन के उपभोग की अनुमति दी है। याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि पति, दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि तथा जेल जाने की स्थिति में इस धन का टपभोग करता है तो उसे यह धन लौटाना पड़ता था।[62] कात्यायन के अनुसार पति, पुत्र, पिता और भाई स्त्रीधन के ग्रहण के अधिकारी नहीं है, लेकिन यदि इनमें से कोई एक भी बलपूर्वक स्त्रीधन का उपयोग करे तो उसे यह धन ब्याज सहित वापस करना चाहिए। लेकिन यदि वह अनुमति लेकर प्रीतिपूर्वक इस धन का उपयोग करता है तो धनी होने पर उसे यह मूलराशि वापस करनी चाहिए।[63] अपरार्क के अनुसार पत्नी के जीवित रहते हुए उसके पति, पुत्र, देवर तथा भाई आदि का स्त्रीधन पर कोई अधिकार नहीं था और जो स्त्रीधन का अपहरण करते है, उन्हें दण्ड दिया जाना चाहिए।[64] स्मृतिचन्द्रिका में उद्धृत देवल के अनुसार स्त्रीधन का उपयोग स्त्री स्वयं करे। पति केवल आपत्ति के समय ही उसका उपभोग कर सकता है, लेकिन यदि वह बिना कारण इसका उपयोग करता है तो उसे वह धन ब्याज सहित वापस करना चाहिए।[65] इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि केवल आपत्ति काल या दुःखद परिस्थितियों में ही पति को स्त्रीधन के उपयोग का अधिकार था। शिल्पों से प्राप्त धन तथा माता, पिता एवं पति आदि सम्बन्धियों से भिन्न व्यक्तियों द्वारा प्राप्त धन असौदायिक कहलाता था। दायभाग के अनुसार

---

[60] पी0बी0 काणे, पूर्वोक्त, भाग-2, पृ0940

[61] स्मृतिचन्द्रिका, 2.202, 282,

[62] याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.147, 'दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके। गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति।।'

[63] दायभाग, पृ058,

[64] अपरार्क, याज्ञवल्क्यस्मृति 2.46 पर उद्धृत, 'जीवन्त्याः पतिपुत्रास्तु . देवराः पितृबान्धवाः।' अनीशाः स्त्रीधनस्योक्ता दण्ड्यास्त्वपहन्ति ये।।

[65] स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ0657,

इस सम्पत्ति पर स्त्री का स्वामित्व नहीं होता था, अपितु इस पर उसके पति का अधिकार होता था, और वह इस सम्पत्ति का उपयोग बिना आपत्ति काल के भी कर सकता था। लेकिन पति के अतिरिक्त इस धन पर किसी अन्य का अधिकार नहीं होता था। यदि पत्नी पति से पहले मर जाती थी तो इस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका पति होता था। लेकिन यदि पति पहले मर जाता था तो इस पर उसका पूर्ण स्वामित्व होता था और ऐसी स्थिति में उसकी मृत्यु के बाद उसके पति के नहीं, अपितु उसके उत्तराधिकारी होते थे।[66] लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों में शास्त्रकारों ने स्त्री को भी इस धन के अधिकार से वंचित किया है। कौटिल्य के अनुसार यदि स्त्री राजविरोधी बातें कहती हो, शराब एवं जुए आदि का व्यसन करती हो, तथा व्यभिचारिणी हो तो उसका स्त्रीधन पर स्वत्व समाप्त हो जाता है।[67] कात्यायन के अनुसार यदि स्त्री अपचार क्रिया युक्त, निर्लज्जा, अर्थनाशिनी तथा व्यभिचारिणी हो तो, उसका स्त्रीधन पर कोई अधिकार नहीं होता।[68]

यद्यपि स्त्रीधन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी शास्त्रकारों में मतभेद है, लेकिन फिर भी प्राय: अधिकांश शास्त्रकार इस विषय पर एकमत हैं कि स्त्रीधन के उत्तराधिकार में पुत्रियों को पुत्रों की अपेक्षा प्राथमिकता और वरीयता मिलनी चाहिए। गौतम के अनुसार स्त्रियों की ममता साधारणत: पुत्रियों के प्रति होती है, इसलिए स्त्रीधन की उत्तराधिकारिणी उसकी पुत्रियाँ ही होती हैं। पुत्रियों में भी सर्वप्रथम अविवाहित पुत्रियाँ ही उसकी अधिकारिणी होती हैं, किन्तु उनके अभाव में विवाहित पुत्रियों को यह धन मिलता है।[69] बौधायन ने भी इसका समर्थन किया है।[70] याज्ञवल्क्य के अनुसार माता के धन पर सबसे पहले पुत्री का अधिकार होता है, लेकिन उसके अभाव में उसके अधिकारी पुत्र होते हैं।[71] पुन: उनका कथन है कि यदि स्त्री नि:सन्तान मर जाए और वह विवाह मान्यता प्राप्त विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य) की कोटि का हो तो उसके धन पर पति का अधिकार होता है, लेकिन शेष विवाहों में यह धन उसके माता-पिता को मिल जाता है। किन्तु यदि स्त्री की केवल पुत्रियाँ ही हों तो सभी प्रकार के विवाहों में यह विवाहों में पहला अधिकार पुत्री का होता है।[72] विष्णु ने भी इसका समर्थन किया है,[73] नारद ने भी पुत्रियों को स्त्रीधन की अधिकारिणी माना है। उनके अनुसार माता के मरने पर पुत्रियाँ और

---

[66] दायभाग, पृ0 76,

[67] अर्थशास्त्र3. 2, 'राजद्विष्टातिचाराभ्यामात्मापक्रमणेन च। स्त्रीधनानीतशुल्कानामस्वाम्य जायते स्त्रिया:।।'

[68] कात्यायन, मनुस्मृति, 2.28 पर मेघातिथि द्वारा उद्धृत, 'उपचारक्रियायुक्ता निर्लज्जा चार्थ- नाशिका व्यभिचाररता या च स्त्रीधनं सा न सार्हति।।'

[69] गौतम धर्मसूत्र, 28. 25,

[70] बौधायन धर्मसूत्र, 28. 25,

[71] याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.117,

[72] वही, 2.145, 'अयुजस्त्रीधनं भर्तुर्ब्रह्मादिषु चतुर्ष्वपि। दुहितृणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत्।।'

[73] विष्णु,17.19-21,

पुत्रियों के अभाव में पुत्र आपस में स्त्रीधन को बाँट ले।[74] बृहस्पति के अनुसार अविवाहित कन्याओं को वरियता मिलनी चाहिए तथा विवाहित कन्याओं को स्नेह रूप थोड़ा-थोडा़ धन मिलना चाहिए।[75] कात्यायन के अनुसार स्त्रीधन पर सबसे पहला अधिकार अविवाहित पुत्रियों का होता है। इनके नहीं होने पर पुत्र इस धन के अधिकारी होते हैं।[76] इस संदर्भ में विज्ञानेश्वर का कथन है कि चूँकि पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी उसके पुत्र होते हैं, और पुत्रियों को इसमें कोई भाग नहीं मिलता, इसलिए माता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी उसकी पुत्रियाँ होती है। इसके समर्थन में उनका मत है कि पुत्रों में पिता के अंश की प्रधानता रहती है, और पुत्रियों में माता के अंश की। अत एव पुत्रों को पिता का और पुत्रियों को माता का धन मिलना चाहिए।[77] लेकिन इसके साथ-साथ शास्त्रकारों का एक वर्ग ऐसा भी था, जिसने पुत्रियों के साथ-साथ पुत्रों को भी इस धन पर अधिकार स्वीकार किया है। प्रो0 वेदालंकार के अनुसार इसका कारण सम्भवत: यह था कि प्रारम्भ में इस धन के अन्तर्गत केवल विवाह के अवसर पर प्राप्त होने वाले वस्त्राभूषण ही आते थे, जो कि केवल स्त्रियों के उपयोग की ही वस्तु थे। अत एव इन वस्तुओं के उपयोग के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि धन कन्याओं को दे दिया जाए। लेकिन कालान्तर में जब स्त्रीधन के प्रकारों में वृद्धि हो गई तो यह प्रवृत्ति बल पकड़ने लगी कि इस धन पर पुत्री के साथ-साथ पुत्र के अधिकार को भी स्वीकार किया जाए, क्योंकि यदि यह सम्पत्ति स्त्री की उत्तराधिकारिणी पुत्रियों में बाँट दी जाती तो पैतृक सम्पत्ति का एक बहुत बड़ा भाग दूसरे कुलों में चला जाता, जो परिवार के पुरुषों को कदापि मान्य नहीं होता। अत: स्त्रीधन में पुत्रियों के साथ-साथ पुत्रों को भी समान उत्तराधिकारी माना जाने लगा।[78] सर्वप्रथम कौटिल्य ने पुत्रियों के साथ-साथ स्त्रीधन पर पुत्रों के अधिकार को स्वीकार किया।

उनके अनुसार यदि पति के जीवित रहते हुए कोई स्त्री मर जाए तो उस धन को पुत्र और पुत्रियाँ आपस में बाँट लें, लेकिन यदि उसके पुत्र न हो तो वे लड़कियाँ ही उस धन की अधिकारिणी होती हैं।[79] मनु ने पुत्रों के अधिकार का समर्थन करते हुए लिखा है कि माता के धन को भाई-बहिन मिलकर आपस में बाँट लें।[80] देवल के अनुसार स्त्रीधन

---

[74] नारदस्मृति,16. 2-9,

[75] बृहस्पति, दायभाग, पृ0 79, 'स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तदंशिनी। अप्रमता चेत्समूढा तु लभते मानमात्रकम्।।'

[76] स्मृतिचन्द्रिका, 2.285-87 पर उद्धृत

[77] मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका, 2.117 पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रिया: इति वचनात् स्त्र्यवयवानां दुहितृषु बाहुल्यात् स्त्रीधनं दुहितृगामि। पितृधनं पुत्रगामि पित्रवयनां पुत्रेषु बाहुल्यादिति।।

[78] हरिदत्त वेदालंकार, पूर्वोक्त, पृ0467,

[79] अर्थशास्त्र,3. 2, 'जीवति भर्तरि भृताया: पुत्रा दुहितरश्च स्त्रीधनं विभजेरन् अपुत्राया दुहितर:।'

[80] मनुस्मृति,9.192, 'जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदरा:। भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभय:।।'

पर पुत्र और पुत्री दोनों का बराबर अधिकार होता है।[81] जीमूतवाहन ने भी स्त्रीधन पर पुत्रियों के साथ पुत्रों के अधिकार का प्रबल समर्थन किया है।[82]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि स्त्रीधन के रूप में स्त्री को ऐसी सम्पत्ति प्राप्त हो जाती थी, जिस पर उसका पूर्ण स्वत्व होता था। वह उसे अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकती थी, बन्धक रख सकती थी और बेच भी सकती थी। अत: उसे अपने जीवन निर्वाह के लिए पूर्णतया अपने पति, पिता पुत्र और भाई पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। कुल मिलाकर स्त्रीधन का इतिहास और विकास मातृजाति के प्रति भारतीय संस्कृति की उदारता का उज्ज्वल प्रमाण है।

डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता
वरिष्ठ प्रवक्ता, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

---

[81] दायभाग, पृ0 79, 'सामान्यं पुत्रकन्यानां मृतायां स्त्रीधनं स्त्रियाम्।'
[82] वही, पृ0 79,

स्वाधीनता प्राप्ति में महर्षि दयानन्द का योगदान

19वीं सदी भारतीय इतिहास में विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इस सदी में दासता व अज्ञानता से त्रस्त भारत में नवजागरण का सन्देश लेकर भारत माता के रत्नगर्भ से एक महापुरुषश्रृंखला प्रसूत हुई, जिसमें महर्षि दयानन्द का स्थान सर्वोपरि है।

महर्षि दयानन्द का नाम आते ही उनके समकालीन भारत की दशा स्वत: जीवन्त हो उठती है। सदियों से पराधीनता के पाश में बद्ध भारतीय जनमानस अज्ञानता के तमस् को भेदकर विश्व के बदलते परिदृश्य के साथ खुले वातावरण में सांस लेने को आतुर था, लेकिन वैदेशिक क्रूर शासन, रूढ़िवाद एवं संकीर्णता तथा कुरीतियों से ग्रस्त भारतीय मानस पटल पर महर्षि दयानन्द का अवतरण एक महान् घटना है जो वेदोद्धारक, समाज सुधारक व स्वराज्य के प्रतीक के रूप में हमारे सामने आते हैं।

महर्षि दयानन्द का 1856 से 1860 ई0 तक का जीवनकाल कतिपय विद्वानों में विवाद का विषय रहा है। विशेष रूप से 1857 ई0 के प्रथम स्वन्त्रता संग्राम में उनकी सक्रिय भागीदारी को लेकर। मुख्यत: यह प्रबल सम्भावना व्यक्त की जाती है कि प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में महर्षि दयानन्द की पूर्ण भागीदारी रही है। साहित्य लेखन तथा वक्तव्य में उनके द्वारा स्वभाषा, स्वधर्म व स्वदेश की भावना पूर्ण निष्ठा व विश्वास के साथ जोर देकर क्रान्तिपूर्ण स्वर में मुखरित हुई है। अत: इस वास्तविकता को कदापि नहीं नकारा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द स्वातन्त्र्य क्रान्ति के न मात्र पूर्ण पक्षधर थे, बल्कि उसके पुरोधाओं में से एक थे। वीर विनायक दामोदर सावरकर की पुस्तक 1857 का स्वतन्त्रता संग्राम के अनुसार इस क्रान्ति को फैलाने में सभी मतों से साधुओं का सक्रिय योगदान रहा है, जो स्वामी जी के भागीदारी के प्रमाणों को पुष्ट करता है। स्वामी सच्चिदानन्द योगी द्वारा लिखित-स्वामी जी के जीवन चरित्र में 1857 की क्रान्ति में उनके योगदान को पूर्ण तार्किकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। बाल गंगाघर तिलक महर्षि दयानन्द को स्वराज्य का प्रथम सन्देश वाहक स्वीकार करते हैं। डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार आर्य समाज का इतिहास इस् ग्रन्थ के चौथे खण्ड में लिखते हैं-**"हम इस बात की प्रबल सम्भावना पर विचार कर चुके हैं कि १८५७ के विद्रोह के आयोजकों एवं पुरोधाओं में महर्षि दयानन्द एवं उनके गुरु विरजानन्द का प्रमुख स्थान था।"** डॉ0 सत्यकेतु पुन: आगे लिखते हैं **'महर्षि दयानन्द सरस्वती उन व्यक्तियों में से थे जो १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम की विफलता से निराश नहीं हुए और विफलता के कारणों पर विचार कर उन्हें दूर करने एवं अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न जारी रखने वालों में थे।'**

महर्षि दयानन्द समकालीन भारत की स्थिति से सर्वथा दु:खी थे। अस्मितामयी आर्य भूमि पर वैदेशिक दमनकारी शासन से उनका हृदय विदीर्ण था। स्वामी जी सत्यार्थ-प्रकाश के आठवें समुल्लास में भारतीयों के गौरवशाली अतीत की ओर संकेत करते हुए लिखते

हैं-'जो आर्यावर्त देश से भिन्न देश वह दस्यु तथा म्लेच्छ देश कहते हैं। आगामी पंक्तियों में स्वामी जी की स्वराज्य भावना उग्रता के साथ प्रस्फुटित हुई है'-**अब अभाग्योदय से आर्यों के आलस्य प्रमाद व परस्पर विरोध से अन्य देशों में राज्य करने की तो क्या कहनी किन्तु अर्यावर्त देश में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है वह विदेशियों से पदाक्रान्त हो रहा है।** 'ग्यारहवें समुल्लास में स्वामी जी पुन: गौरवशाली अतीत से परिचित कराते हैं-**"यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैलें हैं, वह सब आर्यावर्त देश ही से प्रचारित हुए हैं........यह आर्यावर्त ऐसा देश है जिसके सदृश दुनियाँ में दूसरा देश नहीं है।.......... सृष्टि से लेकर पांच सहस्त्र का पूर्व तक आर्यों का सार्वभौम अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि राज्य था। अन्य देशों में मांडलिक अर्थात् छोटे-छोटे राज्य थे।"**

इसी सन्दर्भ में स्वामी जी संस्कृत-वाक्य-प्रबोध के राज्य प्रकरण में पशु पक्षियों का उदारहण देकर स्वतन्त्रता की विचार-क्रान्ति का प्रसार करते हैं-**"यह तो पशु-पक्षियों का स्वभाव है कि जब उनका कोई घर आदि छीनने का यत्न करता है तब वे भी यथाशक्ति युद्ध करते हैं।"**

जनवरी सन् 1873 ई0 में महर्षि दयानन्द का लार्ड नार्थब्रुक के साथ एक भेंटवार्ता का आयोजन किया गया। वार्ता में स्वामी जी से निवेदन किया कि वे भारत में ब्रिटिश शासन का समर्थन व सहयोग करें। प्रत्युत्तर में स्वामी जी ने नार्थब्रुक को ललकारते हुए कहा-**"मेरे देशवाशियों को अबोध राजनैतिक उन्नति तथा संसार के अन्य राज्यों के समान दर्जा पाने के लिए शीघ्र स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।** नार्थब्रुक ने यहीं वार्ता समाप्त कर दी। भारतीय कार्यालय लन्दन को पूर्ण विवरण देते हए लिखा कि इस विद्रोही फकीर पर दृष्टि रखने की आवश्यकता है।"

महर्षि दयानन्द देशी रियासतों की आपसी कलह निरंकुशता तथा राजाओं की भोग विलासी प्रवृत्ति से अत्यन्त रुष्ट थे। सत्यार्थ-प्रकाश में स्वामी जी अन्तर्कलह एवं अंग्रेजों की फूट डालों शासन करो नीति पर कुठाराघात करते हुए लिखते हैं-**"जब भाई-भाई आपस में लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।"** स्वराज्य के उत्कट अभिलाषी, स्वाभिमानी महर्षि दयानन्द ने रियासतों में जा-जाकर राजाओं के विस्तृत स्वाभिमान को जगाया और उन्हें कर्तव्य से परिचित कराया। स्वामी जी ने जहाँ कर्णसिंह जैसे अभिमानी राजा को सबक सिखाया वहीं वेश्यागामी जोधपुर नेरश को ललकारते हुए कहा-**"महाराज राजा सिंह के सदृश होता है, वह दर-दर भटकने वाली कुतिया का सेवन कदापि नहीं करता।"**

महर्षि दयानन्द स्वदेशी, स्वभाषा एवं स्वराज्य के सर्वप्रथम प्रचारक तथा समर्थक थे। स्वदेशी शब्द का प्रयोग वह बड़े व्यापक रूप में करते थे। इसमें वे अपनी भाषा और संस्कृति को समाहित करते हुए अपनाने पर बल देते थे। 1905-06 में स्वदेशी आन्दोलन प्रारम्भ होने से तीस वर्ष पूर्व उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार पर बल दिया। स्वराज्य

की महिमा को उन्होनें उस समय प्रबल शब्दों में स्पष्ट किया जब कांग्रेस के नेता ब्रिटिश शासन को ईश्वरीय वरदान एवं दैवीय व्यवस्था समझ रहे थे। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार लिखते हैं-**"महर्षि दयाननद नमक कानून का विरोध करने वाले सम्भवतः पहले नेता थे। उन्होंने १८५७ ई० में प्रकाशित अपने सत्यार्थ-प्रकाश में नमक कर की कड़ी आलोचना की है।** इसी सन्दर्भ में विख्यात इतिहासकार डॉ0 रमेश चन्द्र मजूमदार भी स्वाधीनता आन्दोलन में महर्षि दयानन्द की भूमिका के बारे में लिखते हैं-**"स्वामी दयानन्द का एक प्रथम उद्देश्य भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता था। वस्तुतः वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया तथा वे पहले व्यक्ति थे जिन्होनें जनता से इस बात का आग्रह किया कि वे केवल भारत में बनी स्वदेशी वस्तुओं का इस्तेमाल करें।"**

एक दिन ठाकुर ऊधवसिंह छावणी निवासी अपने पिता ठाकुर भोपाल सिंह के साथ स्वामी जी के दर्शन करने अलीगढ़ आये। उस दिन ऊधव के वस्त्र विदेशी कपड़े के बने थे। स्वामी जी ने बड़े विनम्र शब्दों में स्वदेशी की महत्ता से अवगत कराते हुए कहा-''**देखों ऊधव तुम्हारे पिता कैसे देशी, मोटे कपड़े पहनते हैं, बिरादरी में उनका कितना सम्मान है। ऊधव अपने देश की वस्तुओं को अपनाने में ही महानता है।**

हिन्दी के प्रचार व स्वरूप को राष्ट्रियता का दर्जा मिलने का श्रेय भी महर्षि दयानन्द को है। राष्ट्र भाषा हिन्दी के प्रति स्वामी जी की मूल भावना राष्ट्रिय एकता स्थापित करने व स्वराज्य प्राप्ति की थी। स्वमी जी गुजराती के भी कुशल ज्ञाता थे यह उनकी मातृभाषा भी थी। लेकिन अपने जीवन में उन्होंने जितने भी ग्रन्थ लिखे सब आर्य भाषा हिन्दी में ही गुजराती भाषा में एक भी नहीं। स्वामी जी की जीवनी के एक आस्ट्रेलियाई लेखक जाईन्स ने ठीक ही लिखा है-**दयानन्द बनारस, लाहौर, बम्बई जहाँ भी गये उन्होंने हिन्दी का ही व्यवहार किया।**

हरिद्वार में एक दिन अनेक लोगों ने स्वामी जी से अपने ग्रन्थों का गुजराती, पंजाबी, उर्दू आदि भाषाओं में अनुवाद करने को कहा तो उन्होंने उत्तर दिया-**"दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक, अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का व्यवहार होगा। मैंने आर्यावर्त भर में ऐक्य सम्पादन के उद्देश्य से सकल ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखे व प्रकाशित किये हैं।"** महर्षि दयानन्द का यह दृढ़ विश्वास था कि हिन्दी सम्पूर्ण भारत को एकसूत्र में पिरो सकती है।

महर्षि दयानन्द अनेकों स्वतन्त्रता सेनानियों के प्रेरणास्रोत थे। वास्तव में महर्षि दयानन्द के विचारों एवं सिद्धान्तों ने काफी हद तक महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र, सरदार पटेल, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय आदि स्वाधीनता आन्दोलन के कर्णधारों को प्रभावित किया। कांग्रेस के अधिवेशनों में 50 प्रतिशत से भी ज्यादा आर्यसमाजी होते थे।

समाज सुधार, धर्मोद्धार, स्वराज्य एवं नवचेतना के प्रतीक महर्षि दयानन्द के विचारों एवं सिद्धान्तों ने न केवल भारतवासियों को ही अपितु विदेशी विचारकों एवं विद्वानों को भी

पूर्ण प्रभावित किया। नोबेल पुरस्कार विजेता- रोमां रोल्या 'द लाइफ आफ॑ रामकृष्ण में लिखते हैं- **'स्वामी दयानन्द भारतीय जनता के उद्धारक एवं राष्ट्रिय चेतना आन्दोलन के शक्ति-पुञ्ज थे।**

यूरोप में जो कार्य बेकन, दस्कार्ते, स्पिनोजा तथा वाल्तेयर सदृश विचारकों ने किया उससे कहीं ज्यादा भारत में महर्षि दयानन्द द्वारा किया गया हैं।

यतीन्द्र कुमार विद्यालंकार
सघनक्षेत्र, निकट-बिजलीघर
मंडी घनौरा 244231
(ज्योतिबाफूले नगर उ.प्र.)

वैदिक राष्ट्रवाद

भारतीयता तथा राष्ट्रियता के महान् शत्रु 'प्रान्तवाद' का समाधान कुछ दिन पूर्व असम की यात्रा के उपरान्त अपने एक लेख में मैंने यह कहा था कि यदि समय रहते ही हम न चेते तो हमें पछताना पड़ेगा। अत्यन्त दुःख तथा लज्जा का विषय है कि जो कुछ असम में हिन्दी भाषियों के साथ अर्थात् गैर असमियों के साथ हुआ इसमें देश को स्वतन्त्र करवाने वाले शहीदों और भारत को एक करने वाले सरदार पटेल का घोर अपमान हुआ। देश व विदेश में रहने वाले वे देशभक्त जो भारत को सदा प्राचीन काल की तरह सम्पूर्ण विश्व में सर्वाधिक मान दिलवाना चाहते हैं, उनका माथा शर्म से झुक गया। जिस भारत के राष्ट्रवाद द्वारा परस्पर प्यार व भाईचारे से अपनों के ही नहीं, अपितु विदेशियों को भी प्रभावित करके **'विश्व गुरु'** के सम्मान को प्राप्त किया था, आज उसके माथे पर कुछ नासमझदार लोगों ने नागावाद, महाराष्ट्रवाद और असमवाद के विवाद से कालिमा पोत दी है।

यदि हमारे नेता भारत के संविधान व मुद्रा पर छपे **'सत्यमेव जयते'** ध्येय वाक्य से प्रेरणा पाकर गत 56 वर्षों में देश को वैदिक राष्ट्रवाद के मार्ग पर चलाने का प्रयास करते तो आज हम भारतवासी महाराष्ट्र, पंजाब व असम की तरह एक दूसरे का खून करके कलंकित न होते। यदि देश में रहने वाले लोगों ने प्रान्तवाद की घृणा व हिंसा के स्थान पर राष्ट्रवाद से परस्पर प्यार व भाईचारे को बढ़ाया होता तो हम पृथक् कश्मीरवाद का मुद्दा उठाने वाले मुसलमानों को भी कुछ शिक्षा दे पाते। यदि संविधान के अनुसार ईमानदारी से राष्ट्रभाषा हिन्दी को सभी प्रान्तों में उचित सम्मान मिलता तो आज असम प्रान्त की दुःखद घटनाओं से भारत का सिर नीचा न होता। अत्यन्त लज्जा का विषय है कि जिस देश को स्वतन्त्र करवाकर उसकी एक पृथक् ऊँची शान बनाने हेतु महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा उसके आर्यसमाज ने सौ में से 85 प्रतिशत लोगों का बलिदान दिया, विष के प्याले पिये, हंसते-हंसते फांसी पर चढ़े। शेरे पंजाब लाला लाजपतराय ने लाठियाँ खाईं। अनेकों आर्य वीरों ने सीने पर गोलियाँ खाईं। आज उसके नागरिक प्रान्तवाद के नाम पर एक दूसरे से लड़ते हुए राष्ट्र की हत्या करके देश को पुनः परतन्त्रता के पथ पर ले जाने का निन्दित कुप्रयास कर रहे हैं। क्या इन घटनाओं से देश को एकता के डोर में पिरोने वाले सरदार पटेल की अथवा क्रान्तिकारियों की आत्मा को शान्ति मिलेगी? क्या इस प्रान्तवाद की आग के देश के शेष भागों में फैल जाने पर असम, महाराष्ट्र या किसी भी अन्य प्रान्त का निवासी सुखी व सुरक्षित रह सकेगा? यदि अन्य प्रान्तों के लोग भी अपने यहाँ से दूसरे प्रान्त के लोगों को असम की तरह ही मारपीट, लूटमार या हत्या करके खदेड़ने लगेंगे तो इसके कितने भयंकर परिणाम निकलेगें। क्या इससे कोई असमी देश के किसी भी कोने में नौकरी, व्यापार या खेती करने की स्थिति में रह सकेगा?

इस बात को महान् राष्ट्रवादी देशभक्त छत्रपति शिवाजी के अनुयायी श्री ठाकरे जी

तथा उनके साथी भी गम्भीरता से विचार करें। क्योंकि मुम्बई से भी गैर मराठियों को हटाने की निन्दित चर्चायें भी गरमाती रहती हैं।

मौलिक बात विचारने की यह है कि इस प्रान्तवाद के निन्दित विवाद को हवा देकर क्या हमारे देश की अखण्डता सुरक्षित रह सकेगी? ऐसा लगता है कि आजादी के 56 वर्ष के पश्चात् भी भारत के नागरिकों को यह पता नहीं है कि देश कहते किसे हैं। एक शान्त व समृद्ध राष्ट्र की आधारशिला क्या है? देश और राष्ट्र का परस्पर रिश्ता क्या हैं? देश शब्द का अर्थ केवल भूमि का टुकड़ा नहीं, अपितु एक ऐसा पावन स्थान है जिसे एक विशेष सभ्यता तथा भाषा से दिशा मिलती है। जिस पर राज्य करने वाले लोग उस सभ्यता का सत्कार करते हुए उसे उस भाषा से जोड़े रखते हैं। हमारे देश की प्राचीन सम्यता **'वैदिक संस्कृति'** है। संविधान में प्राचीन सभ्यता की धरोहर को सुरक्षित रखना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य बताया गया है। इसी वैदिक संस्कृति को सर्वहितकारी व सर्वलोकप्रिय मानकर उसके एक उपदेश **'सत्यमेव जयते'** को संविधान तथा भारत सरकार की प्रत्येक मुहर व मुद्रा पर अंकित किया गया। इसी से संविधान के सैकुलर होने की शोभा बढ़ रही है। क्योंकि ईश्वर प्रदत्त वेदवाणी का प्रत्येक मन्त्र तथा शिक्षा निर्विवाद रूप से सबके लिए अनुकरणीय व एक समान लाभकारी है। इसलिए संविधान के हिन्दी अनुवाद में सैकुलर का अर्थ धर्मनिपेक्ष न करके 'मतनिरपेक्ष' किया है। क्योंकि संविधान धर्मसापेक्ष है अथवा यूँ कहना चाहिए कि 'धर्म' सबके लिए बराबर लाभकारी हैं, परन्तु मत नहीं। प्रान्तों या देशों में झगड़े धर्म से नहीं मतों से हैं। धर्म तो कभी भी झगड़े का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह ईश्वरीय है। सबका एक है, जैसे सूर्य, चन्द्र पृथ्वी, हवा या पानी। परन्तु मत समय-समय पर होने वाले व्यक्तियों की रचना होने के कारण अपूर्ण व विवाद ग्रसित है। संस्कृति के अन्तर्गत संस्कृत के पश्चात् दूसरी भाषा हिन्दी है, क्योंकि यह सबसे अधिक बोली जाती है और इसी के प्रचार प्रसार से भारत एक हो सकता है देश में रहने वाले विशेष जनसमुदाय को राष्ट्र कहते हैं। परन्तु राष्ट्र का अर्थ लोगों की भीड़ से नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ है देश व उसकी भाषा तथा सभ्यता के लिए मतदान व बलिदान करने वाले लोग। **राष्ट्र** शब्द जिस-**रै-रा** धातु से बनता है-इसका अर्थ है-**दान और बलिदान** और **'ष्ट्र'** का अर्थ है- **स्वभाव** अर्थात् दोनों को मिलाकर अर्थ हुआ-**देश, राष्ट्रभाषा व संस्कृति की सुरक्षा एवं मान हेतु बलिदान करने वाले लोग**। जो दूसरों की समृद्धि तथा उन्नति हेतु अपने सुख का त्याग करते हों। जो देश की रक्षा हेतु क्रान्तिकारियों की तरह अपने सुखों का बलिदान कर सकते हैं। इसमें दो मत नहीं हैं कि राष्ट्रभाषा राष्ट्र की वह आत्मा होती है जिससे देश में रहने वाले सभी जन एक दूसरे की बात समझ सकते हैं और जुड़ सकते हैं। अत्यन्त लज्जा का विषय है कि पिछले 50 वर्षों में हम राजभाषा हिन्दी को सभी प्रान्तों की प्रिय न बना सके। इसी के परिणाम स्वरूप आज असम के लोग राजभाषा हिन्दी से प्यार करने की अपेक्षा हिन्दी भाषियों का रक्त बहा रहे हैं। यदि हिन्दी उनकी भाषा बन गई होती तो ऐसा वे कभी न करते। जो लोग हिन्दी को राजभाषा का उचित स्थान दिलवाना कठिन

मान रहे हैं, उन्हें विचारना चाहिए कि जिस तरह से बचपन से ही पढ़ाई जाने के कारण एक विदेशी भाषा अंग्रेजी असम सहित सभी प्रान्तों की लोकप्रिय बन गई। यदि ऐसा प्रयास हिन्दी के लिए भी किया जाता तो वह भी असम आदि प्रान्तों की प्रिय बनकर झगड़ो के स्थान पर परस्पर प्रेम को बढ़ाती। महर्षि दयानन्द 'गुजराती', सुभाष चन्द्रबोस 'बंगाली', लाला लाजपतराय 'पंजाबी', श्री लोकमान्य तिलक व वीर सावरकर मराठी भाषी के अहिन्दी भाषी होते हुए भी हिन्दी भाषा को राजभाषा का दर्जा दिलवाया। क्योंकि देशभक्त तथा दूरदर्शी लोग ये जानते थे कि हिन्दी भाषा को छोड़कर कोई अन्य भाषा राष्ट्र को एक नहीं कर सकती। कारण एक हिन्दी भारत में सबसे अधिक प्रान्तों व लोगों की भाषा है। कारण दूसरा हिन्दी सभी भाषाओं के समीप है, मराठी की तो लिपि भी देवनागरी है। पंजाबी व गुजराती भी प्रत्येक हिन्दी भाषी को समझ आ सकती है, उर्दू भाषा तथा हिन्दी में तो बहुत कम अन्तर है। यदि इसकी भी लिपि देवनागरी कर दी जाए तो यह भी वैसी ही लगे। कारण तीसरा भारत के प्रान्तों की सभी भाषाओं में हिन्दी के बहुत शब्द पाये जाते हैं। हिन्दी भाषा के संस्कृत के बहुत समीप होने से इसमें बहुत अधिक शब्द भण्डार हैं। इसी कारण से हिन्दी अंग्रेजी से कहीं अधिक सम्पन्न भाषा है। अत: हिन्दी का सम्मान राष्ट्रिय एकता तथा भारतीयता का सम्मान है।

हम सभी प्रान्तवासियों को एक बात और गम्भीरता से विचारनी चाहिए कि 'प्रान्त' शब्द का अर्थ पृथक् भाषा का क्षेत्र न होकर शासन की दृष्टि से देश का एक पृथक् विशेष भाग है। क्योंकि एक बहुत बडा़ क्षेत्र होने के कारण शासन करना कठिन होता है। जैसे कि देखिए उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, हिमाचल, हरियाणा, मध्यप्रदेश, बिहार, दिल्ली, व राजस्थान ये आठ राज्य पृथक्-पृथक् होने पर भी वहाँ के लोगों की भाषा एक न होकर पृथक्-पृथक् भी हो सकती है जैसे कि पंजाब, उत्तर प्रदेश, हिमाचल, हरियाणा व महाराष्ट्र में हिन्दी के साथ-साथ पंजाबी तथा उर्दू भी चलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'प्रान्त' के नाम पर किसी खास भाषा को आधार बनाकर दूसरी भाषा वालों से वैर रखना भी महामूर्खता ही है। यदि यह 'प्रान्तवाद' की अज्ञानयुक्त परस्पर लडा़ई नहीं रुकी तो भारत में कोई भी प्रान्त सुरक्षित न रह सकेगा, क्योंकि इसी परस्पर की फूट ने ही तो हमें सदियों तक विदेशियों का गुलाम बनाए रखा था। पहली बात तो यह है कि केन्द्र द्वारा हर प्रान्त में उसकी उन्नति, उसकी रक्षा व समृद्धि हेतु दूसरे प्रान्तों के अधिकारियों तथा सेनानियों को भेजा जाता है। क्या भाषा के नाम पर चल रही लड़ाई के रहते कोई बुद्धिमान् ऐसे दंगाग्रस्त अशान्त क्षेत्र में आना चाहेगा? क्या इसके बिना हमारे प्रान्तों का उत्तम शासन तथा विदेशी हमलावरों द्वारा सीमाओं की पूर्ण सुरक्षा हो पायेगी? क्या सभी प्रान्तों में भाषा तथा प्रान्तवाद के विवाद के पनप जाने के पश्चात् एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में ट्रक, बस, गाड़ी, पानी, नदी, रेल, गेहूँ, कम्बल, मशीनरी तेल, डीजल व विदेशियों का उच्च शिक्षा हेतु आना जाना हो सकेगा? क्योंकि आज हजारों असम के विद्यार्थी दूसरे प्रान्तों में पढ़ते हैं। दिल्ली राज्य के विषय में यदि कहा जाए तो वहीं आज के दिन एक करोड से ऊपर जनसंख्या है, जिसमें

दिल्ली के अपने 20 प्रतिशत भी मूल निवासी नहीं यदि दिल्ली में भी यही प्रान्तवाद का तरीका अपनाकर गैर हिन्दी भाषियों को दिल्ली से निकाल दिया तो फिर उन लोगों का क्या बनेगा। जब असम की तरह ही प्रत्येक प्रान्तवासी आर्यों को निकालना या मारना शुरू करेगा तो क्या फिर यह देश एक स्वतन्त्र व सुरक्षित देश कहला सकेगा अथवा पुनः फूट के कारण शक्तिहीन तथा खण्डित होकर विदेशियों का गुलाम होगा? यदि असम के वे लोग हिन्दी भाषी भारतीयों को निकालने की अपेक्षा गैर हिन्दुस्तानी भारतद्रोही बंगलादेशी व पाकिस्तानियों को वहां से निकालने का अभियान चलाते तो असम में रहने वाले सभी भारतवासी एक हो जाते, जिससे कि भारत माँ की सच्ची सेवा होती। जिससे देश के लिए शहीद होने वाले लागों का सत्कार होता तथा इनके वहाँ से निकल जाने पर असम में बढ़ रहा पृथक्तावाद और आतंकवाद भी रुक जाता।

हमें आशा है कि इन भावी खतरों तथा विनाश की सम्भावानाओं को ध्यान में रखकर हम देश की सुरक्षा व समृद्धि हेतु वैदिक राष्ट्रवाद के तीन सूत्रों राजभाषा हिन्दी, भारत भूमि तथा पक्षपातरहित विश्व प्रेममयी वैदिक संस्कृति को अपनायेंगे। वैदिक राष्ट्रवाद ही वर्तमान की सभी राष्ट्रिय समस्याओं का मूल समाधान है। वेद में राष्ट्र की उपमा मानव के शरीर से दी गई है जैसे कि **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** अर्थात् जैसे सिर, बाजू, पेट तथा पैर मिलकर शरीर को चलाते हैं ठीक वैसे ही विद्वान्, सेनानी, व्यापारी तथा चतुर्थश्रेणी के लोग मिलकर राष्ट्र को चलायें। जैसे शरीर की त्वचा का प्रत्येक नस-नाड़ी परस्पर मिल-जुल कर शरीर को ढकती तथा प्रत्येक अंग को शक्ति देती है, ठीक वैसे ही इसमें रहने वाले नागरिक राष्ट्र के एक कोने से दूसरे कोने तक मिलजुल कर कार्य करते व निवास करते हुए शरीर रूपी राष्ट्र को जीवन देते रहें और त्वचा के समान एकरस होकर इसकी एकता की शोभा बढ़ाते रहें। जिस प्रकार से कहीं मार्ग में पड़े कटे हुए हाथ का कोई मूल्य नहीं होता और उसे देखकर कोई उसे शरीर नहीं कहता ठीक वैसे ही संगठन से टूटे हुए एक अलग प्रान्त का न तो कोई मूल्य है न ही सुरक्षा और नहीं उस देश को कोई सम्मान देता है। अतः यदि इस देश में रहने वाले सभी लोगों को बाह्य शत्रुओं से सुरक्षित रहना है, एक देश जैसे सम्मान को प्राप्त करना है अथवा उन्नत होकर अपने मूल्य को स्थापित करना है तो सदा शरीर के अंगों की तरह सभी प्रान्तों को एक दूसरे की सहायता तथा सम्मान करते हुए सदा एक रहना चाहिए। विशेष जानकारी के लिए लेखक की पुस्तक **'धर्म के नाम पर'** निम्न पते पर मात्र ग्यारह रुपये की टिकट भेज कर पुस्तक निःशुल्क प्राप्त कर सकते हैं।

आचार्य आर्य नरेश
वैदिक गवेषक
उद्गीथ साधना स्थली
गुलमोहर अपार्टमेंट, नियर वडेला, नई दिल्ली-110018

भक्तवर प्रह्लाद

एक क्रान्तिकारी प्रेरणात्मक जीवन

कभी-कभी संसार में ऐसा भी होता है कि अत्यन्त दुष्ट एवं अत्याचारियों के यहाँ सज्जन तथा दिव्यात्माओं का जन्म हो जाता है। भक्त प्रह्लाद भी ऐसे ही तामसिक वृत्तियों के सेनापति हिरण्यकशिपु के घर में जन्मे थे। उनकी माता का नाम कयाधू था। जब हिरण्यक कठोर तप के द्वारा अपनी भौतिक शक्तियों की साधना में जुटा हुआ था और अपने को संसार में एक छत्र सम्राट् बनाने के उद्यम में लगा हुआ था, तब नारद मुनि ने कयाधू को अपने आश्रम में रखकर निर्मल भक्ति एवं सत्यधर्म का उपदेश दिया था। प्रह्लाद गर्भ में थे, मुनि के उपदेशों का गर्भस्थ बालक पर अप्रतिम प्रभाव पड़ा। कयाधू के चार पुत्र और सिंहिका नाम की पुत्री भी थी। यथा-

हिरण्यकाशिपोर्भार्या कयाधूर्नाम दानवी।
जम्भस्य तनया दत्ता सुषुवे चतुरः सुताम्॥
संह्लादं प्रागनुह्लादं ह्लादं प्रह्लादमेव च।
तत्स्वसा सिंहिका नाम राहुं विप्रचितोऽग्रहीत्॥ भाग०६.१८.१२-१३

यथासमय बालक प्रह्लाद का जन्म हुआ। प्रह्लाद अपने भाइयों में सबसे छोटे होते हुए भी गुणों में सबसे बड़े थे। वे सौम्य स्वभाव, सत्य-प्रतिज्ञ, सन्त-प्रकृति, जितेन्द्रिय एवं सबका आदर करने वाले थे। गरीबों पर विशेष स्नेह रखते थे। अपने इन श्लाघनीय गुणों के कारण बालकपन से ही वे सबके प्यारे बनते गये। खेल-कूद को छोड़कर उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भगवान् की भक्ति में थी, किन्तु दूसरी ओर उसका पिता अपने भाई की मृत्यु के कारण भगवान् की सत्ता एवं उस समय के बड़े-बड़े राजाओं से द्वेष करता था।

एक बार हिरण्यक ने बड़े प्यार से अपने प्यारे पुत्र प्रह्लाद को गोद में बिठाकर पूछा-**"पुत्र! संसार में तुम्हें सबसे अच्छा क्या लगता है?"** हिरण्यक सोचता था कि प्रह्लाद कहेगा कि मुझे सबसे अच्छे आप लगते हैं किन्तु उसकी सब आशाओं पर पानी फिर गया, जब प्रह्लाद ने सहज भाव से कहा-**"पिताजी! मुझे तो अपने तथा पराये के भेद के आग्रह से अलग प्रभु की भक्ति में मन को लगानाा अच्छा लगता है। चाह होती है संसार के कोलाहल से दूर प्रभु के चरणों में बैठकर ध्यान करूँ।"**

हिरण्यकशिपु बालक की इस बात को सुनकर बड़ा आश्चर्यचकित हुआ। वह अपने पुत्र को दूसरे मार्ग की ओर जाता देख ऊपर से नीचे तक जल उठा। उसका सारा शरीर क्रोध में काँपने लगा। उसका क्रोध में आना स्वाभाविक था क्योंकि ईश्वर का नाम लेना तो उसकी दानवी प्रवृत्तियों के खिलाफ था। भौतिक साधनों की उसके यहाँ भरमार थी। (पढ़िये

भागवत् के 7 वें स्कन्ध का चतुर्थ अध्याय)।

तब भौतिकवाद का नग्न ताण्डव हो रहा था। भला ऐसे राक्षसवृत्तियों के राजा के राज्य में क्यों कर कोई भगवान् का नाम लेकर बेमौत मरता? वहाँ तो उसकी आज्ञा ही सर्वोपरि थी। वह उस समय का एकछत्र सम्राट् था। अपने सेवकों और राज्याधिकारियों को उसका स्पष्ट आदेश था कि "राष्ट्र में जहाँ-जहाँ धर्म-कर्म हो, वर्णाश्रम धर्म का पालन हो वह सब नष्ट कर दो। ब्राह्मणों को, क्षत्रियों को, गायों को 'वेदों को जला दो, जड़मूल से विनष्ट कर दो। यथा-

विष्णुर्द्विजक्रियामूलो यज्ञो धर्ममयः पुमान्।
देवर्षिपितृभूतानां धर्मस्य च परायणम्॥ भाग०२. ७.११
यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमाः क्रियाः।
तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चतः॥ भाग०२.७.१२

तदनन्तर उसके अनुचरों ने नगर के नगर, गाँव के गाँव उजाड़ दिये, हरे-भरे उद्यान काट डाले। जला डाले। नष्ट कर डाले। भयंकर मारकाट मचा दी-

इति ते भर्तृनिर्देशमादाय शिरसाऽदृताः।
तथा प्रजानां कदनं विदधुः कदनप्रियाः॥ २. ७.१३
पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्राश्रमाकरान्।
खेटखर्वटघोषाश्च ददहुः पत्तनानि च॥ २. ७.१४

वस्तुतः राक्षसवृत्ति के मनुष्य स्वभाव से ही दूसरों को सताकर सुखी होते हैं। वे जनता का नाश करने लगे। इस प्रकार हिरण्यक का राज्य तपने लगा।

किन्तु अपने पुत्र प्रह्लाद की बात सुनकर उसका माथा ठनका। उसने उसे विद्यालय में पढ़ने के लिए भेजा। बालक प्रह्लाद षण्ड और अमर्क नामधारी गुरुओं के शिष्य बने। गुरु भी यथानाम तथागुण थे। वे राजा के सेवक और पराधीन थे। वे बालकों को राजनीति और अर्थनीति की शिक्षा के साथ हिरण्यक की विचारधारा का पोषण भी करते थे। उनके पाठ का मूल आधार अपने और पराये का झूठा आग्रह था। उनकी शिक्षा राग-द्वेष से पूर्ण थी। यथा-

तौ राजा प्रापितं बालप्रह्लादं नय कोविदं। ५. ७. २

किन्तु प्रह्लाद पर माता के नारद मुनि के आश्रम में निवास के कारण आध्यात्मिक संस्कार इतने गहरे जमे हुए थे कि गुरुओं की अधूरी, उल्टी शिक्षा उन पर अपना कोई प्रभाव न जमा सकी। वे गुरुजनों को ही सत्यमार्ग बताने लगे। गुरु यह देखकर एकदम गरज उठे। उन्होंने कहा-"खबरदार, अब कभी ऐसी बात न कहना" किन्तु प्रह्लाद नित्य ही खण्डन-मण्डन करने लगे। गुरु यह देखकर बड़े झल्लाये। भागे-भागे हिरण्यक के पास गये। प्रह्लाद के विचारों की सर्वत्र चर्चा की।

हिरण्यक बात सुनते ही आग-बबूला हो गया। उसने प्रह्लाद को गोद से उठाकर पटक दिया। अनेक शंकायें उसके हृदय में घर कर गयीं, उसने सोचा शायद गुरुओं की दृष्टि बचाकर कोई इसे इस प्रकार की शिक्षा देता है। यथा-

“विष्णुपक्षैः प्रतिच्छन्नैर्भिद्यतास्य धीर्यथा” (अ5. स्क. 7. श्लो 7) किन्तु अगले ही क्षण प्रह्लाद की वही रटन्त देखकर उसके नेत्र अंगारों से दहकने लगे। होंठ फड़फड़ाने लगे। उसने अनुचरों से कहा-“इस कुलांगार को मेरे सामने से ले जाओ और मार डालो”-

आहामर्षरुषाविष्टः कषायीभूतलोचनः।
वध्यतामाश्वयं वध्यो निःसारयत नैर्ऋृताः॥५. ७.३४

आज्ञा सुनकर दुष्टों ने प्रह्लाद को बहुतेरा डराया धमकाया। अनेक शारीरिक यातनायें एवं मानसिक कष्ट दिए। अनेक प्रलोभन भी दिये, किन्तु प्रह्लाद को ईश्वर की सत्ता मानने और उसकी भक्ति एवं प्रचार से विमुख न कर सके।

यदि हम इस कथा को वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा उस समय की राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक अवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में एक संगति-परक, सत्य-परक दृष्टि से देखें तो यह आस्तिक प्रवृत्तियों और नास्तिक प्रवृत्तियों का झगड़ा था। सत्ता-परिवर्तन का युद्ध था। भौतिकवाद से, अहंवाद से अध्यात्मवाद की लड़ाई थी। दूसरे शब्दों में शुद्ध राज्य-क्रान्ति थी।

चूंकि राजनैतिक दृष्टि से हिरण्यक एकछत्र सम्राट् बना हुआ था। समस्त छोटे-बड़े राजा उसके आक्रोश से पीड़ित थे। वे अपने लोक अर्थात् स्थानों को छोड़कर भयभीत लुके-छिपे फिरते थे। बड़े-बड़े नगर और ग्राम उसने उजड़वा दिए थे।

धार्मिक दृष्टि से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में से मोक्ष का तो कहीं नाम ही नहीं था। काम और अर्थ का सेवन होकर धर्म गौण बन गया था। अखण्ड भौतिकता का साम्राज्य था। ईश्वर के प्रति अश्रद्धा का भाव उत्पन्न किया जा रहा था। दिव्य-भावनाओं को समूल नष्ट किया जा रहा था। ईश्वर की सर्वव्यापकता ख़तरे में पड़ी थी।

इस प्रकार आर्यत्व का विनाश और अनार्यत्व का खुला प्रचार व प्रसार था। सनातन वैदिक पथ पर कुठाराघात हो रहा था। धर्मात्मा लोग तथा निरीह प्रजा बड़े संकट में थी। हिरण्यक के दुर्दान्त अत्याचारों से प्रजा तंग थी। समस्त राज्याध्यक्ष उसके उग्र स्वाभाव से तंग थे, यथा-**“तस्योग्रदण्डसविघ्ना सर्वे लोकाः सपालकाः”** (अ.4. स्क.7. श्लो. 21)। सज्जन लोग ईश्वर का स्मरण करते हुए उसके विनाश की प्रार्थना करते थे। क्षत्रिय राजा आ़कुल-व्याकुल थे, चुपके-चुपके अन्दर ही अन्दर एक ज्वाला भड़क रही थी। वह पुत्र पर ही घोर अत्याचार कर रहा था। यह सब देखकर अनेक राज्याधिकारी एवं प्रजाजन प्रह्लाद-समर्थक होते जा रहे थे। भगवान् की भक्ति से प्रह्लाद की आत्मिक शक्ति इतनी प्रबल हो गयी थी कि उसने उस भंयकर वातावरण में भी अपनी बात कहने का महान् प्रयास किया। पिता से लड़ाई ठान ली।

यदि संसार के चक्र को देखें और इतिहास के पन्नों पर दृष्टि दौड़ायें तो अपने देश की ही नहीं अपितु विदेशों की भी ऐसी अनेक घटनायें दृष्टिगोचर होंगी। फ्रांसीसी इतिहास के पन्ने के पन्ने ऐसी घटनाओं से भरे पड़े हैं। ऐसे क्रूर, दम्भी, अत्याचारी एवं अपने को सब कुछ समझने वाले शासकों का "महाभारत" में खुला वर्णन है। आज भी पड़ोसी देशों में प्रजा-जन उनसे विस्फोट के लिए तैयार हैं। याहिया और अयूब पहले ही इस दाम्भिक प्रवृत्ति से नष्ट हो चुके हैं। यह संसार का अटल नियम है कि कोई भी प्राणी जब दिव्य जनों, वेद, गायों, ब्राह्मण, निरीह प्रजा पर अत्याचार कर; ईश्वर की सत्ता को चुनौती देता है, तब उसका विनाश अवश्य होता है। वह अपने कुकर्मों के द्वारा मृत्यु मार्ग प्रशस्त कर लेता है, यथा-स्क0 7. अ04. श्लो0 27।

अन्ततोगत्वा अपने पुत्र प्रह्लाद की इन प्रवृत्तियों के कारण हिरण्यक चिन्तित रहने लगा। षण्ड और अमर्क ने उसे समझाया बुझाया। पाठकगण! प्रकरण-भेद से हम यहाँ एक घटना का उल्लेख करना चाहेंगे जो प्रह्लाद के साथ जोड़ी गयी है। कहते हैं "अपने भाई हिरण्यक को चिन्तित व दुःखी देखकर 'होलिका' ने हिरण्यकशिपु से प्रह्लाद को मार डालने का एक उपाय बताया। उसके पास 'अग्नि रक्षक-वस्त्र' थे। वह उन्हें पहन कर प्रह्लाद को लेकर अग्नि में कूद पड़ी। वह खुद जल गयी। प्रह्लाद बच गये। किन्तु इस कथा में कोई सार नहीं। लगता है कथा वाचकों ने कथा को चटपटी करने के लिए वैसे ही बाद में जोड़ दी है क्योंकि स्पष्ट है-

दितेर्द्वाविव दायादौ दैत्यदानववन्दितौ।
हिरण्यकशिपुर्नाम हिरण्याक्षश्च कीर्तितौ।। भाग०६.१८.१४

दिती के यशस्वी दो ही पुत्र थे। हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष। 'होलिका' नाम की कोई पुत्री नहीं थी। खैर, तदनन्तर प्रह्लाद के प्रभाव को बढ़ता देख चिन्ताग्रस्त होकर हिरण्यक का क्रोध सातवें आसमान पर जा पहुँचा। उसने प्रह्लाद को वरुण के पाशों (अ.5. स्क.7. श्लो.50) अर्थात् कारागार में प्रतिबन्धित करवा दिया। उसको भूखा-प्यासा रखा गया। किन्तु प्रभु-भाक्ति में लीन आत्मिक शक्ति के धनी उस वीर युवक सत्याग्रही को कोई प्रलोभन तथा अत्याचार सत्यमार्ग से डिगा न सके। सत्य ही, क्रान्तिवीरों, धर्मवीरों तथा राष्ट्रवीरों ने क्या-क्या कष्ट नहीं झेले? पर कभी सिर नहीं झुकाया। स्मरण करें वीर हकीकतराय को, बन्दावीर वैरागी को, गोविन्द सिंह गुरु के दो नन्हें लाड़ले बेटों -जोरावर सिंह व फ़तह सिंह- को, जो धर्म की वेदी पर बलिदान हो गये। कारागार की सुदृढ़ दीवारें, चमचमाती तलवारें और लौहशृंखलायें भी इनके महान् संकल्प को, असीम धैर्य को, महान् व्रत को डिगा न सकीं। वसुदेव औद देवकी को भी कारागार में बन्दकर कंस ने महान् क्रान्ति को जन्म दिया। कारागार की सुदृढ़ दीवारों में ही जन्मे थे। 'महाभारत' युद्ध के अप्रतिम सूत्रधार वीर शिरोमणि योगिराज श्रीकृष्ण चन्द्र जी महाराज। धार्मिक क्रान्ति के क्षेत्र वीरों ने ही सींचें हैं वे अमर हैं, उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

युवक प्रह्लाद भी एक ऐसा ही क्रान्तिवीर था। जिसने अपने पिता हिरण्यक की सत्ता

को खुली चुनौती दी थी। आखिर कड़े पहरे में प्रह्लाद को फिर उन्हीं राजभोगी गुरुओं षण्ड और अमर्क को सौंपा गया, किन्तु प्रह्लाद अपने प्रण से कब हटने वाला था? **'न्याययात्पथः प्रवचलन्ति पदं न धीराः'** धैर्यवान् पुरुष न्याय के पथ से 'विचलित नहीं हुआ करते।' वह गुरुओं की अनुपस्थिति में युवकं विद्यार्थियों में क्रान्तिकारी विचार भरने लगा। उनको एकत्र करके उसने वे सामयिक भाषण दिए कि समस्त बालक उसके प्रभाव में आने लगे। प्रजा भी उसके विचारों से अवगत होने लगी, जागृत होने लगी। क्रान्तिकारियों का एक व्यापक समूह बनने लगा। सर्वत्र उसके विचारों की गूंज होने लगी। वह कहता कि- तुम लोग अपने दैत्यपन को, आसुरी सम्पत्ति को, त्यागकर समस्त प्राणियों पर दया करो। प्रेम से उनकी भलाई करो। इसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं। यथा-

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदयम्।
आसुरं भावमुन्मुच्य यथा तुष्यत्यधोक्षजः।। (६. ७. २४)

हे दानव बन्धुओ! समस्त प्राणियों को अपने समान समझकर, सर्वत्र विराजमान सर्वशक्तिमान् भगवान् का स्मरण करो यथा-

ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे।। (७. ७.५३)

अपने साथियों और प्रजावर्ग से कहता कि तुम प्रभु पर श्रद्धा लाओ। वे मन की वस्तु है। अन्तर्यामी को शुद्ध अन्तरात्मा के द्वारा ही जाना जा सकता है यथा-

भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्दधते वचः।
वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्रीबालानां न मे यथा।। (७.१.१७)
हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानस्ति ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्।। (७. ७.३२)

वेद भी कहता है-"पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः" (अथर्व10.8.14)

इस प्रकार प्रह्लाद के इन ओजस्वी विचारों का साथियों तथा प्रजावर्ग पर गहरा प्रभाव पड़ा (भागवत 7.8.1 देखें)। अनेकों ने विविध शंकायें की, उसने उनके समुचित, सामयिक उत्तर दिए। इस प्रकार उसके विचारों की धूम मच गयी। प्रजा उसकी ओर होने लगी। कुछ वीर एवम् धर्मात्मा तो इस अवसर की बाट देख रहे थे। हिरण्यक साम दाम-दण्ड-भेद आदि सभी नीति अपनाकर थक गया। गुरुओं ने फिर हिरण्यक से कहा सब बात जानकर तथा सुनकर हिरण्यकशिपु का खून खौल उठा। वह आपे से बाहर हो गया। उसने प्रह्लाद से कहा- 'तू मिथ्या प्रचार करता है, लोगों को मुझसे फोड़ता है। बगावत करता है। 'यथा आप भी पढ़िये भागवत का अर्थ सहित श्लोक- 'मूर्ख! तू बडा़ उद्दण्ड हो गया है, स्वयं तो नीच है ही, अब हमारे कुल के बालकों को भी फोड़ना चाहता है। तूने बड़ी ढिठाई से मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है। आज ही तुझे यमराज के घर भेजकर इसका

फल चखाता हूँ-

हे दुर्विनीत! मन्दात्मन्कुल भेदकराधम्।
स्तब्धं मच्छासनो दतं नेष्येत्वाद्य यमक्षयम्।। भाग०८.७.६

किन्तु अपने पिता को समयोचित चेतावनी देते हुए उसने कहा-"छोटे से बड़े जीव सब भगवान् के आश्रय में हैं। मेरे और आपके ही नहीं अपितु वह सब बलों के बल हैं। वह सर्वशक्तिमान् प्रभु सर्वत्र हैं। पिताजी आप अपना यह असुर भाव छोड़ दीजिए। अपने मन को सबके प्रति समान बनाइये। मन में सबके प्रति समता का भाव लाना ही भगवान् की भक्ति है।" यथा-

न केवलं मे भक्तश्च राजन्, स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।

भाग08. 7.8

स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसावोजः, सहः सत्वबलेन्द्रियात्मा।

भाग0 8. 7.9

जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः।
ऋतेऽजितादात्मनः उत्पथस्थितात् तद्धिह्यनन्तस्य महत् समर्हणम्।

भाग0 8.7.10

यह सुनकर हिरण्यक बोला-'तू मेरे सिवाय ओर किसी को जगत् का स्वामी बताता है। तेरे बहकने की हद हो गयी। अच्छा मेरी इस राजसभा के खम्भे में भी तेरा जगदीश्वर है। तू उसे सर्वत्र बताता है यथा-

यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः।
क्वासौ यदि सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते।। (अ.८. ७.१३)

प्रह्लाद ने फिर कहा कि वह सर्वत्र है। तब प्रह्लाद को हिरण्यक पहले तो डांटता और झिड़कता रहा, किन्तु फिर भी प्रह्लाद अपने विचारों पर अडिग रहा। यह देखकर हिरण्यक भंयकर क्रोध से पागल हो हाथ में में खड्ग लेकर सिंहासन से कूद पड़ा। अभी वह प्रह्लाद पर वार करने वाला था कि तभी दैत्य सेनापितयों को भी भय से कंपा देने वाले उस अद्भुत और अपूर्व घोर शब्द को सुनकर हिरण्यक यह देखने लगा कि यह शब्द करने वाले कौन हैं, कहाँ से आ रहे हैं? (अ.8. स्क. 7 का17 वां श्लोक) आप भी पढ़िये और गुनिये-

स विक्रमन् पुत्रवधेप्सुरोजसा निशम्य निर्ह्लादमपूर्वमद्भुतम्।
अन्तः सभायां न ददर्श तत्पदं वितत्रसुर्येन सुरारियूथपाः।।

वस्तुतः यहाँ हमें तनिक अपनी बुद्धि पर जोर देना होगा। प्रह्लाद समर्थक प्रजावर्ग ने भयंकर व अद्भुत कर्म कर डाला। भंयकर कोलाहल करते हुए राजसभा को घेर कर अन्दर

प्रवेश करके एक (नृ-सिंह) या 'नर-सिंह अर्थात् सिंह के समान भंयकर पराक्रमी पुरुष ने आगे बढ़कर हिरण्यकशिपु का वध कर डाला। वहाँ बड़ी मारकाट मची। क्रान्तिवीरों को अवसर की तलाश थी ही। धर्मवीर प्रह्लाद का जय-जयकार हुआ। एक नास्तिक सत्ता का विध्वंस होकर आस्तिक सत्ता का राज्यारोहण हुआ। **वैदिक पथ का पुनरुद्धार हुआ। धर्मात्मा पुरुषों ने एकत्र होकर प्रह्लाद से कहा-"वेदवादी मुनियों की आज्ञा में रहकर राज्य करो।"**यथा-

पित्र्यं च स्थानमातिष्ठ यथोक्तं ब्रह्मवादिभिः। भाग०१०.७.२३

यह है भक्तवर प्रह्लाद के भक्ति भरे श्रद्धामय क्रान्तिपूर्ण जीवन की अद्भुत चौंका देने वाली, प्रेरणादायी संगतिपूर्ण वैज्ञानिक अमर कहानी। वैसे नमक-मिर्च मिलाकर जैसी आप चाहें वैसी बना सकते हैं।

अतः आओ। इस नास्तिकता और अश्रद्धा के बढ़ते हुए युग में भगवान् की निर्मल भक्ति और उस पर श्रद्धा रखने का व्रत लेकर पापों और दुष्कर्मों तथा दुर्भावनाओं व दुष्कामनाओं की होली जला डालें। सदाचार, संयम, सेवा और समानता का भाव फैलाकर जीवन को ऊँचा और महान् बनायें। सफल बनायें। श्रेष्ठ कर्मों द्वारा संसार को आह्लादित कर दें।

महावीर 'नीर'
विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी (छोटा परिवार)
भू0पू0 मुख्याध्यापक एवं अध्यापक विद्यालय-विभाग

सोम भाईः एक निष्ठावान् समर्पित गांधीवादी

निष्ठावान् गांधीवादी, स्वतंत्रता सेनानी, खादी के लिए पूर्णतः समर्पित एवं गुरुकुल कांगड़ी के यशस्वी स्नातक श्री सोमदत्त वेदालंकार का गत 17 अप्रैल 2003 को पानीपत में देहान्त हो गया। वे 90 वर्ष के थे।

खादी कार्यकर्त्ताओं, ग्रामोद्योग क्षेत्र तथा सर्वोदय से जुड़े लोगों के लिए श्री सोमदत्त-सोमभाई के नाम से विख्यात थे। देश के स्वाधीनता आन्दोलनों और रचनात्मक कार्यक्रमों में अपनी सक्रिय भागीदारिता एवं प्रतिबद्धता के कारण सोमभाई नई पीढ़ी के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन के स्रोत हैं। उनके जीवन काल में ही खादी का कार्य उनके नाम का पर्याय बन गया था।

उनकी अन्त्येष्टि पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ पानीपत खादी आश्रम के परिसर में ही की गई। इस अवसर पर केन्द्रीय गृह राज्य मन्त्री श्री आई. डी. स्वामी, खादी ग्रामोद्योग आयोग के वर्तमान अध्यक्ष श्री महेश चन्द्र शर्मा, भूतपूर्व अध्यक्ष श्री लक्ष्मीदास एवं भारी संख्या में खादी कार्यों से जुड़े व्यक्ति उपस्थित थे। हरयाणा सरकार की ओर से उन्हें गार्ड ऑफ ओनर प्रदान किया गया। मुख्य मन्त्री श्री चौटाला की ओर से पानीपत के कमीश्नर ने उनके शव पर माल्यार्पण किया।

सोम भाई का जन्म 13 मई 1913 को क्वेटा (पाकिस्तान) में हुआ था। यद्यपि इनका पैतृक आवास अम्बाला के निकट स्थित बबवाल गाँव में है। इनके पिता सेना की इंजीनियरिंग सेवा में थे, अतः उनका तबादला होता रहता था। इसी प्रक्रिया में जब वे क्वेटा में थे तभी वहाँ सोम भाई का जन्म हुआ था। इनकी माता श्रीमती मनभरी विद्याव्यसनी, और उदार विचारों की थी। अपने प्रयत्न से ही उन्होंने संस्कृत, अष्टाध्यायी एवं काव्य ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन किया था। वे आर्यसमाजी तथा धार्मिक विचारों की थीं। इनके पिता श्री हीरालाल शर्मा भी सरकारी सेवा में होने पर भी राष्ट्रिय विचारों के थे। इसी कारण सोमभाई को 1921 में स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी की इन्द्रप्रस्थ शाखा (दिल्ली के निकट) में भेजा गया। गुरुकुल में छात्रों को आश्रम में रह कर ही शिक्षा प्राप्त करनी होती है। इस प्रकार सोम भाई ने 14 वर्ष आश्रम में रहकर विद्याभ्यास किया और 1934 में वेदालंकार की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद भी सोमभाई ने दो वर्ष और उच्च शिक्षा प्राप्त कर 1935 में वेद वाचस्पति की उपाधि प्राप्त की।

राष्ट्रिय शिक्षा का प्रभाव-

गुरुकुल कांगड़ी की शिक्षा स्थापना ब्रिटिश सरकार की मैकाले की शिक्षा पद्धति के विरोध में राष्ट्रिय भावना से ओतप्रोत युवक तैयार करने के लिए की गई थी। विदेशी सरकार की शिक्षा नीति को खुली चुनौती के रूप में यह एक अभिनव अभियान था। इसका प्रभाव

छात्रों पर पड़ना स्वाभाविक था। सोम भाई में यह भावना अपने उत्कष्ट रूप में थी।

सोमभाई जब नवम कक्षा में थे तब उन्होंने अपने साथी छात्रों की ओर से गाँधीजी को गुरुकुल आने के लिए एक पत्र लिखा। गांधीजी उन दिनों दरिद्र नारायण के रूप में जहाँ भी जाते रुपया मांगते थे। उन्होंने इस शर्त पर गुरुकुल आना स्वीकार किया कि उनकी झोली में कुछ डाला जायेगा। यह शर्त कठिन थी। गुरुकुल में छात्र अपने पैसे नहीं रख सकते थे। फिर भी अधिकारियों के सहयोग से छात्रों ने चार आना दिहाड़ी पर निर्माण कार्य में मजदूरी की अपने घी, दूध आदि में कटौती की। जंगल में लकड़ियाँ काट कर गांधी जी के आने पर उन्हें 60 रुपये की थैली भेंट की। यह बात 1929 की है। छात्रों ने इसी प्रकार दो बार और गांधी जी को बुलाया और उन्हें न केवल रुपये अपितु अपने हाथ से कात कर सूत की एक मन लट्टियाँ-लच्छियाँ भी भेंट की। सूत देखकर गांधी जी अत्यधिक प्रसन्न हुए। राष्ट्रिय भावना का ही यह परिणाम था कि गुरुकुल में प्रत्येक छात्र के लिए खादी पहिनना अनिवार्य था।

सत्याग्रह आन्दोलन-

अध्ययन काल में ही छात्रों ने 30-32 में गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लिया। दर्जनों छात्र जिनमें सोम भाई भी थे जेल गए। गुरुकुल कुछ समय के लिए बंद हो गया। जेल में बीमारी के कारण सर्वमित्र नामक एक छात्र का निधन भी हो गया। सर्वमित्र की स्मृति में एक पत्रिका निकाली गई जिसके सम्पादक श्री सोमभाई बनाए गए। श्री सोम भाई 1942 के भारत छोडो़ आन्दोलन में भी सत्याग्रह कर जेल में गए। कई वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर श्री सोमभाई को स्वतन्त्रता सैनिक के रूप में सम्मानित किया गया।

कार्यक्षेत्र में-

वेद वाचस्पति की उपाधि प्राप्त करने के बाद सोम भाई ने हिन्दी के मूर्धन्य पत्रकार श्री सत्यदेव विद्यालंकार के आग्रह पर 1934 में दैनिक हिन्दुस्तान के सम्पादकीय विभाग में कार्य शुरू किया। उस समय पत्रकारिता एक मिशन और राष्ट्रियता की भावना का द्योतक था। सोमभाई ने एक वर्ष तक यह कार्य किया। परन्तु ग्रामीण समाज में घुल मिलकर कुछ ठोस कार्य करने की अपनी अभिरुचियों के कारण तथा श्री विचित्र भाई की प्रेरणा से सोमभाई ने गांधी आश्रम के कार्य को प्राथमिकता दी और जीवन पर्यन्त इसी क्षेत्र में तन, मन, धन से लगे रहे। कार्य के साथ उनके क्षेत्र का विस्तार भी होता गया।

विस्थापितों का पुनर्वास-

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही देश के विभाजन की त्रासदी के कारण विस्थापितों के पुनर्वास की समस्या ने गम्भीर रूप धारण कर लिया था। 1948 में श्री राजेन्द्र बाबू की अध्यक्षता में एक केन्द्रीय सहायता समिति का गठन किया गया। श्री सोम भाई को इस

समिति की पंजाब शाखा का सचिव नियुक्त किया गया। इस समिति ने विस्थापितों की आवास और पुनर्वास की समस्या को हल करने के साथ-साथ रोजगार देने के लिए व्यापक व्यवस्था की। इस कार्य के लिए स्वयं राजेन्द्र बाबू ने श्री सोमभाई को व्यक्तिगत रूप से बधाई दी।

खादी आश्रम की स्थापना-

1952-53 में श्री सोमभाई ने पानीपत में खादी आश्रम की स्थापना की। यह खादी आश्रम हरयाणा में खादी की बिक्री का अग्रणी केन्द्र बन गया है। इसकी शाखाएं भी अनेक स्थानों पर खुल गई हैं। इसके द्वारा हजारों लोगों को रोजगार की सुविधा मिल रही हैं। गांव-गांव में कताई-बुनाई के केन्द्र चल रहे हैं। उत्पादन के साथ बिक्री के भी नए कीर्तिमान स्थापित हुए हैं। इस सब का श्रेय सोमभाई की निष्ठा, कर्मठता, एवं प्रबन्धपटुता को जाता है। 1963 में सोमभाई ने गांधीवादी विचार पर आधारित विद्याभारती नामक एक शिक्षा संस्था की भी स्थापना की।

आयोग के अध्यक्ष-

1939 में खादी कार्यक्रमों से जुड़ने के बाद सोमभाई ने फिर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। 1960 में खादी बोर्ड के खादी ग्रामोद्योग आयोग के रूप में गठित होने के बाद से निरन्तर इसके सदस्य रहे। 1977 से 1980 तक तीन वर्षों तक इस आयोग के अध्यक्ष रहे। उनके कर्मठ जीवन की यह उल्लेखनीय उपलब्धि तथा उनके कार्यों की यह सार्वजनिक मान्यता थी। 1963 में तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री नरसिंह राव ने खादी के सम्पूर्ण विकास के लिए एक समिति बनाई थी। सोमभाई को उसका सदस्य नियुक्त किया गया था।

इसी प्रकार जिस गुरुकुल से उन्होंनें शिक्षा प्राप्त की। 1977 में कुछ समय के लिए उसके प्रशासक भी बनाए गए।

सार्वजनिक अभिनन्दन-

रचानात्मक क्षेत्र में सोमभाई की निष्ठा और प्रतिबद्धता को देखते हुए 1999 में जब सोमभाई 80 वर्ष के हुए, तब उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया। इस समारोह में भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री चन्द्र शेखर, श्री सादिक भाई, सर्वोदयी नेता श्री सिद्धराज, श्री नवल किशोर आदि उपस्थित थे। उन्हें एक अभिनन्दन पत्र भी भेंट किया गया। उनके जीवन के सम्बन्ध में एक स्मारिका भी प्रकाशित की गई।

सन् 2000 में रचनात्मक कार्यों में प्रशंसनीय योगदान के लिए श्री सोमभाई को जमनालाल बजाज पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया।

श्री दत्तात्रेय तिवारी विद्यालंकार

गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली

गुरुकुल यह शब्द सुनते ही प्राचीन गुरुकुलों का स्मरण हो जाता है। जो तपोवनों और तप:पूत ऋषियों के आश्रमों में होते थे। यहाँ कुल शब्द वंश या उसके परम्परा का बोधक नहीं है। कुल शब्द यहाँ समूह का भी वाचक नहीं है। गुरु के सान्निध्य में निरन्तर रहकर शिष्यगण विद्याध्ययन करते थे। इसके लिये जितेन्द्रिय, एकाग्रचित्त तथा दृढ़सङ्कल्पयुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके निमित्त अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच यम तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान इन पाँच नियमों का पालन करना अनिवार्य है। यम के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य पालन का अत्यधिक महत्त्व है। इसके बिना किसी धार्मिक, भौतिक, आध्यात्मिक एवं राष्ट्रियता का विकास गुरुकुलीय शिक्षा से ही सम्भव है।

त्यागी, तपस्वी आचार्य-

यह सब तभी सम्भव है, जब त्यागी, तपस्वी, चरित्रवान् आचार्य एवम् अध्यापक हों। वर्तमान समय में गुरुकुलों में आचार्यों का अभाव है। भौतिकता, बाह्य चकाचौंध तथा आर्थिक लिप्सा ने यहाँ भी अधिकार जमा लिया है। आचार्य शब्द का निर्वचन निरुक्तकार महर्षि यास्क ने जो किया है वह सर्वथा समीचीन है यथा-**आचार्यः कस्मात्? आचार्यः आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति** (निरु0112) इसमें आचार्य के समग्र रूप का दर्शन होता है। प्रथम निर्वचन से छात्रों के चारित्रिक विकास, दूसरे से वेद-वेदाङ्गों का समुचित ज्ञान प्राप्त कराने का सामर्थ्य, तीसरे से बौद्धिक विकास करने में सक्षम होना सिद्ध होता है। ये तीनों गुण जिसमें सम्भव हो, वही आचार्य होने के योग्य है। व्यक्तिगत एवं पारिवारिक लाभ तक सीमित रहने वाले अर्थ लोलुप, सामाजिकता, राष्ट्रियता, देशभक्ति आदि गुणों से रहित आचार्य एवम् अध्यापकों से गुरुकुल नहीं चल सकता। आचार्य एवम् अध्यापकों के हृदय में विद्यार्थियों के लिये अपनी सन्तान जैसी सद्भावना एवं स्नेह होना अत्यन्त आवश्यक है। समर्पित व्यक्ति ही आचार्य एवम् अध्यापक हो सकते हैं।

प्रबन्ध-समिति या व्यवस्थापिका

गुरुकुलों के सञ्चालन के लिये एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि प्रबन्ध-समिति या व्यवस्थापिका होनी चाहिए या नहीं? प्राचीन काल के गुरुकुलों तथा वर्तमान में भी आर्ष पाठविधि से चलने वाले गुरुकुलों की प्रबन्ध-समिति न थी और न है एकाध अपवाद को छोड़कर। प्राचीन काल में शिक्षा के एकमात्र केन्द्र गुरुकुल ही थे। वर्तमान समय में भी प्रबन्ध-समिति रहित गुरुकुलों का सञ्चालन सन्तोषजनक चल रहा है। वहाँ कोई विवाद नहीं है। जहाँ प्रबन्ध-समिति हैं वहाँ प्रबन्धकों और आचार्यों में विवाद बना रहता है। इसका

कारण यह है कि प्रबन्ध तन्त्र आचार्यों और अध्यापकों को नौकर तथा अपने को स्वामी समझते हैं। छात्रों के प्रवेश, निष्कासन तथा उन पर नियन्त्रण का भी अधिकार आचार्य को नहीं रहता। गुरुकुल का अपर नाम आचार्यकुल भी है, क्योंकि आचार्य की परम्परा शिष्यों के द्वारा चलती है ब्रह्मचारी के भरण पोषण तथा शिक्षण आदि का दायित्व आचार्य पर होता है। गुरुकुलीय शिक्षा में कुलपति एवं आचार्य ये दो महत्त्वपूर्ण पद हैं, कार्य क्षेत्र दोनों का पृथक्-पृथक् है। कुलपति का काम प्रबन्ध एवं प्रशासन का होता है, जबकि आचार्य का कार्य छात्रों के अध्ययन दिनचर्या एवं अध्यापकों के अध्यापन कार्य का देखभाल तथा नियन्त्रण करना है। यदि आचार्य के इस कार्य में कुलपति का हस्तक्षेप होता है तो दोनों में विवाद उत्पन्न हो जाता है, जिसका दुष्प्रभाव सम्पूर्ण व्यवस्था पर पड़ता है।

वर्तमान समय में मुख्याधिष्ठाता, सहायक मुख्याधिष्ठाता, अधिष्ठाता तथा संरक्षक का भी पद है। इन सबकी नियुक्ति का अधिकार प्रबन्ध-समिति को है, इनमें प्रथम तीन कुलवासियों के भोजन, निर्माणकार्य तथा प्रशासन आदि व्यवस्था से सम्बद्ध हैं। संरक्षक के कार्यों का निरीक्षण का अधिकार मुख्याधिष्ठाता, अन्य अधिष्ठाता तथा आचार्य को समान रूप से है। प्राचीन काल के गुरुकुल के समान वर्तमान समय में व्यवस्था रखी जा सकती है या नहीं? यह एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। इसका निदान भी आवश्यक है। प्राचीन काल में ब्रह्मचारी भोजन के लिये भिक्षा लाया करते थे। रहने के लिये पर्णकुटियाँ होती थीं। वृक्षों के नीचे पठन-पाठन होता था। घर से कोई सम्पर्क नहीं होता था। माता-पिता का उन पर अधिकार नहीं रहता था। समय परिवर्तन के साथ व्यवहार में भी परिवर्तन आवश्यक होता है। उस समय भिक्षा एक व्यवसाय नहीं था। केवल ब्रह्मचारी और संन्यासी ही भोजन मात्र के लिये भिक्षा मांगते थे। तैयार भोजन की वस्तु ही भिक्षा में दी जाती थी। समाज में इसे हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता था। घरों में जब तक ब्रह्मचारियों या संन्यासियों को भिक्षा नहीं दी जाती थी, तब तक कोई भोजन नहीं करता था। वर्तमान में इसे हीन दृष्टि से देखा जाता है। कार्य करने में समर्थ व्यक्ति भी आलस्य प्रमाद और निष्क्रियता के कारण भिक्षा मांगने लगे हैं। इसलिए समाज में इसे हीन दृष्टि से देखा जाने लगा। इस समय भिक्षा जैसी वृत्ति को अनिवार्य नहीं किया जा सकता। पेड़ों के नीचे पठन-पाठन भी अबाधगति से नहीं चलाया जा सकता। फूस की झोपड़ी की भी अनिवार्यता नहीं चलायी जा सकती। तब भवन, पुस्तकालय आदि की व्यवस्था के लिये धन संग्रह की व्यवस्था कौन करे। इसके निमित्त प्रबन्धतन्त्र की आवश्यकता स्वीकार की जाए क्या?

इस समस्या के समाधान के लिये प्रबन्धतन्त्र की आवश्यकता नहीं है। यह व्यवस्था कुलपति के अधीन होनी चाहिए। कुलपति अपनी सहायता के लिये आवश्यकतानुसार सहायकों की व्यवस्था कर लें। अब समस्या यह उत्पन्न होती है कि कुलपति की नियुक्ति कौन करे। इसके निमित्त विद्यासभा होनी चाहिए, जिसमें उच्चकोटि के त्यागी, तपस्वी विद्वान् रखे जाये। वही आचार्य एवं कुलपति की नियुक्ति करें। शेष सहायक एवं अध्यापक कुलपति तथा आचार्य के अधीन हों। सम्बद्ध सहायकों एवम् अध्यापकों के पृथक्करण के निमित्त

विद्या सभा की सहमति आवश्यक हो।

वेशभूषा-

सम्प्रति गुरुकुलों के लिये भी वेशभूषा के सम्बन्ध में विवाद है। कतिपय लोग यह कहने लगे हैं कि युग के अनुरूप वेशभूषा एवं पोशाक होनी चाहिए। कटिवस्त्र तथा धोती कुर्ता ठीक नहीं है। दूसरे लोगों से पिछड़ जायेंगे। पुराने दकियानूसी विचार को हटा देना चाहिए। ऐसा विचार रखने वाले यह भूल जाते हैं कि वेष मनुष्य की इच्छा का द्योतक है। अपने देश की सभ्यता, संस्कृति, भाषा और पोशाक होना चाहिए, अध्ययन-अध्यापन तप का जीवन है, भोग विलास का नहीं। गुरुकुलीय जीवन में कम अवस्था वाले छात्र लंगोट या कच्छा, कटिवस्त्र और कुर्ता पहनें। बड़ी अवस्था के छात्र आश्रम में कटिवस्त्र और कुर्ता तथा अध्ययन के समय विद्यालय में या बाहर जाते समय धोती कुर्ता पहनें। कुलपति, आचार्य, अध्यापक, अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी भी धोती कुर्ता का व्यवहार करें। पैण्ट, बुशर्ट, टाई, पायजामा, अंगूठी आदि का प्रयोग वर्जित रखें। सभी का वस्त्र श्वेत हो। शिर पर शिखा (चोटी) रखें, बाल दूसरे लोगों जेसे न हों, छोटे और समान रूप से कटें हों। तेल साबुन का आवश्यकतानुसार कम प्रयोग करें। वेशभूषा से सादगी, स्वदेशीपन और स्वाभाविकता प्रकट हो।

दिनचर्या-

सभी गुरुकुलवासी प्रातः काल साढ़े तीन बजे उठ जायें। उठने के पश्चात् प्रार्थना, अध्ययन, एवं शौचादि क्रिया से निवृत्त होकर सभी अधिकारी-कुलपति, आचार्य, अध्यापकादि सहित ब्रह्मचारी प्रातः सायं दोनों वेला में सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय यज्ञशाला में सन्ध्योपासन तथा अग्निहोत्र प्रतिदिन करें। तदुपरान्त व्यायाम एवं अल्पाहार कके स्वाध्याय करें। प्रातः काल उठने के पश्चात् कुछ काल तक स्वाध्याय करें, आचार्य, अध्यापक तथा संरक्षक बीच-बीच में निरीक्षण करते रहें। मध्याह्न काल के पूर्व तथा पश्चात् भी आचार्य एवं अध्यापकों से विद्यालय में अध्ययन करें। मध्याह्न में भोजन के पश्चात् अल्पकाल तक विश्राम कर पुनः पुनः अध्ययन अध्यापन कार्य चार बजे तक चलाना चाहिए। उसके पश्चात् अल्पाहार करके, खेल, कूद, सैनिक शिक्षा श्रमदानादि का भी कार्य करें। तदनन्तर सन्ध्या, अग्निहोत्र, भोजन, स्वाध्याय, प्रार्थना एवं शयन करें। शयन का समय छः घण्टे तक अवश्य रहे। ब्रह्मचारीगण कुलपति, आचार्य अध्यापक एवं संरक्षक को प्रातः सायं प्रतिदिन प्रणाम अवश्य करें। भोजन, सादा, सात्त्विक तथा स्वास्थ्यकर होना चाहिए।

अध्ययन समाप्ति के पहले ब्रह्मचारियों को घर जाने, पत्र व्यवहार करने, समाचार पत्र पढ़ने, रेडियो सुनने तथा चलचित्र देखने का निषेध होना चाहिए। दूरदर्शन पर ऐतिहासिक, शिक्षाप्रद तथा देशभक्ति पूर्ण दृश्य आचार्य की अनुमति से अध्यापक एवं संरक्षक के निरीक्षण में देख सकते हैं।

पठन-पाठन विधि एवं परीक्षा-

गुरुकुलों के लिये यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा विवादास्पद प्रश्न है। वर्तमान समय में गुरुकुलों का पाठ्यक्रम भिन्न-भिन्न तथा असमीचीन है। उससे शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा राष्ट्रिय विकास सम्भव नहीं है, देशभक्ति तथा राष्ट्रियता की भावना उत्पन्न होना कठिन है। सभी राज्यों के किसी न किसी विश्वविद्यालय की परीक्षा के अनुरूप पाठ्यक्रम है। अध्ययन करके निकलने पर दूसरे लोगों तथा उनके चरित्र में अन्तर नहीं दिखायी देता है। अन्य लोगों की भाँति नौकरी पाना तथा परिवार पोषणमात्र उद्देश्य रहता है। उत्तर प्रदेश के अधिकांश गुरुकुलों में संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी की परीक्षा दिलायी जाती है। उनमें वही पाठ्यक्रम है, जो एकाङ्गी है। सबसे पहले तो गुरुकुलों का अपना एक विश्वविद्यालय हो। जो सभी राज्य सरकारों एवं केन्द्रीय सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त हो। उसका पाठ्यक्रम गुरुकुलों के अनुरूप हो। यद्यपि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा शासन द्वारा मान्यता प्राप्त है। वहाँ के स्नातक राजकीय एवं राज्यसम्पोषित सेवा भी प्राप्त कर लेते हैं, लेकिन पाठ्यक्रम सर्वाङ्गीण नहीं है, साथ ही भौतिकता तथा पाश्चात्त्य सभ्यता का प्रभाव भी दिखायी देता है। पठन-पाठन की व्यवस्था भी सीमित विषयों तक ही है। इसमें आवश्यक संशोधन और परिवर्तन करके अधिक से अधिक विषयों का समावेश किया जाये। प्रथम श्रेणी से दशमी तक धार्मिक और नैतिक विषय सहित सभी विषयों का पठन-पाठन हो। संस्कृत विषय में प्रारम्भिक व्याकरण जिसका आधार अष्टाध्यायी-धातुपाठ आदि हो। अनुवाद वाक्य परिवर्तन, निबन्ध लेखन, हितोपदेश, पञ्चतन्त्र, नीतिशतक, चाणक्यनीति, श्रीमद्भगवद्गीता आदि पढ़ाये जायें। अष्टाध्यायी का कण्ठस्थीकरण तथा प्रथमावृत्ति दशम श्रेणी तक समाप्त हो जानी चाहिए।

एकादश श्रेणी से स्नातक स्तर तक व्याकरण, साहित्य, वेद, दर्शनशास्त्र तथा अन्य विषयों के भी पठन-पाठन की व्यवस्था होनी चाहिए। व्याकरण में अष्टाध्यायी की द्वितीयावृत्ति सम्पूर्ण महाभाष्य, साहित्य में अच्छे-अच्छे काव्य, नाटक अच्छे उदाहरण युक्त लक्षणग्रन्थ तथा दर्शनशास्त्र में ऋषिप्रणीत ग्रन्थों एवं भाष्यों के पठन-पाठन पर विशेष ध्यान दिया जाये। स्नातकोत्तर स्तर पर संस्कृत में वेद, व्याकरण, दर्शन एवं साहित्य सभी वर्ग निर्धारित हों। दर्शनशास्त्र में भारतीय एवं पाश्चात्त्य दोनों दर्शनों का सम्मिलित पाठ्यक्रम हो। अन्य विषयों की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

महर्षि दयानन्द प्रतिपादित आर्षपाठविधि से भी पृथक् रूप में पठन-पाठन का प्रबन्ध हो। उसकी परीक्षा भी विश्वविद्यालय द्वारा ली जाये। अन्य परीक्षाओं की भाँति अन्य विश्वविद्यालयों एवं शासन द्वारा मान्यता भी दिलायी जाये। जिससे इस पद्धति से पठित छात्र भी संस्कृत वाङ्मय के अध्यापन कार्य में राज्य सम्पोषित संस्थाओं में स्थान प्राप्त कर सकें। प्राचीन राजनीतिशास्त्र का भी पाठ्यक्रम इसी प्रकार सञ्चालित किया जाए, जिससे अध्येताओं को शासन में भाग लेने का अवसर प्राप्त हो।

इन सबके अतिरिक्त क्रान्तिकारी आन्दोलनों, युद्धों का इतिहास तथा विकसित

सैन्यविज्ञान के पठन-पाठन, प्रतियोगी परीक्षाओं, प्राशासनिक सेवा की परीक्षाओं, सैनिकशिक्षा एवं कम्प्यूटर आदि के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। तभी गुरुकुलीय शिक्षाप्रणाली का विकास और उसके द्वारा राष्ट्र तथा समाज का विकास सम्भव हो सकेगा। इन सभी पाठ्यक्रमों का सञ्चालन विश्वविद्यालय में ही सम्भव है। फिर भी प्रदर्शित समन्वित पाठविधि, आर्षपाठविधि, राजनीति, रणनीति, प्रशासन एवं सैनिकशिक्षा की व्यवस्था सभी गुरुकुलों तथा कन्या गुरुकुलों में होनी चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था एवम् अध्ययन काल तक छात्र-छात्राओं का माता-पिता सुहृद् तथा अभिभावकों से सम्बन्ध न रखने के लिये किसी प्रकार का भी शुल्क न लेना अनिवार्य है। इसके बिना लेख में प्रतिपादित व्यवस्था सम्भव नहीं है।

डॉ० सुमेधामित्र वेदालङ्कार

प्रयोजनमूलक हिन्दी की संकल्पना

प्रयोजनमूलक हिन्दी की अवधारणा भाषा-प्रयुक्ति की संकल्पना से जुड़ी है। सरकारी कार्यालय, व्यावसायिक संगठन, बैंक आदि में प्रयुक्त भाषा एक जैसी नहीं होती। किसी कार्यालय में काम करते समय हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, वही घर या होटल में भोजन करते समय प्रयोग में नहीं ला सकते। उदाहरण के लिए, कार्यालय में कोई अधिकारी अपने सहायक से यह कह सकता है- 'सभी संगत कागजात नत्थी करके प्रारूप प्रस्तुत किया जाये।' लेकिन वह घर या होटल में यह नहीं कह सकता कि संगत सब्जियों के साथ भोजन प्रस्तुत किया जाये। यदि वह ऐसा कहेगा तो उपहास का पात्र बनेगा। इसका कारण यह है कि इन विभिन्न स्थानों के अपने-अपने संदर्भ हैं। अत एव इनमें भाषा के भिन्न-भिन्न रूप प्रयुक्त होते हैं।

भाषा-रूप की भिन्नता सर्वप्रथम शब्द-चयन के क्षेत्र में दिखाई देती है। यदि व्यावसायिक संगठनों में क्रयादेश, विक्रय, बट्टा, बीजक, साख विक्रय आदि शब्दों के प्रयोग प्रायः देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार से सरकारी कार्यालयों में अवर सचिव, उपसचिव, स्पष्टीकरण आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। सरकारी कार्यालयों की भाषा में तटस्थता तथा औपचारिकता के गुण भी होते हैं। जब विभिन्न विषयों या कार्यक्षेत्रों में भाषा के किसी विशिष्ट रूप का प्रयोग होने लगता है, तब वह उस विषय या कार्यक्षेत्र की प्रयुक्ति कहलाती है।

प्रयुक्ति के तीन आयाम हैं- (1) वार्ता-क्षेत्र, (2) वार्ता-प्रकार तथा (3) वार्ता-शैली। वार्ता-क्षेत्र को विषय-क्षेत्र भी कहते हैं। मानव-व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त भाषा को एक-दूसरे से अलगाने वाला सर्वप्रमुख लक्षण वार्ता/विषय क्षेत्र ही है। आँख-कान का दफ्तर खुला रखने वाले किसी भी व्यक्ति की निगाह में यह तथ्य आए बिना नहीं रहता कि सरकारी कार्यालयों, व्यावसायिक संगठनों एवं मंडियों, खेल-कूद के मैदानों, चिकित्सालयों/अस्पतालों, न्यायालयों/अदालतों आदि में एक जैसी शब्दावली का प्रयोग नहीं होता। इनमें प्रयुक्त कतिपय संज्ञाएँ, विशेषण एवम् क्रियापद एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ यदि सरकारी कार्यालयों में सरकारी/शासकीय पत्र, अर्धसरकारी पत्र, अधिसूचना, ज्ञापन, पावती, प्राधिकरण, सक्षम, अधिकारी, आरक्षण, शायिका आदि शब्दों का प्रयोग होता है तो व्यावसायिक संगठनों में बीजक, माल, गश्ती पत्र, साख पत्र, जमा पर्ची, खाता, बहीखाता आदि शब्द समय-समय पर प्रयुक्त होते रहते हैं। सूचकांक, आवक, जावक आदि शब्दों तथा तेजी की झाल होना, उठान कम होना, कीमतों में उछाल होना, भाव ऊँचा उठना, भाव पलटा खाना, बाजार नर्म/मुलायम होना आदि अभिव्यक्तियों में शब्दावली की भिन्नता सरलता से पहचानी जा सकती है। अदालतों में वादी, प्रतिवादी, वकील, मुंशी आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। क्रिकेट के खेल में खब्बू बल्लेबाज, हरफनमौला

खिलाड़ी, पगबाधा, छक्का, अविजित, नाबाद आदि शब्दों का प्रचलन है तो हॉकी, लॉन टेनिस, बास्केटबॉल, फुटबॉल आदि खेलों की अपनी-अपनी प्रयुक्तियाँ हैं।

प्रयुक्ति का दूसरा आयाम वार्ता-प्रकार है। इसे विधा की संज्ञा भी दी गयी है। वार्ता-प्रकार/विधा से अभिप्राय यह है कि विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में मौखिक अथवा लिखित भाषा-रूपों में से किसका प्रयोग अधिक किया जाता है। सामान्यत: किसी भी कार्यक्षेत्र में केवल मौखिक या केवल लिखित रूप के प्रयोग से काम नहीं चलता। कार्यालयों में चाहे वे सरकारी हों या गैर सरकारी अधिकारियों को बहुत बार लिखित आदेश देने के साथ-साथ मौखिक अनुदेश भी देने पड़ते हैं। व्यवसायी को अपने कारोबार के सिलसिले में दूसरे व्यवसायियों से समय-समय पर मौखिक संभाषण करना पड़ता हैं। अदालतों में वकील बहस के दौरान मौखिक भाषा का प्रयोग करता है। खेलों में कमेंट्री मौखिक भाषा में ही होती है। लेकिन यह भी सच है कि कार्यालय, व्यवसाय आदि विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में मुख्यत: लिखित भाषा का ही प्रयोग किया जाता है। इसका कारण यह है कि प्रमाण प्रस्तुत करते समय लिखित प्रलेख/कागजात ही पेश किए जाते हैं।

भाषा के मौखिक तथा लिखित रूपों में पर्याप्त अन्तर होता है। मौखिक भाषा में प्राय: पूरे वाक्य नहीं बोले जाते। वक्ता अपने मन्तव्य को प्रभावी रूप देने के लिए कभी मुस्करा कर तो कभी भौहें चढ़ाकर भी काम लेता है। ये भाषेतर आयाम हैं। इसके विपरीत लिखित भाषा में इन भाषेतर आयामों का कोई स्थान नहीं होता। वह सदैव संयत होती है। उसमें नियमों-उपनियमों का हवाला रहता है। द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता तथा विरामचिह्नों के समुचित प्रयोग की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिससे प्रेषिती अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ न निकालने पाए। इतना ही नहीं कथ्य के प्रभावी संप्रेक्षण के लिए विभिन्न कार्य-क्षेत्रों के अपने-अपने रूप-विधान हैं। उदाहरण के लिए रेलगाड़ी में यात्रा-हेतु शायिका/सीट के आरक्षण के लिए भरा जाने वाला अनुरोध-पत्र हवाईजहाज में यात्रा करने के निमित्त भरे जाने वाले अनुरोध-पत्र से सर्वथा भिन्न प्रकार का है।

प्रयुक्ति का तीसरा आयाम वार्ता-शैली है। वार्ता-शैली से अभिप्राय यह है कि वक्ता तथा श्रोता अथवा विक्रेता और क्रेता पारस्परिक व्यवहार के समय किस भाषा-शैली का प्रयोग करते हैं। किसी वस्तु को बेचने के बाद जब विक्रेता, क्रेता को रसीद देता है, तब उस पर अंतिम पंक्ति में यह वाक्य मुद्रित होता है- बिका हुआ माल वापिस नहीं लिया जायेगा। भाषिक संरचना की दृष्टि से यह वाक्य कर्मवाच्य का है। इसी प्रकार के क्रेता द्वारा विक्रेता को आदेश-पत्र भेजते समय लिखा गया यह वाक्य, यदि माल आदेश के अनुरूप नहीं हुआ तो वह वापिस कर दिया जायेगा।' भी कर्मवाच्य का है। सरकारी कार्यालयों में किसी पत्र अथवा दस्तावेज के मिलने पर लिखा जाने वाला यह वाक्य 'पावती भेजी जा रही है' भी कर्मवाच्य का है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रयोजनमूलक हिन्दी में अपने मन्तव्य को प्रभावी रूप में संप्रेषित करने के लिये कर्मवाच्य का प्रयोग किया जाता है।

भाषा-शैली वक्ता और श्रोता की सामाजिक प्रतिष्ठा से भी प्रभावित होती है। पद

की भिन्नता के कारण अधीनस्थ कर्मचारी अपने बेटे की आयु वाले अधिकारी से बातचीत करते समय आदरसूचक क्रियाएँ एवम् तदनुरूप सर्वनाम प्रयोग में लाता है। इसके विपरीत अधिकारी अपने पिता की आयु वाले अधीनस्थ कर्मचारी से बात करते समय आज्ञार्थक क्रियाओं एवम् तदनुरूप सर्वनाम का प्रयोग करता है। समान पद पर कार्यरत अधिकारियों की आपसी बातचीत की भाषा उनके निजी संबंधों की परिचायिका रहती है जबकि प्रगाढ़ मैत्री की स्थिति में वह अनौपचारिक हो जाती है।

प्रयोजनमूलक हिन्दी अपने प्रयोक्ता को यह भी बताती है कि विभिन्न प्रकार के पत्राचार के दौरान उसे भाषिक विधान के कौन-कौन से बिन्दुओं की ओर ध्यान देना चाहिये। शब्द-चयन तथा वाक्य-संरचना के दौरान विशेष सावधानी बरतनी चाहिये। अपने मन्तव्य को शिष्ट शैली में संप्रेषित करना चाहिये। द्व्यर्थक तथा अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भूलकर भी नहीं करना चाहिये। इसका कारण यह है कि द्व्यर्थक तथा अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से कथ्य में अस्पष्टता आती है और प्रेषिती के मन पर प्रेषक की बात का अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ता। अपने विचारों को शालीनतापूर्वक कहने का अर्थ ऐसे शब्दों का चयन करने से है, जो वक्ता की दृढ़ता को तो व्यक्त करते हों, किन्तु उन्हें पढ़कर कोई उसे घमण्डी, क्रोधी आदि की संज्ञा न देने पाये।

कार्य-क्षेत्र के अनुरूप प्रयुक्ति-प्रयोग क्षमता अर्जित करने के लिये यह आवश्यक है कि अध्येता अपने अध्ययन-काल के दौरान एतद्विषयक प्रशिक्षण प्राप्त करे। यह ठीक है कि कोई अध्येता अपने अध्ययन-काल के दौरान सभी कार्य-क्षेत्रों की प्रयुक्तियाँ नहीं सीख सकता। यह भी सच है कि औपचारिक शिक्षा समाप्त करने के बाद वह जिस कार्य-क्षेत्र में पदार्पण करेगा उस क्षेत्र की प्रयुक्तियाँ सहज रूप से सीखता चला जायेगा और धीरे-धीरे दक्षता प्राप्त कर लेगा। लेकिन इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यदि कोई अध्येता अपने अध्ययन-काल के दौरान भाषा के प्रयुक्तिपरक रूप का सामान्य ज्ञान अर्जित कर लेता है तो उसे अपने भावी जीवन में भाषा-कौशल की इस दिशा में निपुणता प्राप्त करने में कम समय लगेगा।

डॉ० ओमप्रकाश सिंहल, रीडर,
श्री गुरु तेगबहादुर खालसा कॉलेज, विश्वविद्यालय परिसर, दिल्ली-110007

टंकारा के रूपकार-सत्यदेव विद्यालंकार

इस वर्ष के प्रारम्भिक महीनों में गुरुकुल कांगड़ी के पाँच कर्मठ और प्रतिभाशाली स्नातकों का निधन हो गया। ये सभी पुरानी पीढ़ी के 85 वर्ष से अधिक आयु के थे। इन्होंने **''कुर्वन्नेवेह कर्माणि''** के अनुसार लगभग पूर्ण आयु का उपभोग किया। सभी अन्तिम समय तक सामाजिक दायित्वों का वहन करते रहे।

इन दिवंगत स्नातको में सर्वाधिक आयु श्री सत्यदेव विद्यालंकार की थी, जिनका देहान्त 99 वर्ष की आयु में 24 फरवरी 2003 को मुम्बई में हुआ। सामाजिक चेतना से स्फूर्त बड़े व्यक्तियों के जिन कार्यों को स्मरण किया जाता है, सामान्यतः वे उनके जीवन के यौवन में किए गए कार्य होते हैं। परन्तु श्री सत्यदेव विद्यालंकार इसके अपवाद हैं। उन्होंने 60 वर्ष की आयु में अध्यापन के कार्य से सेवानिवृत्त होने के बाद अपने जीवन के उत्तरार्ध में महर्षि दयानन्द की जन्मस्थली टंकारा में 18 वर्ष तक निरन्तर जो कार्य किया वही उनकी कीर्ति को अजर अमर कर गया। महर्षि का जन्म स्थल टंकारा उनके जीवन का अभिन्न अंग हो गया है। टंकरा को उसका वर्तमान रूप देने में उनके द्वारा किया गया कार्य नींव के रूप में है। 18 वर्ष तक टंकारा का उनका जीवन साधना और तपस्या का जीवन था। टंकारा के आज के भव्यरूप के पीछे उनकी तथा उनकी सहधर्मिणी श्रीमती शान्ति देवी की निष्काम और सतत सेवा की गहरी छाप है।

श्री सत्यदेव जी का जन्म होशियापुर जिले के ग्राम सरहालाकलां में 7 अप्रैल 1904 को हुआ था। उनके पिता श्री ठाकुर दासजी आर्यसमाज की प्रारम्भिक पीढ़ी के महर्षि के भक्त थे। उन्होंने अपने पुत्र को 1913 में गुरुकुल काँगड़ी में पढ़ने के लिए भेजा। वहाँ 14 वर्ष रहकर सत्यदेव जी ने विद्यालंकार उपाधि प्राप्त की। श्री सत्यदेव जी का विवाँह गुरुकुल के ही एक अन्य स्नातक वैदिक विद्वान प्रो0 सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की बहन शान्ति देवी से हुआ। उनके दो पुत्र विनय और विनोद तथा एक पुत्री आशा देवी है।

अध्यापन कार्य-

स्नातक होने के बाद भी उन्होंने सरकारी सेवा में नौकरी के लिए आवश्यक उपाधियों के लिए शास्त्री तथा संस्कृत और हिन्दी में एम.ए. की उपाधियाँ प्राप्त की। उन्होंने 1930 से 1939 तक 10 वर्ष मिण्टगुमरी के डी.ए.वी. स्कूल में संस्कृत और हिन्दी का अध्यापन कार्य किया। उसके बाद 1930 से 1966 तक जालन्धर के डी.ए.वी. कालेज में प्राध्यापक रहे। वहीं से 60 वर्ष पूर्ण होने पर उस कालेज की ओर से भावभीनी विदाई दी गई। इसी अवधि में उन्होंने अंग्रेजी में प्लेटो तथा शंकराचार्य का एक तुलनात्मक अध्ययन नाम से उच्च दार्शनिक विचारों से पूर्ण पुस्तक लिखी। अध्यापक जीवन में गुरुकुल की

शिक्षा के अनुसार वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में सक्रिय रहे। संस्कृत व्याकरण तथा दर्शन के उद्भट विद्वान् थे। संस्कृत में वे धारा प्रवाह भाषण दे सकते थे। उन्होंने कुछ समय जालन्धर के कैम्ब्रिज स्कूल तथा दिल्ली के हंसराज कालेज में भी संस्कृत के प्रोफेसर के रूप में काम किया।

टंकारा का बुलावा-

अध्ययन-अध्यापन श्री सत्यदेव जी की नियति में था। सब कामों से निवृत्त होकर ये जालन्धर में बस गए। वहाँ उन्होंने शान्ति-सदन नाम से एक मकान भी बनवाया। इसी बीच कन्या महाविद्यालय जालन्धर की आचार्या ने अपने विद्यालय के एम.ए. के छात्रों को हिन्दी, संस्कृत पढ़ाने के लिए प्रार्थना की। उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। पर उनकी नियति में टंकारा का सन्त बनना लिखा था।

इसी समय 1966 में डी.ए.वी प्रबन्ध-समिति के प्रधान जस्टिस श्री मेहरचन्द महाजन ने, जो टंकारा ट्रस्ट के भी प्रधान थे, सत्यदेव जी को दिल्ली बुलाया तथा उन्हें एक प्रकार से आदेश दिया कि वे टंकारा जाकर वहाँ कार्य करें। महाजन जी ने उनसे स्पष्ट कहा कि मैं तुम्हें एक कठिन और बड़े कार्य के लिए वहाँ भेज रहा हूँ तथा तुम्हें दृढ़ता पूर्वक वहाँ का कार्य सम्भालना है।

टंकारा आगमन-

श्री महाजन जी के आदेश पर श्री सत्यदेव विद्यालंकार 1966 में ही अपनी पत्नी के साथ अपना बिस्तर व अटैची स्वयं उठाये टंकारा पहुँच गए।

उस समय टंकारा में एक आयुर्वैदिक विद्यालय चलता था जिसका कोई नियम विधान नहीं था। छात्रों और अध्यापकों में अनुशासनहीनता चरम सीमा पर थी। महाजन जी का आदेश था कि इस विद्यालय को बन्द कर उसके स्थान पर उपदेशक विद्यालय स्थापित करना है। श्री सत्यदेव जी ने सारी स्थिति का बारीकी से अध्ययन कर एक साल बाद आयुर्वेद विद्यालय को बन्द करने का नोटिस लगा दिया। इस पर छात्रों और अध्यापकों में रोष स्वाभाविक था। उन्होंने हुड़दंग मचाने की कोशिश की। पर सत्यदेव जी ने दृढ़ता से उनका मुकाबला किया। वे उनकी मारने की धमकियों से नहीं डरे। अन्त में उनका उबाल ठण्डा पड़ गया। इसके तुरन्त बाद आयुर्वेद विद्यालय के द्वार पर अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक विद्यालय का बोर्ड लगा दिया गया और पंजाब एवं उत्तर प्रदेश के कुछ छात्रों के साथ उपदेशक विद्यालय में पठन-पाठन शुरू हो गया। यह सब काम एक महीने की अल्पावधि में ही हो गया। आज यह उपदेशक विद्यालय आर्यसमाज के विद्वान् उपदेशक तैयार करने का मुख्य केन्द्र है। इसका सारा श्रेय सत्यदेव जी की निष्ठा और कर्मठता को है।

१८ वर्ष की साधना-

पंजाब जैसे धन-धान्य पूर्ण और लहलाते खेतों की हरिताभ भूमि को छोड़कर टंकारा के रेगिस्तानी, जलहीन प्रदेश में निरन्तर 18 वर्ष तक रहकर कार्य करना किसी घोर तपस्या से कम नहीं था। इस अवधि में उन्होंने मानधन के रूप में मात्र रु0500 ही स्वीकार किए। एक बार ट्रस्ट ने यह मानधन बढ़ाकर रु0600 किया पर सत्यदेव जी ने यह कहकर इसे स्वीकार नहीं किया कि मेरा रु0500 में आराम से काम चल जाता है। यह थी एक सन्त के सात्त्विक मन की प्रवृत्ति और जीवन के उच्च संस्कारों का प्रभाव।

प्रारम्भ में पत्र-व्यवहार, गोशाला की देख रेख, छात्रों के भोजन की व्यवस्था निवास के रख-रखाव आदि का सब कार्य सत्यदेव जी स्वयं करते थे। इनको बुद्धदेव भाई के रूप में एक अच्छे कार्यकर्त्ता मिल गए थे।

श्री सत्यदेव जी के आचार्यत्व काल में ही श्री प्रकाशवीर शास्त्री के प्रयास से तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी टंकारा आईं। श्री सत्यदेव जी ने ही उनका स्वागत व उनको अभिनन्दनपत्र भेंट किया।

1983 में जब श्री सत्यदेव जी 80 वर्ष के हो गए थे, उन्होंने जीवन में विराम की इच्छा प्रकट की। इसका एक मुख्य कारण उनकी पत्नी के स्वास्थ्य में निरन्तर गिरावट थी। उन्होंने औपचारिक रूप से उपदेशक विद्यालय के आचार्य पद से तथा टंकारा ट्रस्ट के प्रबन्धन्यासी के पद से अवकाश ग्रहण कर लिया, फिर भी 1985 तक वे उपदेशक विद्यालय की नियमित रूप से देखभाल करते रहे। 1985 में वे टंकारा भूमि छोड़कर गुड़गाँव चले गए। वहीं पर उन की पत्नी का निधन हो गया। उनका मन उचाट हो गया और वे अपने पुत्र के पास मुम्बई चले गए। वहीं पर 26 फरवरी 2003 को 99 वर्ष की आयु में उनकी आत्मा इस नश्वर शरीर को छोड़कर परब्रह्म में विलीन हो गई।

टंकारा का शान्ति भोजनालय जो उनके पुत्रों ने अपनी माता की स्मृति में बनवाया है, उनकी पत्नी की सदा अन्नपूर्णा के रूप में याद दिलाता रहेगा।

डेमी नदी में अस्थि प्रवाह-

मरने के बाद की इच्छा व्यक्ति के सोच एवं लगन को अभिव्यक्त करती है। श्री सत्यदेव जी ने यह इच्छा प्रकट की थी कि उनकी अस्थियाँ टंकारा की ऋषि भूमि के साथ बहने वाली डेमी नदी में प्रवाहित की जायें।

उनकी इस अन्तिम इच्छा के अनुसार उनके दो पुत्र विनय और विनोद, बड़े पुत्र के बच्चे, अतुल और पूनम, श्री सत्यदेव जी के शिष्यों, श्री कमल शर्मा, श्री हरिओम् एवं श्री वासुदेव के साथ टंकारा गए। वहाँ डेमी नदी में उनकी अस्थियों का विसर्जन किया। इस प्रकार टंकारा के सन्त व ऋषि के परमभक्त के अन्तिम अवशेष टंकारा के पंचभूतों में एक रूप हो गए।

श्री दत्तात्रेय तिवारी

सद्विद्यासमुपासको गुरुकुलश्रीविश्वविद्यालयः

गङ्गापूतजले वयं प्रतिदिवा स्नात्वा समे भाग्यतः
तीर्थेऽस्मिन् प्रतिभागिनो बहुविधं पुण्यं हि संप्राप्नुम।
शास्त्राणामिह मन्थनाद् गुरुकुले ज्ञानामृतं चार्जितं
कार्तज्ञं प्रतिभागिभिः किल पुनश्चर्याकृते ज्ञाप्यते॥१॥
श्रद्धानन्दमहोदयैः सुगुणिभिर्वाग्देवपुत्रोपमै-
र्वेदानां परिरक्षकैः सुविहितोऽसौ विश्वविद्यालयः।
साङ्गं वेदचतुष्टयं गुरुकुले प्राध्यापकैः पाठ्यते
प्राच्यं भारतवाङ्मयं च निखिलं सम्पोष्यते यत्नतः॥२॥
शिष्टाचारपरम्परा सुमहती राराजते सर्वतो
न्याय्या वृत्तिरिहापि मान्यविदुषां कृत्येषु सन्दृश्यते।
आचार्या इह सात्त्विकाः सहृदया विद्यातपः साधकाः
शान्त्यै विश्वहिताय चापि वटुभिर्यज्ञाहुतिर्दीयते॥३॥
ग्रन्थाः संस्कृतवाङ्मयस्य विविधा आलोडिता मौलिका
व्याख्याभाष्ययुताश्च योग्यविबुधैः प्राकाश्यमापादिताः।
एवं भारतगौरवं प्रतनुते श्रीविश्वविद्यालयः
सौहार्दस्य कृते जनेषु कुरुते भव्यांश्च कार्यक्रमान्॥४॥
अध्यापनं नियमितं बहु शंसनीयं
कक्षासु ये विनयिनश्च पठन्ति शिष्याः।
आत्मीयता गुरुजने परिसेवकेषु
चैतद्विलोक्य बहुहर्षभरा वयं स्मः॥५॥
विद्वद्वरः संस्कृतशास्त्रविज्ञो वेदप्रकाशो बहुकर्मनिष्ठः।
ज्ञानेन यत्नेन परिश्रमेण संसेवते संस्कृतदेवभाषाम्॥६॥
वेदेष्वभिज्ञो विनयी बुधो यः प्रीणाति शिष्यानपि शुद्धवृत्त्या।
धन्योऽस्ति सो भारतभूषणोऽयं विस्मर्तुमेवं न हि शक्नुमस्तम्॥७॥
धन्यः कुलाधीशबुधः स्वतन्त्रकुमार एषोऽस्ति समप्रभावः।
निष्पक्षभावेन च सेवतेऽयं संस्थामिमां वर्धयति श्रमेण॥८॥
तीर्थं हरिद्वारमिदं पवित्रं भक्तिप्रवाहं कुरुते समन्तात्।

एते हि मुख्ये मनसाख्यचण्डीदेव्यौ नमामो वयमादरेण॥९॥
श्रीकाँगडीत्याख्यविशिष्टसंस्था वेदार्थविज्ञानसमेधिकेयम्।
प्रौढान् विशिष्टान् विदुषः प्रसूते प्रकृष्टशोधं कुरुते नवीनम्॥१०॥
धन्यं तीर्थमिदं श्रेष्ठं धन्यं गुरुकुलं तथा
श्रद्धानन्दो महाधन्यो धन्या तस्य परम्परा॥११॥

डॉ० धर्मदत्तचतुर्वेदी
पुनश्चर्याप्रतिभागी
केन्द्रीय-उच्चतिब्बतीशिक्षासंस्थानम्
मान्यविश्वविद्यालय:, सारनाथ-वाराणसी

आयुर्वेदो हि जीवनविज्ञानम्

वेदशब्दस्य विद्ज्ञाने धातोर्निष्पन्नः। यस्यार्थस्तु ज्ञानमिति। आयुर्वेदस्तु आयुः वेदः, अर्थात् आयुर्ज्ञानम्। अनेन ज्ञायते येन शास्त्रेण आयुर्ज्ञानमुपजायते तस्य शास्त्रस्य नामायुर्वेदः। ननु मनसि किं नाम आयुरिति जिज्ञासायामुच्यते यत् शरीर-इन्द्रिय-सत्त्व- आत्माप्रभृतीनां संयोगस्य नाम हि आयुः। एतत्तु जीवनं वर्तते आधुनिकशब्देषु आयुरेषः शाश्वत्-अनादिश्च। आयुर्वेदोऽथर्ववेदस्योपवेदोऽस्ति। शास्त्रमिदं मानवजीवनस्य पूर्णविकासस्योपदेयकं वर्तते। अतो न केवलमायुर्वेदो भिन्न-चिकित्सा-पद्धतिवत् एकाचिकित्सापद्धतिरपितु सम्पूर्णरूपे आयुः विज्ञानमिति।

आयुर्वेदः, धनुर्वेदः, गान्धर्ववेदः, अर्थवेदश्च ऋग्यजुस्सामाथर्वाख्यानां चतुर्णां वेदानां चत्वार उपवेदा वर्णितास्सन्ति। ऋग्वेदेन सहायुर्वेदस्य सम्बन्धोऽस्ति। सम्पूर्णभारतवर्षे चिकित्साशास्त्ररूपेणेत्थमायुर्वेदः प्राचीनतमात् कालादेव प्रख्यातो वर्तते।

कालक्रमानुसारेण परिज्ञायते यदायुर्वेदस्यादि उपदेष्टा ब्रह्माऽभूत्। पुनः शनैः शनैरायुर्वेदस्य प्रचारम् ऋषयो मर्त्यलोके प्रचारयामासुः। आयुर्वेदस्य प्रथमप्रचारकरूपे भरद्वाजनामक एव ऋषिरासीत्। न केवलं ऋग्वेदे अपितु अथर्ववेदेऽपि रोगाणां लक्षणं निदानं चिकित्सा चोपवर्णिता।

आयुर्वेदेऽस्मिन्-

आयुर्हिताहितं व्याधिर्निदानं शमनं तथा।
विद्यते यत्र विद्वद्भिः आयुर्वेदः स उच्यते॥

अर्थात् आयुर्हितस्य (पथ्य-आहार-विहारश्च) अहितस्य च (हानिकर-आहार-विहारश्च) रोगस्य निदानानां तथा व्याधीनां चिकित्साऽभिहिता। पुरुषार्थ-चतुष्टयस्य प्राप्तेर्मुख्यसाधनं शरीरमिति। अतस्तस्य सुरक्षाक्रमेणायुर्वेदः कथयति-

धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः।
सर्वकार्येष्वन्तरङ्गं शरीरस्य हि रक्षणम्॥

सारोऽयं वर्तते यत्-धर्म-अर्थ-काम-मोक्षादीनां प्राप्तेर्मुख्यं साधनं शरीरमिति। अनेन प्राचीनकविना महाकविकालिदासेनोक्तम्-

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।
अतः सम्पूर्णकार्येषु विशेषरूपे शरीरस्य रक्षा विधेया।

आयुर्वेदस्य प्रमुखोद्देश्यम्-

संसारे को वा मनुष्यः स्वमनसि दुःखमिच्छति। अर्थात् सर्वे सुखं इच्छन्ति। यतो हि

सुखीजीवनमुत्तमस्वास्थस्य निर्भरशीलं वर्तते। स्वस्थ-सुखीजीवनस्य कृते आवश्यकताऽस्ति यत् शरीरे कोऽपि विकारो न भवेत्। यद्यपि विकारो दृश्यते तर्हि शीघ्रं तस्य चिकित्सा करणीया। आयुर्वेदस्य परमलक्ष्यं स्वस्थमनुष्यस्य स्वास्थस्य रक्षणं तथा रोगाग्रस्तजनस्य विकारस्य प्रशमनम् इति। यथा च -

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च।

च.सू.३०

किञ्च-

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥

यदि वयमायुर्वेदस्य पृष्ठभागं पश्यामस्तर्हि तस्य विस्तृतक्षेत्रस्याङ्गानि ज्ञातुं पारयामः। कीथमहोदयानुसारेणार्थवेदे एवायुर्वेदस्यास्याष्टौ अङ्गानि वर्णितानि सन्ति। तानि चाङ्गानि-

1. शल्यचिकित्सा (Major Surgery)
2. शालक्यतन्त्रम् (Minor Surgery)
3. कायचिकित्सा (Healing of disease)
4. भूतविद्या (Demonology)
5. कौमारभृत्यम् (Children desease)
6. अगदतन्त्रम् (Toxology)
7. रसायनतन्त्रम् (Elixive)
8. वाजीकरणतन्त्रम् (Aphrodsias)

अपि च ऋग्वेदे आयुर्वेदप्रवर्तकानां दिवोदासभारद्वाजाश्विनीकुमारैः सह जलचिकित्सायाः, सूर्यरश्मिचिकित्साया अपि उल्लेख उपलभ्यते। उक्तञ्च-

अप्स्वन्तरामृतमप्सु भेषजमुत प्रशस्ते।
आसु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा॥
अग्निं च विश्वसम्भवमापश्च विश्वभेषजीः।
अपः प्रणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम॥

आयुर्वेदस्य त्रिदोष-सिद्धान्तः-

सुश्रुताचार्येणोक्तम्-

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद् देहं कफपित्तानिलास्तथा।।

अत्रायं सारः। आयुर्वेदस्त्रिदोषसिद्धान्तस्य त्रिपादिकाया उपरि (तिपाई) आधारितोऽस्ति। ते त्रिदोषास्तु-वात-पित्त-कफश्च। यदा एते साम्यावस्थायां स्थित्वा शरीरं धारयन्ति तदा ते त्रिधातुनामधेयाः सन्ति। पुनः यदा एते विषमावस्थायां स्थित्वा शरीरे रोगं समुत्पादयन्ति तदा दोषाः कथयन्ति। सर्वेषां रोगाणां मूलकारणं प्रकुपितो दोषो हि वर्तते। यतो ह्युच्यते-मलिनीकरणान्मलाः, तथा च-दूषणाद् दोषाः देहधारणाद् धातव इत्यभिधीयते।

अत एवायुर्वेदः शरीरस्यास्य मूलोपादान-कारणरूपं वातं, पित्तं, कफञ्च (त्रिधातु) स्वीकरोति। अत्रायुर्वेददृष्ट्या सूक्ष्मविचारणीयं वर्तते यत्-भिन्ना चिकित्सा- पद्धतिवद् आयुर्वेदे केवलं रोगरहितशरीरत्वात् कमपि मनुष्यं पूर्णस्वस्थरूपे नैव मन्यते। स्वस्थाः ते मनुष्या अभिधीयन्ते ये वात-पित्त-कफ-त्रिदोषरहिता भवन्ति। यथा चोक्तम्-

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।
आयुर्वेदीय-चिकित्सायाः मूलसिद्धान्तोऽयं वर्तते।

स्वास्थस्योपस्तम्भत्रयम्-

आयुर्वेदानुसारेण मनुष्यजीवनस्य स्वास्थस्योपस्तम्भत्रयं वर्तत इति। तद्यथा-

(1) आहारः (2) स्वप्नः (3) ब्रह्मचर्यः संयमो वा।

यदि मनुष्यः स्वदैनन्दिनजीवने उपस्तम्भत्रयस्यास्य सम्यक्तया पालयिष्यति। यदि वयं महर्षिचरकस्यैनं श्लोकमनुसरणं कुर्मस्तर्हि नीरोगस्य मार्ग नूनं प्राप्स्यामः। यथा-

धी-धृति-स्मृतिविभ्रष्टः कार्य कर्म करोति यः।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्।।

आयुर्वेदो हि रोगाणां समूलनाशको नास्त्यत्र कोऽपि सन्देहः। यतो हि-

प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।
नाऽसौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद् यो न कोपयेत्।।

आयुर्वेदस्य प्राचीनाः संहिताः-

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, भेलसंहिता च। परवर्तिन्य आयुर्वेदसंहिताः-
वाग्भट्ट, माधवकर, चक्रपाणिदत्त, मिल्हण, नागार्जुन, वोपदेवप्रभृतयः।

आयुर्वेदे चिकित्सापद्धतिद्वयम्:-

वैदिककाले विविधानाम् औषधीनामपि ज्ञानं विकसितमासीदिति ऋङ्मन्त्रैरेव परिज्ञायते। तद्यथा-

याः पुत्रिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥

आयुर्वेदे रोगाणामुपचारस्य हेतोर्ब्राह्मिशैविचिकित्साद्वयस्य प्रक्रिया निर्देशिता। ब्राह्मीचिकित्सा अर्थात् काष्ठौषधचिकित्सा साधारणतः सर्वे तां जड़ी-बूटीचिकित्सारूपे जानन्ति। अतीवाश्चर्यस्य कारणं यदायुर्वेदस्यैयं चिकित्सा एषा निरूपद्रवचिकित्सा- पद्धतिर्वर्तते यत्र रुग्णस्य प्रतिक्रियां विना हि रोगस्य ह्रासो भवति।

शैविचिकित्सायां पारद-गन्धक-हरताल-संखिया-मैनसिलप्रभृतीनां खनिजद्रव्य-सुवर्ण-रौप्य-ताम्र-बंग-लोहादीनां तथा हीरा-पन्ना-मोती-पुष्परागादीनां रत्नानां चोपयोगो भवति। पारदः तथा पारदसंयोगे अधिकं हि 'रस' इत्युच्यते। आधुनिकौषधवदस्य समाप्ततिथिर्नैव वर्तते। काष्ठौषधिषु शीघ्रं लाभदायिनीयं ब्रह्मचिकित्सा। तद्यथा।

अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसङ्गतः।
क्षिप्रं च फलदायित्वादौषधिभ्योऽधिको रसः॥

अनया विमर्शदृष्ट्याऽऽयुर्वेदः केवलं चिकित्साशास्त्रं नहि अपितु एकान्तरूपे जीवनविज्ञानमिति।

डॉ० ब्रजेन्द्रकुमारसिंहदेवः
प्राध्यापकः, गुरुकुलमहाविद्यालयः,
ज्वालापुरम्, हरिद्वारम्।

कविता की सम्प्रेषणीयता और जनभाषा

पाश्चात्त्य और आधुनिक भारतीय काव्य समीक्षकों ने कविता को भाषा से पृथक् न मानते हुए उसे भाषा की एक विधा के रूप में स्वीकार कर लिया है। जब कविता और भाषा के आपसी सम्बन्ध पर इतनी जोर-शोर से चर्चाएँ चल रही हों, तब एक और विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि आखिर कविता की भाषा हो कैसी? अभिजात वर्ग से जुड़ी लच्छेदार संस्कृतनिष्ठ जड़ाऊ भाषा या सपाट बयान वाली सरल-सुबोध भाषा। पहली विशिष्ट वर्ग तक सीमित है। जबकि दूसरी जन-जन की चेतना तक फैली है।

साहित्य की प्रत्येक विधा का अपना अलग स्वभाव होता है। जाहिर है कविता का स्वभाव नाटक, कथा और निबन्ध से भिन्न है। यद्यपि यह उक्ति प्रचलित है कि **'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'** तथापि यदि गम्भीरता से विचार करें तो तो हम पायेंगे कि कविता की कसौटी तो कविता ही है, सुन्दर और स्वस्थ कविता। नकली कवियों के कारखाने में आज असली कविता गुम सी हो गयी है। आवश्यकता इस बात की है कि कविता को सम्प्रेषणीय बनाये रक्खा जाये।

सही मायने में देखा जाए तो कविता कम बोलती है, बल्कि इशारे ज्यादा करती है। नामवर जी का तो यहाँ तक कहना है कि **'कविता इशारा ही होती है।'** साहित्य की यह विधा स्पन्दनमयी होती है। सच्ची कविता स्याही से नहीं वरन् खूंन और आँसू से रची जाती है। इसी कारण हृदय संवाद का दरजा उसे मिलता है। वह अपनी निजता में अद्वितीय होती है। उसके धर्मगुण अपने होते हैं। इसी कारण उसके प्रतिमान भी साहित्य की अन्य विधाओं के प्रतिमानों से अलग होते हैं।

दूसरी तरफ हम देखें कि कवि कर्म की सबसे बड़ी समस्या साधारणीकरण और सम्प्रेषण की समस्या है। मुक्तिबोध ने कहा है-**कविकर्म कोई सहज कार्य नहीं है।** जीवन की जटिलता और वैविध्य को अभिव्यक्त करने के लिये कवि भाषा को किसी हद तक गूढ़ अलौकिक अथवा दीक्षा द्वारा बोधगम्य बनाने का प्रयास करता है। किन्तु यह उसकी शक्ति नहीं विवशता है।

कविता को एक ओर रूढ़ काव्यशास्त्र से जोड़ने की दलील दी जाती है और दूसरी ओर उसे **भाषा में आदमी होने की तमीज** या **सार्थक वक्तव्य** का रूप दिया जा रहा है। यदि कविता मात्र वाग्विलास है तब तो और बात है, वरना आम आदमी के लिये यदि उसकी थोड़ी बहुत सार्थकता या उपादेयता है तो कविता को हर दृष्टि से जनभाषा के करीब आना होगा। जनभाषा से जुड़े बिना जनोपयोगी साहित्य का निर्माण असम्भव है। यदि अपने को मात्र तथाकथित जनकवि कहलाना है तो चालू मुहावरों के प्रयोग मात्र से काम चल जाएगा। यदि जन जागरण के महत्कार्य को सम्पादित करना है तो जनभाषा के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। यह फैशन नहीं, आवश्यकता है। युग का तकाजा है।

अज्ञेय की दृष्टि में नयी भाषा की सार्थकता मानवीय सम्बन्धों की पहिचान है।

हम सब भिखारी हैं

भाषा की शक्ति

यही नहीं कि
सम्प्रेषण होता है
शक्ति इसमें है कि उसके सहारे
पहचान का वह सम्बन्ध बनता है जिसमें
सम्प्रेषण सार्थक होता है।

नामवर जी ने अपनी पुस्तक **इतिहास और आलोचना** में लिखा है **शब्दों में अर्थ जीवन भरता है, जीवन ही वह अर्थसत्ता है जिससे शब्द हरे हैं। सुबह और शाम की किरणें बरसे हुए खाली बादल में महज रंगसाजी कर सकती हैं इन्हें जीवन-दान तो ताल-तलैया, नदी-नद और सागर वाली धरती ही दे सकती है। शब्द भावों के आवेग से चालित होकर नया अर्थ ध्वनित करते हैं। पहले से ही उनमें नया चमत्कार भरकर भावों की धारा में नहीं झोका जाता।** आज शमशेर, मुक्तिबोध और अज्ञेय की कविताओं को समझने वाले पाठक कितने हैं? पाठकों की बात छोड़िये, अनेक कवि भी इन कवियों के बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों और फैंटेसीयों के भँवर जाल में उलझकर रह जाते हैं और कविता का मर्म नहीं पकड़ पाते। शायद इनका असम्प्रेषणीय होना ही इनको बड़ा 'कवि' बनाता है। लेकिन मेरा विनम्र अनुरोध है **कि कविता वह बड़ी होती है जो सहज और सरल होते हुए भी जीवन की जटिलताओं को अभिव्यक्त करती हो,** निश्चय ही इस आधार पर नागार्जुन, त्रिलोचन और केदार बड़े कवि सिद्ध होते हैं। आज की नयी पीढ़ी के कवि अरुण कमल से लेकर बद्री नारायण तक का जुड़ाव सीधा इसी परम्परा से देखा जा सकता है। इसका कारण यह है कि जब कविता के नये अन्य औजार मसलन बिम्ब, प्रतीक, मिथक और फैंटेसी से मुक्त होकर नयी पीढ़ी का कवि सरल सहज भाषा का प्रयोग करता है, उपकरणों की इस कमी को वह शब्दों की कमानी तान कर पूरा करने का प्रयास करता है।

कविता को अनिवार्यतः लोकधर्मिता और जीवनधर्मिता से जोड़कर ही सम्प्रेष्य बनाया जा सकता है। इसके लिये कवियों की भाषा को लोकभाषा के पास जाना होगा। लोकभाषा में ही वह शक्ति निहित है जो कविता को न केवल सम्प्रेष्य बल्कि सम्वेदनशील भी बनाने की क्षमता रखती है। आज यह जरूरी समझा जा रहा है कि भाषा आज की सृजन-प्रक्रिया में बाहरी यन्त्र न हो, माध्यम न हो, निरा रूपवाद न हो। भाषा हवा के कणों में एक भूरी सी चमक हो जिसे कोई भी महसूस कर सके।

एक सच्चे कवि के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वह जनता की आशाओं आकांक्षाओं को पूरी हमदर्दी से समझने की कोशिश करे तथा भदेश या गँवई रूप को निःसंकोच स्वीकार कर अपने विचारों को बेलाग होकर जनता के सामने रक्खे। केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन की कविताओं में यह गँवईपन तथा धूमिल की कविताओं में **'भाषा का भदेसपन'** बहुत साफ उभरकर आया है। कवि निराला का **'नये पत्ते'** में जनभाषा का प्रयोग अभिनन्दनीय है। प्रगतिशील कवि नागार्जुन की कविताओं में ग्रामीण सोंधी महक पाठक को बरबस आकर्षित किए बिना नहीं रहती। उनकी **'खुरदरे पैर'** रिक्शा चालक के यथार्थ स्वरूप का बोध कराती है।

खूब गये
दूधिया निगाहों में
फटी बिबाइयों वाले
खुरदरे पैर
धंस गये
कुसुम-कोमल मन में
गट्ठल घट्टों वाले पैर
दे रहे थे गति
रगड़ विहीन ठूँठ पेडलों में।

बोलचाल की भाषा में लिखी यह कविता अपने प्रभाव को समग्र रूप में अभिव्यंजित करने में सक्षम है।

कवि धूमिल स्वयं घोषणा करते हैं कि मैं **'भाषा का भदेस हूँ'** शहरी और ग्रामीण जनभाषा को समन्विति उनकी कविताओं की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इन्होंने काव्य भाषा को नये तेवर प्रदान किये हैं। सपाट किन्तु सार्थक व्यंजक अंदाजे-बयाँ धूमिल के पास हैं। **'संसद से सड़क तक'** और **'कल सुनना मुझे'** की प्राय: सभी कविताएं उनके गँवई भाषा के रुझान को व्यक्त करने वाली हैं। इन्होंने जनभाषा को सूक्तियाँ प्रदान की। धूमिल का कथन है कि **'जनता एक भेड़ है जो दूसरों की ठंड के लिये अपनी पीठ पर ऊन की फसल ढो रही है।' 'संसद तेल की वह घानी है जिसमें आधा तेल और आधा पानी है।'** वस्तुत: भाषिक प्रयोग की दृष्टि से धूमिल बेमिसाल हैं। काशीनाथ सिंह ने ठीक ही कहा है कि-**धूमिल ने कविता को मुँहफट और खुर्राट जबान दी।**

रघुवीर सहाय की रचनाओं के संग्रह **'हंसो हंसो जल्दी हंसो'** में सरल किन्तु जटिल संवेदना के भाषा प्रयोग को देखा जा सकता है। इनके अंदाजेबयां पर रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं- **'यही वजह है कि कविता चाहे प्रकृति की हो, चाहे प्रेम की, बाजार की या संसद की रघुवीर सहाय के विधान आंगन, शयनकक्ष, बैठक और सड़क के लिये उन्हें विशेष सज्ञा या असज्ञा नहीं करनी पड़ती।'** बोलचाल की भाषा में सजी-संवरी कविता आम आदमी की जिन्दगी के अति निकट है। उसकी समझ के बाहर भी नहीं। कविता उपदेश नहीं होती, एक रचना होती है। वह सही अर्थ में **'वागर्था इव सम्पृक्तौ'** है। वस्तु और रूप की अविच्छिन्न अभिव्यक्ति है, साथ ही लोक के गहरे स्तर पर जुड़ी रहती है।

इसीलिये कविता जीवन की जरूरत है। कविता खुली आँख का सपना है। उसकी आँखें पारदर्शी होती हैं। परत दर परत के खोलने की क्षमता रखती है। कविता समय के सवालों से आँखें नहीं चुराती। इस बात की पुष्टि **'डर और खिलाड़ी'** कविता करती है:-

शेर से डरते-डरते। आदमी

सियार से डरने लगा
बीमार होकर। भीतर ही भीतर। मरने लगा
आदमी होने के संज्ञान से
इंकार करने लगा। 'डर' केदारनाथ अग्रवाल
जिन्दगी मरा हुआ चूहा नहीं है
जिसे मुख में दबाकर
बिल्ली की तरह हर शाम गुजर जाने
और मुंडेर पर
कुछ खूंन के दाग छोड़ जायें।
'खिलाड़ी' सर्वेश्वरदयाल

निष्कर्षतः कविता का स्वभाव शब्द और कर्म की सन्धि पर दूब की तरह उगे रहना है। मनुष्य और पृथ्वी को कविता की यह हरियाली ही बचा सकती है।

प्रो. ज्ञानचन्द रावल
हिन्दी-विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

प्राचीन भारतीय लोकतन्त्र वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में

वर्तमान में सारे देश में दो ही विषय चर्चा में हैं। एक क्रिकेट और दूसरा चुनाव। प्रत्येक व्यक्ति जो मतदाता है या नहीं है, इस चुनाव के विषय में पर्याप्त रुचि ले रहा है। सामान्य लोगों में यह मान्यता है कि लोकतन्त्र पाश्चात्त्य जगत् की देन है। परन्तु इस विषय पर जब हमने अपने प्राचीनतम साहित्य पर दृष्टिपात किया तो कुछ अद्भुत चीजें सामने आयीं। राजा कौन हो? क्या वो विदेशी हो सकता है या नहीं? उसकी योग्यता क्या होनी चाहिये? (यहाँ योग्यता से तात्पर्य उसकी शैक्षिक उपाधियों से नहीं है) कौन-कौन लोग राजा बनने का स्वप्न ले सकते हैं? और यदि चुनाव हों तो उसका क्या तरीका होना चाहिये? मतपत्र कैसे हों? और कौन मतदाता हो? इन सब चीजों को जब हमने अपने अतीत में झाँककर देखा तो एक बहुत ही मनोरम दृश्य उभर कर सामने आता है।

अथर्ववेद के पुरुहन्मा ऋषि इन्द्र देवता के मन्त्रों में उन्हें **'राजा चर्षणीनाम्'**[1] अर्थात् मनुष्यों का राजा कहकर सम्बोधित करते हैं। ऋषि विश्वामित्र **'विश्पति'**[2] शब्द का प्रयोग करते हैं, इसी को प्रगाथ ऋषि **'त्वं राजा जनानाम्'** कहकर इसे और अधिक स्पष्ट कर देते हैं। सामान्य रूप से इन्द्र के सभी गुण राजा के गुण माने जाते हैं। राजा के सम्पूर्ण गुणों को यदि हम एक वाक्य में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि प्रजा को पूर्ण विश्वसनीय आश्रय दे सकना ही राजा का सबसे महान् गुण है। इसी बात को यजुर्वेद ने कहा कि **'हे राजन्! तू सम्पूर्ण प्रजाओं के समीपवर्त्ती होकर उनकी रक्षा कर। समस्त प्रजाएँ तुम पर आश्रित हों।**[3]**'**

आचार्य चाणक्य का मत है कि 'सर्वभूत हित में अनुरक्त रहने वाला, सभी का हित साधन करने वाला ही सम्पूर्ण पृथ्वी का भोग कर सकता है।[4]' अर्थात् प्रजा के सुख में सुख प्रजा के हित में हित समझना राजा का सर्वश्रेष्ठ गुण है। इससे पृथक् राजा का कोई भी प्रिय या हितकर कार्य नहीं है।

संसद् तथा सैन्य का पूर्ण विश्वास प्राप्त करना राजा के लिये बहुत आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है। उस विश्वास से ही राजा में भी आत्मविश्वास का उद्भव होता है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी के शासनकाल में बंगलादेश की विजय इसका ज्वलन्त उदाहरण है। यह कार्यसिद्धि परस्पर अविश्वास से कभी भी सम्भव नहीं है। राजा बनने का मूल आधार है प्रजा का प्रिय होना, प्रजा का वही हो सकता है जो लोकानुरञ्जन में समर्थ हो। जो अनुरञ्जन कर सकता है, वही मतदाताओं के मत प्राप्त कर सकता है। अथर्वा ऋषि राजा शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि **वह अनुरञ्जनकर्त्ता है, तभी राजा बना है।**[5] महाकवि कालिदास रघुवंश में इसका अनुमोदन करते हुए कहते हैं:-**'यथा**

---

[1] अथर्व०२०.१२.१६.

[2] अथर्व०२०.६.३.

[3] यजु०६.२६.

[4] कौटिलीय अर्थशास्त्र-१.५.१८

[5] अथर्व०१५.८.१.

प्रह्लादनात् चन्द्रःइराजा प्रकृतिरञ्जनात्।[६] महाभारत में व्यास कहते हैं **कि प्रजाओं के रञ्जन से ही राजा बनता है।**[७] अथर्ववेद में प्रार्थना है कि **'मैं सभी का अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्णों का प्रिय हो जाऊँ।**[८]**'**

प्राचीन साहित्य में राजा के पद पर सदा क्षत्रिय वर्ग के पुरुष का ही चयन किया जाता है। अन्य वर्णों को उनके गुणकर्मानुसार अन्य कार्य दिये जा सकते हैं, परन्तु राजा का पद दिये जाने का कोई भी विवरण वेदों में नहीं मिलता। यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि राजा पद का प्रत्याशी या राजा उसी क्षेत्र एवं उसमें रहने वाली प्रजाओं में से हो अर्थात् उसका देशवासी होना और नागरिक होना अनिवार्य शर्त नहीं है। अथर्ववेद का **'अन्तरभूः'**[९] इसका पुष्ट प्रमाण है।

राजा पद के एकाधिक प्रत्याशी होते थे। वर्तमानकाल की भाँति वैदिककाल में भी विजय के लिये प्रत्याशी नाना प्रकार के प्रयास किया करते थे। जिनमें अधिकतर प्रजा या मतदाताओं से मत (पर्णमणि) प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है।

चयन की दो पद्धतियाँ प्रचलित थीं। पहली वह जिसमें सम्पूर्ण प्रजाएँ प्रत्यक्ष रूप से राजा का वरण करती हैं कि **'हे राजन्! राज्य प्रबन्ध चलाने के लिये राष्ट्र की सभी दिशाओं में रहने वाली पाँचों प्रकार की मत देने वाली प्रजाएँ तुम्हारा वरण करें।'**[१०] चयन के साथ ही प्रजाएँ उस राजा से विशेष आशाएँ भी रखती थीं। राजा का चयन करने वाली इस प्रजा में बहुत छोटे स्तर के पुरुषों से लेकर मनीषियों तक सभी स्तर के लोग विद्यमान होते थे। राजा पद का प्रत्याशी सभी से अपने को वरण करने की प्रार्थना करता है। इन लोगों में धीवर, रथकार, बढ़ई, लुहार आदि कर्मकार तथा तत्त्वचिन्तक और मननशील पुरुष भी होते हैं। चयन की दूसरी पद्धति वह है **जिसमें कुछ निश्चित लोग ही राजा का चयन करते हैं। इसीलिये ये राजकृत कहे जाते हैं, ये अपने समूहों के मुखिया हो सकते हैं।**[११]

दोनों ही पद्धतियों में गुप्तरूप से मतपत्रों द्वारा राजा का चयन होता है। यह पर्णमणि रूप मतपत्र सम्भवतः किसी लकड़ी के बने बक्स में गुप्तरूप से डाले जाते हैं।[१२] राजकृत लोग राष्ट्र का अभिवर्ग कहलाते हैं और राजा की स्थिति इस अभिवर्ग में सर्वोत्तम होती है। इस पद्धति को हम वर्तमान में सांसदों तथा विधानसभा सदस्यों आदि के द्वारा राष्ट्रपति पद के चुनाव में देखते हैं, जिसमें सामान्य जनता राजा का चयन न करके उस अभिवर्ग के माध्यम से अपना राजा चुनती है।

---

[६] रघुवंश-४.१२.

[७] महा०शान्ति०५९.१२५. रञ्जिताश्च प्रजास्सर्वा तेन राजेति शब्द्यते।

[८] अथर्व०१९.६२.१.

[९] अथर्व०६.८७.१.

[१०] अथर्व०३.४.२.

[११] अथर्व०३.५.७.

[१२] अथर्व०३.५.३.

जैसे आजकल मतपत्र सामान्य कागज का टुकड़ा नहीं है, इसी प्रकार पूर्वकाल में की पर्णमणि या वर्णमणि एक प्रकार का राजचिह्न होता था। जिस अधिकार पत्र के द्वारा सारे राष्ट्र का भाग्य अभिलेख तैयार किया जाता है।

चयन के उपरान्त वह राज्य के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होता है। **'विशि राजा प्रतिष्ठितः'**[१३] इसी बात को ऋग्वेद ने **'विशो न राजानं वृणाना'**[१४] सम्बोधित किया है।

यह चयनपद्धति उत्तर वैदिक काल में भी बहुत समय तक प्रचलित रही। रामायण में राम का राज्याभिषेक करने के लिये महाराज दशरथ को सम्पूर्ण प्रजा का प्रतिनिधित्व करने वाली सभा को आमन्त्रित करना पड़ा। जब राजा दशरथ सभाभवन में विराजमान हो गये, तब शेष लोकसम्मत राजाओं ने प्रवेश किया और वे **'नियतनृप'** पदानुसार अपने-अपने आसनों पर बैठे।[१५] **'राजानो लोकसम्मताः'** ही वैदिक काल में **'राजकृतः राजानः'** हैं। इसी प्रकार महाराज दशरथ की मृत्यु होने पर भी सभी **'राजकर्तारः'** सभागृह में एकत्र हुए। रामायण के अयोध्याकाण्ड में कहा गया है कि ब्राह्मण (सम्भवतः मन्त्री परिषद्), सेना के प्रधान अधिकारी, नगरों के प्रतिनिधिजन, जनपदों के प्रतिनिधि इकट्ठे होकर मन्त्रणा करने के लिये समान बुद्धिवाले होकर बोले।[१६] इससे यह स्पष्ट है कि ये **'राजानो लोकसम्मताः'** या **'राजानः राजकृताः'** वस्तुतः प्रतिनिधि सभा ही थी। यही अथर्व के (राज्य के पाँचों प्रकार के निवासी, जो सभी दिशाओं में रहने वाले हैं) इसका ही प्रतिबिम्ब है।[१७]

चयन के बाद विधिवत् घोषणा की जाती है कि इस महान् पराक्रम युक्त पद पर अधिकार के लिये सर्वोच्च स्थान के लिये, जनराज्य के इन्द्ररूप पद के लिये देवों ने इस पुरुष को निर्विरोध या अद्वितीय रूप से चुना है। अमुक पुरुष और अमुक नारी के पुत्र अमुक को इस प्रजा के राजा पद पर नियुक्त किया गया है। यह हम ब्राह्मणों (ब्राह्मण परिषद्) का भी राजा हो गया है। इसीलिये यह राजा सबके द्वारा नमन करने के योग्य है।

सबसे श्रेष्ठ स्थान पर चुने जाने पर अग्रगण्य होने पर भी वह जनता का प्रथम सेवक है। जनता की सेवा पर ही उसकी स्थिति निर्भर है। **वह प्रजा की इच्छाओं के पीछे चलने वाला है।**[१८] प्रजा की इच्छा के विपरीत उसकी कोई इच्छा नहीं है। प्रजा के सुख के अतिरिक्त उसका कोई सुख नहीं। **'वह जनता रूपी स्वामी, राजारूपी सेवक को कर रूपवृत्ति प्रदान करती है, जो**

---

[१३] यजु०२०.९.

[१४] ऋ०१०.१२४.८.

[१५] रामायण, अयोध्याकाण्ड-४६.४७. राजानो लोकसम्मताः। ....निषेदुर्नियता नृपाः।

[१६] रामायण, अयोध्याकाण्ड-२.१६.२०. ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजनापदा हि सः। समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः॥

[१७] अथर्व०३.४.२.

[१८] अथर्व०५.९.१.

राजा प्रजा से प्राप्त करता है। जिसके कारण वह प्रजा का दास्य स्वीकार करता है।"[१९]

वर्त्तमान काल की इस चयन प्रक्रिया को हम प्राचीन भारत में स्पष्ट रूप से घटित होता हुआ देखते हैं। आज भी देश का राष्ट्रपति देश का प्रथम नागरिक कहलाता है। यह विश्व का प्राचीनतम लोकतन्त्र आज भी कुछ विकृतियों के साथ ही सही इस देश में चल रहा है। जो हमारे प्राचीन ऋषियों के उस महान् चिन्तन का परिणाम है, जिसमें प्रजा की इच्छा सर्वोपरि है। यह राष्ट्र नित्य नूतन उन्नति करता रहे। यह ही इच्छा प्राचीनतम ऋषियों की रही होगी।

डॉ. शिवानी विद्यालङ्कार
भारतीयम् ज्ञानलोक कालोनी
कनखल
हरिद्वार.

---

[१९] शुक्रनीति-१.१८८. स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः। ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा॥

दार्शनिक विद्वान् डॉ. जयदेव वेदालङ्कार राष्ट्रिय पुरस्कार से सम्मानित

२५ जनवरी दिल्ली भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् नई दिल्ली ने (भारत सरकार का संस्थान की ओर से) भारतीय दर्शन, विज्ञान और संस्कृति पर युवा अध्येताओं के राष्ट्रिय अधिवेशन के समापन समारोह के अवसर पर गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के दार्शनिक विद्वान् डॉ. जयदेव वेदालङ्कार को उत्तम ग्रन्थ वर्ष २००१ के राष्ट्रिय पुरस्कार से सम्मानित किया है। डॉ. वेदालङ्कार को यह पुरस्कार उनके ग्रन्थ **"भारतीयदर्शनः तत्त्व एवं ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रत्यय"** के लिये प्रदान किया गया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने २८ अध्यायों में भारतीय दर्शन की समस्त समस्याओं पर विस्तारपूर्वक शोधपरक उच्च अध्ययन प्रतिपादित किया है। डॉ. वेदालङ्कार को यह अवार्ड डॉ. डी.पी. चट्टोपाध्याय अध्यक्ष सभ्यताओं का शोधकेन्द्र सी०एस०सी० नई दिल्ली द्वारा प्रदान किया गया है। पुरस्कार के रूप में एक प्रशस्तिपत्र एवं पचास हजार रुपये की धनराशि प्रदान की गयी है।

इससे पूर्व भी डॉ. वेदालङ्कार को उनके ग्रन्थ १. वैदिकदर्शन, २. भारतीय दर्शन की समस्यायें, ३. उपनिषदों का तत्त्वज्ञान, ४. भारतीय दर्शन में प्रमाण इत्यादि ग्रन्थों पर वेदवेदाङ्ग पुरस्कार, आर्यसाहित्य पुरस्कार, विशेष पुरस्कार और स्वामी प्रणवानन्द राष्ट्रिय दर्शन पुरस्कार आदि पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं।

सीनियर फैलोशिप–उसके साथ ही डॉ. जयदेव वेदालङ्कार को आई०सी०आर० नई दिल्ली की ओर से दो वर्ष के लिये सीनियर फैलोशिप उनके "वैदिक ज्ञानमीमांसा" बृहद् प्रोजेक्ट पर १ जनवरी २००४ से प्रदान की गयी है।

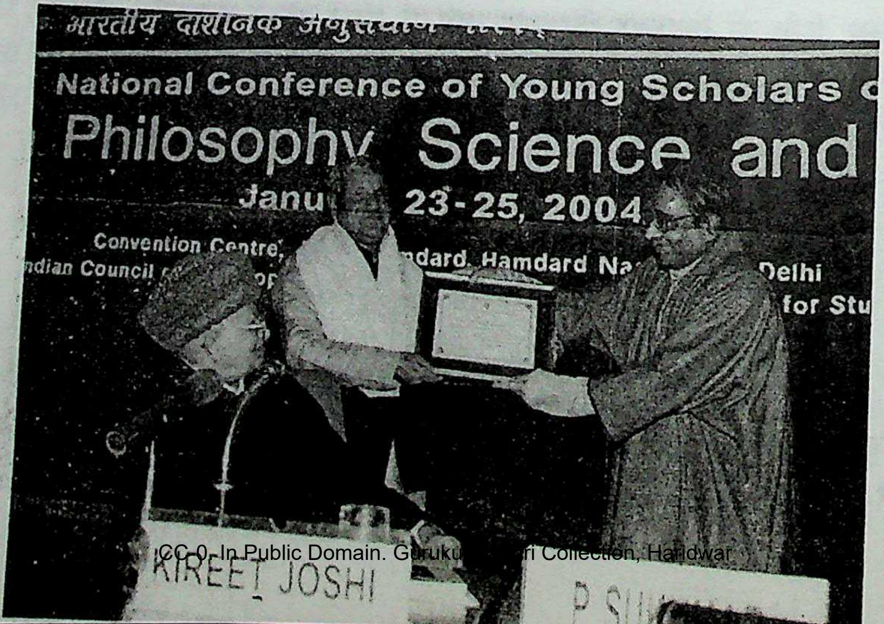
भारतीय दार्शनिक अनुसंधान
National Conference of Young Scholars
Philosophy Science and
Janu 23-25, 2004
Convention Centre, dard. Hamdard Na Delhi
ndian Council op
for Stu
KIREET JOSHI
P. SU

गुरुकुल विश्वविद्यालय में अग्निहोत्र पर शोधगोष्ठी

महर्षि दयानन्द भारत के ही नहीं, अपितु विश्व के एकमात्र ऐसे विचारक हुए हैं, जिन्होंने वेद और विज्ञान को एक साथ देखा। उनकी दृष्टि में विज्ञान का ही एक युक्तिसङ्गत नाम **यज्ञ** है। इसका कारण यह रहा है कि वेद की दृष्टि में यज्ञ भुवन की नाभि है–**'अ॒यं य॒ज्ञो भुव॑नस्य॒ नाभिः॑।' (ऋ०१.१६४.३५)** महर्षि के प्रतिपादित सिद्धान्तों को आधार बनाकर सर्वमेध यज्ञ करने वाले आचार्य मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने इसी उद्देश्य से गुरुकुल विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। वर्त्तमान में कुलपति पद पर अभिषिक्त प्रो० स्वतन्त्र कुमार जी इस विश्वविद्यालय को स्वामी श्रद्धानन्द के सपनों के अनुरूप प्राच्य और पाश्चात्त्य विद्या के सङ्गमस्थल के रूप में विकसित कर रहे हैं। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, के ब्रह्मत्व में दिनांक-12-03-2004 से 14-03-2004 तक वैदिक अग्निहोत्र और ब्रह्माण्ड विषय पर इस वाग्यज्ञ का आयोजन किया गया।

श्रद्धेय कुलपति जी की अध्यक्षता में आयोजित उक्त संगोष्ठी में कैप्टन देवरत्न जी आर्य, प्रधान सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, दिल्ली, मुख्य अतिथि तथा डॉ. गणेशदत्त शर्मा, पूर्व प्राचार्य एल.आर. पी.जी. कालेज, साहिबाबाद, मुख्य वक्ता थे। श्रद्धेय आचार्य एवं उपकुलपति प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री ने अपने उद्बोधन से उक्त संगोष्ठी की दिशा को स्पष्ट किया। इनके अतिरिक्त पूर्व कुलपति माननीय श्री सुभाष विद्यालंकार, डॉ. महेश विद्यालंकार, डॉ. सच्चिदानन्द शास्त्री, श्री विजय ढौंढियाल, अपरसचिव मुख्यमन्त्री, देहरादून आदि अनेक गणमान्य वक्ताओं ने अपने-अपने शोधपत्र प्रस्तुत करते हुए विषय की महत्ता को प्रतिपादित किया।

उक्त राष्ट्रिय संगोष्ठी की मुख्य विशेषता यह रही कि इसमें वेद और विज्ञान के विद्वानों ने एक साथ मिलकर अग्निहोत्र पर गम्भीर विचार-विवेचन किया। यह क्रम चिन्तन तक सीमित न रहकर कुछ आगे बढ़ता हुआ दिखायी दिया। गुरुकुल विश्वविद्यालय के विज्ञान संकाय के सर्वश्री डॉ. देवराज खन्ना, रीडर, जन्तु एवं पर्यावरण विज्ञान विभाग, तथा डॉ. नवनीत, रीडर, वनस्पति एवं सूक्ष्मजीवविज्ञान विभाग, दोनों ने मिलकर **'यज्ञ से मधुमेह चिकित्सा'** विषय पर किये जा रहे शोध निष्कर्षों को प्रस्तुत किया। यद्यपि यह प्रक्रिया अभी अपने प्रारम्भिक चरण में है, तथापि इसके परिणाम काफी उत्साहवर्धक रहे हैं। जितने भी रोगियों ने एक मास तक इस यज्ञ में भाग लिया, उन सभी का शुगर लेबल जो लगभग ३८० था, वह घटकर १५५ के आसपास आ गया। आचार्य जी के ब्रह्मत्व में चलने वाले उक्त यज्ञ में श्रद्धेय कुलपति जी न केवल नियमित रूप से आते रहे, बल्कि उन्होंने अन्य विश्वविद्यालय के कर्मचारियों को आने की प्रेरणा भी प्रदान की। उक्त संगोष्ठी में उपर्युक्त के अतिरिक्त स्थानीय एवं अन्यस्थानीय लगभग ७० प्रतिभागी विद्वानों ने अपने-अपने शोधपत्र प्रस्तुत किये।

किसी भी कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये धन की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जब महाशय धर्मपाल जी, महाशयाँ दी हट्टी, दिल्ली, को यह विदित हुआ कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, में इस प्रकार की संगोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है तो उन्होंने उक्त

राष्ट्रीय संगोष्ठी
विषय- वैदिक अग्निहोत्र और ब्रह्माण्ड
12,13,14 मार्च 2004 • गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

डॉ. महेश विद्यालंकार, प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति, कैप्टन श्री देवरत्न आर्य, प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली, श्री सुभाष विद्यालंकार, पूर्व कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, प्रो. स्वतंत्र कुमार, कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, प्रो. ए.के. चौपड़ा, कुलसचिव गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, डॉ. गणेशदत्त शर्मा, पूर्व प्राचार्य एल.आर.पी.जी. कॉलेज, साहिबाबाद

गुरुकुल शोध भारती पत्रिका के प्रथम अंक का विमोचन करते हुए डॉ. महेश विद्यालंकार, कैप्टन श्री देवरत्न आर्य, महाशय धर्मपाल जी महाशयाँ दी हट्टी दिल्ली, प्रो. स्वतंत्र कुमार कुलपति

कार्यक्रम के उद्घाटनसत्र के भोजन के व्यय को प्रदान करने के लिये सहर्ष अपने हाथ आगे बढ़ा दिये। अपने व्यस्त कार्यक्रम में से समय मिलकर वे इस कार्यक्रम में उपस्थित हुए और कार्यक्रम की सफलता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने साल में होने वाली इस प्रकार की चार गोष्ठियों के व्ययभार को वहन करने की घोषणा की।

उक्त राष्ट्रिय संगोष्ठी के अवसर पर प्राच्यविद्या के क्षेत्र में अग्रणी गुरुकुल विश्वविद्यालय में प्राच्यविद्या की एक ऐसी शोध-पत्रिका की कमी पिछले काफी समय से अनुभव की जा रही थी, जो विश्वविद्यालय में होने वाले शोधकार्यों को मुखरित कर सके, विद्वत्समाज के समक्ष प्रस्तुत कर सके। इससे जहाँ महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों की व्यावहारिक धरातल पर स्वीकार्यता बढ़ेगी, वहीं विश्वविद्यालयस्तरीय शोधकार्यों से इस विश्वविद्यालय की उज्ज्वल आभा और भी अधिक उज्ज्वल होकर प्रतिभासित हो सकेगी। साथ ही इसके संस्थापकों ने जिस स्वप्न को आधार बनाकर इस विश्वविद्यालय की स्थापना की थी, उसको साकार करने में कुछ न कुछ मदद अवश्य मिलेगी।

इस शोधगोष्ठी को सफल बनाने में प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वैदिक शोधसंस्थान, ने संयोजक के रूप में, डॉ. देवराज खन्ना, रीडर, जन्तु एवं पर्यावरण विज्ञान विभाग, डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री, रीडर, वेद-विभाग, तथा डॉ. नवनीत, रीडर, वनस्पति एवं सूक्ष्मजीवविज्ञान विभाग, ने सहसंयोजक के रूप में कार्य किया।

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वैदिक शोध-संस्थान
गुरुकुलकाँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

यज्ञ से मधुमेह चिकित्सा पर डॉ. खन्ना के व्याख्यान

आज का युग विज्ञान का युग है। कोई भी व्यक्ति तब तक किसी धार्मिक अनुष्ठान का महत्त्व स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं होता, जब तक वह विज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** इस श्रुतिवाक्य का उपदेश देने वाले मनीषी भी प्रतिदिन यज्ञ नहीं करते। परन्तु प्रसन्नता का विषय है कि श्रद्धेय कुलपति जी एवं उपकुलपति जी, जो कि स्वयं प्रतिदिन यज्ञ करने वाले हैं, की प्रेरणा से इस विश्वविद्यालय में यज्ञ पर शोधकार्य की रूपरेखा तैयार की गयी और सौभाग्य से उसके परिणाम भी सार्थक आये। दिनांक-12-03-2004 से 14-03-2004 तक वैदिक अग्निहोत्र और ब्रह्माण्ड विषय आयोजित की गयी शोधगोष्ठी में पधारे कतिपय विद्वान् जब अपने गृहजनपद पहुँचे तो उन्होंने अपने महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय के अधिकारियों को उक्त शोध से अवगत कराया। वे लोग जो अब तक अग्निहोत्र को कर्मकाण्ड से अधिक नहीं मानते थे, उन्होंने **'यज्ञ से मधुमेह चिकित्सा'** विषय पर कार्य करने वाले विज्ञान संकाय के डॉ. देवराज खन्ना, रीडर, जन्तु एवं पर्यावरण विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, को इन्दौर विश्वविद्यालय एवं उससे सम्बद्ध होलकर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर एवं धार में उक्त विषय पर ६ अप्रैल २००४ से ९ अप्रैल २००४ तक व्याख्यान देने के लिये आमन्त्रित किया। इनके व्याख्यानों की चर्चा न केवल समाचारपत्र-पत्रिकाओं में हुई, अपितु स्थानीय टी.वी. चैनलों ने भी इनके व्याख्यानों का विस्तार से उल्लेख किया। डॉ. खन्ना के व्याख्यानों की सफलता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि अनेक स्थानों पर इनके द्वारा बताया गयी सामग्री से प्रतिदिन यज्ञ करने वाले संगठन आगे आये। बाद में डॉ. खन्ना ने भोपाल में भी एक प्रेस कान्फ्रेंस को सम्बोधित किया।

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वैदिक शोध-संस्थान
गुरुकुलकाँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार, में दीक्षान्त समारोह

दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार, में विगत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी दीक्षान्त समारोह बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया। समारोह की अध्यक्षता माननीया श्रीमती सुमित्रा महाजन सांसद राज्यसभा ने की। प्रो. स्वतन्त्र कुमार, कुलपति गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, इस कार्यक्रम में मुख्य अतिथि थे। कुलपति महोदय ने नवस्नातक ब्रह्मचारियों को अपने सम्बोधन में आर्यसमाज के उज्ज्वल अतीत का दिग्दर्शन कराते हुए **'वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है'** इस महान् वाक्य की पुष्टि अनेक वेदमन्त्रों से से की और कहा कि आज सारा विश्व भारत की पुरातन वैदिक संस्कृति की ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहा है। ब्रह्मचारियो! उन लोगों तक आपने अपनी आर्यसभ्यता को पहुँचाना है।

नवस्नातकों को आशीर्वाद प्रदान करने हेतु पधारे प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार, ने कहा कि गुरुकुल प्रणाली एवं डी.ए.वी. प्रणाली दोनों धारओं का उद्गम स्थान एक ही है, अब समय आगया है- दोनों धाराओं के संगम का। डी.ए.वी. प्रतीक है-भौतिक विद्या का और गुरुकुल प्रतीक-है अध्यात्मविद्या का। दोनों के मिलन से ही सम्पूर्णता बना करती है।

समारोह में डी.ए.वी. के प्रतिनिधि के रूप में पधारे श्री हरवंशलाल कपूर, सहमन्त्री आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली ने ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार, के इतिहास को बताते हुए बताया कि इस संस्था ने आर्य जगत् को सैकड़ों सुयोग्य धर्म प्रचारक, पुरोहित, लेखक, विद्वान्, उपदेशक तथा अध्यापक प्रदान किये हैं।

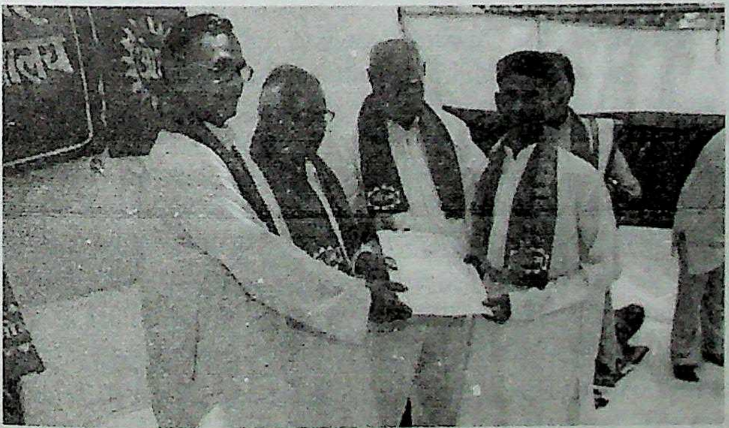

दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय के सर्वोत्तम छात्र कुणाल किशोर को विद्यावाचस्पति की उपाधि देते हुए गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय कुलपति प्रो. स्वतंत्र कुमार, आचार्य एवं उपकुलपति वेदप्रकाश शास्त्री, श्री हरबंशलाल कपूर संस्था के प्राचार्य डॉ. उमेश यादव उपस्थित हैं

संस्था के प्राचार्य डॉ. उमेश यादव ने नव स्नातक ब्रह्मचारियों को **स्वाध्यान्मा प्रमदः** आदि वैदिक वाक्यों के माध्यम से विदाई का उपदेश दिया और गुरुदक्षिणा के रूप में स्नातकों से यह आशा व्यक्त की कि आप सभी वैदिक सभ्यता और संस्कृति का प्रचार जनमानस तक अवश्य पहुँचायेंगे।

उपस्थित श्रोताओं, ब्राह्म महाविद्यालय के प्राचार्य, अध्यापक एवं संस्था के पदाधिकारियों ने गुरुकुल काँगड़ी से अलंकार उपाधि की सम्बद्धता हेतु माँग की। श्री हरवंशलाल कपूर तथा डी.ए.वी. के प्रधान श्री ज्ञानप्रकाश चोपड़ा ने भी इस माँग का अनुमोदन किया। गुरुकुल काँगड़ी से पधारे श्रद्धेय कुलपति जी एवं उपकुलपति जी ने पूरा विश्वास दिलाया कि इस माँग पर अवश्य ही सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जायेगा।

इस दीक्षान्त समारोह में पं. रामस्वरूप शास्त्री, अधिष्ठाता गुरुकुल आर्यनगर, पं. विश्वमित्र शास्त्री पुरोहित आर्य समाज हिसार, पत्रकार श्री प्रतापसिंह शास्त्री, श्री रणजीत सिंह आर्य आदि स्थानीय विचारकों ने अपने विचार प्रकट किये।

प्रस्तुति
डॉ. प्रमोद शा
दयानन्द ब्राह्म महाविद्याल
हिस

A Report

National Conference on Biotechnology

The national Conference on Biotechnology for Health, Agriculture and Industry was jointly organized by the Department of Botany and Microbiology, Gurukul Kangri University, Hardwar and The Academy of Plant Sciences of India, Muzaffarnagar on September 19, 20, 2003, at Gurukul Kangri University, Hardwar.

The Conference was inaugurated in the morning of 19th Sept. 2003 by Prof. Swatanter Kumar, Hon'ble Vice-Chancellor who kindled the lamp. The M.Sc. (Microbiology) students of Kanya Gurukul Mahavidyalaya, Hardwar, who were trained by Dr.(Mrs) Padma Singh, Head, Department of Microbiology, KGM, Hardwar; recited 'Manglacharn' and the 'Welcome song'. This was followed by a welcome song by two students of DAV Postgraduate College, Muzaffarnagar. The welcome address and report of the APSI was presented by Dr. S. K. Gupta, Secretary, APSI and Formerly Principal and Head of botany Department DAV (PG)College, Muzffarnagar. Hon'ble Vice-Chancellor awarded APSI Gold medals to Dr. Brahm Singh, Formerly Director DRDO, Prof. P. Kaushik of Department of Botany and Microbiology, Gurukul Kangri University, Hardwar; Dr. Dinesh Kumar, Professor of Botany and Director, Mass Communication in Science & Technology, University of Lucknow, Lucknow; Dr. Bijendra Singh, Assistant Professor of Horticulture, CSA University of Agriculture Science & Technology, Kanpur; Dr. P.P. Parihar, Department of Botany, JNV University, Jodhpur; Dr. P.K. Gupta, Technical Officer, Karnataka Agro. Chemicals (Multiplex), Ghaziabad, and Dr. P. Girdhar, Scientist, Plant Cell Biotechnology Division, Central Food Technological Research Institute, Mysore. Inaugural address was delivered by Prof. Swantanter Kumar, Hon'ble Vice Chancellor. The others who addressed the inaugural session were Prof. Ved Prakash Shastri, Pro-Vice-Chancellor, Prof. S.L. Singh, Principal College of Science, Gurukul Kangri University, Hardwar; Prof. B.D. Kaushik, Head, Division of Microbiology, I.A.R.I., New Delhi; and Shri Jagdish Bhatiya, Chairman, Municipal Board, Muzaffarnagar. The stage was conducted by Prof. P. Kaushik and vote of thanks was given by Dr. (Mrs.) Padma Singh .

This was followed by 'National Anthem' and 'Shanti Path'. After lunch in Senate Hall the technical sessions started exactly at 2 P.M. with a key note lecture entitled " Role of Microbial consortia in supplementing N & P in rice- wheat cropping system" by Prof. B.D. Kaushik, Head of Microbiology Division of I.A.R.I., New Delhi. Second invited lecture was by Prof. Dinesh Kumar of Lucknow University, Lucknow, on " Indian Gymnosperms- A polynological approach" and the third invited lecture was by Dr. A.K.Jain of O.N.G.C., Dehradun on " Application of Biotechnology in Petroleum exploration".

The Chair persons for the session were Dr. Brahma Singh, Formerly Director DRDO Delhi, now at Pantnagar, Prof. B. R. Pandit of Ecology Division of Bhavnagar University, Bhavnagar (Gujrat) and the Rapportier was Dr. Bhasker Punjani of Talod (Gujrat).

On 19.09.03 the second technical session was chaired by Prof. Ganesh Kumar and the Rapportier was Dr.(Mrs.) Padma Singh of KGM, Hardwar. The papers in the session were by Dr. Pradeep Parihar of J.N.V. University, Jodhpur, on " Antibacterial – activity of Actinoptenis radiata (swarts) Link, by Dr. R.S.K. Tiwari of Indira Gandhi Krishi Vishwavidyalaya, Bilaspur (C.G.) on In vitro efficacy of new fungicides, by Dr. D. M. Panchbhai of department of Horticulture Dr. P.D.K. Vidyapeeth, Akola on " Tissue culture studies in Momordica dioica, by Dr. P. Girdhar of CFTR, Mysore on " Somatic embryogenesis in Coffea arabica and Coffea canephora" by Dr. P. K. Gupta of Allahabad on " TTS, Acidity and Ascorbic acid pigment in tomato". After paper presentation, the delegates enjoyed the glimpse of the holy Ganges, one of the mightiest rivers of the world.

On September 20, 2003 .The Chief guest was Dr. Mahavir Agarwal, Registrar, GKV, The conference started with a keynote lecture by Prof. B. R. Pandit on "Harvesting rain water" followed by some papers. This session was chaired by Dr. A. K. Bhargawa and Dr. S. R. Dhawan.

2nd technical session on 20-09-03 was chaired by Dr. K. M. Patel, Principal, Municipal college of Art and Science, Mehsana (Gujrat). Co-chair person was Dr. S. B. Gupta and Rapportires were Dr. G. R. Patel and D. M. Panchbhai. Dr.(Mrs.) Padma Singh presented a paper on 'Nosocomial Infections' which was applauded by the Chairman. There were many papers, including those by the research students of KGM, Hardwar. Over 100 delegates participated form all over the country.

The medal for the best paper went to Mr. Nishant Rai, a Ph.D. student of Gurukul Kangri University working at I.V.R.I., Bareilly and that for the best poster went to Miss Reshu of M. S. College, Saharanpur.

Dr. S. K. Gupta
Secretary, APSI
(Formerly Principal &
Head, Department of Botany
DAV Post Graduate College)
657/6 South Civil Lines, Muzaffarnagar

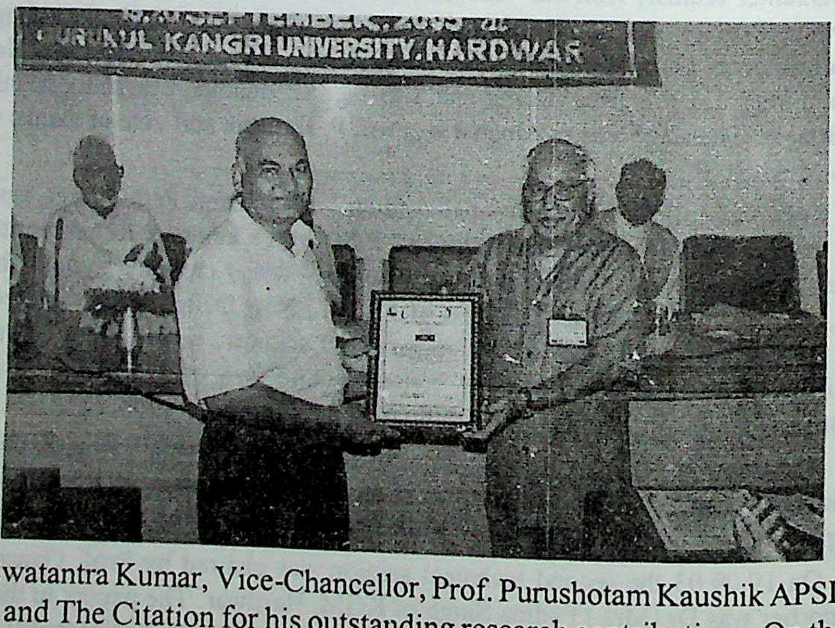

Prof. Swatantra Kumar, Vice-Chancellor, Prof. Purushotam Kaushik APSI Gold Medal and The Citation for his outstanding research contributions. On the dais Prof. S.L. Singh, Principal College of Science and Mr. Bhatia, Chairman, Municipal Board, Muzaffarnagar.

रजि0 पंजीकरण सं0 : एल - 1277

ओ३म्

गुरुकुल - पत्रिका

मई - जुलाई 2004

सम्पादक

डॉ. महावीर

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार - २४९४०४

सम्पादक-मण्डल

संरक्षक मण्डल	**श्री सुदर्शन शर्मा** कुलाधिपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार **प्रो. स्वतन्त्र कुमार** कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार **प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री** आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
सम्पादक	**डॉ. महावीर** प्रोफेसर संस्कृत विभाग
सहसम्पादक	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री, रीडर, वेदविभाग
सहसम्पादक	डॉ. सत्यदेव निगमालङ्कार, रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान
व्यवसाय-प्रबन्धक	डॉ. जगदीश विद्यालङ्कार पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
प्रकाशक	प्रो. अशोक कुमार चोपड़ा कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
मूल्य	१०० रुपये वार्षिक
विक्रमी सम्वत्	**२०६१**

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334-245975

विषयानुक्रमणिका

1. वेदमञ्जरी	आचार्य रामनाथ वेदालंकार	1
2. सम्पादकीय	डॉ. महावीर	2
3. सामवेद के निज मन्त्रों से प्रकीर्ण देवता मन्त्र सप्तकम्	मनोहर विद्यालंकार	4
4. स्वामी दयानन्द सरस्वती का योगदान	प्रो0 अमरनाथ पाण्डेय	8
5. व्रात्य की आसन्दी	आचार्य डॉ0 रामनाथ वेदालंकार	14
6. ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।।	वेदरत्न प्रो0 राम प्रसाद वेदालंकार	19
7. कालिदाससूक्तीनां याथार्थ्यम्	डॉ0 महावीर अग्रवाल:	20
8. मेरी दृष्टि में आचार्य रामदेव जी	स्व0 श्री पं0 चन्द्रकेतु जी	23
9. अतिथि की 'गोघ्न' संज्ञा	वेद प्रकाश गर्ग	29
10. वैदिक अनुसन्धानपरम्परा विवेचनम्	डा0 बलदेव मेहरा	32
11. गीता और उपनिषदों में उपलब्ध सांख्य सिद्धान्तों की समीक्षा	डॉ0 सरिता भटनागर	37
12. ऋग्वेद में 'अञ्जू' धातु के प्रयोग	डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार	42
13. मानसिक स्वास्थ्य एवं योग	डॉ. ईश्वर भारद्वाज	49
14. अभाव मीमांसा	डॉ0 शिव शंकर मिश्र	55
15. कालिदास के रघुवंश में नामकरण का युक्त्यौचित्य	डॉ. (श्रीमती) मंजुल गुप्ता	63
16. आदमी ना रहे	महावीर 'नीर' विद्यालंकार	70
17. REFELECTION OF VEDAS IN THE MAHABHARATA	डॉ0 नरसिंह चरण पण्डा	71
18. वैदिक यज्ञ एवं भारतीय संस्कृति	डॉ0 राकेश शर्मा एवं डॉ0 रश्मि सिन्हा	89
19. प्राचीन भारतीय सैनिक शिक्षा में संस्कृत की अनिवार्यता : वासिष्ठी धनुर्वेद संहिता के परिप्रेक्ष्य में	डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री	92
20. भाषा - दर्शन	डॉ0 हन्सी बिष्ट	94

वेदमञ्जरी

परिचिनुहि के आर्याः के च दस्यवः

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत् ता ते सधमादेषु चाकन।।

ऋग् 1.51.8

ऋषिः सव्यः आङ्गिरसः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** जगती।

हे इन्द्र राजन्! **(आर्यान्)** श्रेष्ठान् **(ये च दस्यवः)** ये च दुर्जनाः सन्ति तान् **(विजानीहि)** विश्लेषणपूर्वकं परिचिनुहि। **(शासत्)** शासनं कुर्वन् त्वम् **(बर्हिष्मते)** राष्ट्रसेवारूपस्य यज्ञस्य अनुष्ठात्रे **(अव्रतान्)** व्रतहीनान् **(रन्धय)** दण्डय। **(शाकी)** शक्तिशली त्वम् **(यजमानस्य)** यज्ञसम्पादकस्य **(चोदिता)** प्रेरकः **(भव)** एधि। **(ते)** तव **(ता)** तानि **(विश्वा इत्)** विश्वान्येव कर्माणि **(सधमादेषु)** सह माद्यन्ति हृष्यन्ति जना यत्र तेषु उत्सवेषु **(चाकन)** कामये।

हे इन्द्र! अयि राजन्! यदि त्वं स्वकीयसाम्राज्यस्य सफलोऽधिनायको भवितुमिच्छसि, तर्हि सर्वतः पूर्वं त्वया आर्येषु दस्युषु च विवेकः करणीयः। दस्यवोऽपि प्रायेण छलप्रपञ्चतस्तादृशं रूपं धारयन्ति येन ते परिचेतुं न शक्यन्ते। बाह्यं वेषभूषादिकम् आचारव्यवहारादिकं च आर्यत्वस्य दस्युत्वस्य च परिचायकानि न सन्ति। त्वया प्रतिजनम् तदीयहृदयेषु तदीयप्रच्छन्नकार्येषु च दृष्टिनिक्षेपः करणीयः। आर्यस्य हृदयं सरलं भवति, तस्य वाचि कर्मणि च, अन्तर्बहिश्च कोऽपि भेदो न जायते, किञ्चासौ सेवाव्रती भवति। तद्विपरीतं दस्युः कपटहृदयः, अन्तर्बहिश्च भिन्नः, सेवाव्रतहीनश्च दृश्यते। राष्ट्रे त्वम् आर्यान् दस्यूंश्च विविच्य व्रतहीनान् दण्डय, येन राष्ट्र-सेवारूपस्य यज्ञस्य अनुष्ठातारः आर्यजनास्तव राज्ये बहुलाः परिपुष्टाश्च सन्तु।

हे राष्ट्रनायक! त्वं शक्तो भव, स्वकीयां सैन्यशक्तिं, प्रभावशक्तिं, राज्यकोषशक्तिं च सुदृढ़ाँ कुरु, येन त्वं राज्यान्तर्गतान् बाह्यांश्च शत्रून् मर्दयितुं शक्नुयाः। तव राज्ये ये यज्ञशीला जनाः सन्ति, तेषां त्वं प्रेरणाप्रदायकः उत्साहवर्धकश्च भव। अन्यथा यदि त्वं सेवाव्रतिनो राष्ट्रभक्तान् धर्मपरायणान् सन्मार्गगामिनः सदाचारिणो दूरदर्शिनो विवेकिनो राष्ट्रोत्थाने सहायकान् उपेक्षसे, तर्हि दुष्टप्रवत्तिमन्तो जनाः शिर उत्थापयन्ति, येन तव राज्यं विशृङ्खलितं भवति। अतः सावधानो भूत्वा त्वं कर्तव्यं पालय, अकर्तव्यं च परित्यज। तदा त्वदीयं राज्यं चिरविजयि चिरस्थायि च भूत्वा चिरप्रशंसितं संपत्स्यते। तदा वयं प्रजाजना उत्सवं रचयिष्यामः, संगोष्ठीनाम् आयोजनं विधास्यामः, तत्र च तव स्वागतगीतानि गास्यामः, तवाभिनन्दनं करिष्यामः, तव गौरवगानं कीर्तयिष्यामः।

हे आत्मन्! त्वमपि इन्द्रोऽसि, त्वं शरीरराष्ट्रस्य राजा वर्तसे। तवाभयन्तरमपि आर्यविचारा दस्युविचाराश्च उद्भवन्ति, तेषु त्वं विवेकं कुरु। दस्युविचारेषु वज्रं पातय आर्यविचारांश्च समुन्नय। तव यशोगानं भविष्यति।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

सम्पादकीय

काल-चक्र सतत् गतिशील रहता है। वह घूमता रहता है कभी रुकता नहीं, कहीं थमता नहीं, गंगा की जलधारा बहती रहती है, वायु कभी रुकने का नाम नहीं लेता। मानव जाति का उत्थान पतन, अमावस्या की तमिस्रा और शरद् पूर्णिमा की ज्योत्स्ना, बसन्त का मृदु हास और शिशिर का पतझड़, हंसता, खेलता, बचपन और चिन्ता जराक्रान्त वृद्धत्व, ये सब कालचक्र की गतिशीलता के परिणाम है। कल तक जो राजसिंहासन पर विराजमान था; आज चौराहे पर अकेला खड़ा है। कल तक जो सामान्य भीड़ का हिस्सा था वह राजमहल का सुख भोग रहा है। परिवर्तन प्रकृति का सहज नियम है। हम अपनी आंखों से प्रतिदिन परिवर्तन को देखते है किन्तु उस पर विश्वास नहीं करते, उससे जीवन का कोई सन्देश प्राप्त नहीं कर पाते। जो इस सार्वभौम सत्य को समझकर हृदय से स्वीकार कर लेते हैं वे मानव, महामानव और विश्ववन्द्य बन जाते हैं। इतिहास के पृष्ठों पर उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित हो जाता है, वे राष्ट्र के प्रकाश स्तम्भ बनकर सर्वत्र प्रकाश फैलाते है। अपने चरित्र, ज्ञान और सुकर्मों की सुरभि से भूमण्डल को सुरभित कर देते है। वे मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, योगेश्वर श्रीकृष्ण, भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, जगद्गुरु शंकराचार्य, महर्षि दयानन्द सरस्वती, क्रान्तिवीर भगतसिंह, अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द बन कर जन-जन को कल्याण मार्ग का पथिक बनने का अमृतोपदेश प्रदान करते है। जो समय का महत्त्व नहीं समझते, खाओ, पीओ और मोज करो Eat, drink and be marry को ही सर्वोच्च जीवन दर्शन मानकर तदनुसार जीवन जीते हैं, वे मानो चन्दन के समान महकते हुए मानव जीवनोद्यान को जलाकर कोयला बना रहे हैं।

विविध विद्याओं की प्राप्ति, साहित्य, संगीत और कलाओं का अभ्यास, धार्मिक पुस्तकों का स्वाध्याय, आचार्यो के मधुरोपदेश, यज्ञ, योगादि क्रियायें ये सब हमें एक अच्छा मानव बनने की प्रेरणा देते हैं। काम, क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित कर और ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि से रहित शान्त और शुद्ध मन को परसेवा, परोपकार अथवा आनन्द स्वरूप परमपिता परमात्मा में लगाना और परमानन्द की प्राप्ति यही मानव जीवन का चरमोद्देश्य है। गुरुकुलीय शिक्षा मानव को इस लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना अमरहुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द ने आज से 102 वर्ष पूर्व गंगा के पावन तटपर इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए की थी। आज वह गुरुकुल रूपी वृक्ष, वटवृक्ष का रुप धारण कर चुका है। प्राचीन और अर्वाचीन विषयों की उच्च शिक्षा प्रदान कर संपूर्ण मानव के निर्माण में इस पवित्र शिक्षा संस्थान के

उपाध्यायगण संलग्न है। कुलाधिपति माननीय श्री सुदर्शन जी शर्मा, कुलपति प्रो0 स्वतन्त्र कुमार जी के सुयोग मार्ग दर्शन में तथा उपकुलपति प्रो0 वेदप्रकाश जी शास्त्री के ब्रह्मत्व में सारस्वत-अनुष्ठानं निरन्तर चल रहा है। सत्यं वद धर्मं चर, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, राष्ट्र देवो भव' का शाश्वत् अमृत सन्देश गुरुकुल के कण-कण में व्याप्त है। गुरुकुल कांगड़ी वि0वि0 में प्रवेश प्राप्त करने वाले प्रत्येक सौभाग्यशाली छात्र से यह अपेक्षा की जाती है कि वह इस सन्देश को सुनने का प्रयत्न करे और उसे अपने जीवन का अविभाज्य अंग बना लें।

गुरुकुल पत्रिका परिवार की ओर से मैं नव छात्रों का हार्दिक स्वागत और अभिनन्दन करते हुए उनके अन्दर छिपी हुई प्रतिभा के जागरण की प्रभु से प्रार्थना करता हूँ। गुरुकुल पत्रिका अपने शैशव काल से वेद, दर्शन, साहित्यादि में निहित ज्ञानालोक से सम्पूर्ण वातावरण को आलोकित करने का प्रयत्न करती चली आ रही है।

आज इस अंक को अपने प्रबुद्ध पाठकों के करकमलों में अर्पित करते हुए सरस्वती-पुत्रों का आह्वान करता हूँ कि वे अपनी मौलिक रचनाएं गुरुकुल पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेजें ताकि इस पत्रिका के माध्यम से उनकी सुवास दिशाओं में व्याप्त हो जाये।

सामवेद के निज मन्त्रों से
प्रकीर्ण देवता मन्त्र सप्तकम्

सामवेद के निज मन्त्रों से पृथक् पृथक् देवता वाले सात मन्त्र

1. प्राण – साधना द्वारा वीर्यरक्षा और परमेश्वर का ध्यान करने से –

शरीर दीप्त, मन शान्त और आत्मा तृप्त होते हैं –

कुष्ठः को वामश्विना तपानो देवा मर्त्यः।
घ्नता वामश्नया क्षपमाणोऽशुनेत्थमु आद्वन्यथा ।। साम पू0 305

ऋषिः – पौर आत्रेयः देवता – अश्विनौ। छन्दः – बृहती।

प्रश्न – कुष्ठः कः अश्विनौ वां तपानः? हे प्राणापानो! पृथिवीवासी कौन मनुष्य आप दोनों को प्रदीप्त करके ऐश्वर्य प्राप्त करता है?

उत्तर – (कः) सच्चे सुख की कामना करने वाला कोई विरला ही, ऐसा करता है।

कः – कमिति सुखनाम, नि. 3 – 6 तत् कामयते इति कः।

शब्दार्थ – हे (अश्विनौ देवौ) दिव्य प्राण और अपान! (यथा) जैसे (कुष्ठः आद्वन् मर्त्यः) पृथ्वीवासी, अमाभोजी सान्नय मनुष्य (घ्नता – अश्नया) प्राण हरने वाली भूख से (तपानः) संतप्त हुवा हुवा (अंशुना) भोजन के स्वल्प अंश से भी राहत (शांति) अनुभव करता है, (इत्थं उ) ऐसे ही (तपानः) मन और बुद्धि के संतापों से संतप्त हुवा प्राणसाधक (क्षपमाणः) चक्रों में प्राण का संयम करता हुवा (वाम्घ्नता अंशुना) शरीर के रोगों, मन की विकलता और बुद्धि की कुण्ठता को नष्ट करने वाले, आप द्वारा रक्षित सोम के अंश और उसकी दीप्ति से संतोष और तृप्ति अनुभव करता है।

अर्थपोषण –

तपानः – तप संतापे। घ्नता – हन् हिंसायाम् प्राण हरने वाली – नष्ट करने वाली अश्नया – अश्नम् – भोजनम्, अश्ना भूख – अश भोजने। आद्वन् – अन्नभोजी, अद् भक्षणे। अंशुना – अंशुः – सोम (वीर्य), किरण, चमक, अंश। क्षपमाणः – क्षप संयमे।

2. दानी मुझे पाते हैं, और भोगियों को मैं खा जाता हूँ –

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेवमावद्, अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि।। साम पू0 594

ऋषिः – आत्मा। देवता – अन्नम् (आत्मा)। छन्दः – त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ – (अहम्) मैं परमात्मा (ऋतस्य प्रथमजाः अस्मि) सत्यज्ञान और अटल नियमों का सर्वप्रथम

कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार को कर्नल का रैंक प्रदान करते हुए ग्रुप कमाण्डर एस०के० आहूजा, जिलाधिकारी हरिद्वार आर०के० सुधांशु, कमान अधिकारी ले० कर्नल नाचप्पा

भारत सरकार द्वारा कर्नल रैक की मानद उपाधि का प्रमाण पत्र कुलपति कर्नल स्वतन्त्र कुमार को देते हुए ग्रुप

उत्पत्तिकर्ता हूँ। (देवेभ्यः पूर्वम्) सूर्य, चन्द्र, भूः, अग्नि, वायु, आकाश आदि दिव्य पदार्थों से पूर्व विद्यमान था, या हूँ 'हिरण्यगर्भः समवर्ततागे्र'। (अमृतस्य नाम) जीवन, जीवट और मोक्ष का तुम्हारी ओर झुकाने वाला प्रदाता हूँ। (यः मा ददाति) जो साधक मेरे प्रति आत्मार्पण करता है, अथवा मेरे निमित्त जरूरत मन्दों की आवश्यकताओं को पूरा करता है (स इत् एव मा अवत्) वही मुझे प्राप्त करता है, और रोग, शोक, पाप से सुरक्षित हो जाता है। (अहम् अन्नम्) मैं ऐसे साधक का आध्यात्मिक अन्न बन जाता हूँ इसके विपरीत (अन्नं अदन्तं अद्मि) प्राकृतिक भोगों को स्वाद पूर्वक खाने वाले को खा जाता हूँ अर्थात् उन भोगी पुरुषों को भोगों के फलस्वरूप रुलाते हुए नष्ट कर देता हूँ।

सर्वानुक्रमणीकार ने इस मन्त्र का देवता अन्न दिया है, किन्तु मुझे इस मन्त्र का देवता आत्मा अधिक समीचीन लगता है। या अन्न का अर्थ अत्ता समझना चाहिये।

3. रात्रि विश्राम देकर सारे जगत् का कल्याण करती है -

आ प्रागाद् भद्रा यवतिरह्नः केतून्त्समीर्त्सति।
अभूद् भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री।। साम पू0 608

ऋषिः - वामदेवः देवता - रात्रिः । छन्दः - अनुष्टुप।

शब्दार्थ - (भद्रा) कल्याण करने वाली (युवतिः) दुःखों और कष्टों को भुलाकर, सबको समान रूप से विश्राम प्रदायिनी (रात्री) सुख प्रदात्री रात्री (प्रागात्) आ गई है। यह (अह्नःकेतून्) दिन में अनुभव होने वाले शारीरिक कष्टप्रद किरणों (अनुभूतियों) को तथा मानसिक विकलताओं को और धनी, निर्धन; राजा रंक, स्वामी सेवक आदि भेदभावों को (समीर्त्सति) समेट देती है, दिन में अनुभव होने वाले कष्ट और जंजाल दाखिल दफ्तर हो जाते हैं। इस प्रकार यह (विश्वस्य जगतः) संपूर्ण जंगम जगत् की (निवेशनी) विश्रामदायिनी और (भद्रा) कल्याणकारिणी (अभूत) हो गई है। (अह्नः केतून्) का अर्थ - अहंकार के कारण उत्पन्न भेदभाव के विचारों को - किया है हरिशरण सि0अन्ने। अहन्=अ+हन् जिसे नष्ट या समाप्त करना अत्यन्त कठिन है=अहंकार।

4. देवों की कृपा से जिस सभा में बोलूं, यशस्वी बनूं -

यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती।
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रति मुच्यताम्।
यशस्वी - अस्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम्।। साम पू0 611

ऋषिः - वामदेवः। देवता - लिंगोक्ताः। छन्दः - महोपङ्क्तिः।

शब्दार्थ - (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक या माता और पिता या सभा और समिति, या मस्तिष्क और शरीर, (मा यशः) मुझे यश प्राप्त कराएं। (इन्द्रबृहस्पती) विद्युत् और वायु, या क्षत्रिय और ब्राह्मण, (मा यशः) मुझे यश प्राप्त कराएं। (भगस्य यशः मा विन्दतु) ऐश्वर्य, वीर्य, कीर्ति, श्री ज्ञान और

वैराग्य से प्राप्त होने वाला यश मुझे प्राप्त हो। (यशो मा प्रतिमुच्यताम्) मुझे कोई यश छोड़कर न जावे, सब प्रकार के यश मुझसे बंधे रहे। (अस्याः संसदः अहम्) मैं जिस संसद या सभा में जाऊँ (प्रवदिता स्याम्) वहाँ प्रकृष्ट वक्ता समझा जाऊँ। सभा में सम्मिलित होने वाले वक्ताओं को, मन ही मन यह मन्त्र जपते रहना चाहिये। इस से आत्म विश्वास उत्पन्न होता है, और सफलता मिलती है।

5. मुझे हिरण्य, गौ, सत्य और ज्ञान के सदृश तेज और आकर्षण प्राप्त हो –

यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत।
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चस्तेन मा सं सृजामसि।। साम पू0 624

ऋषिः – वामदेवः । देवता - आत्मन आशीः। छन्दः अनुष्टुप्।

शब्दार्थ – सुवर्ण, गाय, सत्य और ज्ञान में जो तेज और आकर्षण है, उससे मुझे संयुक्त कीजिये।

(हिरण्यस्य) वीर्य शक्ति का (गवाम्) इन्द्रियों का (सत्य) सत्य-कथन और आचार का तथा (ब्रह्मणः) ज्ञान और परमात्म विश्वास का जो (वर्चः) सामर्थ्य है, (तेन) उससे (मा संसृजामसि) मुझे संयुक्त कीजिये; हम भी (मा) अपने को (संसृजामसि) उससे संयुक्त होने का प्रयत्न करते हैं।

6. प्रत्येक परिस्थिति रमणयोग्य है, उससे लाभ उठाओ, उसे कोसो नहीं –

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिरः इन्नु रन्त्यः।। साम पू0 616

ऋषिः वामदेवः। देवता - ऋतुः। छन्द :- पङ्क्तिः।

शब्दार्थ – (वसन्तः) बसन्त ऋतु (इत् नु) निश्चय ही (रन्त्यः) रमणीय और सुन्दर है, इसमें फूलों की सुवास व्याप्त रहती है। (ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः) ग्रीष्म ऋतु भी निश्चय ही रमणीय और वाञ्छनीय है, ग्रीष्म ऋतु न तपे तो न वर्षा हो, न अन्न हो। गृह विहीन के लिये यही ऋतु सब से आरामदेह है। सारी गन्दगी को नष्ट कर देती है। (वर्षाणि) इस के बाद वर्षा ऋतु आती है, उसके तो कहने ही क्या हैं? वर्षा न हो तो अन्न न हो और सब भूखे मर जाएं। अतः यह सर्वाधिक रमणीय है लोकोक्ति इस बात की पुष्टि करती है 'बरसात के अन्धे को हरा ही हरा दीखता है। (अनु) तदनन्तर (शरदः हेमन्तः शिशिरः) शरद हेमन्त और शिशिर आती हैं (इत् नु रन्त्यः) इनमें से भी प्रत्येक रमणीय है। इन्हीं में मार्गशीर्षमास है, जिसके लिये गीता में कहा है 'मासानां मार्गशीर्षोऽस्मि'। इसी में माघ और फाल्गुन है, जिन्हें वेद ने विवाह के मास माना है। विवाह न हो तो न आकर्षण रहे और न सृष्टि चले। 'ऋतुं न निन्द्यात् तद्व्रतम्'। छान्दोग्य 2-16-2

निष्कर्ष – किसी ऋतु या परिस्थिति को कोसना नहीं चाहिये। उसकी विशेषता से लाभ उठा कर प्रसन्न रहते हुए जगन्निर्माता का आभार मानना चाहिये।

7. गौ सदा पवित्र है, और देव सदा निष्पाप; दोनों विश्व को –

सदा गावः शुचयो विश्वधायसः सदा देवा अरेपसः ।। साम पू0 442

ऋषिः – अवस्युः। देवता – गावः देवाः वा (विश्वेदेवाः)। छन्दः – द्विपदाविराट्।

शब्दार्थ – (गावः) गायें, सूर्यकिरणें और वेदवाणियाँ (विश्वधायसः) सब को अपना रस पिलाकर सबको धारण करती हैं तथा (शुचयः) पवित्र और पवित्रता कारक है। (सदा देवा अरेपसः) ज्ञान, बल या धन का दान करने वाले सदा दोष रहित और पाप शून्य रहते हैं। क्योंकि उनकी नीयत में हित होता है।

शुचय :- शुची अभिषवे (मंथने), शुचिर, पूतीभावे। काशकृत्स्न।

शेष – पुरानी परम्परा में इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवाः माना गया है। किन्तु मन्त्र में गावः और देवाः शब्द आए हैं। ये दोनों अन्यत्र भी देवता हैं। इसलिये इन दोनों को या इनमें से किसी एक को ही देवता मानना चाहिये।

मनोहर विद्यालंकार

अगर तुम वैदिक आचार और विचार की रक्षा करना चाहते हो तो यह वस्तु याद रखो कि तुम्हे पग-पग पर रुपये मिल जायेंगे, मगर ब्रह्मचर्य का नीति का पाया यहाँ पर न होगा तो तुम्हारा गुरुकुल मिट्टी में मिल जाएगा। इस भूमि के तो आत्मा नहीं है। इसकी आत्मा तुम्ही हो। अगर तुम आत्मबल खो दोगे और 'उदर निमित्तं बहुकृत वेषः' जैसे बन जाओगे तो तुम्हारी शिक्षा बेकार हो जाएगी।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी

स्वामी दयानन्द सरस्वती का योगदान

स्वामी दयानन्द सरस्वती हमारे देश की महान् विभूति हैं। हमारे धर्म-दर्शन, हमारी संस्कृति तथा हमारे इतिहास में उनका योगदान प्रशस्त है। उन्होंने समाज का प्रबोधन किया और उन तत्वों का प्रकाशन किया, जो स्मृति के पटल से लुप्त हो गये थे। उन्होंने उस साहित्य के मर्म का उद्घाटन किया, उस दार्शनिक रहस्य का उन्मीलन किया, उस परम्परा के मूल का अनुसन्धान किया, उस चिन्तन-स्वरूप की व्याख्या की, उस पाण्डित्य तथा शैली का सूत्रपात किया, मानव के उस गूढ़ पक्ष का उपस्थापन किया, अध्ययन तथा मनन की उस भूमिका की रचना की, समाज के परिष्कार के लिए उन सूत्रों का संग्रह किया, भारतीय साहित्य, परम्परा तथा संस्कृति के उस आधार का निर्माण किया, जिसका साक्षात्कार भारत के मानस के लिए आवश्यक था, जिसका मनन देश के कल्याण के लिए नितान्त अपेक्षित था, जो हमारे पुरातन तथा नवीन के कमनीय समन्वय के लिए पूर्णत: उपयोगी था। स्वामी जी ने उन बिन्दुओं को प्रकाशित किया, जिनसे हमारी समग्र परम्परा की व्याख्या हो जाती है।

यद्यपि स्वामी जी का साहित्य विशाल है, किन्तु यहाँ संक्षेप में मौलिक तत्वों की उपस्थापना की जा रही है, जिससे उनके योगदान के सूत्र की मीमांसा तथा विभावना की जा सके।

स्वामी जी ने देखा कि भारतीय समुदाय अनेक मत-मतान्तरों में उलझा हुआ है। वह अपने मूल को भूल चुका है। यही कारण है कि उसमें भेद उत्पन्न हो गया है, उसका चिन्तन दोष-ग्रस्त हो गया है, अपनी परम्परा को समझने की उसकी शक्ति समाप्त हो गयी है। उन्होंने मूल को भारतीय मानस के सम्मुख प्रस्तुत किया और उसकी व्याख्या की । उन्होंने कहा कि वेद ही हमारी परम सम्पत्ति है। उसका साक्षात्कार नितान्त आवश्यक है । हमारा साहित्य, हमारा धर्म, हमारा दर्शन वहीं से चलता है। यदि उसकी समीचीन व्याख्या हो जाती है, तो समग्र इतिहास तथा परम्परा की व्याख्या हो जाएगी। वेद सनातन है, उसमें सारा रहस्य , समस्त ज्ञान तथा समस्त विज्ञान विद्यमान है। वही हमारा मूल है। उसे जानने वाला सब- कुछ जान जाता है। सामान्य साहित्य में जो हमारी रुचि है, वह अभीष्ट को प्रदान नहीं कर सकती । स्वामी जी ने यह भी देखा कि विद्वानों में वेदाध्ययन के प्रति कम रुचि है। वे अन्य साहित्य के अध्ययन में लगे रहते हैं, किन्तु वेद का अध्ययन नहीं करते । जो मूल को नहीं जान सकेगा, वह विकास-क्रम को नहीं जान सकेगा। वह सत्य का दर्शन तो कर नहीं सकता। स्वामी जी ने इस रहस्य का साक्षात्कार किया और इसे अपने व्याख्यानों, शास्त्रार्थों तथा ग्रन्थों में प्रकाशित किया । वे केवल व्याख्यानों के द्वारा ही अपने विचारों का प्रचार नहीं कर रहे थे, केवल शास्त्रार्थों में ही अपना समय नहीं बिता रहे थे, केवल ग्रन्थ निर्माण में ही नहीं प्रवृत्त थे। वे व्याख्यान, शास्त्रार्थ तथा ग्रन्थ -प्रणयन - इन तीनों का समन्वय कर अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर रहे थे । इन तीनों में उनकी मेधा, उनकी तर्कविद्या (Dialectics)तथा उनके व्यापक पाण्डित्य का दर्शन किया जा सकता है। इन तीनों साधनों से उन्होंने वेद की महिमा का उपस्थापन किया। इससे न केवल विद्वत्मण्डल, अपितु सामान्य जनसमुदाय भी वेद की ओर आकृष्ट हुआ और वेद के अध्ययन की परम्परा चल पड़ी। आज वेद के अध्ययन की जो परम्परा चल रही है, उसके प्रचार- प्रसार की जो गति है, उसमें स्वामी जी का महत्वपूर्ण योगदान है। यदि स्वामी जी केवल वेदभाष्य की रचना करते, तो वे एक विशेष

बायें से दायें- कार्यक्रम संचालक कैप्टन डा० राकेश शर्मा, आचार्य एवं उपकुलपति प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री, श्रीमती कुलपति, ग्रुप कमाण्डर कर्नल एस०के० आहूजा, कुलपति कर्नल स्वतन्त्र कुमार, कमान अधिकारी ले० कर्नल नाचप्पा, जिलाधिकारी हरिद्वार श्री आर०के० सुधांशु, वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक अभिनव कुमार

बायें से दायें- कुलपति कर्नल स्वतन्त्र कुमार, कमान अधिकारी ले० कर्नल नाचप्पा, जिलाधिकारी हरिद्वार श्री आर०के०

व्याख्याविज्ञान के ही जन्मदाता माने जाते और शायद इस दृष्टि से वे अपने लक्ष्य की पूर्ति न कर पाते जिसकी पूर्ति करने में वे अपने अन्य साधनों के सहयोग से सफल हुए, उन्होंने यह देखा कि वेद का प्रचार -प्रसार तथा जनमानस का परिष्कार केवल भाष्यप्रणयन से नहीं हो सकता, क्योंकि भाष्यप्रणयन से एक अंश का तो पोषण हो सकता है, किन्तु सर्वाङ्गीण पोषण नहीं होगा। उस सर्वाङ्गीण पोषण के लिए कुछ और अपेक्षित है। दूसरी बात यह भी है कि केवल ज्ञान के धरातल पर परिष्कार हो जाने से अभीष्ट की सिद्धि नहीं होने वाली है। उन्होंने कहा कि वेद के पहले कोई साहित्य नहीं है, वही हमारे लिए प्रमाण है। वह स्वतः प्रमाण है। "जैसे चारों वेद ईश्वर -कृत हैं, वैसे ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ चारों ब्राह्मण, शिक्षा , कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छः वेदों के अङ्ग, मीमांसादि छः शास्त्र, वेदों के उपाङ्ग आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थवेद ये चार वेदों के उपवेद सब ऋषि- मुनि के किये ग्रन्थ हैं। इनमें भी जो जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो, उस उसको छोड़ देना, क्योंकि वेद ईश्वर-कृत होने से निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद से ही होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परतः प्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।"- सत्यार्थ प्रकाश, पृ0 52 (दयानन्द संस्थान नई दिल्ली)

उन्होंने जो कुछ भी प्रतिपादन किया, उसका आधार वेद से लिया । वे जो कुछ भी कहते थे, उसे वेद के आधार पर ही कहते थे। वेद का उपदेश परमेश्वर ने किया है। वेदविद्या सर्वसुख का प्रकाश करने वाली सर्वविद्यामयी वेदविद्या है। ब्रह्माण्ड़ के उत्तम पदार्थों की प्राप्ति से जितना सुख मिलता है, वह सुख विद्या से प्राप्त सुख के हजारवें अंश के बराबर भी नहीं हो सकता। - ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृ0 11 (आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली)।

स्वामी जी ने वेदभाष्य प्रणयन के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की है। उन्होंने लिखा है कि हे परमेश्वर सभी विघ्नों को दूर कर दीजिए। जिससे वेदभाष्य आपकी कृपा से सम्पूर्ण हो जाए और मनुष्यों का सदा उपकार करने वाला हो और आपकी कृपा से इस वेदभाष्य में सभी मनुष्यों की अत्यन्त प्रीति हो। ''अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय, यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादिभद्रमस्ति, तत् स्वकृपाकटाक्षेण हे ब्रह्मन्, नोऽस्मभ्यं प्रापय भवत्कृपाकटाक्षसुसहायप्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि। तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया भवेत्। अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयात्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात् तथैव भवता कार्यमित्योम्।''- ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ02।

वे वेदभाष्य की रचना से सनातन अर्थ को प्रकाशित करना चाहते हैं, चाहते हैं कि वेद का सत्य अर्थ ही संसार में प्रसिद्ध हो। उनका कथन है कि मुनियों तथा ऋषियों की जो वेदार्थरीति है। उसीका आश्रय लेकर मन्त्रार्थ को प्रकाशित कर रहा हूँ-

''आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥''

-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का प्रारम्भिक श्लोक6

वेद के वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में वे कहते हैं ''नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति। यो मनुष्यो वेदार्थान् न वेत्ति स नैव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वेत्तुमर्हति। कुतः? सर्वासां विद्यानां वेद

एवाधिकरणमस्त्यतः। नहि तमविज्ञाय कस्यचित् सत्यविद्याप्राप्तिर्भवितुमर्हति। यद्यत् किञ्चित् भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च, तत् सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। कुतः ? यद्यद् यथार्थं विज्ञानं तत्तदीश्वेरण वेदष्वधिकृतमस्ति। तद् द्वारैवान्यत्र कुत्रचित् सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः। अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेयः।'' - ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृ0 248। जो जो सत्यविज्ञान है वह वह ईश्वर द्वारा वेद में ही निहित कर दिया गया है, इसलिए सभी मनुष्यों को वेदार्थविज्ञान के लिए प्रयत्न करना चाहिए। स्वामी जी वेद को नित्य मानते हैं। वह परमेश्वर की रचना है, उसका स्वतः प्रामाण्य है। वे सत्यार्थता तथा अपूर्वता की प्रतिष्ठा के लिए वेदभाष्य की रचना कर रहे हैं। वे उन्हीं ग्रन्थों को प्रामाणिक मानते हैं जो वेद का अनुगमन करते हैं। उन्होंने वेद के रहस्य को समझने के लिए उन्हीं ग्रन्थों का आश्रय लिया है, जो वेद के अत्यधिक समीप हैं। ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में ऐसे विवेचन और कथन विद्यमान हैं, जिनसे वेद के गूढ़ तत्त्व सरलता से प्रकाशित हो जाते हैं। यदि वे बाद के ग्रन्थों का आश्रय लेते, तो इस प्रकार रहस्य का प्रकाशन नहीं कर सकते थे। उनके भाष्य से उनके पाण्डित्य का प्रकटन होता है। यदि उनका अध्ययन व्यापक न होता, तो वेद के गम्भीर रहस्य को न समझ पाते। स्वामी जी के व्याख्यान से स्थल-स्थल पर यह निर्देश मिल जाता है और समीक्षक भी समझ सकते हैं कि न केवल वेद को, अपितु विशाल संस्कृत-वाङ्मय के रहस्य को जानने के लिए वैदिक साहित्य का अनुशीलन नितान्त अपेक्षित है। भारत की जो परम्परागत विद्या है, उसे वेद के द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है। अन्य स्थिति में यदि उसका अवलम्बन न करके तद्भिन्न साहित्य का आश्रय लेकर भारतीय ज्ञान-विज्ञान के मूल को समझने की चेष्टा की जायगी, तो सफलता नहीं मिलेगी। अपने सिद्धान्त की स्थापना में जो दृढ़ता आती है, वह भी वेदातिरिक्त का आश्रय लेने पर नहीं आ सकती। मैं इस प्रसंग में यह कहना चाहूँगा कि स्वामी जी के वेदभाष्य से केवल वेदतात्पर्य को ही समझने का प्रयास नहीं होना चाहिए। उससे यह भी देखना चाहिए कि कैसे उनके भाष्यविज्ञान (Hermeneuties) से अनेक शास्त्रों के रहस्य आत्मसात् किये जा सकते हैं और कैसे विशुद्ध जीवन की प्राप्ति और भिन्न-भिन्न कालों में सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है।

स्वामी दयानन्द जी ने भारतीय मानस को वेद तथा अष्टाध्यायी के अध्ययन की ओर मोड़ दिया। यदि वेद तथा व्याकरण का ज्ञान हो जाए, तो कोई भी शास्त्र अस्पृष्ट नहीं रह सकता। स्वामी जी ने इस तत्त्व का साक्षात्कार बड़ी गम्भीरता से किया। यदि इन दोनों को छोड़कर पुराणों की शरण में चले जाएँ, साहित्य तथा कलाओं की साधना में लग जाएँ या अन्य किसी शास्त्र का आश्रय ले लें, तो उस परमार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती, जो वेद-व्याकरण के अनुशीलन से होती है। पाण्डित्य का जो प्रकर्ष है, वह इन दोनों के द्वारा प्राप्त हो जाता है। स्वामी जी ने इसे सूक्ष्म दृष्टि से देखा होगा, उसकी व्याप्ति को देखा होगा, विभिन्न शास्त्रों के अधिगम में इनके उपयोग को देखा होगा, तभीं इनकी ओर प्रवृत्त हुए होंगे। इसीलिए अपने उपदेशों तथा क्रिया के द्वारा गुरुकुलों की स्थापना करके वेद-व्याकरण की रक्षा का स्तुत्य प्रयास किया। देश में गुरुकुलों की परम्परा चल पड़ी, वेद तथा अष्टाध्यायी के अध्ययन का शुभारम्भ हुआ। आश्रमों की स्थापना हुई, दैनिक कृत्य यज्ञ, प्रवचन आदि से प्राचीन गौरव को व्यापक चित्रपट पर प्रकट किया जाने लगा। स्वामी जी की ही प्रेरणा से नित्य जीवन-पद्धति का उदय हुआ। उस जीवन-पद्धति का उदय हुआ, जिससे हमें चेतना मिलती है, स्फुरत्ता प्राप्त होती है, अपनी रक्षा का संबल मिलता है, अपने रिक्थ को पहचानने की शक्ति मिलती है, अपने स्वरूप का साक्षात्कार

करने का सामर्थ्य मिलता है। यत: स्वामी जी ने बौद्धिक तथा व्यावहारिक दोनों धरातलों पर अपना योगदान अङ्कित किया, इसीलिए उनकी साधना, उनकी शिक्षा का व्यापक प्रभाव पड़ा। वह प्रभाव अपने देश तक ही सीमित नहीं रहा। वह विश्व में व्याप्त हो गया।

स्वामी जी ने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया, बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा का खण्डन किया। ईश्वर की सिद्धि के विषय में वे लिखते हैं– '' वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचनाविशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है और अब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाना है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, नि:शङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है, वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर का ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य को देख के कारण का अनुमान होता है।''–सत्यार्थप्रकाश, पृ0 118 वे ईश्वर को निराकार, दयालु, न्यायकारी, व्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा अनादि मानते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि ईश्वर अवतार नहीं लेता, क्योकि यह वेदविरुद्ध है।

देवताओं के जो नाम प्राप्त होते हैं, वे सभी एक परमेश्वर के ही अभिधान हैं। सूर्य, अग्नि आदि एक सद् वस्तु ब्रह्म के ही नाम हैं। यहाँ तक कि शनि, राहु, केतु आदि ग्रहों को भी वे परमात्मा का वाचक मानते हैं। इसका विशेष निरूपण वे सत्यार्थप्रकाश में करते हैं– ''य: शनैश्चरति स शनैश्चर:'– जो सब में सहज से प्राप्त धैर्यवान् है, इससे परमेश्वर का नाम शनैश्चर है।'' ''रह (त्यागे) इस धातु से राहु शब्द सिद्ध होता है। 'यो रहति परित्यजति दुष्टान्, राहयति, त्याजयति वा (राहुरीश्वर:) जो एकान्त स्वरूप जिसके स्वरूप में दूसरा पदार्थ संयुक्त नहीं, जो दुष्टों को छोडने और अन्य को छुड़ानेहारा है, इससे परमेश्वर का नाम राहु है।''

''(कित निवारणे रोगापनयने च) इस धातु से केतु शब्द सिद्ध होता है। 'य: केतयति चिकित्सति वा स केतुरीश्वर:' जो सब जगत् का निवास–स्थान सब रोगों से रहित और मुमुक्षुओं को मुक्तिसमय में सब रोगों से छुडाता है, इसलिए उस परमात्मा का नाम केतु है।'' सत्यार्थ प्रकाश, प्रथम समुल्लास।

स्वामी जी ने भारतीय समाज की रचना के मूल को भी खोज लिया। चूँकि उन्होंने वेद के रहस्य का साक्षात्कार कर लिया था, इसलिए उन्हें समाज की रचना के रहस्य को समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने देखा कि भारतीय जनता तो आर्य है। आर्य से ही हमारी संस्कृति का विस्तार हुआ है। वहीं विशुद्ध उत्स है। इस रहस्य का साक्षात्कार कर लेने के बाद स्वामी जी ने आर्य समाज की स्थापना की। इससे उन्होंने समाज में उत्पन्न भेद को समाप्त करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से समाज के परिष्कार में उनका योगदान महत्वपूर्ण है।

वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में भी दयानन्द जी का विचार नया है। वे कर्म के अनुसार वर्ण मानते हैं– ''इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो

नीच भी उत्तमवर्ण के गुण कर्म स्वभाव वाला होवे तो उसको उत्तम वर्ण में और जो उत्तमवर्णस्थ होके नीच काम करे तो उसको नीच वर्ण में अवश्य गिनना चाहिए।''-सत्यार्थप्रकाश, पृ0 62।

बाल विवाह के विरुद्ध भी स्वामी जी ने आन्दोलन किया। उनका एक महत्वपूर्ण कार्य शुद्धिविषयक था। इसका लक्ष्य था भारत को सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से एक सूत्र में बाँधना। स्वामी जी के जो विचार थे, वे बौद्धिक वर्ग तक ही सीमित नहीं थे। उन्होंने जनता में अपने मत का प्रचार किया, जिससे उनका सिद्धान्त देश-विदेश में फैला। उन्होंने अन्य धर्म-प्रचारकों की पद्धति से भिन्न पद्धति का अवलम्बन किया और यही उनकी सफलता का मन्त्र बना। चूँकि उन्होंने जिस तत्व को देखा, उसका सम्बन्ध सामान्य जनता से था, अतः जनता तक पहुँचना उनका लक्ष्य था। उनकी बात सीधी थी और समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती थी। यदि किसी को जनता का उद्धार करना है, तो उसे जनता तक पहुँचना होगा और जनता की भाषा में कहना होगा। सरस्वती जी संस्कृत के विद्वान् थे और गुजरात के थे। उनकी भाषा गुजराती थी, फिर भी उन्होंने हिन्दी में रचना की, क्योंकि वे जानते थे कि हिन्दी के माध्यम से उनकी बात जन-जन तक पहुँच सकती है। इस प्रसङ्ग में उनका अवदान स्पष्ट है। वे सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में लिखते हैं- ''जिस समय मैंने यह ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने पठन पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिए इस ग्रन्थ को भाषाव्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।''-सत्यार्थप्रकाश, पृ0 7

हिन्दी के प्रचार में स्वामी जी का योगदान कितना प्रशस्त है- इसका अनुमान उनके कार्यों से लगाया जा सकता है। सत्यार्थप्रकाश की रचना हिन्दी में करते हैं और हिन्दी का व्यापक आधार तैयार करते हैं। हिन्दी में रचना करने के कारण उनका विचार अधिक लोगों तक पहुँच सका और उससे समाज में विशेष परिवर्तन हुआ।

स्वामी दयानन्द भारतीय समाज में निश्चित रूप से एक गतिशील शक्ति थे। जितने सामाजिक तथा धार्मिक सुधारक थे, उनकी अपेक्षा दयानन्द जी सरस्वती को अधिक सफलता मिली, क्योंकि उनके और जनता के बीच में किसी भाष्यकार की आवश्यकता नहीं थी। वे जनता को समझते थे और जनता उनको समझती थी। यही कारण है कि उनकी शिक्षा का पूरे विश्व में प्रचार हुआ। उन्होंने समाज की संघटना को तो सुदृढ़ आधारशिला दी ही, शिक्षा के नवीन मानदण्ड की भी स्थापना की। उन्होंने कहा-वेद की ओर लौटो और वहीं तुमको सब-कुछ मिल जायगा। भारत का निर्माण वेद से ही हो सकता है- यह मन्त्र स्वामी जी का था। उनके सामाजिक तथा शैक्षणिक कार्यों को उनके अनुयायियों ने समझा और उनके आधार पर संस्थाओं की स्थापना की। उनके अनुयायियों में दो धाराएं बनी। एक ने राष्ट्रीय आन्दोलन को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजी शिक्षा को भी महत्व दिया, जिसका फल हुआ दयानन्द ऐन्ग्लो वैदिक संस्थाओं (Dayanand Anglo-Vedic Colleges) की स्थापना। इसके प्रमुख प्रतिनिधि थे महात्मा हंसराज। दूसरी धारा की प्रतिनिधि संस्था बनी स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित

ON
S FOR EDUCATION IN 21ST CENTURY
MAY 14-16, 2004
ORGANIZED BY
LITY ASSURANCE CELL
ALAYA, HARIDWAR (UTTARANCHAL) - 249404
DR. U.S. BIST

NAAC राष्ट्रीय सेमिनार में डा० यू०एस० बिष्ट **Coordinator, I.Q.A.C.** एवं सेमिनार के स्थानीय सचिव आगन्तुक विद्वानों को सम्बोधित करते हुये। मंच पर विराजमान हैं- (दायें से) प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री आचार्य एवं उपकुलपति, प्रो० स्वतंत्र कुमार कुलपति, प्रो० एस०आर० भट्ट तथा पद्मश्री प्रो० सत्यव्रत शास्त्री

''२१वीं शताब्दी के लिये शिक्षा मूल्यों के मापदण्ड'' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी (NAAC) में माननीय कुलपति प्रो० स्वतंत्र कुमार (दाएं) मुख्य अतिथि डा० आर०एस० टोलिया मुख्य सचिव, उत्तरांचल सरकार (मध्य) तथा प्रो० पिल्लै वाइस चेयरमैन यू०जी०सी० विशिष्ट अतिथि (बाएं) के साथ

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, जो आधुनिक जीवन में भी वैदिक आदर्श को मूर्त करने के लिए सन्नद्ध रही है।

इस प्रकार स्वामी जी ने शिक्षा के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग का सूत्रपात किया। इसका आधार प्राचीन भारतीय शिक्षा थी। दूसरा प्रयोग समाज के परिष्कार के सम्बन्ध में था, जो क्रान्तिकारी था। तीसरा प्रयोग हिन्दी के प्रचार-प्रसार को दृष्टि में रखकर था। इन तीनों क्षेत्रों में स्वामी जी के प्रयोग सफल रहे और उनका योगदान प्रशस्त रहा। उन्होंने न केवल भारतीय मानव को आन्दोलित किया। अपितु अपने उत्कृष्ट चिन्तन तथा तर्क से विश्व के मानव को भी प्रभावित किया। यही कारण है कि आज वेद, आर्यसमाज तथा गुरुकुल प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं।

प्रो0 अमरनाथ पाण्डेय
एन 1/30, ए-9 नगवा,
वाराणसी -221 005

महर्षि दयानन्द स्वाधीनता संग्राम के सर्वप्रथम योद्धा और हिन्दू जाति के रक्षक थे। उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने राष्ट्र की महान् सेवा की है और कर रहीं है। स्वतन्त्रता के संग्राम में आर्य समाजियों का बड़ा हाथ रहा। महर्षि का लिखा अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' हिन्दू जाति की रगो में ऊष्ण रक्त का सञ्चार करने वाला है। 'सत्यार्थ प्रकाश' की विद्यमानता में कोई विधर्मी अपने मज़हब की शेखी नहीं मार सकता।

स्वातन्त्र्यवीर सावरकर

व्रात्य की आसन्दी

अथर्ववेद का एक छोटा-सा कथानक है। एक बार व्रात्य किसी राज्य में गया। वह लगातार एक वर्ष तक खड़ा रहा। देवों का ध्यान उसकी ओर गया और उन्होंने उससे पूछा-व्रात्य, खड़े क्यों हो? व्रात्य ने कहा, मेरे लिए आसन्दी (राजकीय चौकी) लाइए, तब मैं बैठूँ। उन्होंने तुरन्त आसन्दी बनानी आरम्भ कर दी। ग्रीष्म और बसन्त उसके दो पाये (पैर) हुए, शरद् और वर्षा शेष दो पाये। बृहत् और रथन्तर लम्बाई की पाटियाँ बनीं, यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य चौड़ाई की पाटियाँ। ऋचाओं के तारों से ताना तना गया, यजुः के तारों से बाना डाला गया। उस पर 'वेदस्' का बिछौना लगाया, 'ब्रह्म' की चादर बिछायी। 'साम' का आसन बिछा, 'उद्गीथ' का तकिया लगा। इस प्रकार जब आसन्दी बनकर तैयार हो गयी, तब व्रात्य उस पर बैठा। सब देवजन उसके परिचारक बन गए। संकल्प उसके दूत बने। सब भूत दरबारी बनकर उसके पास आ बैठे, उसके 'उपसद' हो गये। जैसे उस व्रात्य के सब भूत 'उपसद' हो गए, वैसे ही जो इस रहस्य को समझ लेता है, उसके भी सब भूत 'उपसद' हो जाते हैं।[1]

व्रात्य कौन है?

वेदोत्तरकालीन साहित्य में अधिकतर व्रात्य शब्द निन्दित अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। व्रात्य उसे कहा गया है जिसके जातकर्मादि संस्कार नहीं होते, और उसे पतित माना गया है।[2] पर कहीं-कहीं 'व्रात्य' का प्रयोग अच्छे अर्थों में भी हुआ है। प्रश्नोपनिषद् में प्राण को व्रात्य कहा है, जिसका अर्थ शंकराचार्य ने 'जिसे संस्कार की आवश्यकता ही नहीं, अर्थात् जो स्वभावतः शुद्ध है[3] ऐसा किया है। बाद के युग में व्रात्य निःसन्देह अच्छे अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उपर्युक्त कथानक में व्रात्य विराट् परमेश्वर है। उसे व्रात्य इस कारण कहा है, क्योंकि वह व्रतनिष्ठ है। जगत् की उत्पत्ति, जगत् का धारण, यथासमय जगत् का संहार, समग्र नियम-व्यवस्था, पाप-पुण्य का फल-प्रदान आदि अनेक व्रतों को उसने स्वेच्छा से ग्रहण किया हुआ है। व्रत अर्थात् जन-समुदाय का हितकारी होने से भी वह व्रात्य कहलाता है। वह व्रात्य समस्त जगत् का सम्राट् है। अन्य मानवी राजा मानो सब उसी के सामन्त हैं।

व्रात्य खड़ा क्यों रहा?

ऐसा जगत् का अद्वितीय सम्राट् किसी राष्ट्र में पहुँचा है। उस राष्ट्र के वासियों को चाहिए तो यह था कि सब प्रकार से उसके स्वागत का आयोजन करें, किन्तु किसी का उसकी ओर ध्यान नहीं जाता। ध्यान देने की वहाँ किसी को फुर्सत ही नहीं। सारा राष्ट्र विलासी जीवन में रत है। न वहाँ धर्म है, न सत्कर्म है, न विद्या है, न सत्य है, न न्याय है। वह राष्ट्र पतन की चरम सीमा को पहुँचा हुआ है। वहाँ तो व्रात्य के विरोधी असुर का स्वागत हो रहा है। व्रात्य देखता है कि इस राष्ट्र में मेरे योग्य स्थान नहीं है, अतः वह वहाँ खड़ा ही रहता है। असल में व्रात्य सर्वत्र ही है। जो उसे बैठने के लिए आसन देते हैं, उनके यहाँ वह बैठ जाता है। जो आसन नहीं देते और उसे बैठाना नहीं चाहते, वहाँ वह खड़ा रहता है। इसी प्रकार उस राष्ट्र में भी खड़ा रहा। व्रात्य के लिए खड़ा होने, बैठने आदि का व्यवहार आलंकारिक है। जिस राष्ट्र में परमेश्वर की पूजा होती है, उसके आदेशों का पालन होता है, वहाँ वह बैठा हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। जहाँ उसका नाम-कीर्तन करनेवाला कोई नहीं है, वहाँ मानो वह खड़ा हुआ है।

देवों का ध्यान गया

जब कोई राष्ट्र बहुत दिनों तक पतित रहता है और वहाँ ईश्वर का निवास नहीं रहता, तब कुछ ऐसे देवजन उस राष्ट्र में जन्म लेते हैं, जिन्हें राष्ट्र का यह पतन और राष्ट्र की यह ईश्वरविमुखता अखरते हैं। उन्हें यह असह्य हो जाता है कि हम व्रतपति एवं सर्वजन-हितकारी परमेश्वर का आतिथ्य न करें। वे प्रयत्न करते हैं कि उस राष्ट्र के सब लोग परमेश के पुजारी हों तथा पुण्य कर्मों में संलग्न हों। राम, श्रीकृष्ण, बुद्ध, शंकराचार्य, ऋषि दयानन्द आदि इसी देवकोटि के पुरुष रहे हैं। इसी प्रकार इस कथानक में देवों का ध्यान इस ओर गया। इसी बात को कहानी के रूप में इस तरह कह दिया गया है कि उन्होंने व्रात्य से कहा कि हे व्रात्य, तुम खड़े क्यों हो, हमारे राष्ट्र में बैठते क्यों नहीं? व्रात्य ने उत्तर दिया-मेरे योग्य आसन्दी ही नहीं है, बैठूँ कहाँ?

आसन्दी का अभिप्राय

जब कोई सत्पुरुष हमसे मिलने आता है, तब उसे बैठने के लिए उसके योग्य आसन, चौकी, कुर्सी आदि देते हैं। इसी प्रकार व्रात्य जब हमारे राष्ट्र में अतिथि बनकर आया है, तब हमें उसे आसन प्रदान करना चाहिए। उसका आसन क्या है? जैसे वह स्वयं भौतिक शरीर-धारी नहीं है, वैसे ही ये भौतिक कुर्सी, पलंग, मखमली गद्दे आदि उसके आसन नहीं हो सकते। उसे आसन देने का अभिप्राय है राष्ट्र में उसके बैठने योग्य वातावरण उत्पन्न करना। बहुत दिनों की बात है, एक बार किसी संस्था के संचालकों ने महात्मा गांधीजी को अपने यहाँ आने का निमन्त्रण भेजा। महात्माजी ने कुछ बातें लिख भेजीं-क्या आपके यहाँ खद्दर पहना जाता है? हरिजनों के साथ भेदभाव तो नहीं रखा जाता? क्या आप लोग सूत कातते हैं आदि? यदि आपकी संस्था में इन बातों की प्रवृत्ति है, तो मैं आऊँगा, अन्यथा नहीं। मानो ये बातें ही महात्माजी के बैठने योग्य आसन थीं। ऐसे ही किसी राष्ट्र में परमेश्वर का वास हो, परमेश्वर वहाँ बैठे, इसके लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता है। उन्हीं परिस्थितियों को व्रात्य की आसन्दी या चौकी कहा जा सकता है। देवपुरुषों ने उन परिस्थितियों को राष्ट्र में उत्पन्न करने का यत्न किया। इसी को प्रकारान्तर से इस रूप में भी कह सकते हैं कि उन्होंने व्रात्य के बैठने के लिए आसन्दी बनानी आरम्भ कर दी।

आसन्दी के चार पैर

सर्वप्रथम पैर या पाये कल्पित किए जाने चाहिंए, क्योंकि उन्हीं के ऊपर राजकीय आसन्दी का सारा ढाँचा खड़ा होना है। ग्रीष्म, वसन्त, शरद् और वर्षा ही उसके चार पैर हुए। यों तो वर्ष में छह ऋतुएँ होती हैं, पर हेमन्त तथा शिशिर को शरद् के ही अन्तर्गत कर लेने से पूर्वोक्त चार ऋतुएँ हो जाती हैं। आगे आसन्दी के जो भी अंग बताये जायेंगे अर्थात् व्रात्य के बैठने योग्य जो भी परिस्थितियाँ कही जायेंगी, उन सब का आधार ये ही ऋतुएँ होंगी। इस कारण इन्हें चौकी के पैर कहा गया है। अभिप्राय यह है कि देवों ने यह प्रयत्न किया कि जो भी हम व्रात्य के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करें, वे सभी ऋतुओं में अर्थात् सारे वर्षभर बनी रहें, ऐसा न हो कि क्षणिक रूप में वे आएँ और चली जाएँ।

चारों पाटियाँ

पाये बन जाने के अनन्तर पाटियों की बारी आयी। बृहत् और रथन्तर लम्बाई की पाटियाँ बनीं और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य चौड़ाई की पाटियाँ। ये चारों साम के भेद हैं। देवपुरुषों ने अपने राष्ट्र में

साम-गान का अधिकाधिक प्रचार किया। गीति ईश्वर-भक्ति को जगाने में बहुत सहायक है। इस साम-गान के प्रचार से परमेश्वर के निवास के लिए और अधिक अनुकूल परिस्थिति पैदा हो गयी। मानो आसन्दी की पाटियाँ बनकर तैयार हो गयीं। बृहत् आदि चारों शब्दों से अन्य भी विशेष भाव सूचित होते हैं। 'बृहत्' विशालता, उदारता तथा महत्त्वाकांक्षी होने का द्योतक है। इसलिए बृहत् को पहली पाटी बनाने का भाव यह भी है कि देवपुरुषों ने यह प्रयत्न किया कि सब राष्ट्रवासी विशाल और उदार हृदय वाले हों, संकुचित प्रवृत्ति और स्वार्थ-भावना को छोड़ें तथा मनों में ऊँची आकांक्षाएँ संजोएँ। दूसरी पाटी 'रथन्तर' है। रथन्तर शब्द का अर्थ है-'रथ द्वारा मार्ग को पार करने की कला'। सब मनुष्यों को शरीररूपी उत्तम रथ मिला हुआ है। उस रथ की सहायता से कैसे विघ्न-बाधाओं से भरे हुए विकट मार्ग को तय करके लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है, यह विद्या रथन्तर-विद्या कहलाती है। देव-पुरुषों ने इस विद्या का भी राष्ट्र में प्रचार किया। उन्होंने अपने देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया कि तुम्हें यह मानव-योनि या मनुष्य-रथ प्राप्त हुआ है, इस रथ पर तुम निरुद्देश्य मत बैठे रहो। जीवन में लक्ष्य बनाओं और उस तक पहुँचने के लिए शरीर-रथ को काम में लाओ। यह आसन्दी की दूसरी पाटी तैयार हो गयी। तीसरी पाटी 'यज्ञायज्ञिय' है। यज्ञायज्ञिय शब्द यज्ञ-कर्मो को सूचित करता है। अतः इसे पाटी बनाने का भाव है कि देव-पुरुषों ने राष्ट्र में यज्ञ-कर्मों का प्रसार किया। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, भूतयज्ञ इन पंचयज्ञों तथा अन्य विभिन्न यज्ञों को प्रोत्साहन दिया। चौथी पाटी 'वामदेव्य' है। वाम का अर्थ श्रेष्ठ या सुन्दर होता है। इस प्रकार राष्ट्र में 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की भवना का प्रचार ही वामदेव्यरूपी चौथी पाटी का निर्माण है।

ताना-बाना

पाटियाँ तैयार हो गयीं। अब उन पर बुनावट डाली जानी है। ऋचाएँ ताने के तन्तु बनीं और यजुः बाने के तन्तु। इस प्रकार ऋक् और यजुः के तन्तुओं से वह आसन्दी बुनी गयी। ऋग्वेद का सम्बन्ध ज्ञानकाण्ड से है और यजुर्वेद का कर्मकाण्ड से। अतः ऋचाओं से ताना तनने का भाव है कि उन देव-पुरुषों ने राष्ट्र में अधिकाधिक ज्ञान का प्रसार किया। ऐसा प्रयत्न किया कि सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों में हमारा देश शिरोमणि हो जाए। इस तरह ज्ञान का ताना तना गया। परन्तु केवल ताना किसी काम का नहीं, जब तक उसमें बाने के तार न डाले जायें। इसी प्रकार केवल ज्ञान किसी समाज या राष्ट्र की उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं है, जब तक उसके साथ उससे मेल खाते कर्म न हों। अतः जब देव-पुरुषों ने ज्ञान के साथ कर्मों का भी प्रचार किया, तब मानो उस आसन्दी का बाना भी पुर गया। अब उस राष्ट्र के लोग मूर्खता को छोड़कर विद्याग्रहण में और सदाचरण में समय व्यतीत करने लगे। एवं व्रात्य के बैठने योग्य बहुत-कुछ परिस्थिति उत्पन्न हो गयी।

अन्य साज

पाये बन गये, उनमें पाटियाँ पड़कर आसन्दी का ढाँचा बन गया। ताना-बाना डालकर बुनावट भी कर दी गयी, किन्तु अभी अन्य साज तो बाकी है। क्या सारे जगत् का सम्राट् खाली चौकी पर बैठ जाएगा? नहीं, अभी तो उस पर बिछौना बिछना चाहिए, बिछौने के ऊपर बढ़िया-सी मखमली चादर बिछनी चाहिए। चादर के ऊपर एक सुन्दर-सा कढ़ा हुआ आसन होना चाहिए। ढासने के लिए तकिया या मसनद भी चाहिए। तब व्रात्य उस पर बैठेगा।

कथानक में कहा है कि उस बुनावट के ऊपर 'वेदस्' का बिछौना बिछाया गया। वैदिक कोष

NATIONAL SEMINAR
ON
VALUE PARADIGMS FOR EDUCATION IN 21ST CENTURY
MAY 14-16, 2004
ORGANIZED BY
INTERNAL QUALITY ASSURANCE CELL
GURUKULA KANGRI VISHWAVIDYALAYA, HARIDWAR (UTTARANCHAL)-249404
PROF. K.P. PANDEY

NAAC राष्ट्रीय सेमिनार में मंचासीन (दाएं से) प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री आचार्य एवं उपकुलपति, प्रो० स्वतंत्र कुमार कुलपति, प्रो० एस०आर० भट्ट दिल्ली वि०वि०, पद्मश्री प्रो० सत्यव्रत शास्त्री (पूर्व कुलपति सं०सं०वि०वि०), प्रो० के०पी० पाण्डे (पूर्व कुलपति), प्रो० ए०के० चोपड़ा कुलसचिव एवं प्रो० वीरेन्द्र अरोड़ा प्राचार्य विज्ञान महाविद्यालय

MS & INTERVENTIONS"
by
KANGRI UNIVERSITY HARDW

दिनांक २७ मार्च २००४ को ''मानसिक स्वास्थ्य समस्याऐं एवं समाधान'' विषय पर आयोजित राष्ट्रिय सेमिनार में सम्मिलित (बाएं से) प्रो. स्वतंत्र कुमार, कुलपति गुरुकुल कांगड़ी वि.वि., प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति, प्रो. उपमन्यु वी.वी. पंजाब वि.वि. चण्डीगढ़, प्रो. जी.पी. ठाकुर, काशी विद्यापीठ वाराणसी, डॉ. सी.पी. खोखर, मनोविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

निघण्टु (2.10) के अनुसार 'वेदस्' का अर्थ धन है। अतः वेदस् का बिछौना बिछाने का अर्थ है राष्ट्र को पूर्ण धनधान्य-सम्पन्न और समृद्धिशाली बना देना। अन्यथा, जो राष्ट्र धन-हीन है, जहाँ के लोगों के पास दो समय पेट भरने को अन्न नहीं है, उस राष्ट्र में परमेश्वर को कौन पूछेगा?

बिछौना भी बिछ गया, अब इसके ऊपर एक चमकती चादर चाहिए, जिससे वह आसन्दी जगमगा उठे। 'ब्रह्म' ही वह चादर है। ब्रह्म का अर्थ है अध्यात्म-विद्या। यदि उस धन-दौलत के बिछौने को अध्यात्म-विद्या की चादर से नहीं ढका जाएगा, तो वह एकांगी होने से राष्ट्र के लिए बड़ी घातक और दुःखदायी वस्तु सिद्ध होगी। धन के नशे में चूर होकर कौन उन्मत्त नहीं हो जाता? इसलिए जहाँ एक ओर धन है, वहाँ साथ ही उन धनी लोगों में अध्यात्म-पिपासा, योगाभिरुचि, अन्तर्मुखी वृत्ति होनी भी आवश्यक है। तभी वह देश ईश्वर के वासयोग्य हो सकता है। नहीं तो, ब्रह्मभावना-रहित इन्द्रियाँ धन को विलास की वस्तु ही समझेंगी।

बिछौने पर चादर भी बिछ गई। अब उस पर सुन्दर आसन होना चाहिए, जिसके ऊपर व्रात्य बैठेगा। 'साम' ही वह आसन है। साम का सम्बन्ध उपासना काण्ड से है। 'साम' शान्ति और भक्ति का प्रतीक है। लोग सच्ची शान्ति के अनुरागी हों, भक्ति उनका सोमरस हो, जीवन को समस्वरता-युक्त तथा संगीतमय बनाना उनका ध्येय हो, सामवेद की ऋचाओं का गान करते हुए वे भक्ति में लीन रहते हों, ऐसी अवस्था जिस राष्ट्र की हो जाए, वहाँ व्रात्य नहीं बैठेगा, तो और कहाँ बैठेगा?

पर अभी आसन्दी पर तकिया, मसनद या ढासना तो लगा ही नहीं। आराम से बैठने के लिए उसका होना भी आवश्यक है। देवपुरुष बड़े कुशल होते हैं, उन्होंने उसकी भी व्यवस्था कर दी है। 'उद्गीथ' ही उसका तकिया या मसनद है। उद्गीथ का अर्थ है ओंकार या प्रणव-जप। देवपुरुषों की प्रेरणा से राष्ट्र के वासी लोग अपने अन्दर परमेश्वर को बद्धमूल करने के लिए ओंकार का जप भी करने लगे। अब किस बात की कमी रही? अब तो राजकीय चौकी के सब अंग पूर्ण हो गए, पूरा साज एकत्र हो गया। अब तो व्रात्य को बैठना ही चाहिए।

व्रात्य बैठ गया

यह लीजिए, व्रात्य बैठ गया। जो असन्तुष्ट होकर निरन्तर वर्ष-भर खड़ा रहा था, वह आज सुप्रसन्न होकर बैठ गया है। किन्तु अब भी सावधानी की आवश्यकता है। बड़ी कठिनाई से व्रात्य ने बैठना स्वीकार किया है। कहीं ऐसा न हो कि उसके सत्कार में कुछ त्रुटि रह जाए और वह रुष्ट होकर फिर उठ खड़ा हो, देवपुरुषों का अब तक का सब प्रयत्न व्यर्थ हो जाए। नहीं, देवजनों को इसकी भी पूरी चिन्ता है। जो अपने सुख-दुःख की परवाह न कर अहर्निश व्रात्य की आसन्दी को बनाने में, देश में ईश्वरवासयोग्य वातावरण पैदा करने में, सचेष्ट रहे हैं, उन्हें क्या इसकी चिन्ता नहीं होगी कि व्रात्य के बैठने के पश्चात् उसके आतिथ्य में कुछ त्रुटि न रहे?

परिचारक, दूत और दरबारी

सब देवजन व्रात्य के परिचायक (परिष्कन्द) बन गए हैं। वे सर्वात्मना उसकी आराधना में लीन हैं। जब एक बार उन्होंने अपने देश में उसे बैठा लिया है, तो अब वे उसे अप्रसन्न होकर उठने नहीं देंगे। जो बातें उसे प्रिय हैं, उनका वे देश में सतत् प्रचार करते रहेंगे।

पर दूत कौन बनेगा? जब व्रात्य सम्राट् बनकर राजकीय आसन्दी पर आरूढ़ हो गया है, तो

उसके दूत भी होने चाहिए, जिन्हें राष्ट्र में इधर-उधर भेजकर वह कार्य कराएगा। संकल्प ही उसके इतस्तत: भेजे जानेवाले दूत (प्रहाय्या:) हैं। मानवी सम्राटों की तरह उसे शरीरधारी दूतों की अपेक्षा नहीं है। उसके संकल्पों में बड़ा सामर्थ्य है। अपनी संकल्प-शक्ति से ही उसने सृष्टि रची है और सृष्टि को धारण भी कर रहा है। वे उनके संकल्प ही उसके लिए दूतों का कार्य करेंगे। जैसे कोई मनुष्य-राजा अपनी किसी प्रजा को कोई सन्देश भेजना या प्रेरणा करना चाहता है तो दूतों द्वारा करता है, वैसे ही वह जिस व्यक्ति में जो प्रेरणा भरना चाहेगा, अपने संकल्प से ही भर देगा।

जब राष्ट्रवासियों ने ऐसे विलक्षण सम्राट् को अपने मध्य सिंहासन पर बैठा लिया है, तब कौन है जो उसके उपसन्न न हो, दरबारी बनकर उसके दरबार में उपस्थित न हो? सब भूत, सब देशवासी उसके चरणों में शीश झुका रहे हैं और उन्होंने अपने सब आपसी झगड़े, अपनी सब फरियादें उसी पर छोड़ दी हैं। वे अपने-आपको उसके दरबार में बैठा हुआ अनुभव करते हैं और प्रतीक्षा कर रहे हैं कि वह किन कर्त्तव्य-कर्मों की, किन राज-नियमों की, हमारे लिए घोषणा करता है। जो उसका आदेश होगा, उसे पालन करने के लिए सब नर-नारी तैयार हैं।

क्या हम व्रात्य नहीं बन सकते?

कथानक के अन्त में कहा है कि चाहें तो हम भी व्रात्य बन सकते हैं। व्रात्य की इस महिमा को हम हृदयंगम करें और अपने जीवन में घटाने का यत्न करें। हम भी उस बड़े व्रात्य के समान व्रतनिष्ठ बनें, जन-समुदाय का नेतृत्व करने की शक्ति अपने अन्दर उत्पन्न करें। तब हमें भी जनता ऊँचा आसन देगी और हमारे भी सब लोग 'उपसद' बनेंगे, अपनी-अपनी समस्याएँ लेकर सुलझाने के लिए हमारे समीप आएँगे और हमारे निर्णय तथा आदेश की प्रतीक्षा में खड़े रहेंगे। हमारे मुख से जो कुछ निकलेगा, उसका अक्षरश: पालन करने में वे गौरव अनुभव करेंगे। हम खड़े होंगे तो हमें बिठाने के लिए सबकी आँखें हमारी ओर लगी रहेंगी।

पाद-टिप्पणियाँ

1. स संवत्सरमूर्ध्वोऽतिष्ठत्। तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति। सोऽब्रवीदासन्दीं मे संभरन्त्विति। तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन्। तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ। बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये । ऋच: प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्च:। वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम्। सामासाद उद्गीथोऽपश्रय:। तामासन्दीं व्रात्य आरोहत्। तस्य देवजना: परिष्कन्दा आसन्, संकल्पा: प्रहाय्या: विश्वानि भूतान्युपसद:। विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद।

–अथर्ववेद, काण्ड 15, पर्याय 3

2. सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिता:।– मनु0 2.39
व्रात्य: संस्कारहीन: स्यात्। –अमरकोश 2.7.53
3. 'व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिस्ता' – प्रथमजत्वादन्यस्य संस्कर्तुरभावादसंस्कृतो व्रात्यस्त्वं, स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्राय:।– प्रश्न उप0 2.11 का शांकरभाष्य।

ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।।

ऋ० सं० १।१।१।।

अन्वयः–पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजं होतारं रत्नधातमम् अग्निम् ईडे।

(1) **अन्वयार्थ :–** **(पुरोहितम्)** सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व ही विद्यमान **(यज्ञस्य देवम्)** सृष्टि-उत्पत्ति-रूप यज्ञ के प्रकाशक **(ऋत्विजम्)** ऋतु-ऋतु में नाना प्रकार के पदार्थों के उत्पादक **(होतारम्)** सब सुखों के दाता और **(रत्नधातमम्)** सूर्य-चन्द्रमा, हीरे-मोती, स्वर्ण-रजत आदि श्रेष्ठ रमणीय एवं उपकारी पदार्थों के अतिशय करके धारण करने एवं करानेवाले **(अग्निम् ईडे)** ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप अग्रणी परमेश्वर की मैं स्तुति करता हूँ, मैं पूजा करता हूँ।

परमेश्वर इस सृष्टि यज्ञ का पुरोहित है। वह इस की रचना से पूर्व विद्यमान रहता है। वह इसकी रचना कर ऋतु-ऋतु में नानाविध खाद्य-पेय लेह्य एवं चूष्य आदि पदार्थों को उत्पन्न कर हमें प्रदान करता है। इतना ही नहीं वह स्वयं चन्द्र, हीरे-मोती, स्वर्ण-रजत आदि नानाविध उपकारी पदार्थों से भी हमारा बहुविध उपकार करता है। ऐसे कर्मानुसार अपनी न्याय-व्यवस्था से भोग मोक्ष के दाता प्रकाशस्वरूप पावन-परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना सदा हम सबको करनी चाहिए।

(2) **अन्वयार्थः–** **(पुरोहितम्)** पुरः हितम्, अर्थात् सदा सम्मुख-स्थित रहनेवाले **(यज्ञस्य देवम्)** श्रेष्ठतम यज्ञ आदि शुभ कर्मों के प्रकाशक **(ऋत्विजम्)** ऋतु-ऋतु, अर्थात् प्रत्येक ऋतु में पूजनीय **(होतारम्)** सब प्रकार के सुख-सौभाग्यों, अर्थात् बाहर-भीतर के सुख-शान्ति और आनन्दों के दाता **(रत्नधातमम्)** दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव रूप रमणीय रत्नों को अतिशय करके सदा स्वयं धारण कर अलंकृत रहने वाले एवम् अपने समीप आये हुए उपासकों को धारण करा समलंकृत करने वाले **(अग्निम् ईडे)** ज्योतिर्मय प्रकाश के अनुपम स्रोत प्रभु का हृदय की टीस के साथ मैं स्मरण करता हूँ-स्तवन करता हूँ।

सदा सम्मुख उपस्थित रहनेवाले, यज्ञ आदि शुभ कर्मों का उपदेश करने वाले, सर्वथा, सर्वदा पूजनीय, सुख-शान्ति एवं आनन्द के दाता दिव्य गुण-कर्म स्वभावों के धारण करने वाले पावन परमेश्वर की श्रद्धा से ओत-प्रोत होकर उपासक को स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये।

(3) **अन्वयार्थ :–** **(पुरोहितम्)** पूर्व से ही हित करने के कारण सदा सम्मुख रहने वाले **(यज्ञस्य देवम्)** यज्ञ आदि शुभ कर्मों का प्रकाश करने वाले, सम्पादन करने वाले **(ऋत्विजम्)** ऋतु-ऋतु के अनुसार घृत-सामग्री से यज्ञ करने-कराने वाले वा समयानुसार यज्ञ संस्कार आदि करने-करानेवाले **(होतारम्)** कल्याणतम पथ पर अग्रसर होने के लिये सदुपदेश देने वाले **(रत्नधातमम्)** उत्तम गुण-कर्म-स्वभावरूप रमणीय रत्नों को खूब धारण करने-कराने वाले **(अग्निम् ईडे)** ज्ञान प्रकाश के धनी सच्चे ज्ञानी, विद्वान् अग्रणी नेता की मैं हृदय से स्तुति करता हूँ। प्रशंसा करता हूँ पूजा करता हूँ। सत्कार करता हूँ।

हमें चाहिये कि हम उस सच्चे हितैषी पुरोहित की सच्चे हितैषी नेता की सदा पूजा करें, सेवा-शुश्रूषा करें, जो कि व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिये समय-समय पर यज्ञ आदि उत्तम कर्मों का सदा सम्पादन करता रहता है, और उन शुभ कर्मों से सदा अपने को एवम् अपने अनुगामियों को संलग्न रखता हुआ उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से अलंकृत करता रहता है।

वेदरत्न प्रो0 राम प्रसाद वेदालंकार
पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार–249404

कालिदाससूक्तीनां याथार्थ्यम्

विक्रमादित्यस्य नवरत्नेषु अमूल्यरत्नरूपेण विख्यातस्य महाकवेः कालिदासस्य सर्वासु दिक्षु प्रसरन्ती कीर्तिचन्द्रिका कस्य सचेतसः चेतसि आनन्दातिरेकं न जनयति? कविरसौ प्रकृतिवर्णने, मनोभावचित्रणे, रसप्रयोगे, उपमादि अलंकारयोजनायां, पदलालित्ये च श्रेष्ठतम इति न तिरोहितं विपश्चिदपश्चिमानाम्। महाकवेः कालिदासस्य नाटकेषु, महाकाव्येषु च देशस्यास्य निखिलापि संस्कृतिः, कृत्स्नमपि काव्यसौन्दर्यं, भावसौन्दर्यं वा तथा प्रलभ्यते यथा भारतीयजनाः पाठं-पाठं कालिदास साहित्यं परमानन्दमनुभवन्ति। न केवलं कल्पना विलासः, न चापि केवलं श्रृंगाररसप्रवाहः, अपितु कालिदास-रचनासु पदे-पदे विचारगाम्भीर्यं दृष्टिपथमुपैति, प्राप्यन्ते च बहुविधाः अमृतोपदेशाः। महाकविना सर्वेषु काव्येषु बाहुल्येन सुधाधारामप्यधरी कुर्वन्त्यः सूक्तयः प्रतिपादिताः सन्ति। विचारणे कृते सति सूक्तय इमाः मानवस्य सर्वविधहितं सम्पादयन्ति, प्रेरयन्ति च कल्याणमार्गे। कालिदासकाव्ये गणनातीताः शाश्वत् सन्देशदायकाः सूक्तयः विराजन्ते। आसां सूक्तीनां रमणीयत्वं विलोक्य पञ्चाननः बाणः निगदति-

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते।।

कालिदासगिरां माधुर्यं, तस्य रचनासु विद्यमानमर्थगौरवं च संलक्ष्य टीकाकारो मल्लिनाथो भणति-

कालिदासगिरां सारं कालिदास सरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद् विदुर्नान्ये तु मादृशाः।।

साम्प्रतम् आस्वादयामः महाकवेः सूक्तीनां सुधासोदरं माधुर्यम्। कुमारसंभवमहाकाव्ये कविः निगदति-

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।

केषां काव्यामृतरसज्ञानामविदितं यत् चन्द्रमसि विद्यते एकः कृष्णाङ्कः। परं सः कृष्णाङ्कः सुधांशोः धवलासु रश्मिषु निलीयते न केवलं निलीयते अपितु तस्य सुधाकरस्य रमणीयत्वम् अभिवर्द्धयति, तथैव कस्मिंश्चिदपि विविधगुणगणविभूषिते जने यदि कोऽपि एको दोषो वर्त्तते तर्हि सः दोषः गुणेषु निमज्जितो भवति। तस्यैव कुमारसम्भवमहाकाव्यस्य अपरेयं सूक्तिः-

क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्त्वमुच्चैः शिरसां सतीव।

अस्यां सूक्तौ महात्मनां स्वभावो वर्णितः महाकविना। महात्मानः शरणागतं सत्पुरुषं प्रति यथा आत्मीय भावं प्रदर्शयन्ति तथैव शरणागते तुच्छजनेऽपि स्नेहभावपूर्णमाचरणं कुर्वन्तो दरीदृश्यन्ते। महनीयचरितानां महात्मनाम् स्नेहपूर्णादृष्टिः सर्वान् आनन्दयति। यथा भगवान् भास्करः निखिलं जगत् प्रकाशयति, सर्वस्य जगतः तिमिरनिकरमपाकरोति, जलधराः साधूनामसाधूनां देवानामसुराणां वा सर्वेषामेव पिपासां शमयन्ति, वायुः सर्वेषां प्राणिनां जीवनं धारयति तथैव महापुरुषाणां न कोऽपि परकीयो भवति। भगवान् श्रीरामः लंकायुद्धे शरणागते दशाननभ्रातरि विभीषणे तथैव स्निह्यति विश्वसिति च यथा सुमित्रानन्दने लक्ष्मणे आञ्जनेये हनुमति वा। अपरेयं सूक्तिः विभावयन्तु-

'विकारहेतौ सति विक्रीयन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः'।

भगवता मनुना धर्मलक्षणे सर्वप्रथमं धृतेः, धैर्यस्य समुल्लेख अकारि। धर्मग्रन्थेषु, साहित्ये च सर्वत्रैव धैर्यस्य महिमा वर्ण्यते। सम्प्राप्ते विपत्तिकाले धृतिमान् जनः न केवलम् आत्मानम् अपितु अन्यान् अपि

रक्षितुं प्रभवति। अत्र प्रश्नोऽयं समुदेति – को नु खलु धीरः ? महाकविः निगदति स एव धीरः यस्य चित्तं विकारकारणे सत्यपि विकृतो न जायते। स एव सत्यशीलः धर्मशीलः यस्य मनः प्रतिकूलवातावरणेऽपि विचलितं न भवति। सम्मुखे समुपस्थिताम् अपूर्वलावण्योपेतां नायिकां विभाल्यापि यस्य मनसि विकारः नोदेति स एव ब्रह्मचारी स एव च संयमी। महाकविः कालिदासः विश्वविश्रुते अभिज्ञानशाकुन्तले हेमकूटनाम्नि देवभूमौ तपस्यतां तपस्विनां विस्मयजननं चित्रणं कुर्वाणो निगदति –

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने,
तोये काञ्चनपद्म रेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसंन्निधौ संयमो,
यत्कांक्षन्ति तपोभिरन्यमुनयः तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी।।

धन्यास्ते वन्दनीयचरिताः महात्मानः ये विविधानि भोगसाधनानि प्राप्यापि विचालिताः न भवन्ति। त एव धीराः मन्तव्याः। सूक्तिरन्यैका विचिन्त्यताम् –

'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव'।

भारतीयेयं संस्कृतिः जीवनपद्धतिर्वा। यथा नीरदाः पृथिव्याः जलमादाय पुनः शतकृत्वा सहस्रकृत्वा वा भूम्यै प्रयच्छन्ति तथैव सत्पुरुषाः यत् प्राप्नुवन्ति, अर्जयन्ति, भूयसा परिश्रमेण वा लभन्ते तत् सर्वं परोपकाराय समर्पयन्ति। यथा निगदति भगवति श्रुतिः – 'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर'। अर्थात् हे मानव! त्वं शतहस्तैः शतप्रकारैः धनमर्जय, परमार्जितं तद्धनं सहस्रहस्तैर्विकिर। इयमेव अर्थस्य पूर्णता सार्थकता वा विद्यते। कालिदासेन रघुवंश महाकाव्ये रघुकुलोत्पन्नानां महीभृतां चारु चरित्रचित्रणं कुर्वता अयमेव भावः प्रकटितः। ते हि राजानः प्रजाभ्यः करग्रहणमकार्षुः, प्रजानां कल्याणार्थमेव च संगृहीतं धनं प्रजाभ्यः समर्पयामासुः। यथा दिवाकरः स्वकिरणैः पृथिव्याः जलाहरणं करोति सहस्रगुणं कृत्वा च पृथिव्यै प्रयच्छति –

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः''।।

सुप्रसिद्धे शाकुन्तलनाटके सुपठितां कालिदासस्य सूक्तिमिमामास्वादयन्तु सहृदयाः –

'भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र'

विधात्रा अस्माकं भाग्ये यल्लिखितं यन्निश्चितं तदस्माभिरवश्यमेव प्राप्यते गृहे वा वने वा, गहने समुद्रे वा विशाले पर्वते वा, ग्रामे वा नगरे वा यदस्माभिः प्राप्तुं योग्यमस्ति तस्य वस्तुनः प्राप्तेः द्वाराणि भवन्ति सर्वत्रैव। कण्वाश्रमे प्रविष्टे सति दुष्यन्तस्य दक्षिणबाहुः स्फुरति, तस्य मनसि विचारोऽयं समुत्पद्यते, दक्षिणबाहोः स्फुरणस्य फलम् अस्मिन् शान्ते तपोवने कथं प्राप्स्ये? तदानीमेव शंकायाः अस्याः समाधानं महाकविरनया सूक्त्या करोति। अधिगता च निसर्ग सुन्दरी शकुन्तला दुष्यन्तेन तस्मिन् सुपावने आश्रमपदे। महाकविः कालिदासः दुष्यन्तमुखेन कण्वसुतायाः शकुन्तलायाः सौन्दर्यवर्णनं कुर्वाणो गायति –

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।

पद्येऽस्मिन् वल्कलवस्त्रावृता तन्वङ्गी शकुन्तला अतीव रमणीया दृश्यते। यथा शैवलेन आच्छादितं सरोजं

रमणीयं भवति, यथा च सुधांशोः कृष्णाङ्कः तस्य शोभां संवर्द्धयति तथैव विविधाभूषणवस्त्ररहिता केवलं वल्कलं धारयन्ती शकुन्तला राजतेतमाम्। अत एवोच्यते येषां यासां च आकृतयः मधुराः भवन्ति तेषां तासां च सर्वाण्येव वस्तूनि आभूषणानि भवन्ति। अयमेव भावः षष्ठांके कञ्चुकी कथनेऽपि प्राप्यते-'अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्'।

शाकुन्तलनाटकस्यैव अन्याऽपीयं हृद्या सूक्तिः केषां सहृदयानामनुरञ्जनाय न क्षमते-

'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'

अस्यायमाशयः जीवने विविधकार्यव्यापृतमानसानामस्माकं चेतांसि कश्मिंश्चिद् अवसरे शंकाकुलानि भवन्ति, एवं विधे अवसरे सन्देहनिवारणाय न कोऽपि आप्तपुरुषः उपस्थितो भवति, तदा सज्जनानाम् अन्तःकरणप्रवृत्तिरेव प्रमाणकोटीम् आटीकते। विधिना सत्पुरुषाणां हृदयं तथा निर्मितमस्ति यत् संप्राप्ते सन्देहे तस्य निवारणे प्रभवति।

एवंविधाः शतशः सूक्तयः कालिदासकाव्ये यत्र तत्र विलसन्ति। आसु सर्वासु सूक्तिषु यद् भावगाम्भीर्यम्, अर्थगौरवं च विद्यते तन्न काल्पनिकं नापि च केवलमादर्शरूपमपितु सर्वथा व्यावहारिकं याथार्थ्योपेतं च वर्तते। अत एव महाकविः कालिदासोऽद्यापि अतिशेते अन्यान् सर्वान् अपि कवीश्वरान्।

डॉ0 महावीर अग्रवालः
आचार्यः संस्कृत विभागस्य
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः
हरिद्वारम्।

स्वराज्य महिमा

कोई कितना ही (यत्न) करे, जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि होता है। यदि मत-मतान्तर के आग्रह से रहित, अपने पराये के पक्षपात से शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा करने वाला, न्याय और दया से युक्त भी विदेशियों का राज्य हो, तो भी पूर्ण सुखदायक नही हो सकता। (क्योंकि) भिन्न-भिन्न भाषा का पृथक्-पृथक् शिक्षा का और अलग-अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे एक दूसरे का पूरा उपकार होना, अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

मेरी दृष्टि में आचार्य रामदेव जी

प्रस्तुत लेख के लेखक पं0 चन्द्रकेतु जी वर्षों गुरूकुल सूपा व गुरुकुल कांगड़ी विद्यालय में कार्यरत रहे। आपके बड़े भाई पं0 सत्यपाल जी सिद्धान्तालंकार की पुराने गुरूकुल में शेर से भिड़न्त की घटना प्रसिद्ध है। आपके छोटे भाई देशरत्न पं0 किशोरी लाल जी सरदार भगत सिंह के साथी और महान् क्रान्तिकारी स्वतन्त्रता सेनानी थे।

पं0 जी ने मेरे अनुरोध पर गुरुकुल व क्रान्तिकारियों से सम्बन्धित अनेक लेख मुझे लिखकर दिए। पं0 जी हमारे बीच अब नहीं हैं, किन्तु उनके लेख हमारे लिए महान् प्रेरणा स्रोत हो सकते हैं -

प्रस्तुतकर्ता - महावीर नीर' विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी , हरिद्वार

लगभग आज से 70 वर्ष पुरानी बात है, जब मैं छोटा सा बालक ही था, और शाखा गुरुकुल मुलतान का विद्यार्थी था। गुरुकुलों के उत्सव उन दिनों बड़ी धूम - धाम से हुआ करते थे। गुरुकुल पार्टी तथा कॉलेज पार्टी की परस्पर स्पर्धा तथा मुकाबला हुआ करता था। अत: दोनों के उत्सवों पर बड़े - बड़े दिग्गज प्रसिद्ध आर्य विद्वानों के धुँआधार व्याख्यान हुआ करते थे। गुरुकुल मुलतान के उत्सव पर प्रोफेसर रामदेव जी आचार्य के पधारने पर सारे शहर में धूम मच जाती थी। उनके व्याख्यानों में नौ - दस हजार नागरिक श्रोताओं की उपस्थिति होती थी। उस समय शहर में भी बिजली नहीं आई थी। लाऊड़ स्पीकर का तो आविष्कार भी न हो पाया था। उस समय हाथी के कानों से भी बड़े - बड़े बैंत के बने दौहरे पंखे हवा में लेकर बड़े - बड़े प्रतिष्ठित नागरिक व्यक्ति श्रोताओं को हवा करने में बड़ा गौरव अनुभव करते थे। श्रोताओं के जूतों की देखभाल तथा रख - रखाव तो आर्य समाज के उच्च अधिकारी स्वयं करते थे। ऐसी अवस्था में सिवाय पंजाब केसरी लाला लाजपत राय तथा आचार्य रामदेव जी के ओर किस की हिम्मत थी कि इतनी पब्लिक में अत्यन्त ऊँचे स्वर से दूर से दूर बैठे श्रोताओं के कानों तक स्पष्ट आवाज पहुंचा सके। मंच पर पानी भरा एक घड़ा तथा एक कांच का गिलास रखा रहता था। व्याख्यान के बीच - बीच में अनेक बार आचार्य जी स्वयं सेवक से जल लेकर पीते, और पुन: गर्जना प्रारम्भ कर देते । उनके व्याख्यान 1½ या 2 घंटे से कम के नहीं होते थे। श्रोतागण अत्यन्त शान्त भाव से स्तब्ध होकर मन्त्र मुग्ध से बैठे हुए आचार्य जी की अमृत वाणी का श्रवण करते रहते। थोड़ी 2 देर बाद तालियों की गड़ - गड़ाहट से पंडाल गूँज उठता। तुरन्त ही पुन: स्तब्धता छा जाती। आचार्य जी आर्य समाज के परम भक्त और स्वामी दयानन्दजी के प्रशंसक थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन आर्य समाज व गुरुकुल के लिए अर्पित कर दिया था। आचार्य जी जब भी स्वामी दयानन्द के गुणगान करने लगते तो वे अत्यन्त भावविभोर हो जाते थे। उस समय स्वामी जी के बारे में बोलते - बोलते किसी यूरोपीय विद्वान् की लिखी पुस्तक के कुछ वाक्य इतनी मर्मस्पर्शी वाणी से बोलते थे कि वे शब्द आज भी मेरे हृदय में गूँज रहे प्रतीत होते हैं।

उनका सारांश इस प्रकार था-

"पूर्व में एक छोटी सी चिंगारी पैदा हुई है। लोगों ने पहले उसे बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखा। जब वह बढ़ने लगी तब ईसाई, मुसलमान, तथा अन्य धर्मावलम्बियों ने उसे बुझाने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु आश्चर्य यह है कि वह आग इन प्रयत्नों से और भड़क उठी । यह किसी के वश की न रही । मैं देखता हूँ कि वह आग शीघ्र सारे ही संसार भर में व्याप्त होकर जो कुछ भी कलुषित, असत्य और पापमय है, उसे भस्म कर देगी। यह चिंगारी स्वामी दयानन्द के रूप में पैदा हुई है।" दूसरी बात जो जोश खरोश से ऊँची आवाज में गरजकर बोलते थे वह यह थी-

"शीघ्र ही वह समय आने वाला है, जब यूरोप और अमरीका महाद्वीप भी वैदिक धर्म के नाद से गूँज उठेंगे। तब लंदन और न्यूयार्क के गिरजाघरों पर भी "ओ3म्" के झंडे लहराने लगेंगे।"

उक्त वाक्य के कहने पर तो सारा मंडप आर्य समाज की जय जयकार तथा तालियों की गड़-गड़ाहट से गूँज उठता था। और आचार्य रामदेव जी पसीना 2 होकर व्याख्यान समाप्त कर अपना आसन ग्रहण करते थे-

"होनहार बिरवान के होत चिकने पात"

कवि के ये शब्द आचार्य जी के जीवन पर पूणरूपेण चरितार्थ होते हैं।

आचार्यजी का जन्म पंजाब के नगर होशियारपुर के उपनगर "बजबाड़ा में भल्ला परिवार में 31 जुलाई सन् 1881 ई. में हुआ था। आप डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर के प्रिंसिपल महात्मा हंसराज जी के मौसेरे भाई थे। अतः डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर के अधीनस्थ विद्यालयों में ही आपकी शिक्षा दीक्षा हुई थी। तब तक लाहौर ही नहीं समस्त पंजाब में ही आर्य समाज के दो दल हो चुके थे। डी.ए.वी. कॉलेज के पक्षवाली आर्य सदस्य मांसपार्टी, दूसरा दल घासपार्टी के नाम से पहिचाना जाता था। बाद में प्रथम दल कॉलेज पार्टी तथा दूसरा दल गुरुकुल पार्टी के नाम से पहिचाना जाता रहा। कॉलेजदल के नेता थे महात्मा हंसराज जी तथा लाला लाजपतराय जी इत्यादि। गुरुकुल दल के नेता लाला मुंशी राम जी वकील, लाला देवराज जी, महाशय कृष्ण जी तथा पं० गुरुदत्त जी इत्यादि। विद्यार्थी रामदेव भी मांस पार्टी के पक्ष पोषक ही नहीं अपितु प्रचारक भी थे, विद्यार्थियों में महात्मा मुंशीराम जी के प्रति दुर्भावना, घृणा तथा निन्दा फैलाना अपना कर्तव्य समझते थे। अभी तक आपने मुंशी राम जी के दर्शन भी नहीं किये थे। 13 वर्ष की अवस्था में आपका विवाह जालंधर में हुआ। उस समय मंडप में कन्या पक्ष की ओर से जालंधर के प्रसिद्ध वकील लाला मुंशी राम जी और लाला देव राज जी भी उपस्थित थे। रामदेव को बताया गया कि यह जो सामने बैठे हैं यही मुंशी राम है। सारे फसाद की जड़ यही है। रामदेव ने उनको बड़ी घृणा की दृष्टि तथा तिरस्कार भरी दृष्टि से देखा - यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जिस कन्या से उनका विवाह हुआ वह कुछ साल तक कन्या महाविद्यालय जालंधर में ही पढ़ी हुई थी। रामदेव जी कॉलेज में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे- तब म० हंसराज जी ने उनको एक काम सौंपा कि प्रति रविवार तुम गुरुकुल पार्टी की आर्यसमाज वच्छो वाली में जाकर देखा करो कि कौन-कौन से व्याख्याताओं के वहाँ पर प्रवचन होते हैं। और उनके उपदेशों में समाज मन्दिर में श्रोताओं की संख्या कितनी होती है। इस नियम का पालन करते हुए किशोर रामदेव ने अमर शहीद पं०लेखराम जी पं०गुरुदत्त विद्यार्थी तथा महात्मा मुशीराम जी के सारगर्भित उपदेश भी सुने, बस फिर क्या था। डी.ए.

वी कालेज के प्रथम वर्ष के विद्यार्थी पर गुरुकुल पार्टी का रंग चढ़ गया। उस जमाने में सनातनधर्मी हिन्दू तो **स्त्रीशूद्रो नाधीयाताम्**'' के कट्टर पक्षपाती थे ही परन्तु साथ ही डी.ए.वी. कालेज के आर्य सदस्य भी स्त्री शिक्षा के कट्टर विरोधी थे। परन्तु महात्मा मुंशी राम जी ने लाला देवराज जी की सहायता से जालंधर शहर में एक कन्या महाविद्यालय नाम से लड़कियों की पाठशाला खोल दी। इस कार्य के लिये आप दोनों को गाली गलोच, निन्दा और दुर्वचनों के सिवाय ईट पत्थर की चोट भी सहनी पड़ी। और विरादरी से बहिष्कार की धमकी भी दी गई। आप दोनों दृढ संकल्प महापुरुष थे।

''न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः''

कवि की इस उक्ति के अनुसार ध्रुव के समान स्थिर रह कर इस महान् कार्य में तत्पर रहे। इन महान् तपस्वियों के कार्य को तटस्थ भाव से रामदेव विद्यार्थी देख रहे थे। वह इतने प्रभावित हुए कि उनके विचारों के पोषक बन गये। उस समय डी.ए.वी कालेज से एक अंग्रेजी में पत्रिका ''आर्य मैगजीन'' निकला करती थी। उसके सम्पादन का भार भी रामदेव पर ही था। इस पत्रिका में आपने एक काल्पनिक कहानी लिखी जो छपी भी। कहानी की नायिका जालन्धर कन्या महाविद्यालय की एक बालिका ही थी शिक्षा। उसने इस कन्या महाविद्यालय से पढ़कर विवाह के उपरान्त अपने महापातकी दुराचारी, शराबी कबाबी, तथा जुआरी पति को किस प्रकार अपने सद्व्यवहार से उत्तम, सच्चरित्र नागरिक बना दिया और किस प्रकार अपने ससुराल में रहकर सम्पूर्ण परिवार को स्वर्ग सुखमय बना दिया। यह दर्शाया गया था।

सारांश यह कि उस लघु कथा के माध्यम से लेखक ने कन्या महाविद्यालय की भूरि भूरि प्रशंसा की थी। कालेज पार्टी में इस कथा को लेकर हंगामा मच गया। क्योंकि उस समय तक गुरुकुल कांगडी की स्थापना न हो पाई थी। घास पार्टी इस कन्या महाविद्यालय से ही पहिचानी जाती थी। कालेज के प्रिंसिपल महात्मा हंसराज जी ने रामदेव जी को भविष्य में ऐसा जघन्य अपराध न करने की चेतावनी दे दी। परन्तु अधिकारी वर्ग इतने से ही संतुष्ट न हुए। अनुशासन की कार्यवाही पर तुल गये। उधर रामदेव महात्मा मुन्शी राम जी की पार्टी का प्रचार कार्य भी करते रहे और साथ ही चन्दा भी। इधर महात्मा मुंशी राम जी के व्याख्यानों से प्रभावित होकर रामदेव जी भी परदे के भी विरोधी बन गए। कॉलेज पार्टी तो परदे के पक्ष में ही थी। एक दिन रामदेव जी ने अपने दो तीन मित्रों को घर ले जाकर अपनी पत्नी से उनका परिचय करा दिया। इस पर भल्ला परिवार में भयंकर हलचल मच गई। रात्रि के 10 बजे पिता जी ने रामदेव जी को बुलाकर समझाया, बुझाया-डराया, धमकाया भी पर रामदेव जी तो अपने संकल्प पर दृढ रहे। और नम्रतापूर्वक यही कहते रहे-मैं स्त्रियों के परदे का पक्षपाती नहीं हूँ और सम्पूर्ण आयु इसका विरोध ही करता रहूँगा। मैं तो अपने जीवन में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार का प्रचार करता रहूँगा। क्रोध के आवेश में पिता जी बोले तो फिर मेरे घर से निकल जाओ। 'जैसी आज्ञा' कहकर दूसरे दिन प्रात:काल अपनी पुस्तकें लेकर कालेज जा पहुँचे बाहर नोटिस बोर्ड पर सूचना टंगी थी, जिसमें महात्मा पार्टी का पक्ष लेने के कारण रामदेव जी को कालेज से निष्कासित किया गया था। कालेज से प्रमाण-पत्र लेकर रामदेव जी बाहर आए। आज उनकी अवस्था ऐसी थी ''धोबी का कुत्ता घर का न घाट का'' **इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः**'' न तो घर का आश्रय रहा, न कालेज का। जायें तो जाये कहाँ। जब इधर-उधर भटककर सायंकाल लाहौर शहर के गोल बाग के एक पेड़ तले जा बैठे। घुणाक्षर न्याय से सामने की सड़क पर आते जाते जन समूह में से रामदेव जी

के एक मित्र ने इन्हें चिन्तित अवस्था में बैठे देख लिया। पूरा विवरण जानकर उनको अपने घर ले गया। यह समाचार चार दिन में ही जालंधर में महात्मा मुशीराम जी को मिला-

सच्चे धर्म पिता की गोद में :-

वे तुरन्त दूसरी गाड़ी से लाहौर में जाकर उस मित्र के घर पर पहुँच गये और रामदेव जी को छाती से लगाकर कहा-रामदेव ! आज से तुम मेरे पुत्र हो, घर से निकल जाने की कोई चिन्ता न करो-मैं तुम्हारा पालन पोषण करूँगा। तुम्हें एम0ए0 तक पढाऊँगा। दोनों की ही आंखों से प्रेमाश्रु बह चले। रामदेव जी सोच रहे थे यह कैसी महान् आत्मा है। सचमुच एक नवीन पिता प्राप्त कर लिया था।

परन्तु जब उनको यह मालूम हुआ कि महात्मा मुशीराम जी ने वकालत छोड़कर सारा जीवन सामाजिक कार्यों में समर्पित कर दिया है, उनसे आर्थिक सहायता लेना भी स्वीकार न किया। महात्मा जी ने उनको आर्य पत्रिका के सम्पादकीय विभाग में काम दिला दिया। रामदेव जी के पिता जी भी पसीज उठे। उन्होंने घर पर बुलावा भेजा परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ रामदेव ने घर जाने से सर्वथा इन्कार कर दिया। अपनी शिक्षा तथा ट्रेनिंग समाप्त कर आप जालंधर छावनी के विक्टर हाई स्कूल के हैडमास्टर नियुक्त हुए।

महात्मा मुंशीराम जी ने अथक परिश्रम कर और अपना तन, मन, तथा धन और अपना सर्वस्व अर्पण कर गुरुकुल कांगडी की स्थापना हरिद्वार गंगा पार चंडी रेंज में गंगा के मधुर टापू में कर दी थी। पठन-पाठन के लिए संस्कृत के दिग्गज धुरंधर विद्वान् भी जुटा लिये थे परन्तु अत्यन्त दूरदर्शी महात्मा जी का आदर्श कुछ और ही था। वे कहा करते थे कि मैं तो तप और ब्रह्मचर्य की भट्टी में तपाकर, सभ्य, सुशिक्षित, सदाचारी, धर्मात्मा देशभक्त, नागरिक पैदा करना चाहता हूँ इसलिए इन ब्रह्मचारियों की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए ज्ञान, विज्ञान, कृषि, इतिहास, भूगोल, खगोल, गणित, चित्रकला, तथा दस्तकारी की भी शिक्षा देना परम आवश्यक है। पंडित मंडली तो इस विचारधारा का विरोध ही करती रही परन्तु दृढ़संकल्प वाले महात्मा मुंशीराम जी तुरन्त जालन्धर जा पहुँचे। सच है हीरे की पहिचान तो केवल सच्चा पारखी जौहरी ही कर सकता है। बरसों से म. मुंशीराम जी की दृष्टि रामदेव जी पर जमी हुई थी। आज समय आ पहुँचा। हैडमास्टर रामदेवजी को बुलाकर समझाया। देश की पतनावस्था का चित्र खींचा और ब्रह्मचारियों को आदर्श देशभक्त नागरिक बनाने के लिए आपको गुरुकुल में चलने की प्रेरणा प्रदान की। उस समय रामदेव जी के पास अनेक बड़े 2 पदों पर नियुक्ति की मांग आ रही थीं परन्तु आपतकालीन पूर्व उदारता ने सब प्रकार के प्रलोभनों को लात मार कर अपना सम्पूर्ण जीवन निर्वाहमात्र लेकर अपने धर्म पिता के चरणों में समर्पित कर दिया। आप गुरुकुल में आ विराजे और फिर सम्पूर्ण शक्ति लगाकर गुरुकुल की सर्वतोमुखी उन्नति में रत हो गये। यह बात किसी भी भारतवासी से तथा सम्पूर्ण संसार के शिक्षाशास्त्रियों से छिपी नहीं है। आप गुरुकुल से एक मासिक पत्र अंग्रेजी में ''वैदिक मैगजीन'' निकालते थे। उसमें वैदिक-साहित्य तथा प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के सजीव लेखों ने देश विदेश की यूनिवर्सिटियों में तहलका मचा दिया। अनेक विदेशी शिक्षाशास्त्री गुरुकुल को देखने समझने आने लगे। परन्तु परमात्मा इस सच्चे ब्राह्मण की कडी अग्नि परीक्षा लेना चाहता था। आप एक मामूली से फूंस की झोपडी में रहते थे-एक दिन परिवार गृह में छप्पर ने आग पकड़ ली। देखते ही देखते आग ने दसियों घर जला दिये। ब्राह्मण का धन तो पुस्तकें ही होती हैं, धांय 2 कर झोंपडी में रखी सैकड़ों विदेशी विद्वानों की पुस्तकें जिनका मूल्य हजारों रु0 था जलनें लगी, सुख-दुःख में समावस्था में रहने वाले प्रोफैसर रामदेव जी थोड़ी दूर निष्काम भाव से उस अग्नि कांड को टुकर टुकर

देख रहे हैं। साथ में मन्द-मन्द मुस्कान भी करते थे। साथियों ने पूछा प्रोफेसर जी! क्या सोच रहे है? प्रोफेसर रामदेव जी ने भी गंभीरतापूर्वक शान्त भाव से उत्तर दिया-यह देखो पाश्चात्य सभ्यता की होली जल रही है। ठीक ही तो है। वे सुख-दुःख में समरूप ही रहते थे। अगली परीक्षा तो और भी कड़ी हुई। महात्मा मुंशीराम जी संन्यास ग्रहण कर श्रद्धानन्द बन गए और गुरुकुल का समस्त भार अपने धर्मपुत्र प्रो0 रामदेव जी पर छोड़ गए। दिल्ली में वे सामाजिक कार्यो में लग गये। प्रकृति प्रकोप से सन् 1924 ई0 में गंगा की भंयकर बाढ़ में गुरुकुल कांगडी के सारे कच्चे मकान, परिवार-गृह, विद्यालय तथा कालेज के छात्रावास, गोशाला, प्रेस भंडार, वस्तुभंडार, गंगा के पेट में समा गए। **"हा! हन्त हन्त-नलिनीं गज उज्जहार"** केवल दो चार मकान पक्के और दुमंजिले शेष रह गए, परन्तु क्षतिग्रस्त वे भी हो गये। अब गुरुकुल को पुनः बसाने का सर्वसम्मति से गंगा के इस पार गंगनहर के बायीं ओर कनखल ज्वालापुर रोड़ पर प्रयत्न किया जाने लगा। परन्तु अकेले कर्मवीर प्रो0 रामदेव जी ने भारत के सब पत्रों में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की विशेषताओं को दर्शाते हुए एक विस्तृत लेखमाला निकाली। दूसरा सारे भारत का दौरा कर लाखों रु0 चन्दा एकत्रित कर गुरुकुल का पुनः निर्माण किया। सब स्थानों पर अपमान को अमृत समान जानकर, मान और सम्मान को विष समान मानकर दूर ही रहे। यही तो सच्चे ब्राह्मण की पहिचान है। आप बम्बई, कलकत्ता, वर्मा, मद्रास इत्यादि पूर्व से पश्चिम तक, दक्षिण से उत्तर तक चंदे के लिए गए। आप सब आज जो इस पवित्र भूमि पर करोड़ों रू0 के सैकडों भव्य भवन देख रहे हैं, इनमें 80 प्रतिशत से भी अधिक प्रो0 रामदेव जी के लाए हुए चन्दे से बने हैं। गुरुकुल पुस्तकालय में 1 लाख से भी अधिक पुस्तकें थीं। आपने सबकी सब पुस्तकें पढ़ छोडी थीं और अक्षरशः कंठाग्र भी कर ली थी। आइये, पाठकवृंद, आप ऐसी अत्यन्त मनोरंजक तथा आश्चर्यभरी एक घटना पढ़िये-

एक दिन गुरुकुल का भारतभर में ख्याति प्राप्त हाकी दल, रामपुर स्टेट से चार फुट ऊँचा "हाकी टूर्नामेंट का बड़ा कप दसियों टीमों को पराजित कर फाइनल में जीत कर लाया। गुरुकुल में उनका बैंड बाजों के साथ जलूस निकाल कर भव्य स्वागत हुआ। दूसरे दिन स्वागत समारोह की सभा हुई। सभापति पद पर आचार्य रामदेव जी को बैठाया गया। सम्पूर्ण समारोह के उपरान्त सभापति का भाषण पूरे 1 घंटे तक हुआ। प्रोफेसर जी ने हाकी के इतिहास के साथ पुराने खिलाडियों के नाम पिछले बीसियों वर्षो के टूर्नामेंटों के वर्णन तिथि के अनुसार, मैदान की रचना सम्पूर्ण नियमों का विशद तथा विस्तार में वर्णन ऐसा किया कि उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि हाकी का विश्व विजयी ध्यानचन्द ही खड़ा व्याख्यान दे रहा है। श्रोता सब आश्चर्यचकित थे। सभा के अनन्तर खिलाड़ियों ने प्रोफेसर जी से पूछा कि आप तो हाकी पकडना भी नहीं जानते परन्तु इतना सूक्ष्म विवेचन आपने कैसे किया- प्रोफेसर जी ने मुस्कराते हुए गंभीरता से उत्तर दिया-रात में ही मैने पुस्तकालय से "इनसाईकलोपीड़िया" इत्यादि के बीसियों ग्रंथ मंगाकर हाकी साहित्य का अनुशीलन किया और आज के व्याख्यान में उसका विस्तार से अक्षरशः वर्णन भी किया। इस से आप उनकी स्मृति-शक्ति का अनुमान लगा सकते हैं।

प्रो0 रामदेव जी सूझ-बूझ के कितने धनी थे-साथ ही प्रत्युत्पन्नमति भी थे इसकी भी एक कथा संक्षेप में सुनिये-अन्य एक घटना सत्याग्रह के दिनों की भी पढिये-

गांधी जी का सत्याग्रह जोरों पर चल रहा था, साथ ही सरकारी दमनचक्र भी प्रबल गति से उसे कुचलने का प्रयत्न कर रहा था। स्थान स्थान पर 144 धारा मार्शल ला, निषेधाज्ञाएं प्रचलित थी। अनेक कांग्रेस की संस्थाओं को भी गैरकानूनी करार दिया हुआ था-

सी.आई.डी. की रिपोर्ट पर लखनऊ से मेरठ कमिश्नर को आदेश मिला-गुरुकुल कांगडी में गारद ले जाकर राष्ट्रीय ध्वज को उतार कर उस स्थान पर ''यूनियन जैक'' को फहरादो; पुस्तकालय की तलाशी लेकर जब्तशुदा साहित्य बरामद कर अदालत में केस प्रस्तुत करो। इस काम में यदि बल प्रयोग भी करना पड़े तो निःसंकोच बिना किसी हिचकिचाहट के किया जाए-

देखते ही देखते कमिश्नर साहेब जो एक अंग्रेज के साथ ही अत्यन्त साहित्य प्रेमी विद्वान् थे, बडी फोर्स के साथ गुरुकुल में आ धमके। जवानों के पास लाठी, अश्रु गैस के गोले तथा अन्य आग्नेय अस्त्र पर्याप्त मात्रा में थे।

शिष्टाचार के नाते गुरुकुल से बाहर ही फोर्स को खड़ाकर अपने आगमन की सूचना कारण सहित आचार्य जी के पास भिजवा दी-देखिये, प्रो0 रामदेवजी की सूझ-बूझ। वे तुरन्त कमिश्नर के पास आए। हाथ मिला कर साहित्यिक चर्चा प्रारम्भ कर दी। फिर क्या था-खड़े ही खड़े दो घंटे तक दोनों दिवाने इतने तल्लीन हो गये और विद्वान् कमिश्नर साहेब भी प्रोफेसर जी की अगाध विद्वत्ता पर इतने मुग्ध हुए कि अपना कर्तव्य भी भूल से गए। बाद में याद आने पर अपने पी.ए. को पुस्तकालय में भेजा। इतने में जप्तशुदा साहित्य तो वहाँ से हटाया ही जा चुका था- अतः उसने रिपोर्ट दी सब ठीक है। इधर बड़े ब्रह्मचारी राष्ट्रीय ध्वज को घेरे में लेकर और यह शपथ लिए थे कि आज कट मर भले ही जायेंगे पर राष्ट्रीय ध्वज के स्थान पर यूनियन जैक कभी नहीं फहराने देंगें। समस्या विकट थी। जब कमिश्नर साहेब ने प्रोफेसर जी से राष्ट्रीय ध्वज का प्रसंग छेड़ा तो प्रोफेसर रामदेव जी मुस्कराकर बोले-यहाँ तो जंगल में हम सरस्वती की आराधना में रत हैं। यह ध्वज तो बच्चों का खेल ही समझिए, यहाँ जंगल में बगावत का क्या काम-उनके इस प्रकार के उत्तर से अत्यन्त प्रभावित कमिश्नर भी मुस्करा दिया और ''आलराईट'' कहकर सारी गारद को लौटने का आदेश दिया। स्वयं भी प्रो0 जी से पत्र व्यवहार द्वारा मिलते रहें ऐसा कहकर और हाथ मिलाकर वापस मेरठ चले गये। इस प्रकार उस समय एक भयंकर खून खराबे के प्रसंग को आनन फानन में समाप्त कर दिया। स्त्री-शिक्षा के प्रबल पोषक होने के कारण ही कन्या गुरुकुल देहरादून की स्थापना कर उसके लिए भी चन्दा करते रहे। गुरुकुल की सेवा से निवृत्त होकर स्वास्थ्य न रहने पर भी कन्या गुरुकुल में ही रह कर उसकी सर्वतोमुखी उन्नति करते रहे। परिवार की भी चिन्ता न की। आचार्य रामदेवजी ने आर्य समाज, गुरुकुल तथा कन्या गुरुकुल देहरादून पर अपना सब कुछ वार दिया। उक्त संस्थाओं से उनको अनन्त प्रेम था। ऐसा प्रेम विरले ही पुरुषों में होता है। उनकी गणना आर्य समाज के इने गिने विद्वानों में थी और उन्होंने विदेशों के विद्वानों के समाने आर्य समाज का उज्ज्वल तथा सुन्दर रूप प्रस्तुत किया। उनकी सेवाएं अनगिनत हैं। वे इस सब लघु लेख में प्रस्तुत नहीं की जा सकती। 9 दि0 1939 को उनका लम्बी बिमारी के बाद देहान्त हो गया।

ऐसे महान् तपस्वी सच्चे ब्राह्मण को ही नहीं अपितु ऋषि को हमारा शत शत प्रणाम हो।

।। इति श्रद्धांजलि।।

स्व0 श्री पं0चन्द्रकेतु जी
पूर्व अधिष्ठाता विद्यालय विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

अतिथि की 'गोघ्न' संज्ञा

वैदिक धर्म में यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म माना गया है[1]। महत्ता की दृष्टि से देखा जाए तो यज्ञ को इसका मेरुदंड कहना उचित ही प्रतीत होता है। यज्ञ का मूलाधार 'गो'है क्योंकि 'गो' यज्ञ के लिये हवि प्रदान करती है[2]। अर्थात् गो से प्राप्त पदार्थों का ही यज्ञ में उपयोग होता है और यज्ञ में देवताओं के निमित्त इन हवि आदि पदार्थों का त्याग किया जाता है। अत: गो के बिना यज्ञ होना संभव नहीं है। वह स्वयं यज्ञ स्वरूप है। गो व यज्ञ का संबंध आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक - इन तीनों रूपों में मिलता है जो यज्ञ - तत्व को समझने में सहायक है। इसलिये आर्यों में सदा गो की प्रतिष्ठा और पूजा होती आयी है। वह वन्दनीया एवं पूजनीया है और मातृत्व पद पर अधिष्ठित है 'गो' शब्द का धात्वर्थ 'गति' है और उसके विभिन्न अर्थ हैं। वैदिक साहित्य में उसका प्रतीकात्मक वर्णन भी है।

भारत में अतिथि सत्कार को भी अत्यधिक महत्व दिया गया है। उसे देवता स्वरूप माना गया है।(अतिथि देवोभव) यहाँ तक कि आतिथ्य को यज्ञ का शिरोस्थानीय कहा गया है[3]। आतिथ्य के लिये प्रमुख रूप से 'गो'को प्रयुक्त किया जाता था अर्थात् अतिथि (देवातिथि अग्नि या लौकिक मनुष्यातिथि) सत्कार में पवित्र पशु 'गो' के दुग्धादि पदार्थों का प्रभूत प्रयोग किया जाता था[4]। उसे दान में गो प्रदान की जाती थी। इसी कारण अतिथि को गोघ्न संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। इसी 'गोघ्न' शब्द को लेकर कुछ व्यक्तियों का विचार है कि पूर्वकाल में भारत में अतिथि के लिये गोवध हुआ करता था। उनका अभिप्राय: है कि 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' (पा0 3/4/73) इस सूत्र से 'गोघ्न' शब्द की सिद्धि होती है। 'गोघ्नोऽतिथि इस प्रसिद्धि से स्पष्ट है कि पूर्वकाल अर्थात् वैदिक काल में अतिथि के लिये गोवध हुआ करता था किन्तु क्या वास्तव में ऐसा होता था अथवा केवल यह भ्रम मात्र है। अत: यह विषय गंभीरता पूर्वक विचारणीय है।

यह ध्यातव्य है कि वेदों में गो को 'अघ्न्या' और वृषभ (सांड या बैल) को 'अघ्न्य' कहा गया है जिसका अर्थ है 'न मारने योगय[5]। अन्य किसी पशु के लिये ऐसा शब्द नहीं आया है। यदि वेदों में 'गोघ्न' शब्द से गाय का मारना' इष्ट हो तो उसका 'अघ्न्या' शब्द के साथ वेदादि शास्त्रों में परस्पर वदतो व्याघात दोष आ जायेगा। अत: 'गोघ्न' शब्द से उक्त अर्थ विवक्षित नहीं है।

ऋग्वेदादि में सर्वत्र स्पष्ट शब्दों में गोहत्या का निषेध है। उसमें 'अघ्न्या' एवं 'अदिति'[6] ये दोनों विशेषण (जिनका प्रयोग हुआ है। गो की अवध्यता को सूचित करते है[7]। महाभारत में भी गोवध को 'अघ्न्या' शब्द से ही अवैदिक सिद्ध किया गया है[8]। गो को अघ्न्या की तरह ही वेदों में अभक्षणीया भी कहा गया है[9]। वास्तविकता यह है अघ्न्या (गो) को तो नष्ट करने वाले का सिर काटने की व्यवस्था दी गयी है[10]। इससे स्पष्ट है कि वेदों में गोवध दंडनीय अपराध है और ऐसा करना निषिद्ध व अविहित कर्म माना गया है।

वेदों में यज्ञार्थ गो से प्राप्त अन्नों का अत्यधिक रूप से वर्णन मिलता है। गो प्रदत्त दुग्धादि अन्न को एक मंत्र में महाधन कहा गया है[11]। 'गो' दो प्रकार से अन्न प्रदान करती है। प्रथमत: दुग्धआदि के रूप में और द्वितीय कृषि कर्म में सहायक बनकर दुग्धादि पदार्थ व कृषि जन्यधानों को ही क्रमश: 'वशान्न' (दुधारू गाय द्वारा प्राप्त अन्न) और उक्षान्न कहा गया है[12]। अन्न प्रदात्री होने से ही गो को 'अन्न' भी कहा गया है[13] और उसकी एक संज्ञा 'इळा' भी है[14]। इळा को भी अन्न कहा गया है[15]।

इळा पृथ्वी का भी पर्यायवाची है[16] और भूमि को गो भी कहा जाता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र मे गो के समान माता पृथिवी को भक्षण करने (अश्भोजने) का उल्लेख मिलता है[17]। इससे स्पष्ट है कि जैसे पृथ्वी का भक्षण उस पर उत्पन्न अन्न, फलादि खाने को कहा जा सकता है वैसे ही गो का भक्षण उससे प्राप्त दुग्ध घृतादि खाने के रूप में होगा। गो - मांस के रूप में नहीं।

'गोघ्न' शब्द दो शब्दों का संयुक्त रूप है अर्थात् 'गो' और 'घ्न'। सामान्यत: 'गो' का अर्थ है 'गाय' और 'घ्न' का अर्थ है मारना किंतु वेदों में गो का अघ्न्या नाम प्रयुक्त होने के कारण गो के प्रसंग में हन् धातु का अर्थ हिंसा करना उचित नहीं है। उसके (हन्) अन्य अर्थ गति, ज्ञान, गमन और प्राप्ति अर्थ ही इस प्रसंग में उपयुक्त हो सकते हैं। महर्षि पाणिनि ने भी दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने सूत्र द्वारा अतिथि के लिये गो प्रदान करना' 'गाव: हन्यन्ते प्राप्यन्ते यस्मै स: गोघ्नोऽतिथि: अर्थ को ही प्रामाणिक माना है अर्थात् जिस विद्वान् श्रोत्रिय अतिथि को सम्मान हेतु गो का दान किया जाये। उक्त सूत्र में सम्प्रदान शब्द का पाठ इसलिये है कि अतिथि के लिये गो का स्वत्व निवृत्तिपूर्वक दान किया जाये। अन्यथा दाशगोघ्नौ तस्मै इतना ही पाठ पाणिनि पढ़ सकते थे।

प. सातवलेकर जी ने गोघ्न' का अर्थ हस्तघ्न की तरह 'गोरक्षक' किया है। गोघ्न की तरह हस्तघ्न' पद भी वेदमंत्रों में आता है। धनुष की डोरी का आघात हाथ पर न हो इसलिये बांये हाथ पर गोधाचर्म का वेष्टन वीर क्षत्रिय करते थे। इसका नाम हस्तघ्न है। जैसा 'हस्तघ्न' पद है, वैसा ही 'गोघ्न' पद है जिसका अर्थ 'गो का रक्षक' है[18], गोघातक नहीं, इसलिए उक्त पद के अनुसार गो को मारने का विचार भी नहीं आ सकता।

शब्द के साथ उसके अर्थ को और अर्थ की अभिव्यक्ति हेतु शब्द को समझना ही एक औचित्यपूर्ण धर्म है। वेदों में गो - वध क्या किसी पशु - हिंसा की बात सोचना भी उचित नहीं है। वैदिक विचार धारा में यज्ञ को अति महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यज्ञ के लिए वेदों में 'अध्वर' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य यास्क ने निरुक्त में लिखा है - **'अध्वर इति यज्ञ नाम, ध्वरति हिंसा कर्मा तत्प्रतिषेधः'** अर्थात् अध्वर का अर्थ है - हिंसा रहित कर्म। अत: यज्ञ में पशुवध होने से अध्वर शब्द सार्थक नहीं हो सकता। वास्तव में यज्ञ के प्रकरण में पशु शब्द से संबंधित जितने भी नाम हैं, उनका अभिप्राय अन्न से ही है, पशु से नहीं। अन्नमय पशु के होम करने ही का विधान है वेदों में तो पशु मात्र की रक्षा के लिए स्पष्ट निर्देश है - **"पशून् पाहि"**, **"पशूंस्त्रायस्व"**, **"द्विपादव चतुष्पात्, पाहि"** यजु0।। यह भी उल्लेखनीय है कि पशु - रक्षा सम्बन्धी मंत्रों के साथ - साथ ऐसे मंत्रों का भी अनेक जगह उल्ल्लेख है, जिनमें पशु हिंसा का निषेध किया गया है यथा - **"गां मा हिंसीरदितिं विराजम्"**, **"इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्"** (यज्ञ:), अत: स्पष्ट है कि वेदों में हिंसा का उल्लेख नहीं है।

ध्यान रहे कि गो ही मुख्य रूप से हवि प्रदान करती है। अतएव गौओं को 'हव्यसूद': (हव्य निष्पादिका) कहा गया है[19]। हविभक्षण करने के कारण अग्नि को 'हव्यात्' कहा गया है। यज्ञ में केवल 'हव्यात्' अग्नि ही प्रयुक्त होती है। शव जलाने वाली 'क्रव्याद्' और मांस भक्षी 'आमाद्' अग्नियों को यज्ञ से पृथक् रखा जाता है। अग्नि को यज्ञ में वशा और उक्षा द्वारा आहूत किया जाता है[20] और उक्षान्न(धान) और वशान्न (दुग्धादि) ही यज्ञ में ग्राह्य है[21]। अत: इन्हें क्रमशः भक्षणीय एवं अभिलषणीय अन्न कहा गया है।

वस्तुत: 'गोघ्न' शब्द अतिथि-पूजा का अर्थवाद है। यदि 'हन्' धातु से 'हिंसा' ही का भाव लेना हो तो अर्थवाद से उसका तात्पर्य ही लिया जाएगा, क्योंकि अर्थवाद का तात्पर्य वास्तविक हिंसा से न होकर एक उच्च की अप्रतिष्ठा तथा दूसरे निम्न को उत्कृष्टतर बनाने में हुआ करता है। इस रूप में 'पूजनीया' गो की प्रतिष्ठा हीन हो जाती है। अतिथि की उपस्थिति में यह उसका अपमान है और यही अप्रतिष्ठा एक प्रकार से उसका 'हनन' (मरण) है[22] क्योंकि 'गो' तो पूजनीया है ही, किन्तु अतिथि उससे भी अधिक पूज्य है। उसके सम्मान (आदर-सत्कार) से 'गो' का महत्व कम हो जाता है। और इस अप्रतिष्ठा (अपमान) का कारण अतिथि होता है, इसीलिए अतिथि को 'गोघ्न' कहा गया है। मधुपर्क में भी दधि, मधु, घृत, जल और मिश्री इन पांचों का ही मिश्रण होता है। मांस का नही। समांस मधुपर्क का प्रयोग नहीं होता था।

अत: वेदादि में 'गोघ्न:' उस अतिथि को कहा गया है, जिसके आने पर उसका आदर-सत्कार (सेवा शुश्रूषा) दुग्धादि, जल एवं मधुरवाणी से किया गया है, क्योंकि 'गो' के विभिन्न अर्थो में 'दुग्ध '(दूध) 'आप' (पानी) और 'वाणी' (मधुर) भी समाविष्ट हैं।

संदर्भ: –

(1) यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म शतपथ ब्राह्मण 1/5/4/5 तथा यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता- 1/1!
(2) अत: गो का एक विशलेषण अथर्ववेद में 'यज्ञपदी' प्रयुक्त हुआ है। (अथर्व 10/10/6)
(3) शतपथ ब्राह्मण 3/3/2/1
(4) इसलिये ऋग्वेद में गो का एक विशलेषण 'अतिथिनी' भी प्रयुक्त हुआ है। (ऋग्वेद 10/68/3) विशेषण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। (5) ऋग्वेद में प्रयुक्त गौ के लिए 'अघ्वर्या (10.98.3) विशेषण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। (6) ऋग्वेद 8/101/15/ (7) गो का पर्यायवाची नाम 'अही' है। यह पद अ पूर्वक हन् धातु से व्युत्पन्न है। और इस रूप में गौ की अवध्यता को प्रकट करता है। (8) महाभारत शांतिपर्व 262/47 (9) अथर्ववेद 5/18/3 (10) ऋग्वेद 10/87/16/ यजुर्वेद में भी गोघातक को मृत्युदंड देने की व्यवस्था है। (अन्तकायगोघातम्) यजुर्वेद वाज0 सं. 30/18) (11) ऋग्वेद महोराय: 8/23/29 इस मंत्र में गोमतीरिष: का तात्पर्य दुग्धधृतादि पदार्थों से है। (12) ऋग्वेद 8/43/11 (13) अन्नं वै गो:- तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/9/8/3 अन्नं हि गो: शतपथ ब्राह्मण 4/3/4/25 (14) निरुक्त 2/11 (15) ऐतरेय ब्राह्मण 8//26 (16) इट्‌रूप अन्न का आधार होने से ही गो एवं पृथ्वी को इळा कहा जाता है। (17)ऋग्वेद 10/176/1 (18) तर्क से वेद का अर्थ पृ0 61 (19) ऋग्वेद 1/93/12, 4/50/5, 1/187/11 (20) ऋग्वेद 2/7/5 (21) ऋग्वेद 8/43/11 जहाँ मातृत्व की दृष्टि से गो को अघ्न्या कहकर उसकी हिंसा का निषेध किया गया है वहाँ यह भी बताया गया है कि गो का परिपक्व भाग होने से दुग्ध घृतादि (वशान्न) ही खाद्य है और यज्ञ में उपयोग किये जाने योग्य है। गो का अपरिपक्व भाग मांस अभक्षणीय माना गया है। (22) अतिथि गाय की अपेक्षा अत्यंत कम होता हुआ भी अपने सत्कार के समय में उत्कृष्ट गाय को अपनी अपेक्षा निम्नतर बनवाकर सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते (भगवद्गीता 2/34 आदृत की अपकीर्ति उसकी मृत्युकारक होती है। गोघ्नोऽतिथि: नाम से कहा जाता है।

वेद प्रकाश गर्ग,
14, खदीकान, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) 251002

वैदिक अनुसन्धानपरम्परा विवेचनम्

आद्युदात्तो ग्रन्थराशिवाचकः, ज्ञानावाप्तिविचार सत्तार्थवतो विदधातोर्घञ् प्रत्यये कृते सिद्धः वेदशब्दस्याथी ज्ञानं वेदयिता, पुरुषार्थान् वेदयिता अभ्युदयनिःश्रेयसप्रापयिता – इत्येवंविधा भवन्ति।[1] वेदवाचका अनेके यौगिकाः शब्दाः निर्वचनेन वेदस्य वैशिष्ट्यं बोधयन्तिः – यथा अनुश्रूयतेत्यनुश्रवः, गुरोरन्वध्ययनादन्वध्यायः, ज्ञानस्यागमादागमः, अभ्यसनादाम्नायः, सुखैराच्छादनत्वाच्छन्दनत्वाच्छन्दः, ज्ञानक्रमोपासनाविषयभेदाद् गद्यपद्यगानरचना भेदात् त्रयी[2], सत्यविद्यानिगमन्नानिगमः, ज्ञानापेक्षेया बृंहणत्वाद् ब्रह्म, गुप्तमंत्रणान्मन्त्रः, श्रूयत इति श्रुतिः, सम्यक्हिता धृतेति संहिता, स्वाध्यायात्स्वाध्यायो वेद :- एतादृशस्य वेदस्य अर्थानुसन्घारम्भः कदा बभूव इति सनिश्चयं वक्तुं न शक्यते।

वेदाः खलु सृष्टेरादिग्रन्थाः, आर्याणां संस्कृतेर्मूलस्त्रोतः, सर्वविद्यानां निदानम्। कामं तेषु देवादिस्तुतिव्याजेन परमात्मनः प्रार्थना तथापि सृष्टेर्जीवनस्य सामाजिक – कर्तव्यानां वैयक्तिकाचाराणां च विषये विचार – चर्चा यत्र तत्र लभ्यते। दर्शनेषु सर्वेषु सृष्टेरुद्भवः कथम् अभवदिति विषयम् अधिकृत्य विस्तृता चर्चा लभ्यते। तस्या बीजान्यपि वेदेषु लक्ष्यन्ते । सृष्टेरादौ यादृशी स्थितिरासीत् तस्या वर्णनं नासदीयसूक्ते –

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्न् अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् [3]।।

यादृशो जटिलः प्रश्नो विमर्ष्टुः पुरस्ताद् वर्तते तादृश्येव गहना पदरचना प्रश्नस्य गाम्भीर्यं द्योतयत्येव –

न मृम्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास।।[4]

एषा सदसद्विलक्षणा स्थितिर्न शब्द – सामर्थ्यप्रकाश्या खलु। अत एवोभयमपि निषिद्धम् एव। अतर्कनीयाऽविवेच्याऽवर्णनीया वाऽवस्था वाच्याऽवाच्यविलक्षणैव भवति यस्यां वक्तुर्वागेव प्रतिहता भवति। अत एव तस्या गाम्भीर्यम्।

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम्।।[5]

वस्तुतो यदि न सृष्टेः प्राक्किमप्यवर्तत सर्वमेव ततोऽर्वाक्तनम् तर्हि किंमूला किमुपकरणा किंकृता वा इयं सृष्टिरिति विचिकित्सा नैसर्गिक्येव जिज्ञासितुः।

यथा वेदानाम् उद्भवकालस्य नाऽस्त्यद्यऽपि निर्णयः तथैव वेदार्थानुसन्धानस्याऽऽरम्भः कदा बभूवेति न सनिश्चयं वक्तुं शक्यते। यावती पुरातनी वेदानाम् अध्ययनस्य परम्परा तावत्येव वेदार्थानुसन्धानस्याऽपि। नाऽस्ति तस्याः कश्चित् तिथ्यात्मकोऽवधिः तथापि तस्या इतिहासस्तिसृषु श्रेणिषु विभक्तुं शक्यतेः

1. यास्कात् प्राक् 2. यास्कादुत्तरकाले मध्ययुगे 3. वर्तमानयुगे

तृतीयाऽपि भूयो द्विधा विभज्यते – 1. वैदेशिकाः प्रयत्नाः 2. भारतीयाः प्रयत्नाः

यास्कात् प्राक् – ब्राह्मणेषु यत्र तत्र मन्त्राणां व्याख्यानानि विविधशब्दानां च निरुक्तयो लभ्यन्ते। यास्को निरुक्ते गायत्रस्य शक्क्वर्याश्च निर्वचन – प्रसङ्गे ब्राह्मण – वचनमुदाहरति।[6] गोपथ – ब्राह्मणे हृदयशब्दस्य ओंकारस्य च निर्वचनं लभ्यते। 'यदचरस्तन्वा वावृधान' इत्यादौ मन्त्रे वृत्रशब्दस्य दर्शनात् तस्य निर्वचनं बहुधा शतपथब्राह्मणे लक्ष्यते। ऐतरेयोपनिषदि च इन्द्रशब्दस्य निरुक्तिः साधु प्रमाणयति यथा ब्राह्मणेषूपनिषत्सु च मन्त्राणां व्याख्यान – प्रवृत्तिर्वर्तते।

षङ् वेदाङ्गानां प्रणयनस्य किं प्रयोजनम्? शब्दस्वरूपस्य तन्निर्वचनस्य च परिज्ञानं मन्त्राणाम् अर्थानुसन्धानार्थम् एवाऽपेक्ष्यते। छन्दोदैवतादिनिर्णयोऽपि तदर्थ एवं शाकल्य – गार्ग्यप्रभृतिकृताः पदपाठाः, शौनककृताः बृहद्देवता, अनुक्रमणी षड्गुरुशिष्यकृतश्चरणव्यूहस्तस्याम् एवं दिशि प्रयत्नाः यास्केन स्व – निरुक्ते प्राक्तनानां चतुर्दशाचार्याणां मतानि चर्चितानि। यथा – शाकटायनः, गार्ग्यः, कौत्सः, औदुम्बरायणः, और्णवाभः, औपमन्यवः, स्थौलष्ठीविः, तैटीकिः, आग्राणः, शाकपूणिः, गालवः, क्रौष्टुकिः, कात्थक्यः, वार्ष्यायणिः इत्येवं चतुर्दश निरुक्तकारा व्याख्यातारश्चाचार्यास्ततो ज्ञायन्ते। काश्यपकृते नैघण्टुके च यास्ककृतं व्याख्यानम् एव निरुक्तम्। भूयश्च मन्त्रार्थाविवेचनप्रसङ्गे यास्केन नैदानाः, याज्ञिकाः, नैरुक्ताः, ऐतिहासिकाः परिव्राजका इत्येवम् अनेके सम्प्रदाया उल्लिखिताः। बौधायनकृतं वेदाङ्गज्योतिषं पिङ्गलकृतं छन्दः सूत्रं च तादृशम् एव प्रयत्नम्।

वस्तुत आदौ वेदव्याख्यानस्याऽपेक्षा नाऽभूद्। यदाह यास्कः –

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्त्संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गनि च।[7]

उत्तरकाले तु यदा जना न प्रणिधानेन वेदान् तदर्थं वा साक्षात्कर्तुं प्राभवन् तदैव पुस्तकानां तद्व्याख्यानानां च अपेक्षा अन्वभूयतः महाभारतादिग्रन्थेभ्यो ज्ञायते यथा न तदाआचार्याशं छात्रान् ग्रन्थानपीपठन् अपि तु विनयेन तान् शुद्धमनसो ध्यानक्षमान् समाचरन्। पश्चाच्च 'वेदाः सर्वाणि शास्त्राणि च वः प्रतिभासन्ताम' इत्याशिषः प्रायच्छन् यासां प्रभावात् संस्कारशुद्धे मनोमुकुरे स्वयं विद्याः प्रत्यभासन्त। पाणिन्यादीनाम् एतादृश एवेतिहासः, अतो न प्राचीना व्याख्याग्रन्था अद्यतना इवाऽभवन्।

ब्रह्माण्डपुराणे पदपाठकृतामेवं परिगणनम्[8] –

शाकल्यः प्रथमस्तेषां तस्मादन्यो रथीतरः, बाष्कलिश्च भरद्वाज इति शाखाप्रवर्तकाः।
देवमित्रश्च शाकल्यो ज्ञानाहंकारगर्वितः, जनकस्य स यज्ञे वै विनाशामगमद् द्विजः।

रावणकृतस्यापि ऋग्वेदीयपदपाठस्य भाष्यस्य च चर्चा श्रूयते।

शुक्लयजुर्वेदस्य पदपाठानां रचयितारो न ज्ञायन्ते। तैत्तिरीयसंहितायाः पदपाठकारस्तु भट्टभास्करस्य **'उखश्चात्रेयाय ददौ येन पदविभागश्चक्रे'** इत्युक्तेर आत्रेयो ज्ञायते।[9] सामवेदस्य पदकारस्तु गार्ग्यो यस्योल्लेखो यास्कस्य निरुक्ते लक्ष्यते। अथर्ववेदस्य पदकारस्तु न नाम्ना ज्ञायते।

यास्कादुत्तरकाले – यास्कादुत्तरकाले पाणिनिना स्वव्याकरणे वैदिकशब्दानां व्युत्पत्तिः स्वर – प्रकारश्च

समासेन निर्दिष्टाः। तदुत्तरं माधवभट्टः, स्कन्दस्वामी, नारायणः, उद्गीथः, वेङ्कटमाधवः, आनन्दतीर्थः, सायणश्च विद्वांस आचार्या ऋग्वेदव्याख्यानानि चक्रुः। पश्चाच्च मुद्गलनामाऽऽचार्यः सायणभाष्यस्य संक्षेपं मुद्गलभाष्यसंज्ञायाऽकरोत्। भवस्वामी, गुरुदेवः, क्षुरः, भट्टभास्करमिश्रश्च तैत्तिरीयसंहितायाः, उव्वट-महीधरौ माध्यन्दिनसंहितायाः, माधवः, भरतस्वामी, गुणविष्णुश्च सामसंहिताया भाष्यकृतः सायणकृतानि भाष्याणि तु पञ्चवैदिकसंहितासु, एकादशब्राह्मणेषु तथा चाऽऽरणयकद्वये लभ्यन्ते।

आधुनिके युगे – कामं पतञ्जलिना उद्घोषयत् **'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति'** परं द्विजाः प्रायेण वेदाङ्गेषु शास्त्रान्तरेषु च श्रमं समाचरन्तो वेदानाम् अध्ययनं व्यस्मरन्नेव। ये केचन च परम्परावशाद् न तांस्तत्यजुस्तेऽपि केचिदेकमेवाऽपरे वेदद्वयमन्ये च तत्त्रिकमेवाऽपठन्। केचिदेव तेषां वेदचतुष्टयमध्यैयत। अत एव तेषां द्विवेदिस्त्रिवेदिश्तुर्वेदीति व्यपदेशाः प्राचलन्। एतेऽपि भूयसा वंश तमितिहासमेव संज्ञाभिराभिः प्राकाशयन्।

वैदेशिकाः प्रयत्ना – आधुनिके युगे वेदार्थानुसंधाने भूयिष्ठः प्रयत्नो वैदेशिकैर्विहित इति निस्संकोचं कथयितुं शक्यते। तेषामुद्यमेनाऽनेके लुप्तप्राया वैदिका ग्रन्था अस्माकं सुलभा अजायन्तेति सर्वथा ते धन्यवादार्हा एव। भवतु काऽपि तेषां भावना वेदाऽध्ययने अस्तु वा वैमत्यं तत्कृतेषु पर्यालोचनेषु परं तत्कृतं कार्यं नितरामुपादेयं वेदानुशीलिनां पथः प्रस्तारकमिति वक्तुं शक्यते। वैदेशिक वेदाध्यायिनामपि तिस्रः श्रेणयो लक्ष्यन्ते-

1. **सायणानुगामिनी –** इयं श्रेणिः सायणकृतं भाष्यं प्रामाणिकं मन्वाना तस्यानुवादेनाऽऽश्रयणेन च वेदाऽध्ययनं वेदेषु प्राचीचरत्। अस्याः परम्पराया मुख्यों लेखकः डा0 विल्सनमहोदयः (J.H.Wilson) येन 1850 खीष्टाब्दे सायणभाष्यमनुसृत्य ऋग्वेद आंग्लभाषायामनूदितः। पश्चाच्च ग्रिफिथसंज्ञेन (R.T.H Griffith) विदुषा 1889-92 वर्षेषु ऋग्वेदस्यैव सटिप्पणः पद्यबद्धोऽनुवाद आंग्लभाषायां प्रस्तुतः। 1849-1875 वर्षेषु मोक्षमूलर (Max Mullar) महाभागेन सायणकृतम् ऋग्वेदभाष्यं सम्पाद्य प्रकाशितम्। पुनश्च 'प्राचीन वैदिकसंस्कृतसाहित्य' नामके ग्रन्थे वैदिकग्रन्थानां वैदुष्यपूर्णा मीमांसा प्रकाशिता। ततश्च स्वकीयायां 'पवित्रप्राच्यग्रन्थाः (Sacred Book of the East) इति संज्ञया प्रकाशितायां ग्रन्थमालायां वैदिकग्रन्थानां स्वकृताः परकृताश्चाऽनुवादाः प्रकाशिताः।

2. **वैज्ञानिकी-अपरा व्याख्या –** परम्परा तु नव्यवैयाकरणानां (Young Grammerians) येषां नेता रोडाल्फ राथ (Rodalf Roth) महाशयोऽभूत्। एतैः खलु सायणादि-प्राचीनाचार्याणां भाष्याणि वेदार्थाऽस्पृन्शीति कृतत्वोपेक्षितानि स्वयं च तुलनात्मकभाषाशास्त्रस्य मानवेतिहासस्य च साहाय्येन ऋग्वेदस्याऽर्थानुसंधानं कृतम्। अस्य प्रयत्नस्य महाविज्ञापकः 'सैन्टपीटर्सबर्गडिक्शनरी' संज्ञया प्रकाशितो महाकोषः, यत्र संस्कृतशब्दानां वेदेभ्य आरभ्याऽद्यावधि लौकिकसंस्कृते जातोऽर्थविकासः क्रमशः प्रदर्शितः तत्तत्स्थलीया अंशाश्चोद्धृताः। लौकिकशब्दानां संग्रहस्तत्र बोटलिङ्महाशयेनाऽनुष्ठितः। ओल्डनबर्ग ग्रासमान-ब्लूमफील्डप्रभृतिभिरनेकैर्विद्वद्भिरनयैव दिशा वर्तितम्।

3. **मध्यमार्गानुसारिणी –** अपरे केचित् पाश्चात्याविद्वांसः प्राच्यपरम्परागतां नव्यसरणिं चाऽनुसृत्य वेदव्याख्यानानि प्रकाशितवन्तः। तेषु लुडविग-गेल्डनर-पीटर्सनसदृशा उल्लेखनीयाः सन्ति।[10]

एतैः पाश्चात्यैर्वेदार्थानुसंधानप्रसङ्गेनाऽन्यान्यपि महान्ति कार्याण्यनुष्ठितानि। प्रो0 ब्लूमफील्डमहाशयेन

डा0 गार्वेमहाभागेन च काश्मीरेषु लब्धस्य अथर्ववेदीयपैप्पलादशाखाया अतिजीर्णपुस्तकस्य छायाचित्रं गृहीत्वा भागत्रये 1109 खीष्टाब्दे सा शाखा जर्मनिदेशात् प्राकाश्यमानतेत्यहो तयोर्महानध्यवसायः।

एतैरेव वैदेशिकैरनेके ब्राह्मणग्रन्था येषां केचिद् भारते सर्वथा दुर्लभा एव, स्व-स्वदेशेभ्यः सम्पाद्य प्रथमवारं प्रकाशिताः। यथा हाग (M.Haug) महाशयस्य सानुवादम् ऐतरेयब्राह्मणस्य संस्करणम् प्रो0 निण्ड्नर (B.Lindner) महाशयस्य च कौषीतकिब्राह्मणसंस्करणं डा0 वेबरसम्पादित शतपथब्राह्मणम्, तत्सम्पादितम् अनूदितं च अद्भुतब्राह्मणं वंशब्राह्मणं चैतस्य निदर्शनानि। डा0 बर्नेल महाभागेन (H.C. Burnell) अनेकानि सामवेदीयानि ब्राह्मणानि प्रकाशितानि येषु सामविधानं, वंशब्राह्मणं देवताध्यायब्राह्मणम् आर्षेयं संहितोपनिषच्च उल्लेखनीयानि। जैमिनीयब्राह्मणस्य विशिष्टो भाग आंग्लभाषानुवादेन सह डा0 एर्टल (H. Oertal) विदुषा जर्मनभाषानुवादेन च सह डा0 कैलेण्डविदुषा प्रकाशितः।

ग्रिफिथमहाभागेन यजुर्वेदीयमाध्यन्दिनसंहितायाः सामसंहिताया अथर्वसंहितायाश्चांग्लभाषायामनुवादः प्रस्तुतः। डा0 कीथ महाशयेन च तैत्तिरीयसंहिताया अनुवादः कृतः। इग्लिंग (D.J. Eggeling) महाशयेन शतपथब्राह्मणस्याऽनुवाद पवित्रप्राच्यग्रन्थमालायाः (Sacred Book of the East) पञ्चपुस्तकेषु प्रकाशितः। डा0 कैलेण्डकृतस्ताण्ड्यमहाब्राह्मणस्यानुवादश्च नानुपेक्षणीयः। आर. अर्नेस्ट ह्यूम (R. Ernest Hume) कृत उपनिषदाम् आंग्लभाषानुवादस्तु विख्यात एव।

एतान् ग्रन्थान् अतिरिच्याऽपि महत् कार्यं वैदेशिकाः कृतं वर्तते। यथा डा0 मैक्डानलस्य वैदिकं व्याकरणम् अद्यत्वेऽपूर्वमेव मन्यते। ह्विटने महाशयस्य डा0 वाकरनेगल (J.Wacker Nagel) महाभागस्य च वैदिकं व्याकरणं नितरां महत्त्वपूर्णं। प्रो0 आर्नोल्ड (E.V. Arnold) महाशयेन वैदिकच्छन्दसाम् अध्ययनं 'वैदिक मीटर' (Vedie Meter) संज्ञकग्रन्थे कृतम्। डा0 कीथ-मैक्डानल्डाभ्यां रचितो 'वैदिक इण्डेक्स' (Vedic Index) संज्ञो ग्रन्थः प्रायेण वैदिकसंस्कृतेः कोषएव। मैक्समूलर-मैक्डानलहिलेब्राण्टसंज्ञैर्विद्वद्भिर्वैदिकपुराणगाथा देवताश्च अधिकृत्य अनेके ग्रन्था रचिताः। डा0 कीथ कृतः 'रिलिजन एण्ड फिलासफी आफ वेद एण्ड उपनिषद्' नामको ग्रन्थः वैदिकधर्मविषयकम् अध्ययनं कुर्वतां नितरां सहाय्यकृत्। केजी (Kaegi) महाशयस्य दि ऋग्वेद (1880) संज्ञो ग्रन्थ ऋग्वेदगतान् विषयान् विमृशति। विण्टरनित्सः, वेबरः, मेक्डानलश्च वैदिकसाहित्यस्येतिहासान् अलिखन्। लुई रेनु (Lui Renow) महाशयस्य वैदिकग्रन्थसूची नवनवानुसन्धानप्रयत्नाश्च नानुल्लेखनीयाः।

पाश्चात्यपद्धतिमाश्रित्य भारतेऽपि वेदार्थानुसन्धान- परम्परा प्रचलिताऽभूत्। तस्या अनुगामिनः शङ्करपाण्डुरङ्गपण्डितः, भण्डारकरापाह्वो रामकृष्णगोपालः, भगवादुपाह्वो राजारामरामकृष्णः, व.स. घाटे महाशयः, चारुचन्द्रमुखोपाध्यायः, मन्मथनाथदत्तः, सत्यव्रतसामश्रमी, शङ्करबालकृष्णदीक्षितः विशेषेण स्मरणीया भवन्ति। तत्र शङ्करपाण्डुरङ्ग महाभागेन 'वेदार्थयत्न संज्ञया महाराष्ट्र्याम् आंग्लभाषायां च ऋग्वेदव्याख्या प्रकाशयितुमारब्धा परन्तु दैवदुर्विपाकात् सहसैव तस्य निधनाद् यत्नोऽयं तृतीयमण्डलावधिरेवाऽभूत्। दीक्षितमहाभागेन 'भारतीय ज्योतिष' इति ग्रन्थे वेदेषूपलब्धानि ज्योतिषप्रमाणानि आश्रित्य वेदनिर्माणकालो विवेचितः। सत्यव्रतसामश्रमिणा सामवेदसम्बद्धग्रन्थानां प्रकाशनं विहितम्। बालगंगाधरतिलकेन 'ओरायन' एवं 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज्' इत्याख्ययोर्ग्रन्थयोः प्रणयनं विहितम्। पूर्वस्मिन् वेदनिर्माणकालः खीष्टाविर्भावात् चतुःसहस्रवर्षपूर्वं निर्धारितः पाश्चात्यमतानां च संयुक्तिकं प्रत्याख्यानमनुष्ठितम्। अपरस्मिंश्च ध्रुवप्रदेशे पूर्वार्याणां मूलस्थानं निर्णीतम्। घाटे महाशयस्य व्याख्यानानि सक्षेपशो वेदविषये सर्वविधं विवरणं प्रस्तुवन्ति।

भारतीय पद्धति– आर्यसमाजप्रवर्तकेन स्वामिना दयानन्देन स्वपद्धत्या ऋग्वेदस्य विस्तृतं व्याख्यानं कृतम्। तदनुसारिणा पं0 जयदेवेन सामवेदस्याथर्ववेदस्य च राजारामपण्डितेनाऽथर्ववेदस्य अनुवादो विहितः। स्वर्वासिन ओझोपाह्नस्य मधुसूदनपण्डितस्य महर्षिकुलवैभवप्रभृतयः पंचविशतिप्रायाः प्रौढा गन्था वेदार्थोद्घाटनदिशि महारम्भमयाः। तच्छिष्येण स्वर्वासिना मोतीलालगौडेन (मुक्तरक्त शर्मणा) शतपथब्राह्मणे विज्ञानभाष्यं निरमायि। तत्पथप्रदर्शने च स्वर्गतेन डा0 वासुदेवशरणेनाऽग्रवालवंशजेन वेदमन्त्राणामध्यात्मदिशाऽपरो व्याख्यामार्गः प्रस्तुतः।

श्री पाददामोदरसातवलेकरमहोदयेन वेदचतुष्टयसंहिताः दैवतसंहिता च स्वाध्यायमण्डलात् प्राकाशयमानीताः। तथैव काठक–मैत्रायणीय सामगानसंहिता अपि तेनैव महाभागेन प्रकाशिताः। अरविन्दयोगिनो व्याख्यामार्गमाश्रित्य श्रीकपालिशास्त्रिणाऽपि ऋग्वेदस्यारम्भिक–सूक्तान्यधिकृत्य व्याख्याः प्रस्तुताः। होशियारपुरस्थ–विश्वेश्वरानन्दवैदिक–शोध संस्थानस्य संचालकेन श्री विश्वबन्धुशास्त्रिणारचितः 'वैदिक शब्दार्थपारिजातः वैदिकशब्दानां ब्राह्मणेभ्यः प्रभृति पाश्चात्यालोचकान् यावत् समुपलभ्यमानानाम् अर्थानां विवेचनं प्रस्तौति। तस्यैव वैदिकपदानुक्रमकोषोऽनेकेषु भागेषु प्रकाशितष्टिप्पणेषु वैदिकशब्दानां व्युत्पादनं विवेचयति।

अन्यैरपि बहुभिर्विद्वद्भिरद्यापि वेदार्थनुसंधाने यत्नो विधीयते नाऽस्य परम्परा क्षीणा।

---

1. तेषां ऋग् मन्त्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः सायण – अ.वे.उप.पृ0 5 भीमा0 सू0 2.1.35 – 37
2. (1) विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते विन्दते विचारयन्ति सर्वेः मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः। ऋ0भा0भू0पृ020
   (2) इष्ट प्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः। साय0 ऐ0ब्रा0भा0भू0 पृ0
   (3) प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते एवं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता। सा0वे0भा0भू0पृ04
3. ऋ0 10.129.1
4. ऋ0 10.129.2
5. ऋ0 10.129.3
6. निरुक्त 1.3
7. निरुक्त 1.7
8. ब्रह्माण्ड पुराण 6.4.1
9. तै.सं. भट्टभास्करभाष्य – उपोद्घात् पृ0 3
10. Karl Geldner-"Siebenzing Lider des Rgveda" P.Peterson : Hymns from the Rgveda.

डा0 बलदेव मेहरा
रीडरः संस्कृत विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

गीता और उपनिषदों में उपलब्ध सांख्य सिद्धान्तों की समीक्षा

गीता और उपनिषदों में वर्णित सांख्य सिद्धान्तों की समीक्षा करने का तात्पर्य है कि ईश्वर कृष्ण की सांख्य परम्परा में प्रतिपादित सिद्धान्तों से गीता और उपनिषदों में वर्णित सांख्य विषयक विचारों की कहाँ तक समानता है और कहाँ असमानता है एवं उन विचारों का किस रूप में समन्वय किया जा सकता है। इसी दृष्टि से यहाँ कारणवाद, जगत् के मूल तत्व, प्रकृति, पुरुष, ईश्वर एवं मुक्ति के सम्बन्ध में गीता, उपनिषद् तथा सांख्य के सिद्धान्तों की समीक्षा की जा रही है।

1. कारणवाद

भारतीय दर्शन में कारणवाद के अन्तर्गत चार सिद्धान्त आते हैं–

(क) प्रतीत्यसमुत्पाद (ख) असत्कार्यवाद (ग) विवर्तवाद (घ) सत्कार्यवाद

प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार किसी कारण के बिना कोई या घटना नहीं हो सकती। चक्षु आदि के संयोग से ही रूप आदि का ज्ञान होता है। दूसरा असत्कार्यवाद का सिद्धान्त न्याय वैशषिक का है। इस मत के अनुसार कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कारण उसमें विद्यमान नहीं रहता।

यदि मिट्टी में घड़ा पहले से ही विद्यमान था तो फिर कुम्हार के चाक घुमाने की आवश्यकता ही नहीं होती। इस सिद्धान्त का संकेत छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है[1]। तीसरा वेदान्त का सिद्धान्त विवर्तवाद है। विवर्त अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप को न छोडकर रूपान्तर जैसा भासित होना। इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार रज्जु में सर्प का आभास होता है उसी प्रकार सत् ब्रह्म असत् प्रपंच रूप में भासित होता है।

चौथा सिद्धान्त सत्कार्यवाद का है जिसको सांख्य दर्शन, गीता तथा उपनिषदों सभी में माना गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि कारण से कार्य भिन्न दिखाई देता है और नाम भी दोनों का एक नहीं है फिर भी कारण से कार्य भिन्न नहीं है, भिन्नता केवल धर्म की है। सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार एक ही वस्तु की अव्यक्त अवस्था को कारण और व्यक्त अवस्था को कार्य कहा जाता है। यह समस्त संसार रूप जो कार्य है वह मूल प्रकृति रूप कारण में अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है। इसका प्रसंग छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है[2]। कठोपनिषद् के एक स्थल पर कहा गया है कि जो इस जगत् में है वही इससे परे है, जो परे है वहीं यहाँ है। वहाँ इस कथन के आधार पर ऐसा आशय प्रकट होता है कि व्यक्त जगत् भी उतना ही सत्य है जितना इस जगत् से परे रहने ब्रह्म की सत्ता को सत्य माना गया है। यह सिद्धान्त सांख्य के सत्कार्यवाद के समान प्रतीत होता है।

भगवद्गीता में सत् और असत् का वर्णन किया गया है जो सांख्य के सत्कार्यवाद से कुछ भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य उत्पन्न होने से पूर्व अपने कारण में सत् रहता है। उसका अभाव कभी नहीं होता। गीता में सत् असत् विवेचन यह सिद्ध करता है कि आत्मादि नित्य सत् पदार्थों का कभी अभाव नहीं हो सकता तथा शीतोष्णादि सकारण पदार्थों का कभी आत्मा

में अस्तित्व नहीं हो सकता[3]। गीता के सत् असत् विवेचन का प्रमुख उद्देश्य सत् आत्मा की नित्यता सिद्ध करना तथा जगत् के अन्य पदार्थों (विकारों) की नित्य सत्ता का निषेध करना प्रतीत होता है। गीता का यह सत् असत् विवेचन सांख्य के सत्कार्यवाद से कुछ भिन्न होते हुए भी इतना अवश्य माना जा सकता है कि गीता सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है। सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का समर्थन गीता के सत् असत् विवेचन से प्रकारान्तर से हो जाता है। इसी प्रकार पूर्व में कहे गए उपनिषदों के अनेक स्थलों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सांख्य प्रतिपादित सत्कार्यवाद उपनिषदों में भी दृष्टिगोचर होता है।

2. जगत् के तत्व

गीता में पुरुष प्रकृति तथा ईश्वर इन तीन तत्वों के अतिरिक्त अष्टविध प्रकृति के रूप में अन्य आठ तत्वों का वर्णन भी किया गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर ग्यारह तत्वों का नामोल्लेख किया गया है। कठोपनिषद् में (1/3/3,4) में आत्मा सहित अठारह तत्वों का उल्लेख मिलता है। महोपनिषद् (1/6) में सांख्य के समान ही पच्चीस तत्वों का स्पष्ट उल्लेख है। पैंगलोपनिषद् में सांख्य प्रतिपादित तत्वों का विकास क्रम भी सांख्य के समान ही है[4]। इस प्रकार उपनिषदों में तत्वों की कुल संख्या सत्रह से पच्चीस तक मिलती है जो कि सांख्य के समान ही है।

गीता और उपनिषदों में सांख्य वर्णित तत्वों के उत्पत्ति क्रम का वर्णन तो अवश्य दृष्टि गोचर होता है किन्तु यह वर्णन पूर्णतया सांख्य के समान नहीं माना जा सकता क्योंकि वहाँ सांख्य के समान ऐसा कुछ नहीं कहा गया है कि किस तत्व के बाद कौन सा तत्व उत्पन्न हुआ है। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे आविर्भूत तत्व कुछ नाम भेद से सांख्य के समान ही हैं उदाहरण के लिए गीता की अष्टविध प्रकृति के अन्तर्गत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इत्यादि पंच महाभूतों तथा मन, बुद्धि, अंहकार इन तीन अन्तःकरणों का नामोल्लेख किया गया है। इसी प्रकार गीता में सांख्य वर्णित चौबीस तत्वों के 'पर' 'अपर' क्रम उनकी उत्पत्ति क्रम से अथवा स्थूल से सूक्ष्मतर के क्रम से किया गया है जैसा कि सांख्य में किया गया है।

गीता कठोपनिषद् तथा प्रश्नोपनिषद् में किया गया तत्वों का वर्णन प्रायः सांख्य के समान ही है। अन्तर केवल इतना है कि गीता तथा प्राचीन उपनिषदों में तन्मात्रा शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। किन्तु भूतात्मा शब्द का प्रयोग केनोपनिषद् में किया गया है[5]। परम्परागत सांख्य में सत्व तथा बुद्धि पयार्यवाची शब्द माने गए हैं[6]। जबकि उपनिषद् में सत्व पद का प्रयोग आत्मा के अर्थ में किया गया है[7]। छान्दोग्य में कहा गया अंहकार बहुत सीमा तक सांख्य में वर्णित अहंकार से समता रखता है। बुद्धि जो कि सांख्य में प्रकृति का विकार है उसे आंशिक रूप से विज्ञान मान सकते हैं और विज्ञान की चर्चा उपनिषदों में यत्र-तत्र मिलती है नैयायिक ज्ञान को बुद्धि का पर्याय मानते हैं किन्तु सांख्य ज्ञान को बुद्धि का सात्विक परिवर्तन मानता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सभी तत्वों का वर्णन तथा जगत् के आविर्भाव की चर्चा यद्यपि सांख्य गीता तथा उपनिषदों की कुछ सीमा तक समान है। किन्तु अपने विकास की सीमा को पहुँचकर सांख्य के विकासवाद का सिद्धान्त मौलिक सा दृष्टिगोचर होता है।

3. प्रकृति

प्रकृति को सांख्य में पूर्णतया स्वतन्त्र तत्व माना गया है। उसका अधिष्ठाता या संचालक ईश्वर या ब्रह्म जैसे किसी अन्य को नहीं माना गया है। प्रकृति के स्वभाव से ही जगत् का आविर्भाव तथा तिरोभाव होता रहता है। पुरुष का उससे केवल सन्निधान मात्र होता है वह उसका प्रेरक या संचालक नहीं है। वह प्रकृति अनादि तथा अनन्त तत्व है। प्रलय काल में भी उसका विनाश नहीं होता। वह अव्यक्तावस्था में सदा विद्यमान रहती है। गीता में भी यद्यपि प्रकृति को अनादि कहकर जगत् निर्माण में हेतु बताया गया है तथापि बाद में यह भी कह दिया गया कि वह प्रकृति ईश्वर की अपरा शक्ति है[8]। इसलिए गीता तथा सांख्य में प्रतिपादित प्रकृति में यहाँ तक तो समानता है कि दोनों जगह प्रकृति को जगत् का हेतु कहा गया है तथा अनादि तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु सांख्य तो उस प्रकृति को जगत् का हेतु मानने के साथ साथ स्वतंत्र भी मानता है। किन्तु गीता उस प्रकृति को ईश्वर की पर और अपर दो शक्तियों में से एक शक्ति मानती है। वहाँ पर उस प्रकृति के प्रेरक एवं अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर की सत्ता को परमावश्यक माना गया है।

उपनिषद् में प्रकृति को पुरुष का भोज्य कहा गया है[9]। उसको अजन्मा माना गया है[10]। अजन्मा होने से उसका मौलिक तत्व होना स्वयंमेव सिद्ध हो जाता है। गीता के समान उपनिषदों में भी प्रकृति का संचालक या प्रेरक ईश्वर को माना गया है।

इस प्रकार उपनिषदों तथा गीता में प्रकृति का वर्णन प्रायः समान सा ही है। किन्तु बाद के सांख्य परम्परा में प्रकृति को पूर्णतया स्वतन्त्र मानकर ईश्वर के अस्तित्व को अनुपादेय मान लिया गया।

4. पुरुष

गीता में चेतन तत्व के अर्थ में पुरुष, जीवात्मा, अक्षर, पराप्रकृति तथा क्षेत्रज्ञ आदि पदों का प्रयोग किया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि क्या इन उपयुक्त चेतनवाची पदों का प्रयोग वहाँ एक ही अर्थ में हुआ है अथवा उनके अर्थों में अन्तर है। इस विषय में विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि कहीं पर तो पुरुष या जीवात्मा पद का प्रयोग देही अर्थात् देह धारण करने वाले जीवात्मा के लिए किया गया है। कहीं पर आत्मा पद सार्वभौम आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

कठोपनिषद् में आत्मा को भोक्ता कहा गया है[11] श्वेताश्वतर में भी भोक्ता भोज्य और प्रेरयिता पदों का प्रयोग मिलता है, जिनमें से भोक्ता पद जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है[12] श्वेताश्वतर के एक अन्य स्थल पर पुरुष को साक्षी कहा गया है[13]। वहाँ उस पुरुष को 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञाता कहा गया है। बृहदारण्यक में भोक्ता उसे कहा गया है जो कि स्थूल शरीर से पृथक् है।[14] वह अपने भोग के लिए नवीन विषयों की सृष्टि कर लेता है।

गीता और उपनिषदों में परमात्मा के अतिरिक्त अनेक शरीरों को धारण करने वाले देही (जीवात्मा) को नित्य सत्ता माना गया है जो कि सांख्य को भी मान्य है।

5. ईश्वर

सांख्य में ईश्वर विषयक मतों के आधार पर सांख्याचार्यों के मतों को तीन भागों में बांटा जा

सकता है -

1. सेश्वर सांख्य 2. अज्ञेयवादी सांख्य 3. निरीश्वरवादी सांख्य

1. सेश्वर सांख्य - गीता में प्रतिपादित सेश्वरवाद के अनुसार सृष्टि में ईश्वर की उपादेयता स्पष्टतया मान्य है। विज्ञानभिक्षु ने भी प्रकारान्तर से सेश्वर सांख्य का समर्थन किया है।

2. अज्ञेयवादी सांख्य - इस मत के अनुसार ईश्वर को केवल असिद्ध कहा गया है न कि उसके अनस्तित्व का प्रतिपादन किया गया है यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर मान्य है अथवा अमान्य है। अतः इस मत को अज्ञेयवाद कह सकते हैं निरीश्वरवाद नहीं।

3. निरीश्वरवादी सांख्य - यद्यपि ईश्वर कृष्ण और गौडपाद ने ईश्वर के अस्तित्व के विषय में स्पष्टतया कहीं प्रतिषेध नहीं किया है तथापि उनके वर्णन के आधार पर ईश्वर की अनुपादेयता स्पष्ट परिलक्षित हो जाती है। इसलिये उनका सांख्य निरीश्वरवादी सांख्य के नाम से प्रसिद्ध है।

सांख्य सूत्रों के विवेचन के आधार पर ऐसा माना जा सकता है कि संभवतः प्राचीन सांख्याचार्य प्रकृति तथा जीव के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर को मानते रहे हैं किन्तु उस ईश्वर की सिद्धि युक्ति तथा तर्क द्वारा होना असंभव जानकर ही उन्होंने ईश्वर की ओर से अपना ध्यान हटा लिया हो। यह भी संभव है कि बौद्धों के प्रभाव को ही ईश्वर के स्थान पर जड़ जगत् का कारण तथा जीवात्मा को भोक्ता कर्ता आदि मानने लगे हों। इस प्रकार उनकी दृष्टि में सेतु रूप ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं रह गया। बाद में विज्ञान भिक्षु ने पुनः ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन किया।

उपनिषद् तथा गीता स्पष्टतया ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन करते हैं उपनिषदों तथा गीता में प्रतिपादित उस ईश्वर का योग में भी समर्थन मिलता है। योग सूत्र (1/24) की भोजवृत्ति में कहा गया है कि प्रकृति तथा पुरुष ईश्वर की इच्छा के बिना स्वतः नहीं मिल जाते। यहाँ इतना कह देना अनुचित न होगा कि जिस योग दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन किया गया है वह योगदर्शन पहले सांख्य से अभिन्न माना जाता रहा है बाद में जब सांख्य और योग दर्शन पृथक्-पृथक् हो गए तो सांख्य अनीश्वरवादी दर्शन के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

6. मुक्ति

उपनिषद्, गीता तथा सांख्य सिद्धान्तों के विवेचन के प्रसंग में मुक्ति के विषय में भी चर्चा की गई है। वहाँ पर यह भी कहा गया है कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है[15]। मैत्रायिणी उपनिषद् के एक स्थल पर स्वयं को स्वयं से बांधने का वर्णन है। यह वर्णन सांख्यकारिका के उस वर्णन समान है जिसमें प्रकृति द्वारा स्वयं को बांधने का उल्लेख किया गया है। आत्मा जो कि इच्छा और अंहकार से बद्ध है वह मुक्त आत्मा से भिन्न है। बन्धन और मुक्ति का यह सिद्धान्त परम्परागत सांख्य से मिलता है।

बन्धन और मुक्ति के विषय में एक प्रश्न उठता है कि बन्धन और मोक्ष, किसका होता है? पुरुष तो स्वरूपतः मुक्त तथा दृष्टा है। वह बन्धन में कैसे पड़ता है और कौन बन्धन में डालता है और

कौन उसे बन्धन मुक्त करता है। इस विषय में सांख्य का उत्तर है कि पुरुष न तो वास्तव में बन्धन में पड़ता है और न मुक्त होता है। वास्तव में बन्धन और मुक्ति तो प्रकृति की होती है। बन्धन की अनुभूति मन एवं बुद्धि जन्य है। क्योंकि बुद्धि प्रकृति का विकार है। अतः उपलक्षण से ऐसा मान लिया गया है कि बन्धन प्रकृति का होता है। वास्तव में उपनिषदों में तथा गीता में प्रतिपादित मुक्ति के सिद्धान्त तथा सांख्य के मुक्ति के सिद्धान्त में मूलतः कोई विभेद नहीं है। उपनिषद्, गीता तथा सांख्य तीनों में जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष को माना गया है। इस प्रकार अन्त में कहा जा सकता है कि सांख्य विचारधारा बहुत प्राचीन है तथा गीता व उपनिषदों में यह विचार धारा अनेक रूप में दृष्टिगोचर होती है।

---

1. असदेवेदमग्र आसीत्। छान्दोग्य0 6/2/1/
2. छान्दोग्य0 6/1/1/
3. भ0गी0 श्रीधरी व्याख्या -2/16/
4. द्रष्टव्य-गीता की व्याख्याएँ पृ0 43, 44
5. केन0 3/5/
6. सांर व्यसार (उत्तर भाग) 3/18/
7. द्रष्टव्य मुण्डक 3/1/10/
8. दृष्टव्य-भ0गी0 7/5/
9. दृष्टव्य-भ0गी0 पू0 36-38
10. श्वेत0 1/9
11. कठ0 1/3/4/
12. श्वेत0 1/12/
13. वही 6/11/
14. वृहद0 1/2/5/
15. तत्वसंग्रह, शान्तरक्षित, भाग 2, पृ0 51-54 व 74-79

डॉ0 सरिता भटनागर,
अध्यक्ष संस्कृत,
हिन्दू कॉलेज, मुरादाबाद

स्वामी श्रद्धानन्द जी से बढ़कर बहादुर आदमी मैंने ससार भर में नही देखा। जब कोई मुझे महात्मा कहता है, तो मेरा दिल कहता है,''महात्मा मैं नहीं, श्रद्धानन्द जी है।'

महात्मा गांधी

"ऋग्वेद में 'अञ्जू' धातु के प्रयोग"

आचार्य पाणिनि ने धातुपाठ में रुधादिगणान्तर्गत 'अञ्जू' धातु पढ़ी है, जो व्यक्तिप्रक्षणकान्तिगति - इन चार अर्थों में है। 'संस्कृतधातुकोष:' में इसके 1 - जाना, 2 - साफ करना, स्वच्छ करना, 3 - सराहना, विख्यात करना, 4 - चमकना, प्रकाशित होना, 5 - तैल मर्दन करना, अभ्यञ्जन करना, 6 - संवारना, सजाना - ये छ: अर्थ दर्शाये हैं।[1] 'अञ्जू' धातु परस्मैपदी है किन्तु कहीं - कहीं आत्मनेपदी भी प्रयुक्त हुई है।[2] माधवीयाधातुवृत्तिः, में इसे परस्मैपदी ही स्वीकार किया गया है। चन्नवीर कवि ने इस धातु को स्पष्टभाव, कोमल, कान्ति, गति इन अर्थों में गृहीत किया है तथा अक्तः, अक्तवान्, अञ्जकः (स्पष्ट होना), अक्तिः, अक्तम्, अक्तव्यम् (स्पष्ट), अञ्जनः (पर्वत, दिग्गज), अञ्जनम् (अञ्जन), अञ्जना (दिग्गज, माया), अञ्जनावती (दिग्गज ज्योतिष्मती, लता), निरञ्जनः भगवान् (ब्रह्म) - इन अर्थों में माना है।[3] 'अञ्जना' और 'अञ्जनावती' पद दिग्गजार्थ में कहाँ तक उपयुक्त हैं - यह अन्वेष्य है। पाणिनि तथा सारस्वतधातुपाठ, माधवीयाधातुवृत्तिः, एवं संस्कृतधातुकोषः में 'अञ्जू' धातु ऊकारान्त है, जबकि काशकृत्स्नधातुपाठः में यह 'अञ्जु' उकारान्त पठित है।

ऋग्वेद में निरुपसर्ग 'अञ्जू' धातु के अङ्क्ते, अनक्ति, अनक्ति, अञ्जते, अञ्जते, अञ्जते, अञ्जन्ति, अङ्ध्वे, अञ्ज्मः, अनक्तु, अङ्ग्धि, अनक्तन्, अनजन्, अनज्यात्, आनजे, आनजे, अज्यते, अज्यसे, अज्यसे - ये चौदह किन्तु स्वरभेद से उन्नीस रूप प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में यह धातु इन रूपों में सैंतीस स्थलों पर प्रयुक्त हुई है, जो विभिन्न अर्थों को प्रदान कर रही है। ऋग्वेद संहिता के उपलब्ध भाष्यकार स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, वेंकटमाधव, सायण, मुद्गल तथा स्वामी दयानन्द ने जिन स्थलों पर 'अञ्जू' धातु को प्रकाशित होना, अर्थ में गृहीत किया है वे निम्न हैं।

व्युच्छन्ती रश्मिभिः सूर्यस्याञ्ज्यङ्क्ते समनगा इव वा:।। ऋ.1.124.8
यदी गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभिरग्निः।। ऋ.5.1.3
बभ्रुरेको विषुणः सूनरो युवाञ्ज्यङ्क्ते हिरण्ययम्।। ऋ.8.29.1
अनक्ति यद्वां विदथेषु होता ।। ऋ.1.152.2
पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते ।। ऋ.1.92.1
अङ्ग्धि रवम् ।। ऋ.10.156.3
गोभिर्वाणो अज्यते सोभरीगारथे कोशे हिरण्यये ।। ऋ.8.20.8

विस्तृत, कामना तथा प्रकट करना अर्थ -

अञ्जन्ति यं प्रथयन्तो न विप्रोः ।। ऋ.5.43.7

देवता - विश्वेदेवाः। मेधावी अध्वर्यु अग्नि के ऊपर जिस हव्यपात्र को विस्तृत करते हुए स्थापित करते हैं।

वेंकटमाधव ने धात्वर्थ विस्तृत करना किया है -

जिस अग्नि को ब्राह्मण विस्तारक मिट्टी की तरह विस्तृत करते हुए आज्य से विस्तृत करते हैं।[4] सायण ने भी यही अर्थ गृहीत किया है। स्वामी दयानन्द यहाँ धात्वर्थ 'कामना' अथवा 'प्रकट करना' लेते हैं - ''विद्यार्थिन्, प्रसिद्ध करते हुए बुद्धिमान् जनों के सदृश.......कामना करते या प्रकट करते हैं।[5]''

दूध देना, प्रकट होना अर्थ -

ऋ॒तस्य॒ याः सद॑ने॒ कोशे॑ अ॒ङ्ध्वे।। ऋ.10.100.10

देवता - विश्वेदेवाः। ''गायो, यज्ञ में तुम दुग्धपात्र में दूध देती हो।'' वेंकटमाधव ने भी 'दूध देना' अर्थ धातु का किया है[6], किन्तु सायण 'प्रकट करना' अर्थ मानते हुए व्याख्यान करते हैं - ''गायों, तुम यज्ञ के घर में दोहन - स्थान पर प्रकट होती हो।[7]''

पान, प्रकट, गमन, तृप्त करना अर्थ -

इन्द्रं॑ म॒रुतो॒ रोद॑सी अनक्तन।। ऋ.10.76.1

देवता - ग्रावाणः। ''हे पत्थरो, तुम सोम देकर इन्द्र, मरुत् और द्यावापृथिवी को अनुकूल करो।'' स्कन्दस्वामी ने पान करना, प्रकट करना, या जाना अर्थ मानते हुए मन्त्रार्थ किया है - हे पत्थरो, आराध्यमान इन्द्र, मरुत् और द्यावापृथिवी को तुम निरन्तर सोम पान कराओ अथवा यज्ञाङ्गभाव हेतु इन्हें प्रकट करो या इनमें जाओ।[8]'' वेंकटमाधव ने तृप्त्यर्थ में धातु को माना है - ''हे पत्थरो, इन्द्रादि को सोम से तृप्त करो।[9]'' किन्तु सायण 'प्रकट करना' अर्थ मानते हैं - ''हे पत्थरो, सोम से तुम इन्द्र, मरुत् तथा द्यावापृथिवी को प्रकट करो।[10]''

प्रकाशन, दान करना अर्थ -

भगो॑ वा॒ गोभि॑रर्य॒मेम॑नज्या॒त्।। ऋ.10.31.4

देवता - विश्वेदेवाः। ''भग और अर्यमा स्तुति के द्वारा प्रसन्न होकर स्नेह - युक्त हों''। वेंकटमाधव यहाँ धातु को प्रकाशनपरक मानते हैं - ''इस अग्नि को भग अथवा अर्यमा रश्मियों से प्रकाशित हो।'' सायण ने धात्वर्थ दान किया है - ''भग और अर्यमा हमारी स्तुति की वाणियों से स्तुति प्राप्त कर ऐसे दृष्टादृष्ट फल को व्यक्त करें अर्थात् देवें।'' यहाँ व्यक्त करना देने अर्थ को बताता है।

संस्कृत करना अर्थ -

राजा॑नो॒ न प्रश॑स्तिभि॒ः सोमा॑सो॒ गोभि॑रञ्जते।। ऋ.9.10.3

देवता - पवमानः सोमः। ''जैसे स्तुतियों से राजा सन्तुष्ट होते हैं, वैसे ही गव्य के द्वारा सोम संस्कृत होता है।'' वेंकटमाधव एवं सायण भी यही अर्थ गृहीत करते हैं।13

उ॒त त्वाम॑रु॒णं व॒यं गोभि॑रञ्ज्मो॒ मदा॑य॒ कम्।। ऋ.9.45.3

देवता - पवमानः सोमः। ''हे सोम, मद के लिए रक्तवर्ण तुम्हें हम दुग्ध आदि से संस्कृत करते हैं।'' वेंकटमाधव तथा सायण धात्वर्थ संस्कृत करना मानते हैं।[14]

ऋग्वेद के भाष्यकारों ने 'अञ्जू' धातु का प्रायः 'तृप्त करना' अर्थ अनेक मन्त्रों में माना है, वे निम्न हैं -

अ॒ञ्जन्ति॒ त्वाम॑ध्व॒रे दे॑व॒यन्तो॒ वन॑स्पते॒ म॒धु॑ना॒ दैव्ये॑न।। ऋ.3.8.1

स्वामी दयानन्द ने यहाँ 'कामना करना' अर्थ माना है–''हे किरणों के रक्षक सूर्य के समान वर्तमान तेजस्वी विद्वन्, विद्वानों में हुए कोमल स्वभाव के साथ वर्तमान कामना करते हुए विद्वान् जिन आपको पढ़ने–पढ़ाने और राज्य पालनादि व्यवहार में चाहते हैं।''[15]

अ॒ञ्जन्ति॑ सुप्र॒यसं॒ पञ्च॒ जना॑:।। ऋ.6.11.4

यत्त्वा॒ होता॑रम॒नज॑न्।। ऋ.3.19.5

देवता–अग्निः। स्वामी दयानन्द ने मन्त्रार्थ 'कामना करना' माना है–''हे विद्वान्, पुरुष, जिन विद्यादाता आपकी कामना करें।''[16]

गमन, सिञ्चन, आर्द्र, तर्पण, कामना करना अर्थ–

अ॒ञ्जन्ति॒ यं द॑क्षिण॒तो ह॒विर्भि॑:।। ऋ.1.95.6

देवता–सत्यगुणविशिष्टोऽग्निः, शुद्धोऽग्निर्वा। ''जिस अग्नि का दक्षिण हव्य द्वारा सेवन करते हैं।'' स्कन्दस्वामी ने 'अञ्जन्ति' क्रिया शुद्ध होने पर भी सोपसर्ग गृहीत की है तथा **हविर्भिः** का अर्थ हवि ग्रहण करने वाले किया है, मन्त्रार्थ इस प्रकार है–''हवि ग्रहण करने वाले दक्षिण दिशा में जिस अग्नि में होम के लिये जाते हैं।''[17] एवं क्रियार्थ 'गमन' है। वेंकटमाधव सींचना अर्थ लेते हैं–''इस यज्ञस्थल को अध्वर्युगण आहवनीय दक्षिण का अतिक्रमण करके वहाँ स्थित हवियों के द्वारा सींचते हैं।[18] सायण एवं मुद्गल ने आर्द्र करना, तर्पण करना अर्थ माना है–''जिस अग्नि को आहवनीय के दक्षिणभाग में अवस्थित ऋत्विजगण चरुपुरोडाशादि के द्वारा आर्द्र करते हैं तर्पण करते हैं।[19] स्वामी दयानन्द 'कामनार्थ' धातु का लेते हैं–''दक्षिणायन काल के विभाग से यज्ञसामग्री करके जिस समय को विद्वान् जन चाहते हैं।[20]

भाष्यकारों ने जिन मन्त्रों का अर्थ **'मिश्रित करना'** वा **'मिलाया जाना'** लिया है, वे निम्न हैं–

तुभ्येत्सो अ॑ज्यते र॒यि:।। ऋ.8.51.9

देवता–इन्द्रः। ''हे धनद इन्द्र, वे तुम्हारे साथ मिलते हैं।''

जने॑ मि॒त्रो न दंप॑ती अनक्ति॒।। ऋ.10.68.2

देवता–बृहस्पतिः। जैसे मित्र दम्पती (स्त्री और पुरुष) का मिलन करा देते हैं, वैसे ही बृहस्पति ने गायों को लोगों के साथ मिला दिया।''

त॒न्वा॒ना य॒ज्ञमा॑नु॒षग्यद॑ञ्ज॒ते।। ऋ.9.102.7

देवता–पवमानः सोमः। ''याज्ञिक पुरोहित सोम को जल में मिलाते हैं।''

अ॒ञ्ज॒ते॒ व्य॑ञ्जते॒ सम॑ञ्जते॒।। ऋ.9.86.43

देवता–पवमानः सोमः। ''ऋत्विक् लोग गोदुग्ध में सोम को मिलाते हैं, विविध प्रकार से मिलाते हैं, भली–भाँति मिलाते हैं।''

यहाँ वि और सम् उपसर्ग पूर्वक भी धातु है, किन्तु अर्थ 'मिलाना' ही है।

अ॒ञ्जन्त्ये॑नं॒ मध्वो॒ रसे॒नेन्द्रा॑य॒ वृष्ण॒ इन्दुं मदा॑य।। ऋ.9.109.20

देवता-पवमानः सोमः। ''कामवर्षक इन्द्र की मत्तता के लिये ऋत्विक् सोम को मधुर रस के साथ मिलाते हैं।''

इन्दु॑र्हिन्वानो अ॑ज्यते मनी॒षिभिः॑।। ऋ.9.76.2

देवता-पवमानः सोमः। ''सोम मेधावियों के द्वारा भेजे जाकर दूध आदि में मिलाये जाते हैं।

कनि॑क्रदत् क॒लशे॒ गोभि॑रज्यसे॒।। ऋ.9.85.5

देवता-पवमानः सोमः। ''सोम, शब्द करते हुए और कलश में वर्तमान तुम गोदुग्ध में मिलाये जाते हो।''

नृ॒चक्षा॑ ऊ॒र्मिः क॒वि॑रज्यसे॒ वने॑।। ऋ.9.78.2

देवता-पवमानः सोमः। ''यजमानों के द्वारा वर्धित होकर मेधावी सोम, तुम जल में मिलाये जाते हो।''

सींचना, प्रकट करना अर्थ –

यत् सी॑म॒ञ्जन्ति॑ पू॒र्व्यं ह॒विर्भिः॒।। ऋ.3.14.3

देवता-अग्निः। ''क्योंकि ऋत्विक् लोग हव्य द्वारा पुरातन अग्नि को सींचते हैं।'' वेंकटमाधव एवं सायण ने धात्वर्थ सींचना लिया है,[21] किन्तु स्वामी दयानन्द **'प्रकट करना'** अर्थ दर्शाते हैं-''हे अग्नि के सदृश प्रकाशयुक्त विद्वान् पुरुष, ग्रहण करने योग्य साधनों से जिस प्राचीन लोगों से रचे गये वाहन-विशेष को सब प्रकार प्रकट करते हैं।''[22]

अ॒ञ्जन्ति॑ मि॒त्रं सुधि॑त॒ं न गोभिः॒।। ऋ.5.3.2

देवता-अग्निः। ''हे अग्निदेव! वे तुम्हें बन्धु की तरह गव्य द्वारा सींचते हैं।'' वेंकटमाधव एवं सायण ने धात्वर्थ **'सींचना'** लिया है,[23] किन्तु स्वामी दयानन्द **'प्रकट करना'** अर्थ मानते हैं-''हे अच्छे अन्न से युक्त राजन्, आप वाणी और पदार्थों से सुन्दर प्रसन्न मित्र के सदृश प्रकट होते हो[24]''

रे॒भो यद॒ज्यसे॒ वने॑।। ऋ.9.66.9

देवता-अग्निः पवमानः च। ''सोम, जब तुम शब्द करते हुए वसतीवरी नामक जल से सींचे जाते हो।''

म॒धोर्धारा॑भिरज्यसे।। ऋ.3.40.6

देवता-इन्द्रः। ''इन्द्र मदकारक सोम की धारा से तुम सींचे जाते हो।''

इन दोनों स्थलों पर भाष्यकारों ने धात्वर्थ 'सींचना' लिया है।[25]

स्निग्ध होना अर्थ –

अत्यो॒ न गोभि॑रज्यते।। ऋ.9.32.3

देवता-सोमः। ''यह सोम गव्य के द्वारा स्निग्ध होते हैं।[26]''

स्रुचा प्रतीकमज्यते।। ऋ.10.118.3

देवता-अग्निः। ''सभी देवों के पूर्व अग्निदेव को स्रुक् के द्वारा स्निग्ध किया जाता है।[27]''

पूजा, यजन, स्तुति, कामना, प्राप्ति, ज्ञान करना अर्थ-

युवां यज्ञैः प्रथमा गोभिरञ्जते।। ऋ.1.151.8

देवता-मित्रावरुणौ। ''हे मित्रावरुणौ, तुम्हें यजमान लोग अन्य देवों के पहले पूजते हैं।[28]'' सायण ने धात्वर्थ 'यजन करना' और 'स्तुति करना' लिया है-''मित्रावरुण, तुम्हें दूधादि के द्वारा यजमान यजन करते हैं अथवा वाणियों से स्तुति करते हैं।[29]'' स्वामी दयानन्द ने 'मित्रावरुण' का अर्थ 'अध्यापकोपदेशक सज्जन' गृहीत कर धात्वर्थ 'कामना' लिया है-''हे अध्यापकोपदेशक सज्जनों, जो यज्ञों से और सुन्दर शिक्षित वाणियों से कामना करते हैं।[30]''

अग्निर्देवाँ अनक्तु नः।। ऋ.8.39.1

देवता-अग्निः। ''हमारे यज्ञ में अग्नि हव्य द्वारा देवों की पूजा करे।[31]''

अस्य स्तोत्रे धिषणा यत्त आनजे।। ऋ.1.102.1

देवता-इन्द्रः। ''इन्द्र तुम्हारे उद्देश्य से मैं इस महती स्तुति को सम्पादन करता हूँ।'' स्कन्द स्वामी ने धात्वर्थ 'प्राप्त करना' किया है-''हे इन्द्र, इस यजमान की स्तुति लक्षणों वाली वाणी तुम्हें प्राप्त हुई।[32]'' सायण एवं मुद्गल ने यहाँ संश्लिष्टार्थ ग्रहण किया-''हे इन्द्र, तुम्हारी बुद्धि इस मुझ स्तोता के स्तोत्र में संश्लिष्ट हुई।[33]'' यहाँ 'संश्लिष्ट होना' प्राप्ति का ही द्योतक है। स्वामी दयानन्द ने यहाँ कामना करना, प्रकट करना और समझना अर्थ माना है-''हे सर्वविद्या देने वाले शाला आदि के अधिपति, जो इन आपकी विद्या और उत्तम शिक्षा की हुई वाणी सब लोगों ने चाही, प्रकट की और समझी है।[34]''

मध्वा होतारो अञ्जते।। ऋ.8.72.9

देवता-अग्निः हवींषि वा। ''मधु के द्वारा होता अग्नि का यजन करते हैं।[35]''

गमन, कामना अर्थ-

उदु स्वरुर्नवजा नाक्रः पश्वो अनक्ति सुधितः सुमेकः।। ऋ.4.6.3

देवता-अग्निः। नवजात यूप उन्नत होता है। आक्रमणकारी और सुदीप्त कुठार पशुओं के निकट गमन करता है।'' वेंकटमाधव एवं सायण ने धात्वर्थ 'गमन' लिया है,[36] किन्तु स्वामी दयानन्द 'कामना' अर्थ दर्शाते हैं-''हे मनुष्यों, उत्तम प्रकार धारण किये हुए सुन्दर प्रकाशमान् नहीं किञ्चित् चलने वाला किन्तु वेग से जाने वाला नवीनों में उत्पन्न सूर्य उपदेश देने वाले के समान शोभा करता है, वैसे विद्वान् वर्ताव करें, और वह पशुओं की हिंसा न करे।[37]''

प्राप्त करना अर्थ-

स पूर्व्यो महानां वेनः क्रतुभिरानजे।
यस्य द्वारा मनुष्पिता देवेषु धिय आनजे।। ऋ.8.63.1

देवता-इन्द्रः। ''इन्द्र मुख्य है, वह पूजनीयों के कर्मों से क्रान्त हैं, वह आते हैं। देवों के बीच पिता मनु ने ही इन्द्र के पाने के उपायों को प्राप्त किया था।'' वेंकटमाधव एवं सायण ने 'प्राप्ति' अर्थ ही लिया है।[38]

एवं 'अञ्जू' धातु ऋग्वेद में प्रकाशन, विस्तारण, कामना, प्रकटन, दूध देना, पान करना, जाना, तृप्त करना, दान देना, संस्कृत करना, चाहना, सींचना, आर्द्र करना, तर्पण करना, मिश्रित करना, मिलाना, स्निग्ध होना, पूजा करना, यजन करना, स्तुति करना, प्राप्त करना, ज्ञान होना-इन अर्थों में प्रयुक्त हुई है। लोक में यह धातु परस्मैपदी है, संस्कृतधातुकोषकार ने इसे आत्मनेपदी भी स्वीकार किया है, किन्तु प्रयोग प्रायः अनुपलब्ध हैं। ऋग्वेद में परस्मैपदी प्रयोगों के साथ-साथ आत्मनेपदी प्रयोग भी प्राप्त हुए हैं। उपरोक्त अर्थ देखने में प्रायः क्वचित् एक जैसे प्रतीत होते हैं, किन्तु गम्भीरता से निरीक्षणोपरान्त इनमें भिन्नता अवश्य दिखायी देती है। जैसे मिलाना और मिश्रित करना। देखने में एक जैसे होने पर भी अर्थ-भिन्नता है। मित्र ने मित्र को मिलाया, यहाँ 'मिलाना' पारस्परिक सम्बन्धों का द्योतक है। जल में सोम को मिश्रित किया यहाँ मिश्रित करना मिलाने से भिन्न मिश्रण का प्रतीक है। ऐसे ही पूजा करना, यजन करना, स्तुति करना धातुएँ भी भिन्न-भिन्न अभिप्राय और क्रियाओं की सूचक हैं। प्राप्त करना, ज्ञान होना, गमन करना-ये गत्यर्थक धातुएँ हैं। **गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति**, ज्ञान, गमन और प्राप्ति-ये गति ही हैं, किन्तु इन गतियों में अतिसूक्ष्म अन्तर है। जैसे ज्ञान का बुद्धि से, गमन का पैरों से तथा प्राप्ति का हाथों से कहीं न कहीं अवश्य सम्बन्ध है। इस प्रकार गति भी भिन्नता को छिपाये हुए है। एवं जो 'अञ्जू' धातु लोक में सामान्य रूप से चार और विशेष रूप से छः अर्थों को दर्शाती है, वही ऋग्वेद में बाईस अर्थों को प्रदर्शित कर रही है।

सन्दर्भ स्थल-

1. रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ सोनीपत, हरियाणा से प्रकाशित।
2. रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ सोनीपत, हरियाणा से प्रकाशित।
3. काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम् रुधा 17।
4. आज्येन अञ्जयन्ति यम् धर्मं ब्राह्मणाः प्रथनीयं मृदादिकमिव।
5. कामयन्ते प्रकटयन्ति वा।
6. यज्ञस्य याः सदने कोशे गृहीतं ग्रहणमिश्रणेन अङ्ध्वे।
7. याः ऋतस्य यज्ञस्य सदने गृहे कोशे गोष्ठे दोहनस्थाने अङ्ध्वे व्यञ्जयथ।
8. अनक्तन सततं हेतुकर्तृत्वेन सोमं पाययतेत्यर्थः, अथवा यज्ञाङ्गभांवाय व्यञ्जयत गमयत वा।
9. इन्द्रादीन् सोमेन अनक्तन।
10. अनक्तन व्यञ्जयथ।
11. अग्निम् भगः अर्यमा वा गोभिः अनक्ति रश्मिभिः।
12. अनज्यात् व्यक्तीकुर्यात् दद्यादित्यर्थः।
13. क- सोमाः गोभिः अज्यन्ते। ख- संस्क्रियन्त इत्यर्थः।
14. क-गोविकारैः वासयामः मदार्थम्। ख- वासयामः संस्कुर्मः।
15. अञ्जन्ति कामयन्ते त्वाम्।

16. यः त्वाम् विद्यादातारम् कामयेरन्।
17. अञ्जन्ति अञ्जतिर्गत्यर्थः। शुद्धोऽपि चात्र सोपसर्गार्थे द्रष्टव्यः। होमार्थमुपगच्छन्ति।.....हविर्भिः......
....गृहीतहविष्का इत्यर्थः।
18. तत्र स्थिताः हविर्भिः सिञ्चन्ति।
19. अञ्जन्ति आर्द्रीकुर्वन्ति तर्पयन्ति।
20. कामयन्ते कालम् दक्षिणायनकालविभागात् यज्ञसामग्रीभिः।
21. क- अग्निम् ऋत्विजः अञ्जन्ति। ख- अञ्जन्ति सिञ्चन्ति।
22. यत् सीम सर्वतः अञ्जन्ति प्रकटयन्ति।
23. क- अञ्जन्ति सखायम् इव। ख- क्षीरादिभिः अञ्जन्ति।
24. अञ्जन्ति व्यक्तीकुर्वन्ति।
25. अज्यसे अक्तः सिक्तो भवसि। धाराभि अज्यसे सिच्यसे-सा.।
26. अज्यते सिच्यते स्निग्धीक्रियते-सा.।
27. क- जुह्वा अस्य मुखम् अज्यते वे.। ख- सिच्यते-सा0।
28. समञ्जन्ति यजवन्तौ-वें.।
29. अञ्जते व्यञ्जयन्ति यजमानाः। यद्वा। गोभिः अञ्जते स्तुवन्ति।
30. सुशिक्षिताभिर्वाणिभिः अञ्जते कामयन्ते।
31. क- अनक्तु हविर्भि.-वें.। ख- देवान् हविर्भिः अनक्तु-सा.।
32. त्वाम् आनजे अञ्जेर्गत्यर्थस्येदं रूपम् गता प्राप्ता।
33. आनजे अक्ता संशिलष्टासीन्।
34. या यस्य वा तव सर्वैः काम्यते प्रकटच्यते विज्ञायते।
35. क- अग्निम् अञ्जते-वें.। ख- परि अञ्जते-सा.।
36. क- गच्छति यज्ञम्। ख- पशून् अनक्ति गच्छति।
37. पशून् अनक्ति कामयते।
38. क- आनजिः प्राप्तिकर्मा। ख- आनजे प्राप। आनजिः प्राप्तिकर्मा।

डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार
रीडर,
श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उत्तरांचल)-249404

मानसिक स्वास्थ्य एवं योग

आज भौतिक चकाचौंध से परिपूर्ण वातावरण में व्यक्ति की इच्छाएँ पूर्ण होना अत्यन्त कठिन कार्य है। ऐसे समय विषमताओं में जीवनयापन करके व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ रहे, यह आश्चर्यजनक है। आज का वातावरण उसको सामान्य जीवन जीने में व्यवधान उत्पन्न करता है। इसी कारण मानसिक तनाव होना स्वाभाविक हो गया है। यह मानसिक तनाव व्यापक रोग के रूप में इस भूतल पर फैलता जा रहा है तथा समाज मानसिक रूप से रुग्ण हो गया है। ऐसे समय मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये महती आवश्यकता है, तभी मनुष्य जीवन को उचित रीति से व्यतीत कर सकता है।

मानसिक स्वास्थ्य क्या है ?

मानसिक स्वास्थ्य मानसिक रोग न होना नहीं, अपितु दैनिक जीवन में समायोजन की प्रक्रिया अपनाकर अधिकतम आनन्द लाभ करते हुए सकारात्मक दृष्टिकोण रखकर जीवन जीने की कला है। ऐसा व्यक्ति अपने कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न करता है। उसका शरीर व मस्तिष्क उसके वश में रहते हैं। वह समग्र व्यक्तित्व का धनी होता है। सुश्रुत की यह स्वास्थ्य–परिभाषा ध्यान देने योग्य है–

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनो स्वस्थ इत्यभिधीयते।।[1]

इसमें केवल शारीरिक स्वास्थ्य नहीं अपितु आत्मा, इन्द्रियों और मन को प्रसन्न रखना भी सम्पूर्ण स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य कहा गया है।

मानसिक रुग्णता की स्थिति के कारण :–

मानसिक रुग्णता उत्पन्न करने के लिए वातावरण में अनेक कारण हैं। इच्छानुकूल कार्य न होना, धन–पद–मान प्राप्ति की तीव्र इच्छा का पूर्ण न होना, परिवार में कलह या कष्ट बने रहना, किसी प्रियजन द्वारा धोखा देना, व्यवसाय में घाटा, नौकरी में अधिकारी की प्रताड़ना, अनैतिक आचरण से भय बने रहना, नए स्थान पर समायोजित न हो सकना, क्रोध, भय, चिन्ता, द्वेष, बेरोजगारी आदि मानसिक रुग्णता के कारण हो सकते हैं।

डॉ. हेंस सेल्ये के शब्दों में –

"Stress is a state of mind which reflects certain biochemical reactions in the human body and is projected by a sense of anxiety, tension and depression and is caused by such demands by the environmental forces or internal forces that can not be met by the resources available to the person. The intensity of such demands that require re-adjustment of resources or operational styles would determine the extent of stress. Such environmental events or conditions that have the potential to induce stress are known as stressors."[2]

मानसिक रुग्णता का व्यक्ति पर प्रभाव :–

जब व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ नहीं रहता तो शरीर व मन पर उसका बहुत विपरीत प्रभाव पड़ता है। तंत्रिका तन्त्र, पाचन तन्त्र, रुधिर परिसंचरण तन्त्र, श्वसन तन्त्र तथा अन्त:स्रावी ग्रन्थियों को प्रभावित करने के कारण इनकी क्रिया बाधित होने लगती है। अधिक दिन ऐसी अवस्था रहने पर अनेकानेक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। तनावग्रस्त ऐसे व्यक्ति को देखकर पता चल जाता है कि वह मानसिक रूप से रुग्ण है। उसमें निम्नलिखित लक्षण दिखाई पड़ते हैं – हाथ–पैर काँपना, पसीना आना, गला सूखना, तेज श्वास–प्रश्वास चलना, बार–बार मलमूत्र का वेग होना, कन्धे–कमर–गर्दन–सिर में दर्द, हाथ–पैरों की अंगुलियों का ठंडा होना, चिड़चिड़ापन, अनिद्रा, असुरक्षा की भावना, चिन्तित रहना, एकान्तवास की इच्छा होना, धूम्रपान व मद्यपान का अचानक सेवन करने लगना, थकान, क्रोध, कामशक्ति की कमी, एकाग्रता का अभाव, निर्णय में अक्षमता, जिम्मेदारी से भागना आदि। यद्यपि व्यक्ति का जीवन तनावमय हो गया है फिर भी यह स्वीकार करना वह अपनी कमजोरी समझता है। इसी कारण वह अपने मन की व्यथा अपने मित्र, सहचर, बच्चे, सम्बन्धी आदि किसी से कहना नहीं चाहता। वह स्वयं को अस्वस्थ भी नहीं समझता। इसी कारण तनाव से मुक्त होने का प्रयास भी नहीं करता। फलस्वरूप आत्मघाती प्रवृत्ति बल पाने लगती है और संसार को दु:ख का आगार समझकर वह इसमें रहना नहीं चाहता।

योग व्यक्ति को जीवन जीना सिखाता है। यह उपचार–पद्धति नहीं, जीवन–पद्धति है। यदि व्यक्ति अपने जीवन में योग को ढाल ले या यूँ कहें कि योगमय जीवन कर ले तो फिर वह सब संकटों से उबर सकता है। यद्यपि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने कुछ औषधियों का निर्माण किया है तथापि वे औषधियाँ तंत्रिका तंत्र तथा पाचन तन्त्र को अस्त–व्यस्त कर देती हैं। कुछ न कुछ अपना दुष्प्रभाव अवश्य छोड़ जाती हैं जिसके कारण अन्य अनेकानेक रोग प्रादुर्भूत हो जाते हैं। किन्तु योग की अमृतमयी धारा के सेवन से तो कल्याण ही कल्याण है।

मानसिक स्वास्थ्य प्राप्ति के साधन :–

योग के मुख्यत: चार भेद माने गए हैं– राजयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग।[३] इनके अतिरिक्त हठयोग और मन्त्रयोग को भी इनके साथ समान स्तर प्राप्त है।[४] राजयोग चित्त के नियन्त्रण का विधायक है। यदि चित्त को वश में कर लिया तो मानसिक अस्वास्थ्य की स्थिति नहीं आएगी। हठयोग की क्रियाएं शरीर शोधन कराती हैं तथा राजयोग के उपयुक्त बनाती हैं।[५] भक्तियोग ईश्वर के प्रति समर्पण का भाव है।[६] यही भाव ईश्वरप्रणिधान में निहित है। प्रभु की इच्छा में ही प्रसन्न रहना और अपना सर्वस्व उसको अर्पित करके निश्चिन्त हो जाना ही भक्तियोग है।[७] मन्त्रयोग भी भक्तियोग में समाविष्ट है। ईश्वर का सर्वोत्तम नाम "ओ३म्" है। ओ३म् का निरन्तर जप करना ही स्वाध्याय

कहलाता है।[९] यही मन्त्रयोग है।

ज्ञानयोग साधना श्रवण—चतुष्ट्य पर आधारित है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन में सफलता पा लेने पर साक्षात्कार की स्थिति प्राप्त होती है।[१०] इस स्थिति की प्राप्ति के लिए विवेक ज्ञान की आवश्यकता है। यही विवेक विद्या है। नित्य क्या है? अनित्य क्या है? पवित्र क्या है? अपवित्र क्या है? सुख क्या है? दु:ख क्या है? आत्मा क्या है? जगत् क्या है? इन समस्त तथ्यों का ज्ञान होना ही विवेक कहलाता है। विवेक होने पर ही वैराग्य आता है। जो असार है, अनित्य है, अशुचि है, दु:खरूप है, अनात्म पदार्थ हैं, वे सभी त्याज्य हैं, उनसे विरक्ति हो जाती है।[११] विराग का भाव धारण करने पर साधक सांसारिक पदार्थों में आसक्त नहीं होता। सब कुछ सांसारिक सुख प्राप्त करके भी वह जल में कमलवत् उनसे पृथक् रहता है। ऐसा व्यक्ति भला किस मानसिक दबाव को अनुभव करेगा? मानसिक दबाव की स्थिति उस तक पहुंच नहीं सकेगी।

कर्मयोग का सिद्धान्त बताता है कि अपनी सामर्थ्यानुसार केवल कर्म करते रहें। जो कर्म करेंगे उसका फल अवश्यमेव भोगना पड़ेगा। कर्म अच्छा हो या बुरा। पुण्यापुण्य फलभोग के लिए जन्म लेना पड़ेगा। जन्म लेकर फिर कर्म करना, फिर नवीन संस्कारों का उदय, फिर फलभोग रूप आगामी जन्म लेना— यही क्रम चलता रहेगा। व्यक्ति बन्धन में बंधा रहेगा। ऐसे कर्म करके हम न तो मोक्ष पा सकते हैं और न ही संसार में सफल हो सकते हैं। कर्म को ईश्वर प्रणिधान के माध्यम से फल रहित किया जा सकता है। कुशलता से कर्म करना जिससे वह बन्धनकारी न हो, यही तो कर्मयोग का सिद्धान्त है। 'कर्मों में कुशलता योग है"[१२] यह गीतावाक्य इसी प्रकार के कर्म की ओर इंगित करता है। अत: ऐसे कर्म का कर्त्ता भी तनाव या मानसिक दबाव से सर्वदा ऊपर ही रहता है।

अष्टांगयोग की साधना को लीजिए। योग के आठ अंग हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[१३] इनमें प्रथम यम आचरण के नियम हैं। ये पांच कहे गए हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[१४] अहिंसा का अर्थ है—किसी भी प्राणी को मन, वचन व कर्म द्वारा किसी भी रूप में कष्ट न देना।[१५] अहिंसा का पालन करने वाला दूसरे को कष्ट देने का विचार भी नहीं लाएगा। ऐसा व्यक्ति मानसिक दबाव के लिए उपयुक्त नहीं है। सत्य का पालन करने वाला असदाचरण से सर्वदा विमुख रहने के कारण तनाव की स्थिति कभी नहीं आने देगा।[१६] अस्तेय का अर्थ है—चोरी के भाव कां सर्वथा त्याग।[१७] ब्रह्मचर्य का अर्थ है—उपस्थेन्द्रिय का संयम।[१८] साथ ही ब्रह्म के भाव में सदा सर्वदा के लिए लिप्त होना भी इसका अपरार्थ हैं। ब्रह्म के निकट रहने का भाव भी यही संकेत करता है। ऐसा व्यक्ति जो ब्रह्म भाव में स्थित हो, क्या मानसिक दबाव में आएगा? नहीं। क्योंकि सांसारिकता में पूर्णतया डूबे व्यक्ति ही इच्छानुकूल कार्य न होने पर दबाव में आते हैं। उपस्थेन्द्रिय संयम से अनेकानेक दोषों से बचने के कारण भी व्यक्ति मानसिक उलझनों से बच जाता है। अपरिग्रह का अर्थ है— आवश्यकता से अधिक वस्तु का संग्रह न करना। संग्रह के साथ दोष स्वत: आ जाते हैं। अत: संग्रह के भाव का परित्याग करके ही आत्मिक सुख की प्राप्ति होगी।[१९]

नियमों[२०] में सर्वप्रथम शौच के लिए कहा गया है। शौच का अर्थ है पवित्रता। पवित्रता हर दृष्टि से पालनीय है। शारीरिक तो सभी करते हैं किन्तु मानसिक पवित्रता चाहिए। मानसिक पवित्रता

सत्याचरण से आती है।[२१] ऐसे मानसिक पवित्र व्यक्ति को मानसिक दबाव की स्थिति नहीं झेलनी पड़ती। इस शुचिता के भाव से विरक्ति का भाव दृढ़ होता है[२२] जिससे वह पाप कर्मों से बच जाता है। ऐसा व्यक्ति सर्वदा प्रसन्नचित्त रहता है।

नियम का दूसरा अंग है– संतोष। व्यक्ति की इच्छाएँ कभी भी समाप्त नहीं होती जिससे उसको तनाव रहता है।[२३] यदि वह सन्तोष को जीवन में धारण कर ले तो अतृप्त इच्छाएँ भी उसे कष्टदायी प्रतीत नहीं होंगी। तप को अपनाकर व्यक्ति जीवन के कष्टों को सहन करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।[२४] वह अनुकूल व प्रतिकूल स्थितियों में एक जैसा रह सकता है। अत: इस अभ्यास से उसको तनाव से दूर रहने की स्थिति प्राप्त हो जाएगी। स्वाध्याय प्रणव के जाप तथा मोक्ष शास्त्रों के अध्ययन को कहा जाता है।[२५] प्रणवजाप से ईश्वर में आस्था बलवती होती है तथा मोक्षशास्त्रों के अध्ययन से व्यक्ति की रुचि सांसारिकता से हट जाती है। तनाव की स्थिति सांसारिक पदार्थों के अभाव या सांसारिक गतिविधियों से ही उत्पन्न होती है। अत: स्वाध्याय व्यक्ति को तनाव से दूर ले जाता है। ईश्वर प्रणिधान समर्पण है।[२६] प्रभु के प्रति समर्पण का भाव जिसमें हो जाएगा, वह व्यक्ति विषम परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होगा। इस प्रकार यम–नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति तनावग्रस्त नहीं होगा।

आसनों के अभ्यास से रोग दूर होते हैं[२७] तथा शरीर मजबूत बनता है।[२८] शारीरिक दृष्टि से यदि स्वस्थ होंगे तो सभी कार्य ठीक प्रकार कर पाएंगे। शरीर की तरफ से निश्चिंत होकर प्राणायाम का अभ्यास करके चित्त को नियंत्रित किया जा सकता है[२९] तथा दीर्धायु प्राप्त होती है। स्वस्थ मन से प्रत्याहार कर इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है।[३०] धारणा, ध्यान, समाधि तो चित्त की उच्चतर स्थिति हैं, जहाँ विकारों के लिए स्थान ही नहीं है। ऐसा साधक मानसिक रूप से अस्वस्थ होगा ही नहीं।

महर्षि पतंजलि ने मनुष्य को अपने चित्त को प्रसन्न रखने के लिए चार प्रकार की भावनाओं का वर्णन किया है– मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा।[३१] सुखी जनों से मित्रता, दु:खी जनों के प्रति करुणा, पुण्यशाली को देखकर प्रसन्न होना और पापियों को देखकर उपेक्षा का भाव धारण करने से व्यक्ति का चित्त खिन्न नहीं होता। मनुष्य अशुभ संस्कारों के कारण स्वभाव से ही दूसरे के सुख से दु:खी और दु:ख से सुखी होता है। किसी पुण्यशाली को पुण्य करते देखकर भी वह प्रसन्न नहीं होता अपितु उसके पुण्य करने में उसके स्वार्थ पूर्ति के लक्ष्य को देखता है। वह पापी को दण्ड देने के लिए सर्वदा उद्यत रहता है, चाहे स्वयं भी वह उसी कोटि का पापी हो। इससे उसका चित्त खिन्न रहता है। सुखी तथा पुण्यात्मा को देखकर तनाव होने के कारण इसके निराकरण के लिए उसे चाहिए कि वह सुखी व्यक्ति को देखकर उससे मित्रवत् व्यवहार करे। क्योंकि मित्र का बुरा कोई नहीं चाहता। दु:खी व्यक्ति के दु:ख में स्वयं कष्ट का अनुभव करने पर उसमें करुणा का भाव उत्पन्न होगा जो परोपकार के लिए प्रेरित करेगा। दु:खी के कष्ट को मिटा कर या कुछ कम करके उसके चित्त में प्रसन्नता का अनुभव होगा। पुण्यशाली को देखकर प्रसन्नतापूर्वक उसके पुण्य कार्यों की सराहना करे। वह यह सोचे कि इसने लोगों के भले के लिए कुछ सोचा तो है, यह मुझसे तो अच्छा है, अत: मैं इसका सम्मान करूँ। इन तीनो प्रकार की भावनाओं से चित्त की मलिनता दूर होगी। इनसे उत्पन्न होने वाले तनाव से हम बच जायेंगे। भावों का विशदीकरण होने पर मानसिक रूप से अव्यवस्थित होने की सम्भावना ही

नहीं रहती। अपने और पराये का भाव क्षुद्रहृदयों में पल्लवित और पुष्पित हुआ करता है, विशाल हृदयों में समत्व आ जाने से सभी प्राणी अपने परिवार के सदस्य प्रतीत होते है।[३२] ऐसे व्यक्तियों को मानसिक व्याधियाँ नहीं सतातीं।

अत: मानसिक रूप से स्वस्थ रहने के लिए अस्वास्थ्यकर कारण के स्वरूप को समझें। इसका कारण यदि सांसारिक पदार्थों की अनुपलब्धि है, तो सन्तोष करें। ईश्वर की इच्छा समझकर जो प्राप्त है, उसी में सन्तुष्ट रहने का प्रयास करें। यदि परिश्रम के बाद भी कार्य पूर्ण न हो तो उसको ईश्वरीय विधान समझें। अहिंसापूर्वक, सत्यनिष्ठापूर्वक, अस्तेयपूर्वक, ब्रह्मचर्यपूर्वक तथा त्यागपूर्वक आचरण करते हुए जीवन बिताएं। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के भाव को धारण करें। हम संसार में मोक्ष प्राप्ति के लिए आए हैं, यह विचारकर संसार से विरत रहने का प्रयास करें। यही दैनिक जीवन में अपनाने योग्य है। यही मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। अत: प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि योगाभ्यास को जीवन में ढालें और सहज रूप से परमात्मा की इस अमूल्य धरोहर को सुरक्षित रखते हुए जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयासरत रहें। यह जीवन की सफलता है, यही जीवन का सार है। ओ३म् शान्ति!

सन्दर्भ संकेत :–

१. सुश्रुत संहिता।
२. Stress and its management by Yoga- K.N. Udupa
३. योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारत:।
मन्त्रयोगो तपश्चैव हठोऽसौ राजयोगक:। योगतत्त्वोपनिषद्–१९
४. मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयक:।
चतुर्थो राजयोग: स्यात् स द्विधा भाववर्जित:।। शिवसंहिता–५/१४
५. केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते। हठप्रदीपिका–१/२
६. श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। नारदभक्तिसूत्र
७. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगंत्यक्त्वा करोति य:।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। –गीता ५/१०
८. तस्य वाचक: प्रणव:। योगसूत्र
९. स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणव जपो वा। योग सूत्र (व्यास भाष्य)– २/३२
१०. आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:। वृहदारण्यक–२/४/५
११. अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या:।। योगसूत्र–२
१२. योग: कर्मसु कौशलम्–गीता–२/५०
१३. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।। योगसूत्र–२/२९
१४. अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमा:। योगसूत्र–२/३०
१५. अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह:। योग सूत्र (व्यास भाष्य)–२/३०

१६. सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथा दृष्टं यथाऽनुमितं
तथा वाङ्मनश्चेति। योगसूत्र (व्यासभाष्य)–२/३०

१७. स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्–तत्प्रतिषेधः। योगसूत्र २/३०

१८. गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। योगसूत्र (व्यास भाष्य)– २/३०

१९. विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः। योगसूत्र (व्यास भाष्य)– २/३०

२०. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योगसूत्र–२/५२

२१. अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति मनः सत्येन शुद्धयति।
विद्या तपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति।। मनुस्मृति

२२. शौचात्स्वांगजुगुप्सापरैरसंसर्गः। योगसूत्र– २/४०

२३. तृष्णाक्षय सुखस्यैते। योगसूत्र (व्यास भाष्य) २/४२

२४. तपोद्वन्द्वसहनम्। योगसूत्र (व्यासभाष्य)२/३२

२५. मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणव जपो वा। योगसूत्र (व्यासभाष्य)– २/३३

२६. समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्। योगसूत्र–२/३४

२७. आसनेन रूजो हन्ति – गोरक्षसंहिता– २/११

२८. आसनेन भवेद् दृढ़म्– घेरण्ड संहिता– १/१०

२९. चले वाते चलं चित्त निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्।। ह.प्र.

३०. ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्। योगसूत्र– २/५५

३१. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। योगसूत्र – १/३३

३२. अयं निजः परो वेति गणना लघु चेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।। स्फुट

डॉ. ईश्वर भारद्वाज
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उत्तरांचल)

वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं सफलं भवेत्।।
(निष्फल व निष्कारण वाणी का प्रयोग न करें)

अभाव मीमांसा

सृष्टि का प्रत्येक प्राणी अपूर्ण है वह किसी न किसी कमी अथवा अभाव का शिकार है, धन है तो ज्ञान नहीं हैं,ज्ञान है तो विनय नहीं है, विनय है तो मान नहीं है, मान है तो निरभिमान नहीं है। किसी के पास प्रसाद है तो प्रासाद नहीं है, भोग है तो योग नहीं है, दस रुपये वाले के पास सौ रुपये नहीं हैं सौ वाले के पास हजार, लाख, करोड़ तथा अरब नहीं हैं।[1] कोई भोजन के बिना भूखा है कोई वस्त्र के बिना नंगा है। इस प्रकार "नहीं है" "नहीं है" इस अनुगताकार निषेध कोटि से व्यक्त की जाने वाली पद्धति/विचारधारा का नाम ही अभाव है।

भारतीय दर्शन साहित्य के विवादास्पद विषयों में अभाव का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अस्तित्व अनस्तित्व तथा ज्ञान के बारे में विभिन्न विचार - धाराएं प्रचलित हैं। अभाव के विषय में जो सबसे पहला प्रश्न हमारे मन में उत्पन्न होता है और जिस पर भारतीय दर्शन में पर्याप्त विवेचन हुआ है वह यही है कि अभाव का स्वरूप क्या है? क्या अभाव सचमुच में कोई वस्तु है या केवल मानसिक प्रत्यय है।

अभाव जहाँ न्यायवैशेषिक तथा भाट्टमीमांसकों को अतिरिक्त पदार्थत्वेन अभिमत है वहीं प्रभाकर मीमांसक इसका दृढ़ता से खण्ड़न करते हैं और इसे अधिकरण तथा ज्ञानरूप सिद्ध करते हैं। न्यायवैशेषिक दर्शन अभाव की ग्राह्यता के लिए प्रत्यक्ष का समर्थन करते हैं। यद्यपि "दर्शपदार्थशास्त्र" के रचयिता चन्द्रमुनि ने अभाव की प्रत्यक्षग्राह्यता का खण्डन किया है किन्तु उत्तरवर्ती सभी नैयायिक एवं वैशेषिक आचार्यो ने इसकी प्रत्यक्ष ग्राह्यता में अविरोध माना है। वात्स्यायन ने भी न्यायभाष्य में **तदेवं सतःप्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयति** इस पंक्ति द्वारा प्रत्यक्षग्राह्यता स्वीकार की है। यद्यपि इसी सम्प्रदाय के प्रशस्तपाद जैसे कुछ आचार्य इसका खण्ड़न कर अनुमानगम्यता को ही वैधताप्रदान करते है।[2] जबकि भाट्ट मतवादी अभाव के प्रत्यक्ष के लिए भावग्राहक प्रमाणों से अतिरिक्त अनुपलब्धि नामक प्रमाण की कल्पना करते हैं। अद्वैतवेदान्ती पूर्वप्रतिपादित गुरुमीमांसक की भाँति अभाव को अधिकरण रूप तो मानते हैं परन्तु वे अभाव के ज्ञान की उपेक्षा नहीं करते प्रत्युत भाट्ट मीमांसकों की भाँति उनके ज्ञान के लिए अनुपलब्धि प्रमाण को स्वीकार करते हैं। बौद्धों ने अभाव की परमार्थसत्ता का विरोध करते हुए उसे मात्र संवृत्तिसत् माना है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह विज्ञात होता है कि अभाव की सत्ता तथा उसके ज्ञान को लेकर भारतीय दार्शनिकों के मध्य परस्पर सहमति का नितान्त संकट है जो कि चिन्तनीय है। अभाव को पदार्थ न मानने में आधुनिक विद्वानों की मनोदशा इस प्रकार है:- कुछ आधुनिक चिन्तक अभाव को इसलिए पदार्थ के रूप में अनभिमत मानते हैं क्योंकि वैशेषिक दर्शन के प्रणेता प्रमाणपुरुष महर्षि कणाद ने स्वयं अपने सूत्र में भावपदार्थ के अतिरिक्त अभाव की चर्चा नहीं की जैसा कि सूत्र से स्पष्ट है:-

धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाय -
पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः।।[3]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि महर्षि कणाद के सूत्र की विशिष्ट विवेचना किये बिना उसके अभीष्ट निहितार्थ को समझे बिना यत्किञ्चिद् अवबोधन के आधार पर निष्कर्ष पर पहुँच जाना कि कणाद अभाव को नहीं मानते सर्वथा भ्रान्त एवं अस्वीकार्य होगा क्योंकि महर्षि ने भले ही स्पष्ट रूप से अभाव

शब्द का उल्लेख कर अभावत्वेन अभाव को पदार्थ न कहा हो, लेकिन जहाँ द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष तथा समवाय का उल्लेख कर इनके साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से निःश्रेयस् प्राप्ति का निरूपण करते हैं वहाँ वैधर्म्य पद में अभाव की स्पष्ट भावना अभिप्रेत है अन्यथा वैधर्म्य शब्द का निर्वचन कर पाना कदापि एवं कथमपि संभव नहीं हो सकता क्योंकि एक से अधिक में रहने वाले समान धर्म को ही साधर्म्य कहते हैं और न रहने वाले धर्म को वैधर्म्य कहते हैं जैसे यावत् घटों में समान रूप से रहने वाले घटत्व को घटों का-साधर्म्य कहते हैं और पटादिकों में नहीं रहने के कारण उसे उसका वैधर्म्य मानते हैं इस नहीं रहने का नाम ही अभाव है। अतः यह कहना कि वैशेषिक सम्प्रदाय के आदि आचार्य अभाव को नहीं मानते सर्वथा अविवेकपूर्ण एवं असंगत है। लक्षणावली में उदयनाचार्य ने भी अभाव को "नञर्थप्रत्ययविशेष" तथा निषेधार्थक प्रतीत का विषय माना है।[4]

न्यायवैशेषिक परम्परा में वस्तु की सत्ता भाव और अभाव इन दो रूपों में कल्पित है जिसमें द्रव्य,गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये भावपदार्थ विध्यात्मक प्रतीति के विषय हैं। जैसे यहाँ घड़ा है (अत्र घटोऽस्ति)यह एक विध्यात्मक प्रतीति है इसका विषय घट है, इसी प्रकार यहाँ घट नहीं है। (अत्र घटो नास्ति) यह एक निषेधात्मक प्रतीति है इसका विषय है घटाभाव। इस घटाभावात्मक ज्ञान को निर्विषयक नहीं कहा जा सकता अन्यथा विध्यात्मक ज्ञान की भी निर्विषयकत्वापत्ति हो जायेगी और साथ ही बौद्ध विज्ञानवादियों के निरालम्बनवाद का समर्थन भी हो जायेगा जो कथमपि स्वीकार्य नहीं है, और यदि "अत्र घटो नास्ति" इस ज्ञान का विषय घटाभाव न मानकर कथञ्चित् घट मान लें तो घटोस्ति ,घटो नास्ति इन दोनों प्रतीतियों में कोई भेदक तत्त्व नहीं स्थापित हो सकेगा जिससे सर्वाधिक अननुकूल समस्या यह होगी कि जिस प्रकार घट अस्तित्व के बोधनेच्छा से घटोऽस्ति यह व्यवहृतव्य है उसी प्रकार घटो नास्ति यह भी व्यवहरणीय हो जायेगा जो पूर्णतः अशास्त्रीय है इसलिए घटो नास्ति इस प्रतीति का विषय घट न होकर घटाभाव ही है।

यहाँ यह विश्लेषणीय है कि अभाव की वाह्यार्थता का सबसे बड़ा पक्षधर न्यायवैशेषिक है किन्तु न्याय वैशेषिक दर्शन में भी इसके स्वरूप के विषय में एक क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि अभाव की परिकल्पना न्याय और वैशेषिक के आरम्भिक ग्रंथों से ही मिलना आरम्भ हो जाती है परन्तु महर्षि गौतम,महर्षि कणाद आदि पूर्वाचार्यों ने अपने आरम्भिक ग्रंथों में न तो अभाव को शब्दशः पदार्थान्तर का दर्जा प्रदान किया और न ही कोई ऐसा व्यवस्थित साक्ष्य प्रस्तुत किया जिससे इसको एक वाह्यार्थ स्वीकार करने में अनापत्ति हो सके।

अभाव की वाह्यार्थता के सन्दर्भ में प्रथम संकेत उद्योतकर के न्यायवार्तिक से प्राप्त होता है।[5] इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की व्याख्या करते हुए उद्योतकर ने प्रस्तुत किया है कि समवाय और अभाव को विशेषण विशेष्यभाव के द्वारा प्रत्यक्षतः ग्रहण किया जाता है।[6] अभाव के इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने का तात्पर्य है कि अभाव एक वाह्यार्थ है। उद्योतकर के कथन् की व्याख्या करते हुए भामतीकार वाचस्पतिमिश्र अभाव के अपने आधार से पृथक् वस्तु होने के लिए युक्तियाँ प्रतिपादित करते हैं। जयन्त ने अभाव की वाह्यार्थता का विस्तृत विवेचन किया है।[7]

यद्यपि पूर्वाचार्यों ने अभाव शब्द का आनुपूर्वी अभिधान कर इसको पदार्थान्तर के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जैसा कि पहले कहा जा चुका है लेकिन फिर भी उनकी अभिमत भावना में तथा प्रतिपादित व्याख्या में अभाव पदार्थ की पार्थक्येन प्रसिद्धि संकेतित होती है जैसा कि कणाद ने अभाव के पदार्थत्व की चर्चा तो नहीं की लेकिन उसके भेदों का तार्किक रूप से उल्लेख किया जो कहीं उनके

अभावपदार्थत्व की संकल्पना को इंगित करता है। न्यायदर्शन के एक अन्य व्याख्याकार न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य ने अभाव को पृथक् पदार्थ की मान्यता प्रदान की है, उन्होंने अभाव को पृथक् पदार्थत्व नहीं स्वीकार करने वालों पर टिप्पणी करते हुए कहा - यदि अभाव का पृथक् पदार्थत्व नहीं स्वीकार किया जायेगा तो द्रव्यादि छः पदार्थों का द्रव्य रूप में गुण के रूप में, कर्म के रूप में, सामान्य के रूप में, विशेष के रूप में तथा समवाय के रूप में भेद कर पाना कथमपि संभव नहीं हो सकेगा। क्योंकि इसका विभाजन अभाव पर ही आधारित है, जैसे - द्रव्य गुणादि पदार्थों से भिन्न है क्योंकि इसका जो स्वरूप है उसका गुणादिपदार्थों में अभाव है इसी प्रकार गुण, द्रव्य तथा कर्मादिपदार्थों से भिन्न है क्योंकि इसका जो स्वरूप है वह द्रव्य तथा कर्मादि पदार्थों में नहीं है। अतः आचार्यों द्वारा अभाव की पृथक् पदार्थ के रूप में जो संकल्पना की है वह सार्थक तथा युक्तियुक्त है।

यद्यपि कुछ विद्वानों का यह भी मन्तव्य है कि महर्षि कणाद ने अपने कतिपय सूत्रों "कारणाभावात्कार्याभावः" (वै0 सू0 1.2.1) इत्यादि में अभाव शब्द का समावेश किया है जो सिद्ध करते हैं कि उन्हें अभाव की वाह्यवस्तुसत्ता स्वीकार्य थी। इसी प्रकार महर्षि गौतम ने भी अपने कुछ सूत्रों "असत्यर्थे नाऽभाव इति चेत्? न अन्यलक्षणोपपत्तेः (न्या0सू0 2.2.9)आदि में अभाव का शब्दशः आनुपूर्वी उल्लेख किया है।

अभाव के सन्दर्भ में एक और बिन्दु यह ध्यातव्य है कि कोई भी वाक्य चाहे वह विध्यात्मक हो या फिर निषेधात्मक किसी न किसी वास्तविकता को व्यक्त करता है जिस प्रकार विधेयात्मक वाक्य वस्तुसत्ता की स्थापना करते हैं उसी प्रकार निषेधात्मक वाक्य भी वस्तुसत्ता का ही उद्घाटन करते हैं। दृष्टान्ततः जब हम यह कहते हैं कि यह घड़ा नहीं है तो हम जाने-अनजाने अभाव को सिद्ध कर रहे होते हैं। अर्थात् इदन्त्वेन उद्दिष्ट इस वस्तु में घट का अभाव है यह स्थापित करते हैं। किसी वस्तु का किसी स्थान पर उपस्थित न होना उस वस्तु का वन्ध्यापुत्र, शशश्रृंग तथा खपुष्प की तरह नितान्त असत् होना नहीं है अपितु तद्देशावच्छेदेन तत्कालावच्छेदेन उसके भावरूप का निषेध है इसी निषेध का अभिप्राय अभाव हैं।[8] इसका समर्थन निम्न पंक्ति से होता है:-

Judgements form no Exception to this rule.

(I.P.S. Vol.1.138)

अभाव के पृथक् पदार्थत्व की सिद्धि के प्रसंग में पं0 गोपीनाथ कविराज कृत **GHBNV** पुस्तक की निम्न पंक्तियाँ भी विशेष रूप से अवलोकनीय हैं:-

It was under a mrtaphysical rather then a logical that ABHAWA had to be postuleted in this system and the necessity thus felt two fold arising (a) from the fundamental assumption of the school that moksha is really negative and (b)from its doctrine of asat-Karsyavada.[9]

अभाव की सिद्धि के सन्दर्भ में यद्यपि प्रतिष्ठापक पूर्वाचार्यों द्वारा मात्र सांकेतिक निर्वचन ही प्राप्त होता है जबकि उत्तरवर्ती नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने अभाव को सप्तम पदार्थ के रुप में स्पष्टतया स्थापित किया है। डा0 डी0एन0 शास्त्री केअनुसार अभाव की पदार्थ के रुप में प्रथम स्वीकृति शिवादित्य की सप्त पदार्थी में हुई।[10] जबकि पॉटर ने प्रथम स्वीकृति चन्द्रमति के 'दर्शपदार्थशास्त्र' में सिद्ध की है।[11] चन्द्रमति शिवादित्य

से लगभग 4 या 5 सौ वर्ष पूर्व में हुए हैं अत: स्पष्ट है कि शिवादित्य से पहले भी अभाव को पृथक् पदार्थ का कलेवर मिल चुका था। बाद के सभी वैशेषिक प्रकरण ग्रंथों (तर्कसंग्रह, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, तर्ककौमुदी, तर्कामृत, प्रमाण मंजरी) आदि में भी अभाव को पृथक् की संज्ञा प्राप्त हो गयी है। न्याय के प्रकरण ग्रंथ तर्कभाषा में प्रतिपादित अर्थ नामक प्रमेय में छ: भावपदार्थों को गिनाया गया है और निषेध रूप पदार्थ के रूप में सप्तम अभाव पदार्थ को भी परिगणित किया गया है।[12] वरदराज ने भी "तार्किकरक्षा" में अभाव के पृथक् पदार्थत्व की सप्रमाण पुष्टि की है।

भारतीय दर्शन वाङ्मय में अभाव का लक्षण आचार्यों ने विविधरूपों में उद्घाटित किया है यद्यपि अभाव का प्रतीकात्मक परिचय एवं लक्षण कणाद तथा अक्षपाद की प्रारम्भिक परम्परा में प्राप्त होता है लेकिन उसका विधिवत् लक्षण जो उसे भावपदार्थों से व्यतिरिक्त स्वयं की पहचान दिलाये ऐसा कार्य सर्वप्रथम शिवादित्य की सप्तपदार्थी में ही दृष्टिगत होता है। शिवादित्य ने अभाव की परिभाषा **"प्रतियोगिज्ञानाधीन ज्ञानोऽभाव:"** इन शब्दों में की अर्थात् जिसका ज्ञान उसके प्रतियोगी के ज्ञान पर आधारित होता है उसे अभाव कहते हैं। न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार आचार्य विश्वनाथपञ्चानन ने **"द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाव:"**[14] इस रूप में अभाव को परिभाषित किया जिसका निहितार्थ है - द्रव्यादि छहों पदार्थों का अन्योन्याभावत्व। जयन्तभट्ट ने न्याय मंजरी के प्रथम भाग में अभाव को व्याख्यायित करते हुए कहा कि अभाव वह पदार्थ है जो नास्ति इस प्रकार के ज्ञान का गम्य हो। लक्षणावलीकार आचार्य उदयन ने अभाव का स्वरूप **'नञर्थप्रत्ययविषयोऽभाव:'** इस प्रकार कहा जिसका प्रतिपाद्य है कि अभाव वह है जो नञर्थक ज्ञान का विषय हो। आचार्य श्रीधर ने न्यायकन्दली ग्रंथ में **"अभावस्यतु प्रतिषेधस्वभावस्य स्वरूपमेव यस्यायं प्रतिषेध: स्यात्तदधीनम् अतस्तत्प्रतिषेध्यमन्तरेण तदभावस्यस्वरूपानन्तराभावात्"** इस तरह अभाव को व्याख्यायित किया है। अर्थात् अभाव तो किसी भाव पदार्थ का प्रतिषेधरूप है अत: उसको जानने के लिये उस भाव पदार्थ को भी जानना आवश्यक है जिसका वह प्रतिषेध है क्योंकि भाव के प्रतिषेध को छोड़कर अभाव का कोई दूसरा स्वरूप ही नहीं है। वादिवादीश्वर ने अभाव को समवाय से भिन्न असमवायी कहा **समवायान्योऽसमवाय्यभाव:**।[15] माध्वाचार्य ने भी सर्वदर्शनसंग्रह में इसी क्रम को बढ़ाते हुए अभाव को **"असमवायत्वे सत्यसमवायित्वं,**[16] इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है। नव्य न्याय के जन्मदाता आचार्य गंगेशोपाध्याय ने **"अथाभावो भावात्मैव"**[17] इन शब्दों द्वारा अभाव को परिष्कृत किया है।

वस्तुत: अभाव का निष्कृष्ट लक्षण है **"निषेधमुखप्रमाणगम्यत्वं"** जिसकी व्युत्पत्ति है - **निषेध: निषेधार्थक: नञ् शब्द: मुखं अभिलापक: यस्य तच्चेदं प्रमाणं प्रत्यय: तेन गम्यत्वं बोध्यत्वं वेद्यत्वं वा।** इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपलब्ध अर्थ है - "नञ् शब्द से अभिलाप किये जाने वाले ज्ञान का विषय होना। जैसे - **इदं इह नास्ति, इदं - इदं न भवति**, इस प्रकार के ज्ञान निषेधमुखप्रत्यय हैं, इन प्रत्ययों में नञ् शब्द से जिस पदार्थ का उल्लेख होता है वही अभाव है।"[18]

विध्यात्मक और निषेधात्मक प्रतीतियों के वैविध्य के परिणामस्वरूप यथा भावात्मक और अभावात्मक पदार्थों का वर्गीकृत रूप दृष्टिगत होता है और भाव पदार्थों में भी प्रतीतिभेद से यथा द्रव्यगुणदिकों का विभक्तरूप प्रस्तुत होता है, ठीक उसी प्रकार प्रतीति वैचित्र्य के कारण अभावों में भी अवान्तर भेद स्वीकार किया गया है। अभावों को प्रथमत: दो भागों में विभक्त किया है अन्योन्याभाव और अनन्योन्याभाव। पूर्ववर्ती आचार्यों ने अन्योन्याभाव को परस्पराभाव तथा अनन्योन्याभाव को संसर्गाभाव शब्द से सम्बोधित किया है। अन्योन्याभाव भेदरहित है जबकि अनन्योन्याभाव सामान्यत: तीन भागों में विभाजित किया गया है।

1-प्रागभाव 2-प्रध्वंसाभाव 3-अत्यन्ताभाव।

वाचस्पति मिश्र ने चार ही प्रकार के अभाव स्वीकार किये, उन्होंने पहले अभाव को दो वर्गों में विभक्त कर पुनः संसर्गाभाव के अन्तर्गत प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव को ग्रहण किया, परवर्ती आचार्यों जिसमें जयन्त तथा श्रीधर शामिल हैं ने वाचस्पति के वर्गीकरण का ही अनुकरण किया। इस सन्दर्भ में एक बात विशेषरूप से ध्यातव्य है कि न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट ने मुख्यतः प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव इन दो अभावों को स्वीकार करते हुए 'नप्रागभावादन्ये तु भिद्यन्ते परमार्थतः'[19] इस कथन के द्वारा अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव को प्रागभाव के अन्तर्गत समाहित किया है।

निष्कर्षतः न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में प्रायः चार प्रकार के अभाव प्राप्त होते हैं भाट्टमीमांसक भी इसी विभाजन को मान्यता प्रदान करते हैं। यहाँ प्रायः शब्द कहकर कुछ आचार्यों द्वारा संसर्गाभाव के चार भेदों के सिद्धान्त को संकेतित किया गया है। जो इस प्रकार हैं - 1 - प्रागभाव 2 - प्रध्वंसाभाव 3 - त्रैकालिक अभाव 4 - किञ्चित् कालिक अभाव। पुनः त्रैकालिक और किञ्चित् कालिक अभाव को विशिष्टाभाव और अनुभय विशिष्टाभाव के रूप में वर्गीकृत किया है।

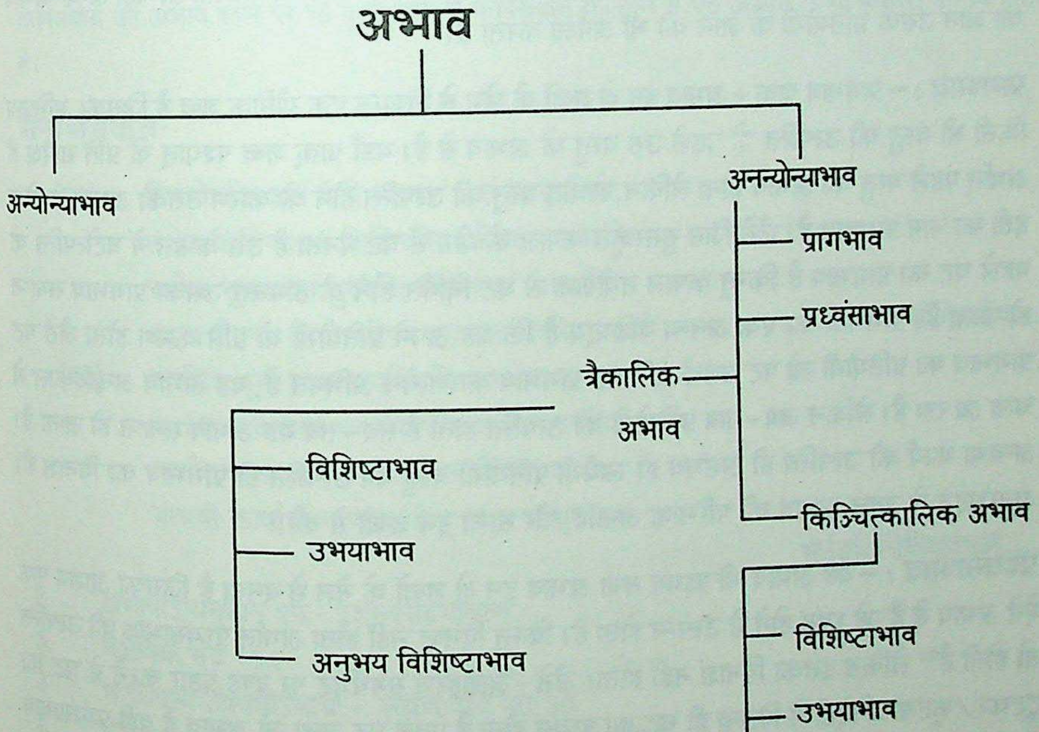
अभाव
अन्योन्याभाव
अनन्योन्याभाव
प्रागभाव
प्रध्वंसाभाव
त्रैकालिक अभाव
विशिष्टाभाव
उभयाभाव
अनुभय विशिष्टाभाव
किञ्चित्कालिक अभाव
विशिष्टाभाव
उभयाभाव
अनुभय विशिष्टाभाव

अन्योन्याभाव :- तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं।[20] अर्थात् जिस अभाव के प्रतियोगी की स्थिति तादात्म्य सम्बन्ध पर निर्भर करती है वह अभाव अन्योन्याभाव है। अन्योन्याभाव का अर्थ 'अन्योन्यत्व' तादात्म्य का विरोधी अभाव। जो अभाव अपने आश्रय में अपने

प्रतियोगी के अन्योन्यत्व तादात्म्य का विरोधी होता है वह अभाव अन्योन्याभाव है जैसे गुण में द्रव्य का भेद रहता है द्रव्य का तादात्म्य नहीं रहता अतः अपने प्रतियोगी के तादात्म्य का विरोधी होने से गुण में रहने वाला द्रव्य भेद द्रव्य का अन्योन्याभाव है।

गुणो द्रव्यं न (गुण द्रव्य नहीं है) इसका आशय है कि गुण ही गुण हो सकता है और कोई भी पदार्थ गुण नहीं हो सकता क्योंकि गुण का काम गुण ही कर सकता है और कोई नहीं, अतः गुण का तादात्म्य संबंध गुण में ही है और किसी में नहीं है सुतरां द्रव्य में भी नहीं है इसलिए तादात्म्य सम्बन्ध से गुण द्रव्य में नहीं है और इसी तरह तादात्म्य संबंध से द्रव्य गुण में नहीं है इसी अन्योन्य या परस्पर में न होने का नाम अन्योन्याभाव है। अन्योन्याभाव को मान्यता प्रदान करने से द्रव्यादि षट् भाव पदार्थों के मध्य परस्पर भेद स्थापित हो सका है अन्यथा द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय पदार्थों के मध्य मिथः भेद स्थापित कर द्रव्य गुण कर्मादि के रुप में पृथक् पदार्थत्व की स्थापना सर्वथा असम्भव है। आचार्य श्रीधर ने न्याय कन्दली में अन्योन्याभाव की नित्यता तथा एकता प्रतिपादित की है अतः अन्योन्याभाव आधारभूत वस्तु के समाप्त हो जाने पर भी सामान्य के सदृश दूसरी वस्तु में आभासित होता रहता है अतः इसकी नित्यता सुतरां सिद्ध है। हाँ सामान्य के सापेक्ष इसमें विभेद यह है कि जहाँ सामान्य का ज्ञान मात्र स्वाश्रयज्ञान की अपेक्षा करता है। वहाँ अन्योन्याभाव का ज्ञान उसके प्रतियोगी के ज्ञान की भी अपेक्षा करता है।

प्रागभाव :– प्रागभाव प्राक् + अभाव इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न एक यौगिक शब्द है जिसका अभिप्राय किसी भी वस्तु की उत्पत्ति से पहले उस वस्तु के अभाव से है। यहाँ प्राक् शब्द पश्चात् के प्रति सापेक्ष है अर्थात् पहले वस्तु का अभाव होना लेकिन पश्चात् वस्तु की उत्पत्ति होने के कारण उसका अभाव न होना इसी का नाम प्रागभाव है। जैसे जिस सुसंस्कृत कपाल के योग से घट बनता है उस कपाल में घटोत्पत्ति के पहले घट का प्रागभाव है किन्तु कपाल संयोजना से घट निर्मित होने के अनन्तर उसका प्रागभाव समाप्त हो जाता है। प्रागभाव का एक अनन्य वैशिष्ट्य है कि यह अपने प्रतियोगी के प्रति कारण होता जैसे पट प्रागभाव का प्रतियोगी जो पट उसके प्रति पट प्रागभाव कारणत्वेन अभिमत हैं, यह अभाव अनादिकाल से चला आ रहा है। लेकिन जब - जब प्रतियोगी की उत्पत्ति होती है तब - तब यह अभाव समाप्त हो जाता है। अन्यथा कार्य की उत्पत्ति ही असंभव हो जायेगी प्रतियोगी वस्तु की उत्पत्ति ही प्रागभाव का विनाश है। अन्नंभट्ट ने उक्त अभाव की परिभाषा अनादि और सान्त इन शब्दों से की।[21]

प्रध्वंसाभाव :– यह अभाव भी प्रध्वंस तथा अभाव इन दो शब्दों के मेल से बनता है जिसका आशय एक ऐसे अभाव से है जो ध्वंस होने से उत्पन्न होता है। किन्तु विनष्ट नहीं होता अर्थात् प्रध्वंसाभाव की उत्पत्ति तो होती है[22] लेकिन इसका विनाश नहीं होता। जैसे - जलाहरण समर्थघट पर दण्ड प्रहार करने से घट का टूटकर / फूटकर मिट्टी में मिलना ही घट का प्रध्वंस होना है एतत् घट जन्य जो अभाव है वही प्रध्वंसाभाव है। पुनः इस प्रध्वंस का प्रध्वंस संभव नहीं है इसलिये प्राच्यपदार्थशास्त्रियों ने विविध विशिष्ट स्थलों पर यह कहा है कि जिस अभाव की उत्पत्ति हो किन्तु अनन्तकाल तक कभी भी नाश न हो वह अभाव है प्रध्वंसाभाव। इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट ने इसे **सादिरनन्तः प्रध्वंसः**[23] इस रूप में अभिव्यक्त किया।

प्रध्वंस का प्रध्वंस क्यों नहीं स्वीकार करते इस जिज्ञासा का समाधान इस रूप में करना चाहिए कि प्रध्वंस का भी यदि प्रध्वंस हो तो उसके प्रतियोगी भाव वस्तु का पुनः अस्तित्व होना चाहिए।

अत्यन्ताभाव :– भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों में रहने वाले अभाव का नाम अत्यन्ताभाव है यह अत्यन्त तथा अभाव इन शब्दों का संयुक्त रुप है जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है – **अन्तम् अभावम्, अतीतः अत्यन्तः स चासौ अभावः अत्यन्ताभावः** अर्थात् जिस अभाव का कभी अभाव न हो। जैसे – शिलाखण्ड में ज्ञान का अभाव। शिलाखण्ड में ज्ञान का अवस्थान कभी किसी काल, किसी देश, तथा किसी परिस्थिति में नहीं होता उसमें ज्ञान का सर्वथा अभाव रहता है अतः शिलाखण्ड में रहने वाला ज्ञानाभाव का अत्यन्ताभाव है। अत्यन्ताभाव के दो भेद दृष्टिगत होते है: – 1 – व्याप्यवृत्ति, 2 – अव्याँप्यवृत्ति। व्याप्यवृत्ति अत्यन्ताभाव उसे कहते हैं जो अपने आश्रय के सम्पूर्ण भाग में व्याप्त होकर रहता है जिसे शास्त्रीयभाषा में इस प्रकार कह सकते हैं – जिसके आश्रय में उसका प्रतियोगी कथमपि न रहता हो यह अभाव व्याप्यवृत्ति अभाव है जैसे शिलाखण्ड में ज्ञानाभाव। ज्ञानाभाव अपने आश्रय शिलाखण्ड के सम्पूर्ण भाग में सदैव रहने तथा उसके प्रतियोगी ज्ञान के शिलाखण्ड में कथमपि त्रिकाल में भी न रहने से व्याप्यवृत्ति है, जबकि गुणाभाव द्रव्य में अव्याप्यवृत्ति अभाव है क्योंकि पृथ्वी आदि द्रव्य में उत्पत्ति कालावच्छेदेन गुणाभाव होता है और स्थितिकालावच्छेदेन गुण होता है अतः द्रव्य में गुणाभाव अव्याप्यवृत्ति अभाव है। इसी प्रकार वृक्ष के सम्पूर्ण भाग में न रहकर केवल मूलावच्छेदेन भाग में रहता है अतः एक ही वृक्ष के एक भाग में कपिसंयोग का अभाव रहने पर भी दूसरे भाग में कपिसंयोग के रहने से यह अभाव अव्याप्यवृत्ति अभाव होता है।

सन्दर्भसंकेत

1- (क) निःस्वोवष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो,
लक्षेश:क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति।
चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिः ब्रह्मास्पदं वाञ्छति,
ब्रह्मा शैवपदं शिवो हरिपदं ह्याशावधिंकोगतः।।

नीतिश्लोक.......

(ख) क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंक शयनम्
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरः,
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्।।

भर्तृहरि नीतिशतकम्...........

2. अभावोऽप्यनुमान एव – प्रशस्तपादभाष्यम्
3. वैशेषिक सूत्र 1.1.4
4 नञर्थप्रत्ययविषयोऽभावः – लक्षणावली पृ0 30
5. Critique of Indian Realism- Pg.398
6. न्यायवार्तिक
7. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएं – डा0 महेश भारती
8. नास्तीति ज्ञानगम्यत्वं – न्यायमंजरी भाग एक
9. G.H.B.N.V.-Pg-25
10. Critique of Indian realism Pg.117.398
11. Encyclopedia of Indian Philosophy Vol II. P.143

12. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएं - डा0 महेश भारती
13. सप्तपदार्थी पृष्ठ62
14. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली
15. मानमनोहर पृष्ठ 134
16. सर्वदर्शन संग्रह
17. तत्वचिन्तामणि
18. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएं (भूमिका) डा0 महेश भारती
19. न्याय मंजरी, भाग एक
20. क) तादात्म्य संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभाव: - तर्कसंग्रह
    ख) अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली।
21. अनादिसान्त: प्रागभाव:। तर्कसंग्रह /सप्तपदार्थी।
21. जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम् न्या0सि0 मु0 पृ0 80
22. क) तर्कसंग्रह
    ख) सादिरनन्त: प्रध्वंसाभाव: - सप्तपदार्थी
23. अभावविरहात्मत्वं वस्तुन: प्रतियोगिता
24. त्रैकालिक संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभाव: - तर्कसंग्रह

डॉ0 शिव शंकर मिश्र
संस्कृत विभागाध्यक्ष
राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, ऋषिकेश,
फोन: - 9412436503

काव्य शास्त्र विनोदेन,
कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणाम्
निद्रया कलहेन वा।।

(बुद्धिमान् लोग अपने समय को साहित्य, संगीत कला आदि में व्यतीत करते है किन्तु मूर्ख जन विविध प्रकार के गन्दे कार्यो, निद्रा एवं लड़ाई झगड़ों मे बिताया करते हैं।)

हितोपदेश

कालिदास के रघुवंश में नामकरण का युक्त्यौचित्य

वस्तुत: सभी साहित्यकार अपनी कृतियों तथा उनमें निबद्ध पात्रों के नाम साभिप्राय रखते हैं जिससे उनका नाम सार्थक्य सिद्ध होता है। कालिदास ने अपनी कृतियों के नाम तो सार्थकतापूर्ण रखे ही हैं, यथा रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम्। इनमें भी प्रमुख पात्रों के नाम अत्यंत सौद्देश्य रखे हैं, और उनके नाम रखने की युक्तियाँ भी दी हैं। यह तथ्य रघुवंश के नामों में अत्यधिक स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

1. प्रथम सर्ग में ही सुदक्षिणा के लिये कहा गया है कि 'तस्य दाक्षिण्यरूढ़ेन नाम्ना मगधवंशजा। पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा। ।.31 उस राजा की जैसे यज्ञ की पत्नी दक्षिणा प्रसिद्ध है वैसे ही मगधवंश में सुदक्षिणा नाम की पत्नी थी जो संसार में अपनी उदारता (दाक्षिण्य) के लिये प्रसिद्ध थी। सुदक्षिणा यथा नाम तथा गुण थी। 'सुदक्षिणा' का अर्थ ही है, सुंदर दक्षिणा देने वाली अत: दक्षिणा (उदार या दूसरों के मनोनुकूल) होने के कारण उसका 'सुदक्षिणा' नाम अत्यंत युक्तियुक्त है।

2. दिलीप ने अपने पुत्र का नाम 'रघु' यही सोचकर रखा कि यह बालक शास्त्रों के पार और युद्ध में शत्रुओं के भी पार चला जायेगा क्योंकि वह अर्थ के जानने वाले थे। अत: 'रघि' धातु का अर्थ जाना समझकर पुत्र का नाम रघु रखा, कवि कुलगुरु कालिदास ने इस बात को इस प्रकार प्रकट किया है 'श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिव:।

   अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम्।। (3,21)

3. इसी प्रकार कामधेनु गाय की पुत्री का भी नाम नन्दिनी है, अर्थात् जो प्रसन्न हो और प्रसन्न करे और नन्दिनी गाय अपने नाम के अनुरूप दिलीप और सुदक्षिणा की सेवा से प्रसन्न होती है तथा राजा को मनवांछित पुत्र का वर देकर प्रसन्न करती हैं, यथा

   ''भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीताऽस्मि ते पुत्र! वरं वृणीष्व।
   न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुधां प्रसन्नाम्।।। (2.63)

   'सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा।
   दुग्ध्वा पय: पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश।। (2.65)

रघु के पुत्र अज के लिए कहा गया है कि रघु की रानी ने पुत्र ब्राह्म मुहूर्त में उत्पन्न किया था अत: पिता ने ब्रह्म के ही नाम पर अपने पुत्र का नाम अज रखा,

'ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्।
अत: पिता ब्रह्मण एवं नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार।। (5.36)

अतः पुत्र का नाम अज रखने में अत्यत्न औचित्यपूर्ण युक्ति है। इसी प्रकार गन्धर्वपति 'प्रियदर्शन' (अर्थात् जो देखने में प्रिय है) के पुत्र का नाम प्रियंवद है जो यथा नाम तथा गुण है अर्थात् प्रिय बोलने वाला है।

'अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य'।।(5.53)

ऐसे ही इन्दुमती के स्वयंवर में आये मगध के राजा यथार्थ नाम परंतप हैं 'परंतप' अर्थात् शत्रुओं को तपाने वाले जिसे कालिदास ने इन शब्दों में प्रकट किया है,

'राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा ।। (6.21)

वहीं पर अज का परिचय देते हुए ककुत्स्थ के विषय में कहा गया है,

'इक्ष्वाकुवंश्य ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत्।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाध्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्राः ।। (6.71)
महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकलीलः ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषित पत्रलेखाः ।। (वही .72)

'ककुत्स्थ' अर्थात् बैल के कन्धे' क्योंकि इक्ष्वाकु वंश के राजा ने इन्द्र रूपी बैल के कन्धे पर चढ़कर युद्ध किया था अतः वे कहलाये ककुत्स्थ और उनके वंशज काकुत्स्थ' अतः अब यह 'नृपाणां ककुदं श्रेष्ठः' इस अर्थ का वाचक हो गया है अतः उन्नति की इच्छा वाले उत्तरकौशल के राजा काकुत्स्थ कहलाते हैं। अत्यन्त औचित्यपूर्ण युक्ति है। अज के पुत्र का नाम दशरथ हुआ इसके लिए कालिदास की अत्यन्त सारगर्भित युक्ति है कि

'दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षुदशस्वपि श्रुतम्।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः ।।(8.29)

दस सौ किरणों वाले सूर्य के समान और दश दिशाओं में जिनका यश प्रसिद्ध था और जो दस कण्ठ वाले के शत्रु के पिता जिसको दशरथ कहते थे। राम के इस नामकरण के लिए कवि की युक्ति है कि

'राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ।।' (10.67)

अर्थात् 'अभिरामत्व' वपु का मनोहर होना ही उनके 'राम' नाम के प्रवृत्ति का निमित्त था। 'शूर्पणखा' शूर्प इव नखानि यस्या सा' के लिए कलिदास की उक्ति है कि

'रूपं शूर्पणखा नाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यता।।' (12.38)'

शूर्पणखा ने अपने नाम के सदृश रूप धारण कर लिया। इसी प्रकार 'दूषण' 'दूषयतीति दूषणः' अर्थ को लेकर कालिदास का कथन है कि

असज्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम्।
न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ।।' (12.46)

राम ने दुष्ट लोगों से भेजे गये दूषण को इसी प्रकार क्षमा नहीं किया जैसे सदाचारी व्यक्ति दुर्जनों के उच्चारित अपने दोष को क्षमा नहीं करता।

'मेघनाद' मेघइव नादो यस्य सः' को लेकर कालिदास का कथन है कि

'स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् ।
मेघस्येव शरत्कालो न किञ्चित्पर्यशेषयत् ।।' (12.79)

यहाँ पर मेघनाद के गर्जन को मेघ के समान और धनु: को इन्द्रायुध के समान कहा गया है। अत्यन्त सौन्दर्यपूर्ण उक्ति है।

पञ्चाप्सर नामक सरोवर को दिखाते हुए राम सीता को उसके विषय में बताते हैं कि इन्द्र ने शातकर्णि मुनि के तप से डरकर उनका तप भंग करने के लिए पाँच अप्सराएं भेजी थीं अत: उनके विहार के कारण इसका नाम हुआ पञ्चाप्सर, 'पञ्चाप्सरसो यस्मिन्निति'। कालिदास के शब्दों में

'एतत्मुनेर्मानिनि शातकर्णे: पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि' तथा
समाधिभीतेन किलोपनीत: पञ्चाप्सरो यौवनकूटबन्धम् ।।' (13.38,39)

इसी प्रकार सुतीक्ष्ण को लेकर कालिदास का कथन है,

'हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्ति:।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्त:।।' (13.41)

यह तपस्वी नाम से 'सुतीक्ष्ण' (बहुत तीखा) हैं पर चरित से सौम्य हैं, यहाँ नाम की चरित से विपरीतता है किन्तु तीक्ष्ण तप करके अपना नाम सार्थक कर रहे हैं शत्रुघ्न के नाम को सार्थक दिखाते हुए कालिदास कहते हैं,

आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघव:।
करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात्।।' (15.6)

'शत्रुघ्न ' का अर्थ है ' शत्रून्हन्तीति', अत: राम ने उनके नाम को यथार्थ करते हुए शत्रु (लवणासुर) का उन्मूलन करने का आदेश दिया।

सीता के पुत्रों के नाम लव और कुश रखने में क्या कारण था, इसको कालिदास इस प्रकार बताते हैं,

'स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया।
कवि कुशलवावेव चकार किल नामत:।।' (15.32)

क्योंकि सीता की गर्भपीड़ा कुश-दर्भ और लव- गाय के पूंछ के बाल - 'कुशैर्दर्भैर्लवैर्गोपुच्छलोमभि:' से दूर हुई थी अत: कवि ने उन दोनों के नाम ही कुश और लव रख दिये। इसी प्रकार शत्रुघ्न के पुत्रों के नाम शत्रुघाती और सुबाहु भी सार्थक हैं।

'शत्रुघातिनि शत्रुघ्न: सुबाहौ च बहुश्रुते।
मधुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुक:।।' (15.36)

इन नामों को इस प्रकार भी लिया जा सकता है- शत्रुघाती सुबाहु और बहुश्रुत। कुश और लव के नामों का युक्तिपूर्ण औचित्य कालिदास ने इस प्रकार प्रकट किया है,

'स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम्।
शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम् ।।' (15.97)

कुश शत्रु रूपी नागों के लिए अङ्कुशभूत होने से और लव अपने सुन्दर वचनों से सज्जनों की आँखों में आँसू लाने से अपने नाम को सार्थक ठहराते हैं।

---

[1] पं० सीताराम चतुर्वेदी ने अपनी कालिदास ग्रन्थावली में इनको 'शत्रुघाती और सुबाहु अपने दो विद्वान् पुत्रों' (पृ० 143) इस प्रकार लिया है जबकि हरगोविन्दमिश्र ने अपनी हिन्दी टीका में 'शत्रुनाशक सुबाहु तथा बहुश्रुत (नामक अपने) दो पुत्रों को (278) लिया है जबकि वही संस्कृत टीका से (मल्लिनाथ कृत) बहुश्रुते शत्रुघातिनि सुबाहौ च', विद्वान् शत्रुघाती और सुबाहु नाम ही उचित प्रतीत होते हैं।

कुश को बार-बार शत्रुओं का अंङ्कुश कहा गया है यथा प्रस्तुत श्लोक में

'त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान् ।
मानोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे।।' (16.81)

अतिथि के पुत्र का नाम निषध रखा गया जिसके लिए यह तर्क दिया गया है कि वह निषधराज की पुत्री से उत्पन्न हुआ और शत्रुओं का नाश करने वाला था और निषध पर्वत से कम बलवाला नहीं था जैसा कि कालिदास के कथन से स्पष्ट है -

'स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः।
अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधारव्यम्।।' (18.1) ?

इसी प्रकार निषध के पुत्र नल के लिए, उसके नाम की सार्थकता को सिद्ध करते हुए कहा गया है कि अनल जैसे ओजवाले उनके नल नामक पुत्र ने वंशश्री को प्राप्त किया और नलिन के समान मुख वाले उसने शत्रुओं की सेनाओं को ऐसे ही कुचल दिया जैसे हाथी नड़वल(नरकट के गट्टे) को

'तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशाश्रियं प्राप नलाभिधानः।
यो नड़वलानीव गजः परेषां बलान्यमृद्नान्नालिनाभवक्त्रः।।' (18.5)

अनल के सामन ओजस्वी होने से उसका नाम नल हुआ। नल के पुत्र का नाम नभ हुआ क्योंकि वह नभस्तल के समान श्यामशरीर था और नभोमास(श्रावण) के समान प्रजाओं को प्रिय था। नभ नाम रखे जाने का कितना सुन्दर औचित्य है,

नभश्चरैर्गीतयशा सलेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम्।
रव्यातं नभः शब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम्।। (18.6)

नभ के पुत्र पुण्डरीक के नाम के विषय में कालिदास की कितनी युक्ति युक्त उक्ति है।

'तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः।
शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिवाश्रिता श्रीः।। (18.8)

पुण्डरीक राजाओं में उसी प्रकार श्रेष्ठ थे जैसे हाथियों में 'पुण्डरीक' (अग्निकोण का दिग्गज) और पिता के शान्त हो जाने पर पुण्डरीक (श्वेत कमल) धारण करने वाली लक्ष्मी ने पुण्डरीकाक्ष (विष्णु के समान उनका वरण कर लिया। पुण्डरीक के पुत्र क्षेमधन्वा (क्षेमं धनुर्यस्य) के लिए कालिदास की चमत्कारपूर्ण और औचित्यपूर्ण युक्ति है कि,

स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम्।
क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चकार।। (18.9)

उनका क्षेमधन्वा नाम यथा नाम तथा गुण है, वह प्रजा का क्षेम (कल्याण) करने में दक्ष थे और क्षेम ही उनका धनुः था अतः उनका क्षेमधन्वा नाम अत्यन्त सार्थक है।

क्षेमधन्वा का पुत्र देवानीक हुआ जिसके नाम के विषय में युक्ति है कि वह अनीकिनी (सेनाओं) के आगे चलने वाला था और देवप्रतिम था अतः उसका दैवानीक' नाम स्वर्ग में भी प्रसिद्ध हुआ।

अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत्।
व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य।। (18.10)

उनके पुत्र 'अहीनगु' के नाम की सार्थकता को कालिदास ने इन सुन्दर शब्दो में प्रकट किया है।

अहीनगुर्नाम स गां समग्रामहीनबाहु द्रविण: शशास।
यो हीन संसर्गपराङ्मुखत्वाद्युवाप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीन:।। (18.14)

अहीनग अर्थात् हीनता (नीचता) को न प्राप्त होने वाला। उनका बाहुबल हीन नहीं था। और जो हीन (नीचों) के संसर्ग से विमुख होने के कारण अनर्थकारी व्यसनों से दूर थे अत: उनका 'अहीनगु' नाम अत्यन्त उपयुक्त है। अहीनग के पुत्र 'पारियात्र' के लिए कालिदास का अत्यन्तौचित्यपूर्ण कथन है कि

'तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेतर्यरीणां तनयं तदीयम्।
उच्चै: शिरस्त्वाज्जित पारियात्रं लक्ष्मी सिषेवे किल पारियात्रम्।। (18.16)

शिर की ऊँचाई से पारियात्र (सातकुलपर्वतों में से एक पर्वत विशेष) पर्वत को भी तिरस्कृत करने के कारण लक्ष्मी उनका सेवन करने लगी। इस प्रकार पारियात्र नामक सार्थक है। उनका उदारशील और शिलापट्ट के समान विशाल वक्षस्थल वाला शिल नामक पुत्र हुआ जो शिलीमुख (बाण) से शत्रु पक्ष को जीतकर प्रशंसा किये जाते हुए शालीन रहते थे। शिलापट्ट के समान वक्षस्थल होने उदारशील होने और शालीन होने से उनका 'शिल' नाम अत्यन्त सार्थक और औचित्ययुक्त सिद्ध होता है।

तस्याभवत्सूनुरुदारशील: शिल: शिलापट्ट विशालवक्षा।
जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्य: शालीनतामब्रजदीड्यमान:।। (18.17)

उनके पुत्र उन्नाभ के लिए कहा गया है;

उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्यायथार्थोन्नतनाभिरन्ध्र:।
सुतोऽभवत्पङ्कजनाभिकल्प: कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य।। (18.20)

इसके लिए मल्लिनाथ की टीका में कहा गया है **यथार्थ यथा तथोन्नतं नाभिरन्ध्रं यस्य स:, गम्भीरनाभिरित्यर्थ:।** वे पङ्कजनाम (कमल की नाभिविष्णु) के समान थे और सम्पूर्ण नृप मण्डल की नाभि अर्थात् केन्द्र थे अत: गहरी नाभिवाले होने से उनका अयथार्थ उन्नाभ नाम सार्थक है। उन्नाभ के पुत्र वज्रनाभ हुए जिसके नाम को लेकर कालिदास का कथन है कि

तत: परं वज्रधरप्रभावस्तदात्मज: संयति वज्रघोष:।
बभूव वज्राकरभूषणाया पति: पृथिव्या: किल वज्रणाभ:।। (18.21)

वज्रनाभ अपने नाम के ही अनुरूप वज्र के समान घोष करने वाला, वज्र को धारण करने वाले इन्द्र के समान प्रभाववाला और वज्र (हीरों) की खान रूपी आभूषण वाली पृथ्वी का पति था। अत: उसका वज्रणाभ नाम अत्यन्त सार्थक और उपयुक्त है। (वज्रणाभ - वज्रको धारण करने वाले के समान कान्ति वाला)। वज्रनाभ के पुत्र का नाम शंखण हुआ, जिसकी अर्णवान्त पर्यन्त पृथ्वी ने रत्नों के उपहारों द्वारा सेवा की। शंखण का पुत्र व्युषिताश्व हुआ जिसका यह नाम ही घोड़ों को बहुत दूर तक ले जा कर ठहराने के कारण पड़ा था - **वि. उषिता अश्वा: येन स:।** उसके नाम की सार्थकता को कालिदास ने इन शब्दों में प्रकट किया है -

तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपेदे पदमाश्विरूप:।
वेलातटेषूषितसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहु:।। (18.23)

इस प्रकार व्युषिताश्व का नाम अत्यन्त युक्तियुक्त और औचित्यपूर्ण है। व्युषिताश्व का पुत्र विश्वसह हुआ जिसे पिता ने विश्वेश्वर की आराधना कर प्राप्त किया था और जो विश्वंसह अर्थात् विश्व

को सहने में, पालन करने में समर्थ था। कालिदास के शब्दों में

'आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा।। (18.24)

इस प्रकार उसका विश्वसह नाम अत्यन्त उपयुक्त है। विश्वसह का हिरण्यनाभ नामक पुत्र हुआ, विष्णु का ही अंश होने से जिसका हिरण्यनाभ नाम सार्थक था, वृक्षों के लिए जैसे वायुसहित हिरण्यरेता (अग्नि) असह्य होती है वैसे ही उसके उत्पन्न होने पर विश्वसह शत्रुओं के लिए असह्य हो गए। (15.25)

उन हिरण्यनाभ के कौसल्य पुत्र हुआ क्योंकि वे उत्तरकोसल के राजा थे और सोमसुतः (सोमं सुतवतः) सोमरस का पान करनेवाले (यज्ञकर्ता) थे अतः उनके पुत्र का नाम कोसल्य (कोसल से सम्बन्ध रखनेवाला) अत्यन्त उचित है और वह द्वितीय सोम (चन्द्रमा) के समान नेत्रानन्ददायक था। (18.27)

कौसल्य के पुत्र का नाम ब्रह्मिष्ठ हुआ जो ब्रह्मिष्ठ-श्रेष्ठ ब्रह्मविद् होने से अत्यन्त सार्थक था जिसे कालिदास ने इन शब्दों में प्रकट किया है,

'यशोभिराब्रह्मसमं प्रकाशः स ब्रह्मभूयंगतिमाजगाम।
ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनु प्रसूतम्।। (18.28)

उनके पुत्र का नाम पुत्र था जो अत्यनत सार्थक था क्योंकि उनके 'पुत्र' नामक पुत्र ने उन्हें पुत्रवानों का शिरोमणि बना दिया, इस बात को कालिदास ने इन सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया;

पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृति पत्ररथेन्द्रकेतोः।
तं पुत्रिणां पुष्करपत्र नेत्रः पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम्।। (18.30)

पुत्र के पुष्य नामक पुत्र हुआ। उसका पुष्य नाम अत्यन्त युक्तियुक्त है क्योंकि वह पौष्यतिथि (पूस की पूर्णिमा) में उत्पन्न हुआ था और उसके उदित होने पर लोगों ने समग्र पुष्टि को पुष्ट किया जैसे दूसरा पुष्य नक्षत्र हो, अतः पुष्य नक्षत्र के समान वृद्धि का कारण होने से उसका नाम पुष्य युक्त है। कालिदास के शब्दों में यह तथ्य इस प्रकार व्यञ्जित हुआ है।

तस्य प्रभाव निर्जितपुष्परागं पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी ।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जना पुष्य इव द्वितीये।। (18.32)

पुष्य के पुत्र ध्रुवसंधि थे जो यथार्थनाम थे क्योंकि

ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसन्धिरुर्वीम्।
यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसन्धे सन्धिध्रुवः सन्नमतामरीणाम्।। (18.34)

ध्रुवसंधि-ध्रुवासन्धि यस्य सः। उनका ध्रुवसन्धि नाम अत्यन्त उपयुक्त था क्योंकि उनकी सन्धि अत्यन्त ध्रुव (अटल) होती थी और वे सत्य प्रतिज्ञ थे तथा ध्रुव के तुल्य थे। उनका सुदर्शन नामक पुत्र था जिसका सुदर्शन देखने में प्रिय, सुन्दर) नाम अत्यन्त युक्ति युक्त था क्योंकि दर्श (अमावस्या) के अत्यय ? अर्थात् प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान देखने में अत्यन्त प्रिय था, इसी बात को कालिदास इस प्रकार कहते हैं : सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दु प्रियदर्शने सः (18.35)। सुदर्शन के पुत्र का नाम अग्निवर्ण हुआ, जिसका अग्नि के समान तेजस्वी होने से आग्निवर्ण (अग्नि इव वर्ण यस्य सः) नाम अत्यन्त उपयुक्त था, यथा 'अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम्।' (19.1)

इस प्रकार हम देखते हैं कि रघुवंश में कालिदास ने नाम अत्यन्त युक्तियुक्त और सार्थक रखे

हैं। रघुवंश के नायकों – राजाओं के नाम अत्यन्त सारगर्भित और महत्वपूर्ण हैं। उनका महत्त्व नाम लेते ही अवबोधित हो जाता है। राजाओं के नाम यथा नाम तथा गुण है: उनके नामों से उनके कृत्यों और गुणों पर प्रकाश पड़ता है। कालिदास ने नाम अत्यन्त सोच समझकर रखे हैं जो नामों की युक्तियुक्तता और औचित्य को दर्शाते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कालिदास ग्रन्थावली, रघुवंश, सम्पादक आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 1900

2. रघुवंश महाकाव्यम्, मल्लिनाथकृत सञ्जीवनी टीकायुत मणिप्रभाहिन्दी व्याख्योपेतम्, हिन्दी व्याख्याकार, साहित्याचार्य श्री हरगोविन्द मिश्रः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1961

डॉ. (श्रीमती) मंजुल गुप्ता,
रीडर संस्कृत विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,
रोहतक।

> मैं चाहता हूँ कि आप लोगों में से लोग महान् बनें, महान् अपने तई नहीं बल्कि आपकी महत्ता भारत को महान् बनाने के लिए हो, ताकि भारत संसार की स्वतन्त्र जातियों में अपना सिर ऊँचा करके खड़ा हो सके। आप में से जो गरीब व गुमनाम है, मैं चाहूँगा कि आपकी गरीबी और गुमनामी मातृभूमि की सेवा के लिए अर्पित हो। आप कर्म करिये ताकि भारत माता समृद्ध हो सके, आप कष्ट उठाइये ताकि भारत माता के चेहरे पर खुशी की लहर दौड़ जाए।
>
> **महर्षि अरविन्द**

आदमी ना रहे

आदमी ना रहे आदमी की तरह,
जिन्दगी बन गयी एक कफन की तरह।।
बात बनती नहीं, अब किसीं मोड़ पर।
राही चलने लगे, अब डगर छोड़ कर।
शहर भी जल रहे, अब हवन की तरह..................आदमी ना......
अपना जिनको कहा, दूर हटके खड़े ।
घर अपना लुटा, देखते है खड़े ।
दिन हमारे कहाँ, उन दिनन की तरह...................आदमी.........
सुख को ढूँढा मगर, मिल न पाया कहीं।
आँख द्वारे लगी, मीत आया नहीं ।
खाली-खाली है मन, इस गगन की तरह...................आदमी.........
बाट चलते रहे, लक्ष्य जाना नहीं।
बात करते रहे, मर्म जाना नहीं।
मीत भी हो गए, अब चुभन की तरह...................आदमी.........
दर्द जो दे गए, याद वे बन गए।
भाव जो उठ रहे, छन्द वे बन गए।
फूल भी हो रहे, अब जलन की तरह...................आदमी.........
दर्द दिल का कहा, रास आया नहीं,
जिन्दगी पे कभी, प्यार आया नहीं ।
जी रहे हैं सदा, अब घुटन की तरह...................आदमी.........
भोर कितनी सुहानी, उगी आज थी।
किसने उसमे लगाई, अरे आग थी ।
रात-दिन जल रहे, अब अगन की तरह...................आदमी.........
देवता के लिए, फूल अर्पित किए ।
क्या मिला मूक, पाथर से सम्बन्ध किए।
भाव बिखरे सभी, इक सपन की तरह...................आदमी.........

महावीर 'नीर' विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी
हरिद्वार

REFELECTION OF VEDAS IN THE MAHABHARATA

Mahabharata is a great epic depicting the foundations of all Indian culture and civilization. It is the nucleus of all religious thoughts of the men and women in India specially who are devoted to Hinduism. It is not only a mere kavya but a mahakavya. The sages and the seers used to praise it form the innermost corner of their heart. As consonants and vowels interlinked with the words, as worldly wisdom and Vedic knowledge interlinked with all religious attitudes, so the Mahabharata is interconnected with all auspicious thoughts and intuitions.

The Mahabharata is called the fifth /Veda, viz, the Karsna Veda[1], i.e. the Veda ofKrsna Dvaipayana Vyasa, and the essence of other Vedas.[2] One should study the Vedas with its help. Because, one who does not have a knowledge of this highly sacred and authentic work, is not a learned man even though one may be a profound scholar of the Vedas and Upanisads,[2] Vedavyasa, the compiler ofthe Vedas, desired to make them easy and profitable to mankind. So he composed this great epic with the extended thoughts of the Vedas. In the sense this great epic Mahabharata is called the fifth Veda [3], containing illustrated and glorified ideas of the Vedas.

The Mahabharata is an aras kavya (grantha) because it is composed in the light of (four) Vedas. The Vedas are also mentioned thoughout the Mahabharat in hundreds of passages. [4] They are usually referred in the pluarl as the Vedas, but the terms like sruti (XII. 268.10;297.33 etc.) amnaya (XII.268.33), chandas (XII.339.69) and traividya (XII.123.20) are also cmployed. They are also referred to by name as the Rk (XII.343.97 ; 348.22 etc) Yajus (XII.244.26;342.99 etc.) Saman (XII.342.97 ; 348.10 etc). and Atharva (XII. 342.100 etc.). The name of Brahmana (Satapatha XII.318.11, 16-17;342.13), Aranyaka (XII.343.13;349.1), Upanisad (XII. 318.34,112;339.111 etc.) and Vedangas (XII.37.11;69.31 etc.) are also mentioned in this epic. In the Santiparvan it is clearly stated by Lord Narayana that perfectly following the four Vedas, the Yajurveda, the Rigveda, the Samaveda and the Atharvaveda, this epic Mahabharata will be an authority in the world with regard to both work and renunciation :

प्रवृतौ च निवृत्तौ च यस्मादेतद् भविष्यति।
यजुर्ऋक्सामभिर्जुष्टमथर्वोंगिरसौतथा ।।[5]

Further this epic is treated as a Upanisad, which contains Vedic teachings i.e. eternal knowledge of the four Vedas. As said:

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।[6]

Hence, different Vedic subjects like the importance of Vedas and Vedic scholars, Vedic devatas and rsis, Vedic samskaras, Vedic asramas, Vedic yajnas, Vedic karmas, etc. have been discussed inthe Mahabharata. In this paper an attempt is made to highlight these subjects in brief, which are reflected in the Mahabharata (i.e inthe Santiparvan).

1.1 Glorification of the Vedas and Vedic Scholars:

The Vedas are regarded as authenitic by all, People never disregard them. For the welfare of the humanity Vedas, Vedangas and other scriptures were created by the God. So, it is said :

धर्मशास्त्राणि वेदाश्च षडङ्गानि नराधिप।
श्रेयसोऽर्थे विधीयन्ते नरस्याक्लिष्टकर्मण:।।[7]

The Mahabharata clearly defines the nature, characteristic of a vedavit, or vedajna purusa. It says that one who behaves all creatures like his own relatives and one who is acquainted with brahmatattva, is said to be a master of all the Vedas.[8] It further adds that he is said tobe a qualified knower of the Vedas, who is conversant with that which gratifies one, whose stomach is empty, which please one who is angry, and which invigorates one whose bodies are feeble. Besides, one who is well-versed in the Vedas, knows everything, for everything, is established on the Vedas, Verily, the present, past and future all exist in the Vedas, Hence it is said:

येन तृप्यत्यभुञ्जानो येन तृप्यत्यवित्तवान्।
येनास्नेहा बलं धत्ते यस्तं वेद स वेदवित्।।[9]

and

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
वेदे हि निष्ठा सर्वस्य यद् यदस्ति च नास्ति च।।[10]

1.2 Nastika purusa and Vedas :

In the Mahabharata, the term 'nastika' is found in several passages. The word 'nastika' generally means atheist. Those who reject the traditional Vedic system are designated as nastikas, Severe punishment is given to the atheist persons during Mahabharata period.

Unbelieves (of the Vedas), with their hands bound, are sent to the dense forests, full of lions, elephants, snakes and robbers.[11] In another chapter Pitamha Bhisma explains that due to vedanindaka karma Indra took birth in the form of a jackal in his previous brith. In the words of Indra he has rejected the Vedas and stopped the rectation of the Vedas and also told arrogantly to the Brahmins. So due to this sin he took brith as a jackal, which is said as under.

अहमासं पण्डितको हैतुको वेदनिन्दक :।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थकान्।।
नास्तिक: सर्वशङ्की च मूर्ख: पण्डितमानिक:।
तस्येयं फलनिर्वृत्ति: श्रृगालत्वं मम द्विज:।। [12]

No man acquires any blessedness or good result by disregarding the Vedas. Therefore, disregard of the Vedas, disobedience to the dictates of the traditonal scriptures, and violation of all wholesome restraints, are productive of self destruction.

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां वाभिलंघनम्।
अव्यवस्था च सर्वत्र तद् वै नाशनमात्मन: ।।[13]

So in no way, the Vedas and other scriptures are disregarded by the author of Mahabharata.

2.1 Vedas and Seers/Sages (rsi/muni)

The Mahabharata records a number of seers and sages. Marici, Angiras, Atri, Pulastya, Pulaha, Kratu and Vasistha-these seven seers have created by Brahma. They are famous and foremost of all the seers, well-versed in the Vedas. These seven seers are known as citraskhandi in the Santiparvan :

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्य पुलह: क्रतु:।
वसिष्ठश्च महातेजास्ते हि चित्रशिखण्डिन:।। [14]

....

एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिता:। [15]

Elsewhere of the Santiparva these above said seven rsis including Manu are known as eight elements. The world depends upon these elements. Brahma created these for the welfare of all creatures. From these eight elements have originated this vast universe. [16] Beside these rsis, the Santiparvan also records other prominent sages, namely, Asita, Devala, Narada, Parvata, Parvata, Kaksivan, Parsurama, Vasistha, Jamadagni, Visvamitra, Atri, Bharadvaja, Harismasru, Kundadhara and Srutasravas. The eminent sages by worshipping Lord Visnu with concentrated minds with the help of mantras (rcas), and by penances, succeeded in attaining to success through the grace of that great God endued with intelligence. [17]

2.2 Vedavyasa and Veda (rules of Study of Vedas) :

It is known that Vedavyasa has compiled the (four) Vedas. According to the Santiparvan Vedavyasa has four prominent disciples, namely, Sumanta, Vaisampayana, Jaimini, and Paila. These four disciples have perfectly mastered of the Vedas with their six branches. For the propagation of Vedic learning Vedavyasa has properly advised to his disciples that the Vedas should always be imparted to him, who is a brahmin or to him who is highly desirous oflistening and knowing toVedic teachings. He further adds that the Vedas should they be given to one who is not observant of right vows. These should be known as the proper qualifications of persons who can be accepted as disciples for the communication of Vedic knowledge. No vedavidya should be imparted to one without a proper examination of one's character. Let all disciples conquer all difficulties, and let all of them meet with auspicious success. The brahmins should be given top priority for learning of the Vedas, but at the same time other castes should not be ignored. These are the rules of study of the Vedas as explained by Vedavyasa in the Mahabharata :

वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्ये महत् स्मृतम्। [18]

2.3 Sukadeva and Veda :

According to Santiparva, Vedavyasa's son Sukadeva was also a great sage. He has studied Vedas [19] from his own father. Once Vedavyasa with son Suka, started to recite the Vedas in a loud sweet voice, observing all the rules of accent and, as it were, filling the three worlds with that sound.

शुकेन सह पुत्रेण वेदाभ्यासमथाकरोत्।
स्वरोणोच्चैः स शैक्ष्येण लोकानापूरयन्निव।।[20]

Sukadeva was also an extraordinary sage because just after his birth, the Vedas, with all their mysteries and all their abstracts,came for living in him, even as they live in his father, Vedavyasa :

उत्पन्नमात्रं तं वेदाः सरहस्याः स संग्रहाः।।
उपतस्थुर्महाराज यथास्य पितरं तथा।। [21]

2.4 Yajnavalkya and Veda

It is statced in Santiparva of the Mahabharata that rsi Yajnavalkya worshipped the Sun God and learnt sukla yajus from him. The appelation 'sukla' (White) owes its origin in all probability to the connection with the Sun the white sacrificial utterances were revealed by the Sun. In contrast with this older Yajurveda was called the black on, i.e. Krisna Yajurvedaa. The Sun God also blessed him to edit entire Satapatha Brahmana and which is also gladly accepted by Yajnavalkya.

कृत्स्नं शतपथं चैव प्रणेस्यसि द्विजर्षभ।.....

and

ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम्।
चक्रे सपिरेशेषं च हर्षेण परमेण ह।।[22]

It is also known from the Mahabharatathat Yajnavalkya has received fifteen sakhas of Sukla Yajurveda form the Sun.[23]

2.5 Narada and Veda:

Devarsi Narada is well-versed in the Srutis and Upanisads. 24 His knowledge and wisdom are great. He always tries to conquer all earthly desires by listening to Vedic rectations and attending to the Puranas. He is endued with great learning in the scriptures. So he never disregards or hates any kind of sastras. He is a great renouncer and he never des-respect any one. He is free form cupidity and deception. In a true sense he is eminet rsi. Therefore he is everywhere adored with respect. In chapter CCCXXXV of the Santiparva narada clearly justifies himself as a real Vedic seer by stating the following verse.

पूजां गुरूणां सततं करोमि परस्यं गुह्यं न तु भिन्नपूर्वम् ।
वेदाः स्वधीता मम लोकनाथ तप्तं तपो नानृतमुक्तपूर्वम्।। [25]

3. Devatas and Veda :

The Mahabharata records a number of devatas and their nature and functions.

The Prominent among them are: Agni, Brahma and Narayana (Vishnu)

3.1 Agni and Veda :

The most important and famous of the Vedic gods is Agni, the fire-god. In the first mantra of the Rgveda (agnimide purohitam yajnsaya deva rtvijam; hotaram ratna dhatamam-RV 1.1.1). Agni is designated as the hota and purohita of the Vedic sacrifice. In the Mahabharata Agni is also called as the hota of the vaidik yajna:

अग्निर्हि यज्ञानां होता कर्ता स चाग्निर्ब्रह्म।। [26]

So Agni is truly the hoter and performer of sacrifices. He is also knowen as the Brahma of the sacrifice. No libation can be poured into sacrifical fire without uttering mantras; there can be penances without a person to perform them; worship of deities and men andthe seers is accomplished by the libations Poured with mantras. Therefore. Agni has been regarded as the hoter of the universe and sacrifices. Moreover, his is the instrument through which the gods and men do good to the universe. Angi is also known as Visnu. Becuase entering in all creatures, he upholds their vital airs. In the words of Manahbharata:

अग्निर्विष्णुः सर्वभूतान्यनुप्रविश्य प्राणान् धारयति। [27]

3.2 Brahma and Veda :

At the very outset the Brahaman caused (created) those excellent vedic sounds (vedavidya) that are embodiment of true knowledge and that have neither beginning nor end to flow on. The names of seers, all things that have been created, the varieties of from seen in things, and the course of all actions, have all originated from the Vedas. As it is described in the epic.

अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।।
ऋषीणां नामघेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।।
वेद शब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।
नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु सृष्टयः।।][28]

Indeed in the beginning Brahman created all things from the words of the Vedas. Truly, The names of the seers and sages and all else that has been created are found in the Vedas. When the Vedas were scized for stolen forcibly by two powerful Asuras, Brahman became stricken with grief and prayed Narayana to restore the Vedas. In the words of Brahman the importance of the Vedas cannot be ignored at any cost Thus he presented the significance of the eternal knowledge as:

वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा में परमं बलम्।
वेदा मे परमं धाम वेदा में ब्रह्म चोत्तरम्।।
मम वेदा हृता: सर्वे दानावाभ्यां बलादित: ।
अन्धकारा हि मे लोका जाता वेदैर्विनाकृता:।।
वेदानृते हि कुर्या लोकानां सृष्टिमुत्तमाम्।
अहो बत महद् दु:खं वेदनाशनजं मम।। [29]

Hence from the above informative verses it is clear that without Vedas, I.e. Vedavidyas, The creation has no meaning and the whole have become covered with darkness. This way, the Vedas can not be scparted from Brahman and hence it has no existence without Brahman and his entire creation.

3.3 Narayana and Veda :

The Supreme Purusa is identified at some places, with Lord Krishana, Visnu and Narayana as the creator of this Universe. The importance of Cosmic Purusa is wisely noticed in the Purrsa-sukta of the Rgveda (X.90) According to the Mahabharata this Pursa (Sukta) occurs in all the Vedas and it is well-known to be one with rita and satya. The author or Mahabharata, Vedavyasa has thought upon in a proper way:

इदं पुरुषसूक्तं हि सर्ववेदेषु पार्थिव।
ऋतं सत्यं च विख्यातमृषिसिंहेन चिन्तितम्।। [30]

Like the form and features of Purusa in the Purusa Sukta of the Lord Narayana has also heads thousend feets, thousand eyes, thousend stomaches and thousend hands. With one of his mouths he utters the syllable 'om' and then the gayatri follwoing 'om'. His other mouths utters mantras from the four Vedas. The Lord of all the devas, the Divinc God who is adored in sacrifices (yajnas), held in His hands a sacrificial alter, a kamandalu a dandakastha a bundle of kusa grass, and a little blazing fire [31]

The Vedas, yajnas, plants and herbs have created by Lord Narayana to appease the Vedice gods, which is stated as undter:

इत्यर्थ निर्मिता वेदा यज्ञाश्चौषधिभि: सह।
एभि: सम्यक् प्रयुक्तैर्हि प्रीयन्ते देवता: क्षितौ।।[32]

Lord Narayana is called by His devotees in different names namely Adhoksaja [33], Ghrtaci [34], and Hiranyagarbha 35. These names of Narayana have also been cited in the kosas and other sastras. It is very interesting to note that Lord Narayana is regarded as the embodied form the Rgveda, containing of twentyone thousand mantras. Individuals conversant with the Vedas also call Him the embodiment of the Samans, i.e. Samaveda of thousand mantras. So the learned Brahmins, who are devoted worshippers of Narayana sing (pray) Him in the Aranyakas as:

एक विंशति साहस्रं ऋग्वेदं मां प्रचक्षते।
सहस्रणांवं यत् साम ये वै वेदविदो जना:।।
गायन्ति आरण्यके विप्रा मद्भक्तास्ते हि दुर्लभा:।। 36

The Adhvaryus sing Narayana in the Yajurveda, which consists of one hundred and one branches. [37] He is also regarded by the wise hrahmins of the Athrarvaveda as identical with the Atharvans, consisting of five kalpas and all the krtyas,[38] Thus, all the sub-divisions of different Vedas with their sakhas, and all the mantras that compose these branches (sakhas) and all the vowels that occur in those mantras, and all the rules in respect of pronunciation, are considered as the real creation of Narayana,[39] the Supreme Lord of this universe.

4. Kings and Veda :

The learned scholars have suggested that the kings should live, reciting everyday the Vedas.40 In the Mahabharata regarding the study of kings it is noted that a king should be conservant with the Vedas and their angas (branches), possessed of wisdom, engaged in penances,and dveoted to the performance of yajnas. All these qualities should permanently reside in a king. Hence, it is rightly said:

वेदवेदाङ्गवित् प्राज्ञ: सुतपस्वी नृपो भवेत्।
दानशीलश्च सततं यज्ञाशीलश्च भारत।।[41]

The three kinds of fire the three Vedas and yajnas with daksina, all disappear when the king becomes careless. 42 Traividya here means three Vedas. The king should not oppress Vedic prjests, all of whom are respected and held high esteem. By suppressing these holy priests he incurs blame and sin.

ऋत्विकपुरोहिताचार्यान्   सत्कृतानभिसत्कृतान्।
न ब्राह्मणान् घातयीत दोषांन् प्राप्नोति घातायन्।[43]

Hence, the rtrik, purohita and acharya should not be given any type of paid by the king. It also indicates that the Vedic priests deserved every respect in the society. King Yudhisthira has worshipped the well-versed Vedic brahmins at the time of his royal coronation (वेदाध्ययन सम्पन्नान् धृतिशील समन्वितान् - Mbh XII, 40.19).Bhisma has advised king Yudhisthira to protect Brahmins of pious deeds and devoted to the study of the Vedas as also all other men in his kingdom.

It is known from the Mahabharata that King Yudhisthira [44] has read the Rgveda, the Yajurveda, the Samaveda, the chandas, astronomy, Nirukta, Vyakarana and Siksa. Chandas here means Atharvaveda. Bhisma [45] has learned Veda and Vedangas form rsi Cyavana and Maharshi Vasistha. King Janaka [46] was also well versed in the Vedas and other sastras. Most of the kings of the mahabharata age were conversant of the Vedas and other scriptures and so they have a good respect for the Vedas and Vedic scholars in their mind. They used to follow the guide lines of the Vedas in their day to day life. Besides, it is important to note that in the palace (rajabhavana) of kind Dilipa the sound of Vedic recitations never ceased.[47] Hence, it is clear from the above references that the kings of the epical age were admirer of the Vedas and Vedic culture.

5. Caste (varna) system and Veda :

The Rgveda gives an account of the origin of the castes (varnas) from different organs of the Cosmic Purusa-the brahmanas from the mouth, the rajanyas (ksatriyas) from His arms, the vaisyas form his thigh and the sudras form his feet.[48] The Mahabharata accepts this account and mentions in many places, for an example :

ब्राह्मणो मुखत: सृष्टो ब्रह्मणो राज सत्तम।
बाहुभ्यां क्षत्रिय: सृष्ट ऊरुव्यां वैश्य एव च।।
वर्णश्चतुर्थ: पश्चात् तु पद्भ्यां शुद्रो विनिर्मित:।।[49]

It is clear from the above verses that the Vedic varna vyavastha (caste system) was reflected in the society of Mahabharata age. In addition to this, the epical age was the age of brahmanism. So brahmanism has become the subject matter of Mahabharata. The glory of brahmanism has been heralded everywhere in it. The brahmana class was in great supremacy-they used to be respected and revered by other classes inthe society. They are like Agni, who uphold sacrifices. The sacrifices, which the brahmanas perform strengthen the deities,[50] Brahman, in creating the universe, first created the brahmanas (Mbh XII.188.1). The brahmanas become immortal by studying the Vedas,and go to heaven though the aid of such study.

The Vedic knowledge is highly essential for a true brahmin in the epical age. Hence, Vedavyasa clarifies that he who has mastered over all the Vedas and observed the vow of brahmacarya, he who knows rk, yajus and saman mantras is called a real brahmin,[51] Vedavyasa further adds that a ksatriya should give charity (dana) to the best brahmins, No gift should be offered to a brahmin destitude of knowledge of the Vedas, Gifts should be offered to him, who is a srotriya, i.e. one who possessed of knowledge of the Vedas. So, there is no doubt that a gift made to a brahmin bereft of the Vedic knowledge becomes fruitless, in consequence of the fault of the recipient.[52] Therefore, the duty of a brahmin is to read and teach the Vedas throughout his life.[53]

In the Mahabharata the brahmin is known as "mantradarsinah", because he is well-versed in the mantras, i.e. Vedas, Like brahmin the ksatriya and vaisya also have every right to study the Vedas. As said in the Santiparva :

क्षेत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययन संगतः। क्षत्रिय उच्यते।।

and :

..वेदाध्ययन संपन्नः स वैश्य इति संज्ञितः।। [54]

But the sudra does not study the Vedas due to his impurity and bad conduct.

सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः।।[55]

So due to nindita karma and unrighteous conduct the sudra is being deprived for studying the Vedas, 56 He is responsible for this only for his ill deeds, but no sastra, i.e. Mahabharata has not banned him to study the Vedas. The mahabharata emphatically says that one should do his ordained duties properly and sincerely, because it earns glory and leads to heaven.

6. Asramadharma and Veda :

The life of the individual was divided in to four stages or asramas, viz. brahmacaryasrama, grhasthasrama vanaprasthasrama and sanyasasrama. The duties of the individual, which were determined by different stages are very eleborately discussed in this epic. This asramavyavastha is fully Vaidik and the individual used to follow this since his birth till death. The brahmacaryasrama is a period of learning and discipline, After proper initiation, the brahmacari goes to a teacher's house, known as gurukula, and stay their till the completion of this education. Here a strict moral education is given to the brahmacaris. Sage Bhrgu explains the duties of the brahmacaris in chapter CXCI of the Santiparvan. According to his the main task of this stage is to study the Vedas and to know the nature of God, and wrold, Because without studying Vedas no one can judge actions as right or wrong and even cannot choose the right path of life. In the grahasthasrama the grhastha engages himself in ritual sacrifices. Besides vedadhyayana, the house holder should perform his grhasthadharma properly. In the grhasthasrama the grhastha engages himself in ritual sacrifices. Besides vedadhyayana, the house holder should perform his grhasthadharma properly. In this asrama he should always worship and receive such guests (atithi) 57, those are presenters of sacrificial offerings and cleansed by Vedic lore and devoted to excellent vows and penances. In rest two asramas the individual has to perform religious rites and regular study of the Vedas. However, in these four asramas the individual maintained a religious sacred life as prescribed in the Vedas and other scriptures.

7. Yajna and Veda :

According to the Vedic tradition, performance of yajna is essential for every human being as a part of life. It also played an important role in the spreading of knowledge as on the occasion of their performance learned brahmins were invited. The tradional brahmins chant Vedic mantras in the yajna. Because without mantras the vaidika yajna has no value. The devatas can be invoked through sacred mantras. Henceforth, the rtvik or the purohita of the yajna should be conversant of the Vedas. In the Santiparva the word rtvik is clearly explained as : "those Brahmins who are competent to officiate as priests, i.e. rivik, should know the chandas including the samans and the rites which are laid down in the Srauta literature".

प्रति कर्म पराचार ऋत्विजां स्म विधीयते।
छन्दः सामादि विज्ञाय द्विजानां श्रुतमेव च।। 58

Thus, it is suggested that a brahmin should perform various kinds of yajnas and istis (sacrificial rites):

इष्टीश्च विविधाः प्राप्य क्रतूंश्चैवाप्तदक्षिणान्। 59

The main purpose of yajna is to please the gods: '' यज्ञः प्रीणाति देवता''60. Regarding the shares of sacrifical offering (yajna bhaga) it is mentioned that through the devatas Lord Narayana receives His share and this has been mentioned in the Vedic Sutras.61.

In the Vedis sacrifice a number of things should not be entertained by the priests. Because wine, fish, honey, meat, alcohol and preparations of rich and seasame seeds have introduced by the knaves. The use of these things in yajnas is not prescribed in the Vedas. As rightly said in the Mahabharata :

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्।। 62

Regarding the use of trees (woods of trees) in yajnas the Mahabharata states that those trees should be used in the yajnas, whose names have mentioned in the Vedas:

यज्ञियाश्चैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिता:।63

In the epical age kings used to perform different types of yajnas and istis. So in the Mahabharata several yajnas64 and istis 65 are mentioned. Only names can be mentioned in this brief paper. Asvamedha yajna performed by several kings like Sagar (Mbh XII.29.132), Prthu

(Mbh XII.29.143), Rama (Mbh XII.29.59) and others. Vajapeya yajna was performed by King Yajati (Mbh XII.29.96). However, Rajasuya and Asvamedha sacrifices were performed to raise political status, and also to help the performer to get the heaven. Subjects related to yajna, like vedi [66], kunda [67] and Yupa [68] have also been discussed in the Mahabharata in several places. In a true sense, the Vedic yajnas and their applications have nicely reflected in Mahabharata age.

8. Yugas and Veda :

It is known from the Mahabharata that the peoplr of treata, dvapara and kali ages are inspired with doubts i.e. with reference to the declarations of the sruits. The people however, of the satya-yuga are sincerely devoted to penances, vows, and observant of righteousness. In fact, in that age all people highly regard the Rgveda, the Yajurveda and the Samaveda as identical notwithstanding their apparent diversity. This means the people,of satyayuga paid repsect to all the Vedas equally. They have not seen any difference among these Vedas. In the begining of treata yuga, the Vedas, Vedic yajnas and divisions of caste and the several modes of life existed in their entirety. [69] On account of the duration of life of persons being decreased in the dvapara age, those suffer decline, In the dvapara age as well as in the kali age, the Vedas are overtaken by perplexity.[70]

In the kali, age, all the Vedas become so scarce that they may not be seen even by men. Afflicted by inequity they suffer extermination along with the rites and sacrificces laid down in them. As truly said in the Mahabharata.

दृश्यन्ते न च दृश्यन्ते वेदाः कलियुगेऽखिलाः।
उत्सीदन्ते सयज्ञाश्च केवलाधर्मपीडिताः ॥[71]

Therefore, in the kali yuga through universal sin (papa) the Vedas disappear (Mbh XII.238.17). As the rian from the sky causes all products of the earth grow, likewise the Vedas, in every age, develops all its auxiliaries (angas):

सृजते सर्वतोऽङ्गानि तथा वेदा युगे युगे। [72]

Here, 'angani' means the observances necessary for the practice of yoga as also all kinds of rites and vows. The Vedas cause these to grow, and they in their turn, add all students of the Vedas in achieving their purposese.

9. Philosophical thought and Veda :

In the Mahabharata we find discussions of philosophical views of different religious institutions, The Vedic and Upanisadic philosophy is the main subject matter of the philosophy of the Mahabharata. Yoga philosophy has been preached in the Santiparvan by rsi Yajnavalkya. Samkhya philosophy of Maharshi Kapila has also been discussed in the same parvan. Similarly, the theme of Vedanta, Yoga, Mimamsa philosophy are also found in the Mahabharata. However, a detailed discussion has also been made in various philosophical concepts like : Isvara, Atman jiva, Prakrti, Purusa, dharma-adharma, karma, moksa, mahabhuta, vidya-avidya, etc. The names of sage Kapila, Gautama, and Jaimini are mentioned in the Santiparvan, Even the reference purusa sukta, one of the philosophical suktas of the Vedas, is also occurred in the Santiparva of the Mahabharata. So from the philosophical point of view, Mahabharata records the main theme and concept of Vedic and Upanisadic thoughts.

10 Conclusion :

In the conclusion, it may be said that the Vedic thoughts have been reflected as well as echoed in the Mahabharata. The Vedic subjects like yajna, karma, dharma, darsana, etc, are crystallized and concentrated but these subjects are more extensively discussed and elaborated in this great epic, There is no doubt that the Vedis subjects are more simplified and flourished in the Mahabharata. Some changes of thoughts as we observe in it, are due to changed condition of attitudes and social orders. The doctrines formulated in Vedic time under the then circumsatances might loose their essence in the epical age are conditioned by the change of time and angles of visions for proper perspective, Hence, the epical thoughts and ideas though have their origin in the Vedas are found with a little difference in principles and ethics. Vedavyasa has also stated that the subjects contained in the Mahabharata are the theme of Vedic ideas. Therefore, it is aptly said by him.

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् [73]।

REFERENCES

1. कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्छावयित्वार्थमश्नुते।। महाभारत (गीता प्रेस संस्करण) 1.62.18.
2. चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा। . .
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमांणां यतोऽधिकम्।। ibid., 1.1.272cd and 273cd.
इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्।। ibid., 1.62.16 and 49.
3. कृष्णद्वैपायनव्यासो वेदव्यासो महानृषिः। . . .
वेदानध्यापयामास महाभारतपंचमान्।। महाभारत, शन्तिपर्व, 340.19 - 21.
Cf. इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्। Cha Up VII.1.2
4. Mahabharata (Mbh) Santiparva 39.20 (Veda vidusam);

39.32;29.12;25.4;121.51,53 -54;122.47;123.20;128.10;180.47; 182.15;193.10;201.1;220.17;224.46;225.19,25;228.74;241.1,6; 242.3;226.14;265.7;268.8,10,33;297.33;299.24,29;301.46;302.3; 318.10;328.22;339.22;340.22;341.45;342.120;343.12-13,61; 344.12;345.9;348.10,22;349.1,9,11,13,15,41,64,66,69,73;350.19; 354.14, etc.

5. Ibid., XII.335.40.
6. Ibid., XII 339.111,
7. Ibid., XII 297.40, cf, XII.227.60.
8. ज्ञानवित् सर्वभूतानां सर्ववित् सर्ववेदवित्। Ibid., XII.251.3.
9. Ibid., XII.251.18
10. Ibid., XII. 270.43, cf, Mbh XII.270.42.
11. व्यालकुंजर दुर्गेषु सर्पचोर भयेषु च।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम्।। Ibid., XII.181.5
12. Ibid., XII. 180.47 and 49.
13. Ibid., XII.79.19, cf, XII.79.10.
14. Ibid., XII.335.29,cf. XII.335.27-28.
15. Ibid., XII.340.70 ab.
16. मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठश्च महात्मा वै मनुः स्वायम्भुवस्तथा ।।
ज्ञेयाः प्रकृतयोऽष्टौ तासु लोका प्रतिष्ठिताः।
वेदवेदांगसंयुक्तान् यज्ञान् यज्ञाङ्गसंयुतान्ः।
निर्गमे लोकसिद्ध्यर्थ ब्रह्मा लोकपितामहः।
अष्टाभ्यः प्रकृतिभ्यश्च जातं विश्वमिदं जगत्।। Ibid., XII.340.34-36.
17. Ibid., XII.292.16-17
18. Ibid., XII.327.49.

19. सोऽधीत्य निखिलान् वेदान् सरहस्यान् ससंग्रहान्। Ibid., XII.324.24
20. Ibid., XII.328.23.
21. Ibid., XII.324.22-23.
22. Ibid., XII.318.11 ab and 16.
23. दशं पंच च प्राप्तानि यजूंष्यकान्मयानध। Ibid., XII.318.21 ab.
24. वेदश्रुतिभिराख्यानैरर्थानभिजिगीषति।
    तिथिक्षुरनवज्ञता तस्मात् सर्वत्र पूजितः।। Ibid., XII.230.12, cf.XII.230.13-20
25. Ibid., XII.335.3.
26. Ibid., XII.342.12.
27. Ibid., XII.342.15.
28. Ibid., XII.232.24 cd-26;XII.232.28.
29. Ibid., XII.347,32-34.
30. Ibid., XII.350.5
31. सहस्रनयनः श्रीमाञ्छतशीर्षः सहस्रपात् ।।
    सहस्रोदरबाहुश्च अव्यक्त इति च क्वचित्।
    ओङ्कारमुद्गिरन् वक्त्रान् सावित्रीं च तदन्वयाम्।।
    शेषेभ्यश्चैव वक्त्रेभ्यश्चतुर्वेदान् गिरन् बहून्।
    आरण्यकं जगौ देवो हरिर्नारायणो वशी।।
    वेदिं कमण्डलुं ... ज्वलितं च हुताशनम्।।
    धारयामास देवोशो हस्तैर्यज्ञपतिस्तदा। Ibid., XII.339.6cd-9.
32. Ibid., XII.340.66cd-67ab.
33. निरुवतं वेद विदुषो वेदशब्दार्थचिन्तकाः।
    ते मां गायन्ति प्राग्वंशे अधोक्षज इति स्थितिः।। Ibid., XII.342.83.
34. घृतं ममार्चिषो लोके जन्तूनां प्राणधारणम्।
    घृतार्चिरहमव्यग्रैर्वेदज्ञैः परिकीर्तितः।। Ibid., XII.342.85
35. हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष च्छन्दसि स्तुतः।
    योगैः सम्पूज्यते नित्यं स एवाहं भुविस्मृतः।। Ibid.,342.96.
36. Ibid., XII.342.97-98ab.
37. षट्पंचाशतमष्टौ च सप्तत्रिंसतमित्युत।।
    यस्तिञ्शाखा यजुर्वेदे सोऽहमाध्वर्यवे स्मृतः। Ibid., XII.342.98-99ab.
38. पंचकल्पमथर्वाणं कृत्याभिः परिबृहितम्।। Ibid., XII.342.100cd-102ab.
    कल्पयन्ति हि मां विप्रा अथर्वाणविदस्तथा। Ibid., XII.8.27cd.
39. शाखा भेदाश्च...क्रमाक्षर विभागवित्। Ibid., XII.342.100cd-102ab.
40. अध्येतव्या त्रयी नित्यं भवितव्यं विपश्चिता। Ibid., XII.8.27cd.
    cf. वेदाध्ययन नित्यत्वं क्षमार्थाचार्यपूजनम्। ...ब्रह्माश्रम पदं भवेत्।। Ibid., XII.6.14.
41. Ibid., XII.69.31.
42. अग्नित्रेता त्रयी विद्या यज्ञाश्च सहदक्षिणाः।

सर्व एवं प्रमाद्यन्ति यदा राजा प्रमाद्यन्ति।। Ibid., XII.91.8, cf Mbh XII.91.7.

43. Ibid., XII.132.9.
44. ऋक्सामसंधाश्च यजूंषि चापि च्छन्दांसि नक्षत्रगतिं निरुक्तम्।
अधीत्य च व्याकरणं संकल्पं शिक्षां च...।। Ibid., XII.201.8, cf XII.19.2.
45. भार्गवाच्च्यवनाच्चापि वेदानाङ्गोपबृंहितान्।
प्रतिपेदे महाबाहुर्वसिष्ठाच्चरित व्रत।। Ibid., XII.37.11
46. Ibid., XII.320.5-6.
47. त्रय: शब्दा न जीर्यन्ते ...स्वाध्यायघोषो ...।। Ibid., XII.29.79.
48. ब्राह्मणोऽस्यमुखं ... अजायत। Rgveda. X.90.12.
49. Mahabharata, XII.72.4, cf.XII.72.5-10,also cf.XII.342.20.
50. Ibid., XII.342.14-15.
51. सर्वान् वेदानधीयीत शुश्रूपुब्रह्मर्चवान्।
ऋचो यजूंषि सामानि न तेन न स वै द्विजः।। Ibid., XII.251.2.
52. यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम विभ्रति। Ibid.,XII.36.46,cf.Manusmrti,11.157.
53. Ibid.,(Mbh)XII.297.30.
54. Ibid.,189.5-6.
55. Ibid.,XII.189.7,
56. Ibid.,XII.188.15.
57. Ibid.,XII.243.8.
58. Ibid.,XII.79.2.
59. Ibid.,XII.251.4ab
60. Ibid.,XII.121.37d.
61. यज्ञैर्ये चापि यक्ष्यन्ति सर्वलोकेषु वै सुराः।।
कल्पयिष्यन्ति वो भागांस्ते नरा वेदकल्पितान्।
यो मे यथा कल्पितवान् भागयस्मिन् महाक्रतौ।।
स तथा यज्ञभागार्हो वेदसूत्रे मया कृतेः। Ibid.,XII.340.61cd-63ab.
62. Ibid.,XII.265.9
63. Ibid.,XII.265.11.
64. Ibid.,XII.29.114;24.7;12.17;129.11;284.183;323.9,etc.
65. दशपौर्णमास - MbhXII.29.114;269.20; चातुर्मास्य - Mbh12.29.114;269.20; अग्न्याधान, सोमयाग, चातुर्मास्य - MbhXII.268.38;29.114;269.20; इष्टि - Mbh XII.297.39;244.25.
66. Ibid.,XII.40.12;339.9;343.60.
67. Ibid.,XII.320.180-181
68. Ibid.,XII.27.74;265.8.
69. त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा...Ibid.,XII.238.14ab.

70. द्वापरे विप्लवं यान्ति वेदाः कलियुगे तथा।...Ibid.,XII.238.15ab.
71. Ibid.,XII.232.36.
72. Ibid.,XII.238.18.
73. Ibid.,I.1.267.

Abbreviation

1. RV.-Rgveda
2. Cha Up- Chandogya Upanisad
3. Mbh- Mahabharata (Gita Press Ediction Gorekhpur)

Written by :
डॉ0 नरसिंह चरण पण्डा,
वरिष्ठ अनुसन्धान अधिकारी,
इन्दिरागांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र,
B-1/3,E-7, Lane No. -2,
रवीन्द्रपुरी **Ext.**, वाराणसी **(U.P.)** - 221005

कुचेलिनं दन्तमलावधारिणम्,
बह्वाशिनं नित्य - कठोर - भाषिणम्।
सूर्योदये चास्तमये च शायिनम्,
विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्।।

(मैला - कुचैला रहने वाले, दन्त धावन न करने वाले, अत्यधिक खाने वाले, सर्वदा कटु - कर्कश बोलने वाले, सूर्योदय और सूर्यास्त के समय भी बिस्तर पर पडे रहने वाले अर्थात् इन अवगुणों से युक्त आलसी पुरुष को चाहे वह साक्षात् चक्रवर्ती सम्राट् क्यों न हो - श्री सम्पत्तियाँ - यश - पुरुषार्थ - बुद्धि - विवेक सब छोड़ कर चले जाते हैं।)

''वैदिक यज्ञ एवं भारतीय संस्कृति''

● भारतीय धर्म तथा सभ्यता एवं संस्कृति का भव्य प्रासाद जिस दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित है, वह वेद है। वेद हिन्दू समाज की अमूल्य निधि है तथा इन्हे प्राचीन भारत की सभी विद्याओं और कलाओं का मूल माना जाता है। आर्य संस्कृति के सर्वप्रथम दर्शन हमें वेदों में होते है। यह कहना अनुचित न होगा कि वेदों में आर्य संस्कृति की आत्मा सन्नहित है। भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण प्रेरणा वेदों से ही प्राप्त करती है।[1] मैक्समूलर ने भी लिखा है,''ऐसा प्राय: निश्चित माना जाता है कि न केवल भारत वरन् प्राचीन विश्व के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।[2]

भारतीय आचार विचार, रहन सहन तथा धर्म-कर्म को समझने के लिए वेदों का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। सम्पूर्ण धर्म एवं कर्म का मूल तथा यथार्थ कर्त्तव्य धर्म की जिज्ञासा के समाधान हेतु वेद सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है मनुस्मृति में आया है -

''वेदों धर्मं मूलम। धर्म जिज्ञासामानानां प्रमाणं परमं श्रुति''[3] वस्तुत: वेद शाश्वत् यथार्थ ज्ञान राशि के समुच्चय है, जिसे हमारे ऋषियों ने अपने अप्रतिम चक्षुओं से देखा एवं अनुभव किया। ऋषियों ने अपने मन या बुद्धि से कोई कल्पना न करके एक शाश्वत आपैरूषेय सत्य की, अपनी चेतना के उच्चतम स्तर पर अनुभूति की और उसे मंत्रों का रूप दिया। वे चेतना क्षेत्र की रहस्यमयी गुत्थियों को अपनी आत्मसत्ता रूपी प्रयोगशाला में सुलझाकर सत्य का अनुशीलन करके उसे शक्तिशाली एवं प्रभावशाली काव्य के रूप में अभिव्यक्त करते रहे है।

वेद संख्या में चार है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद। वेद दीर्घकाल तक भारतीय जनजीवन के अंग है ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान काल में भारतीय जन-जीवन वेद विज्ञान से बहुत दूर जा पड़ा है। किन्तु आज भी यजुर्वेद जन-जीवन में अपना स्थान किसी न किसी रूप में बनाएं हुए है। देव संस्कृति के अनुयायी पश्चिमी सम्यता से कितने ही प्रभावित क्यों न हो गए फिर भी जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न संस्कार परक कर्मकाण्डों से उनका सम्बंध आज भी थोडा बहुत बना ही रहता है। संस्कारों एवं यज्ञीय कर्मकाण्डों के अधिकांश मंत्र यजुर्वेद के ही है। उनकी मंत्रशक्ति एवं प्रेरणाओं का सम्पर्क जनजीवन के साथ निरंतर बना हुआ है।

यजुर्वेद के मंत्रों को यजु (यजुष) कहते है। पाणिनी ने 'यज्ञ' की उत्पत्ति ''यज्ञ'' धातु से की है। यजुर्वेद में विशेष रूप से यज्ञ एवं कर्मकाण्ड को प्रधानता दी गई है। विभिन्न यज्ञों के समय उच्चरित किये जानेवाले मन्त्रों का इसमें संग्रह है। इसे अध्वयुर्वेद भी कहा जाता है। 'अध्यवर्यु का शाब्दिक अर्थ भी यज्ञ होता है। यजुर्वेद को 40 अध्यायों में बांटा गया है कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें प्रथम अठारह अध्याय ही थे शेष अध्याय बाद में मिलाये गये।[4] डा. विमलचन्द्र पाण्डे ने लिखा है यजुर्वेद की पांच शाखाये है। 1. काष्क कपिष्हल 2.. मैत्रायणी तैत्तिरीय और बजसने थी। उनका विचार है कि प्रथम चार शाखाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। ये शाखाऐं कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत परिणत होती है। 3. पांचवी शाखा वाजसनेयी को शुक्ल यजुर्वेद के अन्तर्गत रखा जाता है।[5] यजुर्वेद के मंत्र गद्यात्मक है ब्राह्मण ग्रंथ में 'यजुष' को यज्ञ धातु से सम्बद्ध बताया गया है इस प्रकार यज, यज और यज्ञ तीनों एक दूसरे के पर्याय होते है। ब्रह्मपुराण में आया है।

यथा - यच्छिष्टं तु यजुर्वेद तेन यज्ञमयुज्जत
यजनात् स यजुर्वेद इति शास्त्रविनिश्चय:।।[6]

यजुर्वेद में जो कुछ भी प्रतिपादित है, उसी से यज्ञ का यजन किया जाता है। विशेष बात यह है कि यज्ञ अथवा यजन को केवल लौकिक अग्निहोत्रपरक कर्मकाण्ड तक ही सीमित नही माना जा सकता। पाणिनी ने 'यज्ञ' धातु का अर्थ देवपूजन संगीत एवं दान किया है। इस आधार पर अपने से उत्कृष्ट चेतन सत्ता के प्रति श्रद्धा का विकास एवं उसकी अभिव्यक्ति उस दिव्य अनुशासन में संगठित हो कर कर्म का अनुष्ठाान तथा इस प्रकार प्राप्त विभूमियों को कल्याणकारी प्रयोजनों के लिए समर्पित करना, यह सब क्रियाएं यज्ञ के अंतर्गत आती है। वेद में वर्णित यज्ञ को ऐसे ही व्यापक अर्थो में लेना चाहिए। यज्ञ को व्यापक अर्थ में लेने के संदर्भ में प्राचीन एवं नवीन, सनातनी तथा आर्यसमाजी सभी विद्वान एकमत है। गीताकार ने भी ''सहयज्ञा: प्रजा: सृष्ट्वा'' कहकर यज्ञ के व्यापक भाव को ही उभारा है।

यज्ञ की दो मुख्य धाराएं कही जा सकती है। प्रथम यज्ञ का वह सनातन रूप जो अनादि काल से चल रहा है, जिससे विश्व की सृष्टि हुई तथा जिसके अंतर्गत सृष्टि का पोषण एवं परिवर्तन चक्र चल रहा है। द्वितीय यज्ञ का लौकिक रूप, जो संकल्प पूर्वक किया जाता है जिसके अंतर्गत अग्निहोत्र आदि विधि यजन कर्मकाण्ड आते है तथा जिसकी व्यवहार में जीवन यज्ञ के रूप में अनिवार्यता होती है। इस भौतिक यज्ञीय प्रक्रिया का मूल सूत्र है, अपने अधिकार और क्षेत्र की उपयोगी वस्तु को देवकार्यो अथवा लोकमंगल के लिए समर्पित कर देना। मीमांसाकारों ने यज्ञ के लौकिक कर्मकाण्डों को ही मुख्यत: महत्व दिया किन्तु वेद यज्ञ की सृजनात्मक एवं पोषणात्मक सनातन धारा से ओतप्रोत है।

ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में विराट् यज्ञ पुरूष से ही सारी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है।

यथा - तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋच: सामानि जज्ञिरे
छन्दा ँ सि जज्ञिरे तस्माद् यजु : तस्मादजायत।।[7]

अर्थात् उस सर्वहुत यज्ञ से ऋचाओं एवं साम आदि की उत्पत्ति हुई। उसी प्रकार से छंद एवं यजु भी उत्पन्न हुए। यह सर्वहुत यज्ञ जैसे जैसे विकसित होता है वैसे वैसे सृष्टि का विकास भी होता जाता है। सृष्टि के पोषण, संचालन के लिए भी उसी विराट सत्ता का यजन किया जाता है। यह विशिष्ट यज्ञ प्रकृति में सदैव चलता ही रहता है।

यथा - यत्पुरूषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म ऽ दूध्म शरद हवि:।।

जब देवगणों ने उस विराट् चेतना से यज्ञन किया तो उस यज्ञ में बंसत ऋतु आज्य के रूप में, ग्रीष्म ऋतु ईधन के रूप में तथा शरद ऋतु हवि के रूप में प्रयुक्त हुए। वेद में यज्ञ के विराट् स्वरूप के दर्शन बहुत रूप में स्थान स्थान पर होते रहते हैं। लौकिक संदर्भ में भी शास्त्रकारों ने रूप को दिव्य अनुशासन में किए गए श्रेष्ठ कर्म की संज्ञा दी है।

''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'' श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है। उक्ति से यह भाव प्रकट होता है।

मनुस्मृति के अनुसार वेदाध्ययन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृ यज्ञ है, होम आदि कर्म देवयज्ञ है, बलिवैश्व भूत यज्ञ है तथा अतिथि को तृप्त करना, मनुष्य यज्ञ है।

निर्धारित एवं श्रेष्ठ कर्मों को ही यज्ञ कहा जाता है। यह भाव विभिन्न ग्रंथों में जगह-जगह स्पष्ट रूप से वर्णित है। महाभारत में आया है।

आरम्भ यज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचारयज्ञः शूद्राश्च जपयज्ञं द्विजास्थता।।[9]

अर्थात् क्षत्रियों के लिए पराक्रम उद्योग यज्ञ है। होम आदि वैश्यों का यज्ञ है। शूद्रों का यज्ञ श्रेष्ठ सेवा कार्य है तथा ब्राह्मणों के लिए जप-तप आदि कर्म यज्ञ है।

अग्निहोत्रपरक यज्ञ अग्नि में सामग्री डाल देने जैसी छोटी क्रिया तक ही सीमित नहीं माना जा सकता। उसके साथ ही प्रवृत्तियों का शोधन, पर्यायवरण का संतुलन एवं श्रेष्ठ सामाजिक परम्पराओं के विस्तार जैसे लक्ष्य जुडे हुए है। मीमांसा दर्शन के अष्टम पाद के सूत्र में सपष्ट कहा गया है कि यज्ञ केवल धन व्यय करने से सिद्ध नहीं होता वरन् तप आदि करना आवश्यक है।

विद्वानों का मत है कि विधिवत् किए गए यजन कार्य से प्रकृति के संतुलन चक्र को सहयोग मिलता है। इस दृष्टि से वेद में यजन कर्म का महत्व बताते हुए कहा गया है।

इयं वेदिः परोअन्तः पृथिव्याऽ अयं यज्ञों भुवनस्य नाभिः।[10]

इसका भाव यह है कि यज्ञ वेदिका पृथ्वी का अंतिम छोर है और यह यज्ञ इसका नाभि केन्द्र स्थान है। अंतिम छोर तक पहुँचना पुरूषार्थ की उत्कृष्टता का द्योतक है। पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ पुरूषार्थ यज्ञानुष्ठान है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि यज्ञ भारतीय संस्कृति के प्राण है।

डॉ0 राकेश शर्मा
डॉ0 रश्मि सिन्हा

---

1. डॉ0 शिवदत्त ज्ञान वेदकालीन समाज पृ0 28
2. मैक्समूलर चिप्स फ्रम ए.जर्मन वर्कशाप पृ0 4
3. मनुस्मृति 2/6/3
4. मैक्डानेल, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृ0 175-176
5. विमलचन्द्र पाण्डेय प्रा0भा0 का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पृ0 38
6. बह्मा पुराण -2, 34
7. ऋग्वेद - 10/90/09 तथा यजुर्वेद 31/7
8. यजुर्वेद 31/14
9. महाभारत शान्तिपर्व 367,12
10. यजुर्वेद 23/62

प्राचीन भारतीय सैनिक शिक्षा में संस्कृत की अनिवार्यता : वासिष्ठी धनुर्वेद संहिता के परिप्रेक्ष्य में

सन् 1899 ई. में खेतडी नरेश जू महाराज के सम्मानित पंडित हरदयालु स्वामी द्वारा अनुवादित वासिष्ठी "**धनुर्वेद संहिता**" पं0 ईश्वरीप्रसाद रामचन्द्र ने संस्कृत पुस्तकालय सदर बाजार, मेरठ से प्रकाशित की। इसके पूर्व इस संहिता के तीन अन्य संस्करण भी उपलब्ध थे, ऐसा इस संस्करण (मेरठ) की भूमिका में पंडित हरदयालु ने लिखा है। ये चूरू, अलीगढ़ और खड्ग विलास यन्त्रालय से प्रकाशित हुए थे।

मेरठ से प्रकाशित इस संहिता की विषय-अनुक्रमणिका में लगभग 40 विषय हैं। इसके **शिक्षा** नामक प्रकरण में पठन-पाठन विधि का निर्देश करते हुए लिखा गया है:

"तत्रादौ पठनपाठनविधिं ब्रूमः / आदौ क्षात्रकोशव्याकरणसूत्राण्यध्येतव्यानि द्वावध्यायौ सप्तमाष्टमौ मनोर्मिताक्षरा व्यवहाराध्यायश्च जयार्णव विष्णुयामल विजयारव्य स्वरशास्त्राण्यक्षराणि व पठितव्यानि ततः सरहस्यं धनुर्वेदमापठेत्।।"[1]

अर्थ– अब पठन-पाठन की विधि कहते हैं। पहले क्षात्रकोश, व्याकरण सूत्र पढ़ने चाहिये। दो अध्याय सातवां और आठवां मनु (स्मृति) का तथा व्यवहाराध्याय मिताक्षरा धर्मशास्त्र, जयार्णव, विष्णुयामल, विजयारव्यतन्त्र और स्वर-शास्त्र पढ़ने चाहिये, इनको पढ़कर रहस्य सहित धनुर्वेद गुरु से पढ़े।

व्याकरण शिक्षा– 'अथ सेनानयः' प्रकारण में व्याकरण शिक्षा की अनिवार्यता का उल्लेख करते हुए महर्षि वसिष्ठ विश्वामित्र को कहते हैं:-

"तत्रादौ व्याकरण शिक्षां वक्ष्यामो राज्ञे।
नृपतिर्लोट्लकारस्य कुर्यात्कंठस्थितानि च।
रूपाणि कार्यसिध्यर्थं ह्याज्ञैषा मम गाधिज।।
मध्यमपुरुषस्यैव प्रयोगान्यो विचिन्तयेत्।
सेनानीः प्रतिदिनं सम्यक् न केनापि स हन्यते।
मध्यम पुरुषोद्भूताः प्रयोगाः सर्वसिद्धिदाः।
तैरेव साधयेदाज्ञां पुरुषा राजभृत्यकाः[2]।।

अर्थात् अब सेना के कवायद का प्रकरण कहते हैं। कितना व्याकरण पढ़ना चाहिये। राजा नौ लकारों का रूप छोड़कर केवल लोट् लकार के रूपों को कण्ठ करें, कार्य की सिद्धि के लिये हे विश्वामित्र! मेरी यह आशा है और सेनापति लोट् लकार के मध्यम पुरुष के ही रूप यादं करै वह किसी से भी न मारा जाये, मध्यम पुरूष के बहुवचन के प्रयोग ही सिद्धि के देने वाले हैं, छोटे-छोटे ओहदेदार उनसे ही राजा की व अपनी आज्ञा का पालन करैं।

इसी प्रकरण में आगे सोदाहरण **धातुरूपपाठ** भी दिया गया है। इसमें जिन 54 धातुओं के

मध्यम पुरुष प्रयोगों को प्रदर्शित किया गया है वे धातुयें इस प्रकार हैं-

भू सत्तायाम्, भक्ष भक्षणे, सिंच सिंचने, शु श्रवणे, चल चलने, ज्ञा अवबोधने, कृवि कीर्णे, पा पाने, ष्ठा गतिनिवृतौ, त्यज त्यागे, मनु ज्ञाने, मिल मिलने, दा दाने, इण्गतौ, णीञ् प्रापणे, गृह उपादाने, पत्लृ पतने, रुधिरावरणे, कृष विलेखने, आप्लृ व्याप्तौ, चिति संज्ञाने, व्रजगतौ, कृन्त कर्त्तने, व्यध् वेधने, डुकृञ् करणे, हन् हिंसागत्योः, रच रचने, गम्लृगतौ, विद् ज्ञाने, भुज पालनाऽभ्यवहारयोः, दृशिर्प्रेक्षणे, शीङ् स्वप्ने, एच्छ वीप्सायाम्, क्रमु पादविक्षेपे, अद् भक्षणे, दह भस्मीकरणे, गण संख्याने, ब्रूञ् व्यक्तायाम्, गै शब्दे, भिदिर् विदारणे, इषु इच्छायाम्, मृच्लृ मोचने, जागृ निद्राक्षये, कुथि हिंसायाम्, क्षिप् प्रेरणे, तनु विस्तारे, शासु अनुशिष्टौ, लिख् लिखने, या प्रापणे, अस् भुवि, मिह सेचने, विश् प्रवेशने, जि जये।

उपर्युक्त धातुपाठ के अतिरिक्त इस धनुर्वेद संहिता में **सोपसर्ग विश् धातु** का प्रवेशनार्थ में प्रयोग भी सम्बन्धित अधिकारी को करने का निर्देश दिया गया है। उपसर्ग सहित और उपसर्ग रहित इन सभी के वाक्य प्रयोग भी दर्शाये गये हैं। ये सब प्रयोग **क्रमः, धावन प्रकारः, अन्यच्च और सेनानी** पाठों में दिये गये हैं।[3]

अव्यय पाठः प्रकृत संहिता में आवश्यक अव्ययों का पाठ भी मिलता है। ये अव्यय इस प्रकार हैं[4] आङ् मा, नो-आम्, वाढम्, अद्य, सायम्, प्रातः, श्वः, ह्यः, परश्वः, अन्येद्युः, उभयेद्युः, त्वम्, युवाम्, यूयम्, अहम्, आवाम्, वयम्, संज्ञा, सः, तौ, ते, अलम्, सपदि, तूणम्, उपरि, अधः,अ-प्र अनु-उप।''

उपर्युक्त अव्ययों के अन्तर्गत इस संहिता में युष्मद्, अस्मद् और तद् शब्दों के प्रथमाविभक्तिरूपों को भी लिया गया है। जो कि उचित नहीं है। क्योंकि *'अव्यय'* की परिभाषा के अनुसार इनके रूप एक से ही रहते हैं, इनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। जैसा कि कहा भी गया है-

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्ययेति तदव्ययम्।।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन भारत में संस्कृतभाषा न केवल साहित्यिक भाषा ही थी अपितु, राजकाज की भाषा होने के साथ-साथ सैनिक शिक्षा में भी इसकी अनिवार्यता थी। इस शिक्षा में व्याकरण के अत्यन्त उपयोगी सूत्रों, मनुस्मृति के राजधर्म-सम्बन्धी प्रकरणों, धर्मशास्त्र के व्यवहाराध्याय प्रकरणों की शिक्षा भी दी जाती थी।

---

1. देखो पृ0 78
2. देखो, पृ0 67
3. देखो, पृ0 71-73
4. देखो, पृ0 73

डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री, डी0लिट्
रीडर-वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भाषा - दर्शन

भाषा की उत्पत्ति विषयक जिज्ञासा को शान्त करने के लिये भाषा - विद मुख्य रूप से दो मार्गों की चर्चा करते हैं:

(1) प्रत्यक्ष मार्ग

(2) अप्रत्यक्ष मार्ग

भाषा की उत्पत्ति से सम्बन्धित विचार, मत या वाद 'प्रत्यक्ष मार्ग' के अन्तगर्त आते हैं। भाषा के विकास के अपरोक्ष कारणों को लेकर अध्ययन जैसे - बच्चों की भाषा, आदि - वासियों की भाषा तथा आधुनिक भाषाओं का अध्ययन आदि को 'अप्रत्यक्ष मार्ग' कहा जाता है। प्रस्तुत शोध लेख में मेरा अभिप्राय, जैसा कि लेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है भारतीय दर्शन में 'भाषा' का निरूपण करना है। अत: भाषा की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों का मैं यहाँ उल्लेख नहीं करूंगी। फिर भी इतना कहना तो तर्क संगत एवं लेखानुकूल ही है कि वैदिक विचार धारा के अनुसार भाषा का निर्माण स्वयं ईश्वर ने किया है। इसी धार्मिक मान्यता के आधार पर भारतीय (हिन्दू) संस्कृत भाषा को 'देव - वाणी' कहते हैं, तथा मानते हैं कि देववाणी से ही अन्य भाषाओं की उत्पत्ति हुयी[1]।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि महर्षि पाणिनि ने अपने चौदह प्रत्याहार सूत्रों को 'माहेश्वर-सूत्र कहा है तथा भगवान शंकर के डमरू की ध्वनि से उनका उत्पन्न होना स्वीकार किया है।[2]

भले ही भाषा की उत्पत्ति के विषय में एक निश्चित मत का अभाव है, फिर भी सभी भाषा - विद इस बात पर मतैक्य रखते हैं कि 'भाषा' की श्रेणी 'ध्वनि' से अधिक उत्तम है। यह भाषा है क्या? इसका उत्तर यह है कि शब्द तथा अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को 'भाषा' कहते हैं।

पुनः प्रश्न किया जा सकता है कि यह 'शब्द' क्या है? इसके उत्तर के लिये मैं व्याकरण की सहायता लेती हूँ, जिसके अनुसार 'शब्द' वह ध्वनि है जिसके उच्चारण से किसी विशेष अर्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार के शब्दों के लिये भर्तृहरि ने 'उपादान' शब्द का प्रयोग किया है[3]। यहाँ यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि वाचक शब्द को उपादान कहते हैं[4]। अत: यह स्पष्ट है कि शब्द हम उसे कहेंगे जिसमें अर्थ बोध की क्षमता हो। शब्द विमर्श से अभिन्न है, फलत: शिवरूप है और स्व - पर प्रकाशक है।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपने कामों के द्वारा जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान करता है वही गुण शब्द की संज्ञा से विभूषित होता है[6]।

उदाहरण के लिये 'हाथी' शब्द को लेते हैं जिस का अर्थ है ''लम्बी सूँड, दो बड़े - बड़े दाँत और चार पैरों वाला पशु।'' हाथी शब्द का उच्चारण करते ही हमारे सामने एक भारी भरकम डील - डौल शरीर वाले पशु की आकृति खड़ी हो जाती है। शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध, वाचक और वाच्य का सम्बन्ध कहलाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि सभी शब्द हमेशा सबके लिए वाचक का कार्य नहीं करते हैं और न ही सभी अर्थ को हम वाच्य कह सकते हैं। वाच्य अर्थात् अर्थ के साथ सम्बन्ध ही वाचक कहलाता है। अत: हम 'लम्बी सूँड', दो बड़े बड़े दाँत और चार पैरों वाले पशु की और 'हाथी' शब्द के उस वाच्य के साथ सम्बन्ध को अर्थ की संज्ञा देते है। अर्थात् हम पहले अर्थ को 'वाच्य' और दूसरे को 'अर्थ' कहें तो गलत नहीं होगा।

अतः स्पष्ट है कि शब्द तथा वस्तु के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान ही शब्द का अर्थ कहलाता है। ('ज्ञान शब्द से हमारा तात्पर्य केवल किसी वस्तु के विषय में जानना नहीं है।') शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को तत्काल ग्रहण न कर सकने पर भी हमें शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है। यदि हम शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के ज्ञान की बात करते हैं तो उस सम्बन्ध का ज्ञान हमें उस शब्द को प्रयोग करते समय ही होना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि जब हमारी बुद्धि में एक विशेष परिवर्तन होता है अर्थात् जब हमें प्रत्यक्षीकरण होता है जिसमें हमारी चेतनता शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को अपने अन्दर ले लेती है तब हमें सम्बन्ध ज्ञान और रस बोध होता है। रस बोध की उत्पत्ति तब होती है जब मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति होती है। उसे बोध कहा जाता है जो कि ज्ञान का ही परिणाम होता है। वाच्य और वाचक का सम्बन्ध शब्द के द्वारा ही प्रमाणित होता है।[7] इसलिए हम उसे शब्द के अर्थ की संज्ञा देते हैं। शब्द के 'सम्बन्ध ज्ञान' से अर्थ का बोध होता है इसलिए शब्द को अगर हम शब्द - बोध कहें तो ठीक होगा।

शब्द के दो रूप हैं, अव्यक्त और व्यक्त। इन्हीं को क्रमशः ध्वनि और वर्ण भी कहा जाता है[8]। अक्षरों के समूह को शब्द कहा जाता है। अक्षरों को यदि कहा जाये तो ये विशेष ध्वनियाँ ही हैं। यदि इनको ध्वनियाँ लिखा जाय तो ये विशेष आकृतियों का रूप धारण कर लेते हैं। ध्वनियाँ उच्चारण के पश्चात नष्ट हो जाती हैं। इसलिए ध्वनियों का समूह कभी भी संभव नहीं हो सकता क्योंकि समूह एक साथ रहने वाली वस्तुओं का नाम है। अक्षर का समूह भी संभव नहीं है क्योंकि ये एक साथ नहीं रह सकते। परन्तु अक्षर उच्चारण के पश्चात् श्रोत्रा के मन में एक विशेष प्रभाव छोड़ जाते हैं। इस प्रकार के बहुत से प्रभावों (संस्कारों) के एकतित्र होने पर ही शब्द बनता है।

व्यक्त शब्द का ही शास्त्रीय विवेचन होता है। व्यक्त शब्द को प्रमाण के रूप में भी लिया जाता है।[9] जिसके तीन रूप है - वर्ण, पद और वाक्य। क्योंकि एक पूर्ण अर्थ का ज्ञान श्रोत्रा को वाक्य से ही होता है, इसलिए वाक्य को हम शब्द का प्रमुख रूप कह सकते हैं। शब्द के अभिप्राय को दूसरे तक पहुँचाने के कार्य का साधन वाक्य है, इसलिए शब्द - बोध के अन्तगर्त आए 'शब्द' को वाक्य का पर्यायवाची मानना चाहिए। इसलिए शब्द बोध को वाक्यार्थ - ज्ञान भी कहा जाता है।[10]

वस्तुतः शब्द और अर्थ से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्त हैं लेकिन प्रस्तुत लेख में मैं केवल वैयाकरणों के 'स्फोट सिद्धान्त' का ही उल्लेख करूँगी।

भाषा के लिए शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध की आवश्यकता होती है। अर्थ बोध कराने की क्षमता शब्द की सार्थकता है। शब्द और अर्थ एक दूसरे से उस आधार पर सम्बन्धित होते हैं जिसके बारे में अनेक सिद्धान्त हैं। 'न्याय' के अनुसार किसी शब्द को उसके अर्थ के साथ जोड़ने के लिए किसी व्यहक्ति की इच्छा आवश्यक होती है। जब कोई व्यक्ति यह इच्छा करेगा कि इस शब्द से इस अर्थ का बोध हो, तभी उस शब्द की अर्थ - बोध परम्परा प्रारम्भ होगी। अतः अर्थ - बोध कराने की इच्छा ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है। ''मीमांसकों' के अनुसार इनका सम्बन्ध स्वाभाविक होता है। किसी शब्द से इसके अर्थ का ज्ञान करने के लिए हम यह नहीं ढूढते कि किस व्यक्ति ने अर्थ बोध कराने की इच्छा की, बल्कि भाषा में शब्द का प्रयोग देख कर हम जान लेते हैं कि कौन शब्द स्वाभाविक रूप से इस अर्थ का बोध कराएगा। शब्द का यह स्वभाव ही है कि भाषा में प्रयोग करते समय उससे किसी न किसी अर्थ का बोध अवश्य होता है। वैयाकरणों के अनुसार शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध 'नित्य' है।[11] जब से भाषा है तब से ही शब्दार्थ सम्बन्ध चलता आ रहा है।

भर्तृहरि ने भाषा को मानते हुए शब्दार्थ सम्बन्ध को सिद्ध या नित्य सम्बन्ध माना है। इस मत पर विचार करते हुए हमें देखना है कि शब्द और अर्थ क्या हैं और इनमें नित्य सम्बन्ध किस परिस्थिति में माना जा सकता है। शब्द वह है जिसका हम उच्चारण करते हैं। उच्चारण क्रमशः होता है। दो ध्वनियों का एक ही काल में उच्चारण नहीं हो सकता, इसलिए उच्चारण के आधार पर शब्द की एक इकाई हमें प्राप्त नहीं हो सकती। अर्थात ध्वनियों का समूह नहीं हो सकता। इसलिए शब्द भी नहीं हो सकता। जब शब्द ही नहीं है तब उनसे किसी के सम्बन्ध की बात ही नहीं उठती। नैयायिकों ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए कहा कि अलग-अलग ध्वनियां हमारे मन में संस्कार जगाती हैं, और इसी के आधार पर शब्द की इकाई बनती है। परन्तु वैयाकरण कहेगा कि तब तो ध्वनि रूप शब्द नहीं है बल्कि संस्कार रूप शब्द है क्योंकि हम शब्द को मूल रूप से बौद्धिक या मानसिक मानते है। भर्तृहरि ने कहा कि हरेक शब्द को बोलने के पीछे कोई विचार होता है। शब्द की ध्वनियां इस विचार को प्रकट करती हैं न कि ध्वनियों से विचार बनते हैं। इसलिए शब्द विचार रूप हैं।

अर्थ शब्द के भी कई अर्थ हैं। देशकाल में स्थित वस्तु अर्थ कहलाती है। शब्द के द्वारा बहुत सी ऐसी वस्तुओं का भी बोध होता है जिनका कोई अस्तित्व नहीं है। जैसे 'अथवा' और 'आदि'। जहां तक वास्तविक वस्तु का सवाल है यह अपने आप में जो भी हो, उनका भाषा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। किसी वस्तु को देख कर हम इसका नाम नहीं जान लेते। इसलिए भाषा के संदर्भ में जो वस्तु अर्थ बनती है वह वस्तु वक्ता के विचार में निहित होती है और श्रोता जब वक्ता की भाषा को समझता है तब उसके मन में भी विचार रूप वस्तु का ही अस्तित्व होता है। इस तरह भाषागत अर्थ शब्द की तरह विचार में ही निहित है।

यदि भाषा और अर्थ दोनों का अस्तित्व विचार में है तब सम्पूर्ण भाषा का व्यापक क्षेत्र वैचारिक हो जाता है। विचार क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने कहा कि सभी विचार या प्रत्यय शब्द से सर्वदा गुथे हुए रहते हैं। शब्द रहित विचार, विचार ही नहीं हो सकता है। इसलिए मनुष्य के मन में जब अपने विचार को दूसरे तक पहुँचाने की इच्छा जागृत होती है तब यह विचार शब्द की ध्वनियों के माध्यम से प्रस्फुटित होता है और श्रोता के कानों में पहुँच कर उसके मन में पहले से स्थित विचार को प्रस्फुटित करता है। वक्ता और श्रोता दोनों के मन में सोए हुए विचार फूट पड़ते है। इसी को 'स्फोट' कहा जाता है[12]।

हमने देखा है कि अर्थबोध बुद्धि में स्थित अस्फुटित शब्दार्थ के स्फोट के कारण ही संभव है। अस्फुटित का स्फोट प्रतिभा के कारण संभव होता है। भर्तृहरि ने बताया है कि जिस प्रकार बसन्त ऋतु के आने पर कोयल कूँकने लगती है उसी प्रकार उचित अवसर आने पर व्यक्ति के विचार शब्द के माध्यम से प्रकट होने लगते हैं। अस्फुटित के स्फोट को प्रतिभा के कारण होने पर चार भिन्न स्तरों से गुजरना पड़ता है। ये स्तर परा, पश्यन्ति, मध्यमा और बैखरी के नाम से जाने जाते हैं।[13] परा[14] अस्फुटित स्तर है, पश्यन्ति[15] में ज्ञान अर्थ के प्रति उन्मुख होता है। मध्यमा [16] में, ज्ञान में शब्द उत्पन्न होकर भासित होने लगता है, और वैखरी[17] में वह शब्द कंठ से निकलता है। ये चारों स्तर स्फोट के विकास क्रम को बतलाते हैं।

अस्फुटित अवस्था में शब्द और अर्थ का अलग अलग ज्ञान नहीं रहता। इसलिए उस अवस्था में प्रत्येक शब्द हर किसी अर्थ का बोध कराने की क्षमता रखता है। शब्द में अपनी कोई ऐसी बात नहीं होती जिससे वह किसी विशेष अर्थ का बोध कराए। जैसे– 'कलम' शब्द दुनियां की किसी भी चीज

को बताने की क्षमता रखता है। शब्द की यह असीमित वाचकता शक्ति सारी भाषा के मूल में निहित है। व्यवहार के लिए असीमित को सीमित करना पड़ता है तभी हम किसी शब्द से किसी विशेष अर्थ का ज्ञान प्राप्त करते है। इसी तरह अर्थ में असीमित वाच्यता होती है। कोई अर्थ किसी भी शब्द द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। शब्द और अर्थ की असीमित वाच्य वाच्यकता इस बात को बताती है कि कोई व्यक्ति न तो शब्द को अर्थ देता है और न किसी अर्थ को शब्द के साथ जोड़ता है। जोड़ने की यह प्रक्रिया भ्रम मात्र है। 'बल्कि यूँ कहा जा सकता है कि शब्दत्वेन शब्द में सामान्य अर्थ बोधकता शक्ति न हो तो कोई व्यक्ति किसी नए शब्द को लेकर उसको किसी अर्थ के साथ जोड़ ही नहीं सकता। इसी बात को ध्यान में रखते हुए वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को सिद्ध या नित्य माना है।

स्फोट के इस सिद्धान्त का अन्य दार्शनिकों ने खंडन करते हुए कहा है कि अनुभव में बिना शब्द के अर्थ का और बिना अर्थ के शब्द का ज्ञान हमें होता है। जैसे-हमारे मन में कभी कभी कुछ ऐसी बातें आ जाती हैं जिनको व्यक्त करने के लिये शब्द नहीं मिलते। इसी तरह निरर्थक शब्द भी मिलते है। अत: यह कहना कि शब्द तथा अर्थ सर्वदा एक दूसरे से मिले होते हैं ठीक नहीं जँचता। एक अन्य बात स्फोट की आलोचना करते समय कही गयी है कि शब्द की असीमित शक्ति को सीमित किया जाता है। लेकिन देखने में आता है कि हम नित्य नए-नए शब्द बनाकर नयी-नयी वस्तुओं का बोध कराते हैं। नवजात शिशु को नया नाम देते हैं अर्थात् शब्द को अर्थ देने के लिए वक्ता की भूमिका को नहीं भुलाया जा सकता। भाषा व्यवहार पर चलती है और इस व्यवहार को शुरू करने के लिए किसी आदिम प्रमाण की आवश्यकता अवश्य होती है। इसलिए भाषा आवश्यक रूप से पौरूषेय होती है। तीसरी बात शब्द के अर्थ परिवर्तन से सम्बन्धित है। शब्दों के अर्थ देश काल और व्यक्ति के अनुसार बदल जाते हैं। न्याय शास्त्र की यही मान्यता है।[16] अर्थ परिवर्तन से यह सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनित्य है। इन आलोचनाओं का व्याकरण की दृष्टि से उत्तर दिया जा सकता है और कहा जा सकता है कि ये आलोचनाएं व्यवहार को प्रमुख मानकर की गयी हैं, जबकि व्याकरण दर्शन शब्दार्थ की तात्त्विक प्रमुखता को स्वीकार कर व्यवहार की व्याख्या करता है।

संदर्भ

1. ऋग्वेद 8, 100, ।।
   देवी वाचमजनयन्त देवा: तां विश्वरूपा:
   पशवो वदन्ति।
2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, पृष्ठ 10-11
   अ इ उ ण।, ऋ ऌ क्, हल 14।
   इति माहेश्वराणि सूत्राणि अणादि संज्ञार्थानि।
3. वाक्य पदीय, हरिवृत्ति 1/44,
4. वा0प0, हरिवृत्ति 'उपादेयो वा समुदाय उपादान:।
5. मालिनी तंत्र वार्तिक, पृ0 40
6. वा0प0, 2/130
7. योग सूत्र भाष्य 3/17

8. पदमंजरी, 7/4/53, (शब्दो ध्वनिः शब्द गुणः, पांतजल म0भाग-2)
9. न्या0 सू0 1.1.7
10. न्या0 सि0मु0 (कारिकावली-शब्द खण्ड)
11. हेलाराज, वाक्य पदीय।
12. महाभाष्य, 1.4.109
13. ऋक संहिता, 1/164/45
14. 'परा' को भर्तृहरि 'ब्रह्म' ही मानते हैं।
15. वा0प0 1.1.143 (प्रतिसंहृतक्रमा समाविष्ट क्रमशक्तिश्च।)
16. वा0प0 1/143
17. वही
18. दार्शनिक त्रैमासिक, 1999 (सं0 रघुनाथ गिरि)।

संदर्भ ग्रन्थ

(1) सत्यकाम वर्मा, व्याकरण की दार्शनिक भूमिका
(2) यू0एस0विष्ट, दि कान्सेप्ट ऑफ लैग्वेज।

डॉ0 हन्सी बिष्ट
दर्शन विभाग
श्यामाप्रसाद मुखर्जी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-26

रजि0 पंजीकरण सं0 : एल-1277

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

अगस्त-अक्टूबर 2004

सम्पादक

डॉ. महावीर

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

सम्पादक-मण्डल

संरक्षक मण्डल	**श्री सुदर्शन शर्मा** कुलाधिपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार **प्रो. स्वतन्त्र कुमार** कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार **प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री** आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
सम्पादक	**डॉ. महावीर** प्रोफेसर संस्कृत विभाग
सहसम्पादक	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री, रीडर, वेदविभाग
सहसम्पादक	डॉ. सत्यदेव निगमालङ्कार, रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान
व्यवसाय-प्रबन्धक	डॉ. जगदीश विद्यालङ्कार पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
प्रकाशक	प्रो. अशोक कुमार चोपड़ा कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
मूल्य	१०० रुपये वार्षिक
विक्रमी सम्वत्	२०६१

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334-245975

विषयानुक्रमणिका

1. दयानन्द का आर्थिक चिन्तन	प्रो0 स्वतन्त्र कुमार	(i)
2. वेदमञ्जरी	आचार्य रामनाथ वेदालंकार	1
3. सम्पादकीय	डॉ. महावीर	2
4. 5 सितम्बर शिक्षक दिवस पर विशेष...........	शंकरदेव विद्यालंकार	9
5. महाभारते नैतिकमूल्यानि	डा0 भारतेन्दु द्विवेदी	14
6. ऋग्वेद में ऋत की अवधारणा	डॉ0 हेरम्ब पाण्डेय	18
7. 'कूपादन्धं वारयति' वाक्य का अर्थ-विमर्श	डॉ. अरविन्द कुमार विद्यालंकार	22
8. आर्यसमाज की शास्त्रार्थ- परम्परा	डॉ0 विनोद चन्द्र विद्यालंकार	29
9. जीव्यात् चिरं भारतवर्ष राष्ट्रम्	डॉ0 राधेश्याम गंगवार	37
10. वैदिक संस्कृति में पुनर्जन्म की अवधारणा	डॉ0 (श्रीमती) मंजू सिंह ठाकुर	39
11. मृदा प्रदूषण: वैदिक समाधान	डा. नन्दिता सिंघवी	46
12. ऋषि कुतुक से पराजित उर्वशी	डॉ0 शारदा शर्मा	51
13. इतिहास बोलता है..........	महावीर 'नीर' विद्यालङ्कार	54
14. महर्षि दयानन्द की वैज्ञानिक दृष्टि	डॉ0 योगेश शास्त्री	57
15. नाट्य में रूपकों की संख्या-एक विवेचन	डॉ0 आशा रानी राय	60
16. अध्वरीय तथा अर्ह विश्लेषण	डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार	64
17. कादम्बरी - अतिद्वयी कथा	डॉ. वीना अग्रवाल	69
18. "श्रीमद्भगवद्गीता- एक आचार संहिता भी"	डॉ0 शिवशंकर गुप्त	72
19. उपनिषदों में योग अवधारणा	डॉ0 रोहतास कुमार	75
20. वेदान्त दर्शन	डॉ0 त्रिलोक चन्द	84
21. देशभक्ति	आचार्य संदीप कुमार	87
22. "प्रभो! तेरी कृपा हमें प्राप्त हो"	प्रो0 रामप्रसाद वेदालंकार	88
23. डॉ रामनाथ वेदालंकार : एक विलक्षण व्यक्तित्व	ब्रजभूषण शर्मा	89
24. गजकरणी क्रिया एवं अम्लपित्त प्रतिषेध	डॉ. ईश्वर भारद्वाज डॉ. एस.बी. शर्मा डॉ. वी.के. अग्निहोत्री	90
25. वेदों में क्षय रोग (राजयक्ष्मा) और उसका निदान	डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री	93
26. एक भूला-बिसरा क्रान्तिकारी	स्व0 पंडित चन्द्रकेतु जी	107
27. लेखनी के धनी	महावीर 'नीर' विद्यालङ्कार	111
28. Study of disease spread in age based......	M.P. Chaudhary	113

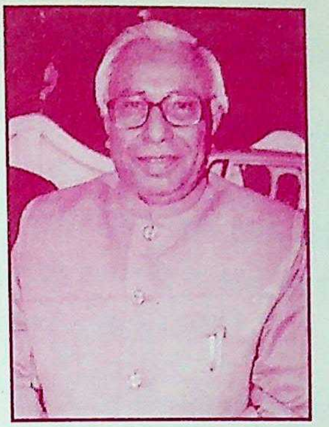

प्रो. स्वतंत्र कुमार जी

कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति को सारस्वत सम्मान

पंजाब हिन्दी साहित्य अकादमी ने जालन्धर में आयोजित एक भव्य समारोह में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति प्रो0 स्वतन्त्रकुमार को **'श्री वीरेन्द्र सारस्वत सम्मान'** से सम्मानित किया। यह सम्मान प्रो0 कुमार को भारतीय संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन में महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए दिया गया है। पंजाब के शिक्षामन्त्री श्री जौहर ने देश के गणमान्य व्यक्तियों की गरिमामयी उपस्थिति में तालियों की गड़गड़ाहट के बीच प्रो0 स्वतन्त्रकुमार को शाल ओढ़ाकर तथा प्रशास्तिपत्र प्रदान कर सम्मानित किया।

अपने व्यक्तिगत एवं पारिवारिक सुखों की इच्छा त्यागकर समाज एवं राष्ट्र की सेवा का संकल्य धारण करने वाले माननीय कुलपति जी मान, अपमान की चिन्ता न करते हुए अहर्निश कुलमाता, वेद एवं आर्यसमाज की सेवा में संलग्न रहते हैं। सरल, सहज, सौम्य एवं निश्च्छल व्यक्तित्त्व के धनी प्रो0 स्वतन्त्रकुमार जी को अहंकार छू नहीं-पाता है। भारत की प्रसिद्ध शिक्षणसंस्था गुरुकुल कांगडी वि0 वि0 के प्रतिष्ठित कुलपति पद पर आसीन होते हुए भी वे स्वयं को महर्षि दयानन्द एवं आर्यसमाज का सेवक मानते हैं। प्रो0 स्वतन्त्र कुमार आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के लोकप्रिय महामन्त्री एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ अधिकारी हैं। इससे पूर्व भी अनेक सामाजिक, शैक्षिक साहित्यिक संस्थायें प्रो0 स्वतन्त्र कुमार को सम्मानित कर चुकी हैं।

उनकी इस उपलब्धि पर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय परिवार के सदस्यों ने अपने प्रिय कुलपति को हार्दिक बधाईयाँ दी हैं।

हम **गुरुकुल पत्रिका परिवार** की ओर से अपने मान्य कुलपति जी को बधाई एवं शुभकामनाएं प्रदान करते हुए उनके उत्तम स्वास्थ्य, दीर्घायु, पारिवारिक सुखसमृद्धि एवं चन्द्रोज्ज्वल कीर्ति की कामना करते हैं।

प्रो0 महावीर
सम्पादक

दयानन्द का आर्थिक चिन्तन

19 वीं सदी के महापुरुषों में स्वामी दयानन्द का अन्यतम स्थान है। उनके बहुआयामी व्यक्तित्व में जहाँ अप्रितम धर्माचार्य, निर्भीक समाज सुधारक, राष्ट्रीय चेतना के प्रवर्तक तथा सर्वविध शोषण के विरोध में आवाज उठाने वाले एक तेजस्वी के दर्शन होते हैं वहीं उनका आर्थिक चिन्तन भी परिलक्षित होता है। स्वामी दयानन्द के आर्थिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में मुख्य रूप से वेद, मनुस्मृति, रामायण, महाभारत, शुक्रनीति और कौटिल्य का अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थ हैं।

दयानन्द का आर्थिकदर्शन उनकी राष्ट्रीय एवं राजनीतिक विचारधारा से ही संबद्ध रहा है। भारतवासियों की घोर दरिद्रता, कृषक वर्गका भयंकर शोषण, मध्यम स्तर का जीवन व्यतीत करने वाले नागरिकों के दुःखों और कष्टों को देखकर उन्होंने न जाने कितनी बार व्याकुलता प्रकट की थी। जिस दयानन्द ने अपनी सगी बहन की मृत्यु को देखकर आसूँ नहीं बहाये, वह उस विधवानारी की अभावग्रस्त जिन्दगी को देखकर अश्रु-धारा प्रवाहित कर बैठा जिसे अपने ही मृत शिशु का तन ढंकने के लिये एक गज कफन नसीब नहीं हुआ था। उनके जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आए हैं जब हम देखते हैं कि सांसारिक माया ममता से नितान्त पृथक् रहकर, परिव्राजक का निस्संग जीवन व्यतीत करने वाला यह निरीह संन्यासी देश की आर्थिक अवनति को देखकर रो पड़ता था। वस्तुतः स्वामी दयानन्द ने यह अनुभव कर लिया था कि विदेशी शासक जिस नीति से शासन कर रहे हैं उनके परिणाम स्वरूप यदि यह देश आर्थिकदृष्टि से दिवालिया भी हो जाए तो, कोई आश्चर्य नहीं।

देश को आर्थिकदृष्टि से समृद्ध देखना स्वामी दयानन्द का सुन्दर सपना था। उनकी एतद्विषयक कुछ योजनाएं थीं जिन्हें वे क्रियान्वित भी करना चाहते थे। प्रथम तो वे यह अनुभव करते थे कि यूरोप में औद्योगिकरण की जो लहर उठी है, उससे संसार का कोई भी देश अछूता नहीं रहेगा। भारत में भी उन दिनों नाना प्रकार के कल-कारखानों की स्थापना हो रही थी और देशवासी विभिन्न कलाकौशल तथा उद्योगों में प्रगति कर रहे थे। स्वामी जी की यह हार्दिक इच्छा थी कि यूरोप में जिस विज्ञान और तकनीक का प्रचलन हो रहा है, उसे देशवासी भी सीखें उसका प्रशिक्षण प्राप्त करें, तत्पश्चात् स्वदेश लौटकर उस ज्ञान के द्वारा देश को आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बनाएं। इसी विचार से उन्होंने जर्मनी के एक शिक्षा शास्त्री और औद्योगिक सलाहकार प्रो. जी.वीज से विस्तृत पत्राचार भी किया। उक्त प्रोफ़ेसर ने उन्हें यह विश्वास दिलाया था कि यदि भारत के कुछ नवयुवक इस प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये जर्मनी आयेंगे तो वह उनको सब प्रकार की सुविधा प्रदान करेगा। संभवतः अन्य कार्यों में व्यस्त रहने और 1883 में ही दिवंगत हो जाने के कारण वे इस कार्य को आगे नहीं बढ़ा सकें।

एक ओर स्वामी दयानन्द वाणिज्य में सर्वविध विकास के पक्षधर थे तो दूसरी ओर कुटीरउद्योग तथा ग्रामीण अर्थतंत्र को विकसित करना चाहते थे। उन्होंने गौवध विरोध का जो महाअभियान चलाया था उसके पीछे किसी प्रकार की गलदश्रुभावुकता या धार्मिक भावावेश नहीं था। गौरक्षा की ही भाँति वे बैल, भैंस, बकरी आदि उन सभी पशुओं के संरक्षण को महत्व देते हैं जो भारत के ग्रामीण अर्थशास्त्र की रीढ़तुल्य है। गौरक्षा के पीछे उनकी विशुद्ध आर्थिक चिंता ही कार्यरत थी।

दयानन्द ने किसानवर्ग को बहुत ऊंचा स्थान और सम्मान दिया था। उन्होंने लिखा - - यह बात ठीक है कि राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है। वे कृषि को भारत की आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार मानते थे। राजस्थान के उदयपुर, शाहपुरा तथा जोधपुर के शासकों को उपदेश देते हुए उन्होंने इस बात पर अधिक बल दिया कि अपने प्रजाजनों की आर्थिक समृद्धि को सुनिश्चित करना उनका एकमात्र और परमकर्तव्य है। शाहपुराधीश राजाधिराज नाहर सिंह को तो अपने राज्य के कतिपय व्यावहारिक सुझाव भी उन्होंने दिये थे। उदयपुर के महाराणा सज्जन सिंह को अपने एक पत्र में स्वामी जी लिखते हैं - - कृषक और मजदूरों का शोषण न हो, आप उनका पालन पुत्रवत् करें। (1)। उसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने लिखा कि राजाओं के राजा किसान..........किसान आदि खाने - पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें (2)।

स्वामी दयानन्द के आर्थिकचिन्तन को समझने के लिये उनके द्वारा प्रतिपादित समाज और राज्य - व्यवस्था को प्रथम समझना चाहिए तभी हम उनके आर्थिक चिन्तन पर सम्यगतया प्रकाश डाल सकते हैं।

स्वामी दयानन्द ने समाज व्यवस्था को वर्णाश्रम के माध्यम से व्यक्त किया है। आश्रम की परिभाषा करते हुए वे लिखते हैं ''जिनमें अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जाएं उनको आश्रम कहते हैं।'' इस तरह उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम करने के लिये आश्रम - व्यवस्था है। प्रत्येक आश्रम के अपने - अपने कर्तव्य कर्म निश्चित हैं।

स्वामी दयानन्द के अनुसार केवल गृहस्थआश्रम ही अर्थोपार्जन से संबंध रखता है। ऋषि ने मनुस्मृति के आधार पर **संस्कार विधि** के गृहस्थाश्रम प्रकरण में गृहस्थ की महत्ता और उसके दायित्व का उल्लेख करते हुए लिखा है........

(1) जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्न वस्त्रादि दान से नित्य प्रति गृहस्थ धारण, पोषण करता है, इसलिये व्यवहार में गृहाश्रम सबसे बड़ा है।

(2) जैसा वायु के आश्रय से सब जीवो का वर्तमान सिद्ध होता है वैसे गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह गृहस्थ के आश्रय से होता है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि ऋषि दयानन्द गृहस्थ के अतिरिक्त तीनों आश्रमियों को अर्थोपार्जन से मुक्त मानते थे और इनके धारण, पोषण और पालन का दायित्व गृहस्थ को स्वीकार करते थे।

---

(1) ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ0 631

(2) सत्यार्थ प्रकाश, षष्ठ समुल्लास

स्वामी दयानन्द ने वर्णव्यवस्था जन्म से नहीं बल्कि गुण कर्म स्वभाव से स्वीकार की है। वर्णव्यवस्था में गुण का अर्थ है योग्यता, कर्म का अर्थ है व्यवसाय तथा स्वभाव का अर्थ है आदत। इस प्रकार योग्यता, व्यवसाय और आदत वर्ण का निर्णय करते है। उससे स्पष्ट होता है कि वर्णव्यवस्था का संबंध सिर्फ गृहस्थ से है क्योंकि यह आजीविका का आधार है। अन्य तीन आश्रम जीविकोपार्जन से मुक्त रखे गये हैं। अत: वर्णव्यवस्था का संबंध मात्र गृहस्थ से है। प्रत्येक वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के अपने-अपने कर्तव्य कर्मों का निर्धारण ऋषि ने अपने ग्रंथों में मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र के आधार पर किया है।

स्वामी जी के अनुसार धनोपार्जन में धन की पवित्रता प्रमुख है। अधर्म से कमाया धन या तो प्रयोग में नहीं आता या तीन पीढ़ी के आगे नहीं जाता। इसके विपरीत धर्म एवं न्याय से कमाया हुआ धन अक्षय धन होता है उसका योग प्राप्त होता है तथा सुपात्रों को दिया हुआ ऐसा पवित्र धन काफी फलता-फूलता है। अत: धन धर्म से कमाना ही उचित है यही गृहस्थ एवं वर्णों के लिये उत्तम है।

दयानन्द द्वारा प्रदर्शित राज्य व्यवस्था में ग्राम से लेकर देश तक तीन प्रकार के कार्य करने के लिये तीन सभाओं का होना आवश्यक है। न्याय, धर्म तथा विद्या का प्रसार देखना इनका मुख्य कार्य है। कहीं भी दोष पैदा हो तो उन पर नियंत्रण रखना राजा का कार्य माना जाता है। धर्मार्यसभा विद्यार्य सभा एवं न्यायार्यसभा इन तीन प्रकार की सभा को ही राजा मानना चाहिए एक मनुष्य को कभी नहीं।[1]

महाराणा सज्जन सिंह को स्वामी जी ने लिखा था.......... ''अपने आत्मा का शरीर को राजा वा अधिकारी न समझें किन्तु राजनीति को ही राजा और राज्याधिकारी मानें''

इस तरह स्वामी दयानन्द के अनुसार राजा का पद वंशानुगत न होकर निर्वाचन का है। विद्वान् और धर्मात्मा सभासद ही राजा का निर्वाचन करते हैं।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि वर्णाश्रम पर आधारित वैदिक व्यवस्था में धन का मर्यादित महत्व है। धन कमाने की समय सीमा सिर्फ 25 से 30 वर्ष की आयु तक सिर्फ विभिन्न गृहस्थ वर्णों के लिये नियत है। गृहस्थ ही अर्थोपार्जन की चिन्ता करता है। अन्य आश्रमी नहीं।

आर्थिक चिन्तन में मुख्य रूप से कृषि, उद्योग, सम्पत्ति का वितरण तथा करनीति एवं गौण रूप से बेकारी और मूल्य विचारणीय है। देश और काल के अनुसार थोड़े बहुत परिवर्तन की गुंजाइश हो सकती है किन्तु मोटे तौर पर सारे देश और भूगोल के लिये एक जैसी नीति होगी। चूंकि स्वामी दयानन्द ने शाश्वत मूल्यों का वर्णन किया है। अत: उनके विचार को सारे भूगोल के लिये उचित समझना चाहिए।

ऋषि दयानन्द मानते हैं कि विश्व में दो ही जीवन के मूल हैं, एक अन्न और दूसरा पान। अन्न का संबंध कृषि से और पान का संबंध दुग्ध आदि से है। ऋषि ने कृषि के अन्तर्गत पांच कामों को गिना है.....

---

(1) ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका

(क) खेती की विद्या का जानना।
(ख) अन्न आदि की रक्षा
(ग) खाद, और
(घ) भूमि की परीक्षा
(ङ) जोतना बोना

खेती की विद्या के अन्तर्गत मौसमविज्ञान तथा वर्षा की जानकारी प्रमुख हैं। अत: कृषक को इसकी सही जानकारी होनी चाहिए। अन्न आदि की रक्षा से तात्पर्य फसलों के टिड्डी आदि कीड़े-मकोड़े से रक्षा तथा चूहे आदि हल्के जानवरों से रक्षा है। कृषक को अन्नरक्षा के विविध उपायों को जानना चाहिए।

खाद की परीक्षा एक प्रमुख पक्ष है। ऋषि ने यजुर्वेद भाष्य में लिखा है[1]-- ''खेती में विष्ठा आदि मलीन पदार्थ नहीं डालने चाहिए।'' इससे स्पष्ट है कि वे मानव मलमूत्र के प्रचलित खाद जिसे स्वर्ण एवं रजत खाद भी कहा जाता है-- के प्रयोग के विरोधी हैं। संस्कारित बीज के प्रयोग की बात करते हुए ऋषिवर लिखतें हैं-- ''बीज दुर्गन्ध आदि से मुक्त करके ही बोये।'' अगले मंत्र के भावार्थ में भी ऋषि ने इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है। खाद-बीज की पवित्रता से अन्न की पवित्रता होती है।

भूमि परीक्षा पूर्णत: वैज्ञानिकप्रक्रिया है। एक मन्त्र के भावार्थ में ऋषि ने लिखा है '' किसान लोग विद्या से अनुकूल घी, मीठा ओर जलन आदि से संस्कार कर स्वीकार की हुई खेत की पृथ्वी को अन्न को, सिद्ध करने वाली करे। जैसे बीज सुगन्धि आदि युक्त करके बोते हैं वैसे इस पृथ्वी को भी संस्कार युक्त करे ।''[2] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि खेत भी संस्कारित होते हैं।

जमीन का जोतना-बोना भी एक विज्ञान है। हलों का प्रयोग इसी प्रयोजन से है। एक मन्त्र के भाष्य में वे लिखते है........'' हल आदि साधनों से जोत, एकसार कर सुन्दर संस्कार किये बीज बो के उत्तम धान्य उत्पन्न कर भोगें।''

अन्न के साथ पान एक मौलिक आवश्यकता है। दूध इसका सफल उदाहरण है। गौ का तात्पर्य पशुमात्र है। ऋषि दयानन्द ने गौ और करुणायुक्त पुरुष को निधियुक्त माना है। इसी कारण उन्होंने महोपकारक गाय आदि पशुओं को नहीं मारने की बात कही है। **गोकरुणानिधि** के निम्न उद्धरण पर ध्यान दें---

''इनकी रक्षा से अन्न भी मंहगा नहीं होता क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खान-पान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के न्यून होने से दुर्गन्ध भी न्यून होता है। दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टिजल

---

(1) देखो, 12/69 का भावार्थ

(2) देखो, वही 12/60 का भावार्थ

की शुद्धि भी विशेष होती है। उससे रोगों की न्यूनता होने से सबको सुख बढ़ता है। ''स्वामी जी ने पशुओं के उपकारों को इस प्रकार परिगणित किया है---

(क) निस्सार घास-तृण-पत्ते फल फूल आदि खाकर अमृतरूप दूध देते हैं
(ख) हल तथा गाड़ी में लगकर अन्न उत्पादन बढ़ाते हैं।
(ग) पुत्र-पुत्री तथा मित्रवत् विश्वास और प्रेम करते हैं।
(घ) मरने पर चमड़ा अनेकविध काम का होता है।
(ङ) आवश्यकता पड़ने पर अपने स्वामी की रक्षा भी करते हैं।

जीविका के साधनों में उद्योग का स्थान महत्वपूर्ण है। ऋषि दयानन्द भौतिक उन्नति के लिए शिल्प तथा विज्ञान के प्रयोग में विश्वास रखते थे। वे मानते हैं कि बिना शिल्प उद्योगों के गरीबी नहीं हटायी जा सकती। एक पत्र में उन्होंने लिखा था --''यह अब स्पष्ट है कि बहुत से पढ़े लिखें लोगों को भी नौकरी नहीं मिलती या वे जीवननिर्वाह का प्रबन्ध नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था देखकर मैं सब कला-कौशल के स्कूल की आवश्यकता विचारता हूँ। प्रत्येक पुरुष को अपनी आय का सौंवा भाग प्रस्तावित संस्था को देना चाहिए। उस धन से चाहे तो विद्यार्थी कला-कौशल सीखने जर्मनी भेजे जाएं या वहाँ से अध्यापक यहाँ बुलाये जाएं।''[1]

30 नवम्बर 1880 को लिखे गये उपर्युक्त पत्र से स्वामी दयानन्द की कलाकौशल के प्रचार-प्रसार की व्याकुलता झलकती है। इसके लिए उन्होंने जर्मनी तथा इंगलैन्ड से पत्राचार किये थे। जर्मनी के जी0वाइज द्वारा ऋषि को नौ पत्र लिखे गये थे।

वर्ण व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य को योग्यता प्राप्त करने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है। योग्यता के अनुरूप जीविका के साधन भी उपलब्ध होते हैं। जब लोगों की योग्यता, क्षमता और शक्ति में अंतर होगा तो उसके पारिश्रमिक में भी अंतर होगा। इस बात को समझने के बाद किसी भी योग्य व्यक्ति को पारिश्रमिक की भिन्नता के कारण न तो आक्रोश होगा और न वितृष्णा। सभी अपनी-अपनी योग्यता और कर्म के अनुसार फल प्राप्त कर सकेंगे। इस व्यवस्था में संपत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व की बात स्वीकार की जाती है, कमाने वाला सम्पत्ति का स्वामी होगा -- इसके पीछे भावना यह है कि मैं कमाता हूँ और यह मेरी सम्पत्ति है। इस ममत्व के कारण व्यक्ति सम्पत्तिको कमाने और बढ़ाने में खूब परिश्रम करता है लेकिन सम्पत्ति पर यह अधिकार निरपेक्ष नहीं है। यदि आपका कमाया हुआ धन समाज और राष्ट्र के काम आ रहा है तब तो ठीक है, अन्यथा यह आपके पास नहीं रहेगा। राज्य इसे छीनकर दूसरे सदुपयोगकर्त्ता के पास पहुंचा देगा। ऋषि दयानन्द के मतानुसार सम्पत्ति पर अधिकार व्यक्तिगत सापेक्ष है। सन्तान उसे उत्तराधिकार में तभी प्राप्त कर सकेगी जब उसे सम्भालने और धर्मानुसार उपभोग की योग्यता हो अर्थात् पिता के गुण-कर्म-स्वभाव वाली सन्तान ही उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होगी। इसके विपरीत यह सम्पत्ति वैसे ही गुणकर्म स्वभाव वाले अन्य संतान को प्राप्त हो जएगी।

राज्यप्रबन्ध तो धन से ही होता है। इसके लिए राज्य कर-नीति लागू करता है। प्राचीन समय

---

(1) ऋषि दयान्द के पत्र व विज्ञापन, प्रथम भाग, पृ0 450, सं. पं. युधिष्ठिर मीमांसक 1981

में थोड़ा-थोड़ा कर लेने की परिपाटी थी ताकि करदाता को भी भान न हो तथा उसका मूलनष्ट न हो जाए। मनुस्मृति के हवाले से ऋषि दयानन्द ने करनीति के सिद्धान्त का वर्णन इन शब्दों में किया है--

''जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मछली को पकड़ने को तत्पर है, वैसे अर्थ-संग्रह का विचार करें।''

''जैसे जोंक, बछड़ा और भ्रमरा थोडे-थोड़े पदार्थ को ग्रहण करता है वैसे राजा प्रजा से थोड़ा थोड़ा वार्षिक कर लेवे।'' इन उदाहरणों से कई बातें स्पष्ट होती हैं--

(क) अर्थसंग्रह के लिए उद्देश्य की एकाग्रता जरूरी है।

(ख) कर थोड़ा-थोड़ा लेना चाहिए ताकि करदाता को कष्ट न हो।

(ग) कर का संग्रह वार्षिक होना चाहिए इससे वसूलने का बेकार खर्च न होगा।

संक्षेप में स्वामी दयानन्द के आर्थिकचिन्तन पर उपर्युक्त पंक्तियों से प्रकाश पड़ता है। जिसके आधार पर हम यह कह सकते हैं स्वामी दयानन्द पुरुषार्थ चतुष्टय के पूर्ण विद्वान् थे। वे अर्थ के भी उतने ही विद्वान् थे जितने कि धर्म के। वे भौतिकता के भी उतने ही समर्थक थे जितने की आध्यात्मिकता के।

दयानन्द का यह आर्थिकचिन्तन वेद के आधार पर शाश्वत सत्य वचनों पर आधारित है। यह सत्य है। दुनिया अपने विचार तथा कर्म से दुःखी होकर दयानन्दीय उक्त चिन्तन को मानने के लिए शीघ्र ही विवश होगी क्योंकि आज समाजवादी विचारधारा (Comunism) मानव प्रकृति के विपरीत होने से 70 वर्षों के भीतर ही धराशायी हो चुकी है। पूंजीवादी व्यवस्था लोभ, लिप्सा और संचय के कारण टूट के कगार पर है। भोगवादी प्रवृत्ति ने इन्हें विलासी, कामुक और उच्छृंखल बना दिया है वे अपनी खोदी खाई में स्वयं गिरने वाले हैं।

प्रो० स्वतन्त्र कुमार
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
श्री विजय कु पड़ा

पंजाब केसरी पत्र समूह के चेयरमैन श्री विजय चोपड़ा का सम्मान करते हुए कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी साथ में खड़े हैं प्रो. वेदप्रकाश जी शास्त्री

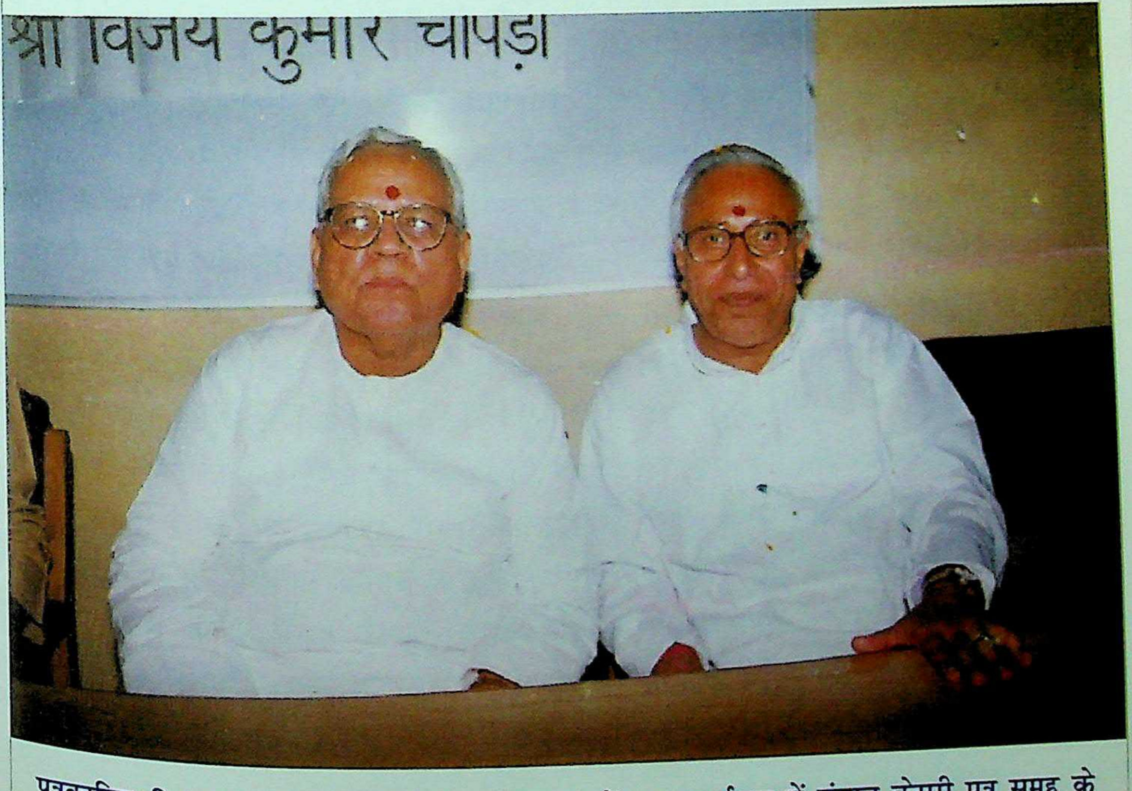
श्री विजय कुमार चोपड़ा

पत्रकारिता विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में एक कार्यक्रम में पंजाब केसरी पत्र समूह के चेयरमैन श्री विजय चोपड़ा के साथ मंच पर बैठे हैं कुलपति प्रो० स्वतन्त्र कुमार जी

वेदमञ्जरी

पार्थिवस्य लोकस्य द्युलोकस्य च व्यवस्थापकः

आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे रोचना दिवि।
न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यते
ऽति विश्वं ववक्षिथ॥ ऋग् १.८१.५

ऋषिः गोतमःराहूगणः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** पङ्क्तिः।

इन्द्रो नाम परमेश्वरः (**आ पप्रौ**) आपूर्णं कृतवान् (**पार्थिवं**) पृथिवीतत्त्वबहुलं (**रजः**) लोकम्, (**बद्बधे**) बद्धं कृतवान् (**रोचना**) रोचमानानि नक्षमाणि (**दिवि**) द्युलोके। (**न**) नास्ति (**त्वावान्**) त्वत्सदृशः (**इन्द्र**) हे परमेश्वर (**क श्चन**) को ऽपि, (**न**) नापि (**जातः**) उत्पन्नः; (**न**) न च (**जनिष्यते**) उत्पत्स्यते। त्वम् (**विश्वं**)ब्रह्माण्डम् (**अति**) अतिक्रम्य (**ववक्षिथ**) महान् असि।

हे इन्द्र! अयि परममहिमशालिन् जगदीश्वर! वयं क्षुद्रमानवास्तव महिम्नः पारं प्राप्तुं कथं शक्नुमः। त्वं पार्थिवं लोकमपि परिपूर्णं कृतवानसि द्युलोकं चापि। त्वया पृथिवीलोके चामत्कारिका बहुमूल्याः पदार्था भरिताः। मृज्जलपवनवह्न्यादीनि लघूनि प्रतीयमानानि द्रव्याणि एतावद् मूल्यवन्ति सन्ति यद् वयं तैर्विना जीवनं धारयितुं न शक्नुमः। त्वं पृथिव्यां हिमगिरीन् स्थापितवान्, त्वं सुरभिकुसुमान् क्षुपान् रोपितवान्, त्वं फलवतो बहुलच्छायान् तरून् उत्पादितवान्, त्वम् आरोग्यकारिणीः ओषधीः विविधानि अन्नानि च जनितवान्, त्वं कलकल निनादिनीः स्वच्छतोयाः सरितः प्रवाहितवान्, त्वं पर्वतेषु झरझरझरितान् निर्झरान् झारितवान्। त्वं पृथिव्या गर्भे हीरकहिरण्यरजतलौहादिधातून्, गन्धकलवणादिखनिजान्, पार्थिवसुद्रस्य शुक्तिषु च मुक्ताफलानि घृतवान्। त्वं मधुराम्लकटुकषायादिरसान् उत्पादितवान्। एतत् तव पार्थिवं कर्तृत्वं वयं कथं विस्मर्तुं शक्नुमः। त्वयाऽन्तरिक्षे दिवि च सूर्यचन्द्रग्रहोपग्रहविद्युदादयो दीप्तिमन्तः पदार्था जनिताः। त्वयैव च गगनतले भास्वराणि नक्षत्राणि योजितानि। त्वम् आकाशे बहुभारवतोऽगणितान् ज्योतिष्मतः पिण्डान् रज्जुं विनैव लम्बितवान्, तत्सकाशाच्च अपरिमितं प्रकाशं चतुर्दिक्षु विक्षिपसि।

अयि परमकलाविद्! त्वत्सदृशः कलाकारो नाद्यावधि जातो, नच जनिष्यते। भ्रान्तास्ते जना ये बहून् देवान् कल्पयित्वा परस्परं कलहायन्ते, यद् वयं शिवानुयायिनः, वयं विष्णोरुपासकाः, वयं ब्रह्मणः आराधका इति। वस्तुतः हे इन्द्र! त्वमेव नैकानि नामानि धारयसि। त्वमेव ब्रह्मा, त्वमेव विष्णुः, त्वमेव मित्रः, त्वमेव भगः, त्वभेव कालः। हे अनन्तमहिम। त्वत्सदृशो महान्, त्वत्सदृशो विश्वस्रष्टा, त्वत्सदृशो दिश्वभर्ता, त्वत्सदृशश्च विश्चत्राता कोऽप्यन्यो नास्ति। त्वं सकलं जगदतिक्रम्य महत्तमोऽसि।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

सम्पादकीय..............

कुलमाता के यशस्वी पुत्र : महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित

26 सितम्बर 2004, उत्तरांचल के इतिहास का स्वर्णिम दिन, यानि उत्तरांचल सरकार द्वारा 20 दिसम्बर 2002 को संस्कृत भाषा एवं साहित्य के विकास एवं प्रचार-प्रसार हेतु गठित उत्तरांचल संस्कृत अकादमी द्वारा देश के ख्यातनामा, प्रतिष्ठित वयोवृद्ध विद्वानों के संस्कृत-सम्मान से अलंकरण का दिन, वह भी देवस्थली हरिद्वार में देश के राष्ट्रपति महामहिम डॉ0 ए0पी0जे0अब्दुल कलाम के करकमलों द्वारा। यही था वह शुभ दिन, जिस दिन मुख्यमंत्री श्री नारायणदत्त तिवारी ने हरिद्वार में उत्तरांचल संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की भी घोषणा की।

उत्तरांचल प्राचीन काल से ही संस्कृत शिक्षा, साहित्यरचना, दर्शन, व्याकरण, कर्मकाण्ड के क्षेत्र में समृद्ध रहा है, जिसका श्रेय अंचल के विभिन्न नगरों, विशेष रूप से हरिद्वार में स्थित संस्कृत पाठशालाओं, महाविद्यालयों एवं गुरुकुलों एवं उनमें कार्यरत विद्वन्मंडली को जाता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए उत्तरांचल संस्कृत अकादमी ने विद्वानों को सम्मानित करने की योजना को कार्य रूप देने का निर्णय किया। घोषित सात सम्मानों में से चार केवल उत्तरांचल के विद्वानों के लिए तथा शेष तीन अन्ताराष्ट्रीय राष्ट्रीय स्तर के विद्वानों के लिए नियत किये गए। अन्ताराष्ट्रीय पुरस्कार का नाम हिमाद्रि उत्तराञ्चल संस्कृत सम्मान तथा राष्ट्रीय पुरस्कारों का नाम बदरीश एवं भागीरथी उत्तरांचल संस्कृत सम्मान रखा गया, जब कि उत्तरांचल राज्य स्तरीय सम्मान अंचल में संस्कृत के गौरव को बढ़ाने में अथवा संपूर्ण जीवन समर्पित करने वाले श्रेष्ठ विद्वानों-पं. मदनमोहन मालवीय, पं0 बालकृष्ण भट्ट, पं0 लोकरत्न गुमानी एवं पं0 सदानन्द डबराल-के नाम पर घोषित किये गए।

विभिन्न सूचना माध्यमों से योजना के बहुप्रचारित हो जाने के बाद प्राप्त 50 प्रविष्टियों पर विचार करने के लिए एक उच्च स्तरीय समिति का गठन किया गया। इस समिति ने गहन विचार विनियय के बाद संस्कृत-पयोधि से नवरत्नों को सम्मान हेतु चुना, जिनके नामों की घोषणा अकादमी के अध्यक्ष एवं मुख्यमंत्री माननीय नारायणदत्त जिवारी के अनुमोदनोपरांत की गई। ये 9 विद्वान् हैः पद्मश्री डॉ0 सत्यव्रत शास्त्री एवं प्रो0 वशिष्ठ त्रिपाठी(अत्तर्राष्ट्रीय हिमार्द्रि उत्तरांचल संस्कृत सम्मान संयुक्त रूप से) आचार्य डॉ0 रामनाथ वेदालंकार (राष्ट्रीय बदरीश उत्तरांचल संस्कृत सम्मान), प्रो. डी.डी. शर्मा एवं डॉ0 कृष्ण कुमार (राष्ट्रीय भागीरथी उत्तरांचल संस्कृत सम्मान, संयुक्त रूप से),प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री (उत्तरांचल राज्य महामना मदनमोहन मालवीय उत्तरांचल संस्कृत सम्मान), आचार्य प्रो0 मनसाराम शर्मा (उत्तरांचल राज्य कविवर गुमानी उत्तरांचल संस्कृत सम्मान), डॉ0 जयदत्त उप्रेती(उत्तरांचल राज्य बालकृष्ण भट्ट उत्तरांचल सम्मान) तथा डॉ0 मथुरादत्त पाण्डेय(उत्तरांचल राज्य सदानन्द डबराल उत्तरांचल संस्कृत सम्मान)।

26 सितम्बर सायम् 6 बजे, भारत हैवी इलेक्ट्रिकल रानीपुर का विशाल कन्वेन्शन हाल, प्रदेश के मुख्यमंत्री माननीय नारायणदत्त तिवारी के साथ भारत के राष्ट्रपति डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम का पदार्पण, नन्हें-मुन्नों बच्चों द्वारा राष्ट्रीय गान का गायन, मंच पर उपस्थित आदरणीय मुख्यमंत्री

जी, अकादमी के उपाध्यक्ष ब्रह्मचारी ब्रह्मस्वरूप, अपर मुख्य सचिव श्री एम. रामचन्द्रन आदि द्वारा महामहिम का स्वागत, दीप-प्रज्वलन तथा अकादमी के वरिष्ठ सदस्य डॉ0 महावीर अग्रवाल द्वारा राष्ट्रपति के प्रति अभिनन्दन-पत्र-वाचन एवं भेंट; मुख्यमंत्री जी द्वारा स्वागत-भाषण तथा उत्तरांचल सरकार एवं अकादमी की ओर से स्मृति- चिन्ह भेंट! इन समस्त औपचारिकताओं के बाद आखिर वे क्षण आ ही गये जब उपर्युक्त सभी वयोवृद्ध विद्वानों को एक-एक करके मंच पर आमंत्रित कर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय देते हुए राष्ट्रपति जी के संबोधन को, जिसमें उन्होंने कहा-"वेद व्यास की भूमि पर आकर संस्कृत के बारे में बातचीत करते हुए वे बहुत गौरवान्वित हो रहे हैं। संस्कृत बहुत महान् भाषा है तथा वर्तमान दौर में तो पूरे विश्व में इसके ज्ञान की मांग बढ़ गई है। आवश्यकता है कि भारत में वेदों पर गहन अनुसंधान हो ताकि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के अतीत में संजोये ज्ञान के भंडार को जोड़ा जा सके। संस्कृत अकादमी के पास करने के लिए ऐसे सारे काम हैं। ऐसी डिजिटिल लाइब्रेरी का आज बहुत जरूरत है जिसके अंतर्गत ऑडियों और वीडियों सीडी के माध्यम से ज्ञान को संचित किया जा सकें। साउण्ड सिस्टम के द्वारा वेदों में छिपे रहस्यों को सहजता के साथ जनसाधारण तक पहुँचाया जा सकता है।" उन्होंने कहा "वेदमन्त्रों में वह शक्ति है जो मस्तिष्क पर प्रभाव डालती है तथा मस्तिष्क कोशिकाओं को ऊर्जावान् बना कर मेधा को जन्म देती है। महामहिम ने कहा कि " बदले हुए जमाने में भारत के इस प्राचीन ज्ञान को उचित माध्यमों से आगे लाया जाना चाहिए। मंत्र-शक्ति के प्रयोग बहुत चमत्कारी है।, अत: यदि वैदिक चैंटिंग को प्रचलन में लाया जाये तो देश पुन: अपने गोरवशाली अतीत की ओर लौट आयेगा।"राष्ट्रपति जी ने अपने भाषण के दौरान अपने साथ लायी वेदमन्त्रों की आडियो सीडी सुनाई तथा श्लोकों व मन्त्रों की गहन व्याख्या करके जनसमुदाय को अभिभूत कर दिया।

आइये, उत्तरांचल संस्कृत अकादमी द्वारा सम्मानित उन कुलपुत्रों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की एक झलक पर दृष्टि डालें, जिनसे न केवल गुरुकुल, बरन् संपूर्ण आर्यजगत् भी अपने को गौरवान्तित अनुभव कर रहा है।

आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालंकार

स्कन्द स्वामी से आरम्भ भारतीय वेदभाष्यकारों की परम्परा में जुड़ा एक नाम है आचार्य रामनाथ वेदालंकार का, जिन्होंने 1990-91 ई0 में महर्षि दयानन्द सरस्वती की शैली, संस्कृत और आर्यभाषा में उन्हीं की विचारसरणी पर सामवेद की भाष्य करके अप्रतिम ख्याति और सम्मान प्राप्त किया। इस भाष्य की महर्षि की भाष्य-शैली से इतनी समरूपता है कि देश के प्रतिष्ठित इतिहासज्ञ एवं 'आर्यसमाज का इतिहास' के प्रधान संपादक डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार ने इस भाष्य को पढ़ कर एकाएक कहा था-"पं0 रामनाथ जी में तो ऋषि की आत्मा आ विराजी है।" इस भाष्य की उत्कृष्टता को स्वीकार कर ही आपको मार्च 2003 में भारतीय विद्याभवन बंगलौर द्वारा गुरु गंगेश्वरानन्द वेदरत्न पुरस्कार से समादृत किया गया था।

लगभग 90 वर्ष पूर्व 7 जुलाई 1914 को बरेली (उ0प्र0) के फरीदपुर नगर में स्वंतत्रतासेनानी

महाशय गोपाल राम एवं माता भगवती देवी के घर जन्मे आचार्य डॉ0 रामनाथ की प्रारंभिक शिक्षा वाराणसी में हुई, तत्पश्चात् नौ वर्ष की आयु में आपका प्रवेश गुरुकुल कांगड़ी में हुआ। आप प्रारम्भ से ही मेधावी एवं प्रतिभा सम्पन्न छात्र थे। आपने सन् 1950 ई0 में आगरा विश्वविद्यालय से संस्कृत साहित्य में प्रथम श्रेणी में तथा विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करते हुए एम.ए.की उपाधि प्राप्त की।

आपको प्रारम्भ से ही वेदों के प्रति अगाध श्रद्धा तथा वैदिक विषयों पर शोध करने में रुचि थी। अत: आपने पीएच.डी. उपाधि के लिए शोघ का विषय **वेदों की वर्णन शौलियाँ**, चुना और 1966 में अगरा विश्वविद्यालय से पीएच.डी. उपाधि प्राप्त की। डॉ. मंगलदेव शास्त्री, पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति आदि विद्वानों ने आपके शोध प्रबन्ध को आद्योपान्त देखा और इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की॥

सन् 1938 में आप गुरूकुल कांगड़ी के विद्यालय विभाग में शिक्षक नियुक्त हो गये। तदनन्तर कुछ समय वेदानुसन्धानकर्ता के रूप में कार्य किया। 1939 में आप वेद महाविद्यालय में वैदिक साहित्य के प्राध्यापक नियुक्त हुए तथा 18 वर्ष तक वेदाध्यापन कराते रहे। सन् 1958 में आप संस्कृत विभाग के अध्यक्ष तथा कुलसचिव नियुक्त हुए। 1962-63 में आपने कुल सचिव पद से त्यागपत्र दे दिया तथा पूर्ण रूपेण अध्ययन-अध्यापन में व्यस्त हो गये। अप्रैल 1974 में आप वेद एवं कला महाविद्यालय के अध्यक्ष, आचार्य एवं उपकुलपति चुने गये। यद्यपि आप प्राशासनिक दायित्वों से दूर रह कर अपना समय केवल अध्ययन-अध्यापन में लगाये रखना चाहते थे, परन्तु सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा तथा गुरुकुल की विद्यासभा एवं सीनेट के अधिकारियों एवं सदस्यों के आग्रह को दृष्टिगत उखते हुए इसे स्वीकार करना पड़ा। जुलाई 1976 तक आप इस पद पर कार्य करते रहे। इस अवधि में अपने प्राशासनिक दायित्वों को आपने इस कुशलता से निभाया कि जनसामान्य की यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो गयी कि एक अच्छा शिक्षक 'कुशल प्रशासक' नहीं हो सकता है।

आपकी विद्वत्ता, योग्यता एवं वैदिक शोध में अभिरुचि को दृष्टि में रखते हुए सन् 1976 में आपको पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ में नवस्थापित महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसंधान पीठ के प्रथम प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप में मनोनीत किया गया। आपने इसी वर्ष अगस्त मास में उक्त पद का कार्यभार संभाल लिया और अक्टूबर 1979 तक वहाँ कार्य करते रहे। इस अवधि में आपने जहाँ एक ओर महर्षि दयानन्द की वेदार्थ प्रक्रियाओं, उनके शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल सम्बन्धी विचारों आदि पर स्वयं अनुसंधान करके शोधपूर्ण कृतियाँ तैयार की, वहीं दूसरी ओर अनेक छात्रों को वैदिक बाङ्मय से संबधित विषयों पर शोध-कार्य करने का निर्देशन भी प्रदान किया।

साहित्य साधना:-

आचार्य वेदालंकार ने वैदिक वाङ्मय के गंभीर अध्ययन, विशुद्ध अनुशीलन, निष्पक्ष एवं स्वतंत्र चिन्तन के आधार पर अनेक उच्चकोटि के शोधपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया है। आपकी प्रथम कृति वैदिक वीर गर्जना' है, जिसमें वीरता की तरंगों से तरंगित करने वाले वेदमन्त्रों का अर्थ सहित

महामहिम राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम से सम्मानित होते हुए गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी स्नातक डॉ. कृष्ण कुमार अग्रवाल और साथ में खड़े हैं पीछे श्री ब्रह्मस्वरूप जी ब्रह्मचारी

उत्तरांचल संस्कृत अकादमी

राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम से सम्मानित होते हुए वेदमनीषी डॉ. रामनाथ वेदालंकार पूर्व उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय और साथ में खड़े हैं श्री ब्रह्मस्वरूप जी ब्रह्मचारी

संकलन किया गया है। इस पुस्तक की रचना एवं प्रकाशन् सन् 1946 में किया गया है। जब देश में स्वतंत्रता आन्दोलन जोरों पर था। इसके बाद सन् 1949 में आपकी दूसरी कृति "वैदिक सूक्तियाँ" प्रकाशित हुई, जिसमें अथर्ववेद से विविध विषयों पर चुनी हुई एक सहस्र सूक्तियाँ अर्थ सहित संकलित हैं।

कालांतर में आप द्वारा वेदार्थ की विविध शैलियों एवं प्रक्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के प्रयोजन से लिखी गई "वेदों की वर्णन शैलियाँ" एवं "वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएं" तथा "महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल संबंधी विचार" शीर्षक शोधपूर्ण कृतियाँ वैदिक साहित्य के अमूल्य रत्न हैं। इसी शृंखला में आपने "वैदिक शब्दार्थ विचार:" नाम से संस्कृत में एक अनुपम ग्रन्थ की रचना की है। इनमें से प्रथम कृति श्रद्धानन्द शोध प्रतिष्ठान गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित हुई थी, जिसका द्वितीय संस्करण हाल ही में श्री घूड़मल प्रह्लादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट हिन्डौन सिटी (राजस्थान) से प्रकाशित हुआ है। शेष रचनाएं महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसंधान पीठ चण्डीगढ़ के तत्त्वावधान में विश्वेरानन्द-विश्वबन्धु संस्कृत-भारती-शोध संस्थान होशियारपुर से प्रकाशित हुई है।

पंजाब विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होने के बाद भी आपका स्वाध्याय एवं लेखन का क्रम निर्बाध गति से चलता रहा-अनेक बाधाएँ भी आई, पर वे भी इसमें कोई व्यवधान न डाल सकी। परिणामत: 'वैदिक प्रार्थना पुष्पांजलि,' 'यज्ञमीमांसा', 'वेदमज्जरी', वैदिक नारी', 'वैदिक मधुवृष्टि', 'आर्ष ज्योति:', 'ऋग्वेद ज्योति:', 'उपनिषद् दीपिका', के रूप में अनेक वैदिक-साहित्य-प्रसून आपकी लेखनी से नि:सृत एवं विविध प्रतिष्ठानों से प्रकाशित हुए। आपके सभी महनीय ग्रन्थ देश-विदेश में लोकप्रिय तथा वैदिक छवि के प्रसारक हैं।

सम्मान:- 'अर्थ','यश' एवं 'सम्मान' की लालसा से नहीं, वरन् 'स्वान्त: सुखाय' तथा वेदों में निहित ज्ञान को वेद-प्रेमियों तक पहुँचाने के उद्देश्य से साहित्य सृजन में व्यस्त आचार्य वेदालंकार को अनवरत वेद-सेवा के लिए सन् 1988 में आर्यसमाज सान्ताक्रुज बम्बई द्वारा 21000 रुपये के पुरस्कार से तथा 1989 में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से विद्यामार्तण्ड की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया। आपके द्वारा संस्कृत के प्रचार-प्रसार एवं विकास कार्य हेतु की गई दीर्घकालीन विशिष्ट सेवा तथा वैदिक साहित्य के शोधपूर्ण ग्रन्थों के प्रणयन के लिए उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा 1990 में 25000 रुपये के विशिष्ट पुरस्कार से आदृत किया गया। दीर्घकालीन संस्कृत सेवा के लिए ही महामहिम राष्ट्रपति श्री के0आर0 नारायणन से विशिष्ट संस्कृत विद्वत्पुरस्कार तथा सामवेद-भाष्य के लिए भारतीय विद्याभवन बैंगलूर से एक लाख रुपये के श्री गुरू गंगेश्वरानन्द वेदरत्नपुरस्कार से सम्मानित किये गए। इसके अतिरिक्त भी आप विभिन्न समाजों एवं संस्थाओं द्वारा सम्मानित किये जाते रहे हैं। हर्ष है कि ऐसी उद्भट प्रतिभा के धनी आचार्यवर को उत्तरांचल संस्कृत अकादमी द्वारा एक लाख रुपये के उत्तरांचल राष्ट्रीय बदरीश सम्मान से अलंकृत किया है।

आपके इस सम्मान से न केवल गुरुकुल, वरन्, देश-विदेश में फैले सैंकड़ों शिष्य एवं आर्यजन भी स्वयं को सम्मानित हुआ अनुभव कर रहे हैं।

डॉ० कृष्णकुमार आयुर्वेदालंकार

सन् 1945 में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से आयुर्वेदालंकार उपाधि प्राप्त कर चिकित्सा-क्षेत्र में तथा तत्पश्चात् संस्कृत में साहित्याचार्य, एम.ए.,पीएच. डी.एवं डी.लिट् उपाधियाँ प्राप्त करने के साथ ही संस्कृत सेवा के लिए सर्वतोभावेन समर्पित डॉ0 कृष्णकुमार का जन्म 10 फरवरी 1925 को मुरादाबाद में श्री भूषणशरण एवं माता श्रीमती रामप्रिया के घर हुआ था। आपकी प्रारंभिक शिक्षा मुरादाबाद में हुई थी और फिर गुरुकुल में प्रविष्ट हो कर चौदह वर्ष तक अध्ययन करके आपने आयुर्वेदालंकार उपाधि प्राप्त की। इस बीच आपका रुझान देववाणी संस्कृत की ओर होता गया और संस्कृत-शिक्षण के लिए अपेक्षित योग्यताएं अर्जित कर सन् 1962 में आर्य सनातन धर्म कालेज मुजफ्फरनगर में प्रवक्ता पद पर नियुक्त हो गये, जहाँ 1964 तक कार्यरत रहे। आपने 'अम्बिकादत्त व्यास एक अध्ययन' विषय पर पीएच.डी. उपाधि प्राप्त की। 1964 ई0 में आपका चयन राजकीय महाविद्यझलयों के लिए हो गया तथा विभिन्न राजकीय महाविद्यालयों में संस्कृत प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष पद को अलंकृत करते हुए श्रीनगर स्थित गढ़वाल विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष पद को अंगीकार किया। इसप्रकार 31 वर्ष तक अध्यापन एवं अनुसंधान कार्य करने के पश्चात् 1985 में आप सेवानिवृत्त हुए।

डॉ. कृष्णकुमार ने पचास से अधिक शोध-छात्रों का पथप्रदर्शन किया। आपने स्वयं भी विश्व विद्यालय अनुदान आयोग तथा अन्य संस्थानों के सहयोग से अनेक अनुसंधान-कार्य संपादित किये, जिनमें प्रमुख हैं: केदारखण्ड पुराण का संपादन, अनुवाद एवं विवेचनात्मक अध्ययन; संस्कृत रूपकों में जन्तुओं एवं वनस्पतियों की स्थिति, प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास गढ़वाल जनपद के प्राचीन अभिलेख, प्राचीन भारत की राजनीतिक एवं प्राशासनिक संस्थाएं, प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति। आपने 50 से अधिक ग्रन्थों की रचना की है जो मुख्य रूप से प्राचीन भारतीय संस्कृति और इतिहास, अलंकारशास्त्र, वैदिक साहित्य चिकित्साविज्ञान, समालोचनात्मक साहित्य आदि से संबंधित हैं। आपने मौलिक उपन्यास एवं काव्यग्रन्थ भी लिखें है। तथा विभिन्न कवियों की काव्य कृतियों की व्याख्याएं भी की हैं। आपके अनेक निबन्ध व शोध लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित या आकाशवाणी से प्रसारित हुए हैं। आपकी लेखन-प्रतिभा के कारण गुरुकल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने आपको विद्यामार्तण्ड की मानद उपाधि से समादृत किया था।

आज भी आप सरस्वती-साधना में तत्पर हैं।

आचार्य वेद प्रकाश शास्त्री

महामना मदनमोहन मालवीय उत्तरांचल राज्य संस्कृत पुरस्कार से अलंकृत आचार्य वेदप्रकाश शास्त्री का जन्म 6 जून 1945 को मुरादाबाद जनपद में श्री फूलचन्द एवं श्रीमती कलावती के यहां हुआ था। आपने गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में प्रारम्भिक संस्कृत-शिक्षा प्राप्त कर होशियारपुर

राञ्चल·संस्कृत अकाद

राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम से सम्मानित होते गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के उपकुलपति एवं आचार्य प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री और साथ में खड़े हैं उत्तरांचल संस्कृत अकादमी के उपाध्यक्ष श्री ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मचारी

स्थिर वैदिक शोध-संस्थान से प्रथम श्रेणी में साहित्याचार्य की उपाधि प्राप्त की और उसके बाद गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से संस्कृत साहित्य में एम.ए.की उपाधि ग्रहण की।

आचार्य वेदप्रकाश विगत 36 वर्षों से गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग में प्रवक्ता, प्राध्यापक आदि पदों को समलंकृत करते हुए वर्तमान में विश्वविद्यालय के आचार्य एवं उपकुलपति (प्रो-वाइसचांसलर) पद पर कार्य कर रहे हैं। आपके निर्देशन में लगभग 30 छात्रों ने अनुसंधान-कार्य करके पीएच.डी. उपाधि प्राप्त की है और अनेक छात्र अब भी शोध कार्य कर रहे हैं। आप उत्कृष्ट वक्ता एवं लेखक हैं। पत्र-पत्रिकाओं में आपके विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित होते रहते हैं। आप देश के अनेक विश्वविद्यालयों की शोध-समितियों एवं चयन-समितियों में आमन्त्रित किये जाते हैं।

सारस्वत कर्म साधना में रत प्रो0 शास्त्री को अनेक संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत एवं सम्मानित किया जा चुका है।

आपकी संस्कृत भाषामें व्याख्यान की शैली अद्भुत है श्रोता मन्त्रमुग्ध होकर श्रवण करते हैं।

डॉ० जयदेव वेदालंकार

भारतीय विद्याभवन बंगलौर द्वारा गुरु गंगेश्वरानिन्द राष्ट्रीय वेदरत्न पुरस्कार से सम्मानित ख्यातिप्राप्त दार्शनिक विद्वान् डॉ. जयदेव वेदालंकार का जन्म 5 दिसम्बर 1941 को झड़ौदा कलाँ (नई दिल्ली) में श्री जुगलसिंह जी के यहाँ हुआ था। पंजाब शिवविद्यालय चंडीगढ़ से 1958 में हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद आप उच्च शिक्षा के लिए उपदेशक विद्यालय वैदिक साधना आश्रम यमुनानगर गये, जहाँ से आपने योग शिक्षा एवं सिद्धान्त भूषण की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् 1966 में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से वेदालंकार तथा 1968 में दर्शनशास्त्र में एम. ए. किया। आपने 1978 में मेरठ विश्वविद्यालय से पीएच.डी. और 1985 में रांची विश्वविद्यालय से डी.लिट् की उपाधियाँ प्राप्त की।

1968 में आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में प्रवक्ता नियुक्त हुए और दिसम्बर 2003 तक इसी विश्वविद्यालय में रीडर, प्राध्यापक, वित्ताधिकारी कुलसचिव एवं अधिष्ठाता प्राच्य विद्या संकाय आदि पदो पर कार्य करते रहे।

डॉ0 वेदालंकार ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया हैं, जिनमें से अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित हैं तथा शोधार्थियों द्वारा संदर्भ-ग्रन्थ के रूप में उनका उपयोग किया जाता हैं। आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं, महर्षि दयानन्द की विश्वदर्शन को देन, उपनिषदों का तत्त्व ज्ञान, भारतीय दर्शन की समस्याएं, वैदिक दर्शन, भारतीय दर्शन में प्रमाण, वैदिक दर्शन का इतिहास, भारतीय दर्शन-तत्त्व एवं ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रत्य, वैदिक ओरिजिन ऑफ स्वामी दयानन्द फिलोसॉफी, वैदिक साहित्य में गोहत्या या गौ रक्षा, महर्षि दयानन्द की साधना और सिद्वान्त, मानवीय मूल्य और समाज में अंतः सम्बन्ध, विश्व की प्रमुख ज्वलन्त समस्याओं का दर्शनिक निदान, गुरुकुल

कांगड़ी विश्वविद्यालय का सौ वर्ष का इतिहास।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आपके अनेक शोध-लेख विभिन्न संस्थानों की शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

आप अपनी विद्वत्ता के कारण अनेक विश्वविद्यालयों की शोध-समितियों, चयन-समितियों के सदस्य नामित किये जाते हैं। समय-समय पर आप संगोष्ठियों, कार्यशालाओं आदि में भी सहभागिता के लिए आमन्त्रित किये जाते हैं तथा आपके द्वारा व्यक्त विचारों को पूरा सम्मान दिया जाता है।

डॉ. वेदालंकार को उनकी विशिष्ट साहित्य-सेवा के लिए देश के अनेक संस्थानों द्वारा समादृत भी किया गया है। यथा-अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की ओर से स्वामी प्रणवानन्द राष्ट्रीय पुरस्कार (1987), श्री मेघ जी भाई आर्य साहित्य पुरस्कार बम्बई (1998), उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी लखनऊ का विशेष पुरस्कार (1999), स्वामी गंगेश्वरानन्द वेद प्रतिष्ठान नासिक का वेद वेदांग पुरस्कार (2000), अखिल भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् नई दिल्ली का भारतीय दर्शन तत्त्व एवं ज्ञान मीमांसा के मौलिक सम्प्रत्यय' पर राष्ट्रीय वरिष्ठ पुरस्कार (2004)।

वर्ष 2003 का गुरु गंगेश्वरानन्द वेदरत्न पुरस्कार आपको 23 सितम्बर 2004 को भारतीय विद्याभवन बम्बई के सभागार में आयोजित एक भव्य समारोह में प्रतिष्ठित संत भी मोरारी बापू के करकमलों द्वारा प्रदान किया गया।

अन्त में, गुरुकुल और 'गुरुकुल पत्रिका' परिवार अपने इन यशस्वी, प्रतिष्ठित स्नातकों का हृदय से अभिनन्दन करते हुए परमपिता परमेश्वर से इनके कर्मशील जीवन एवं चिरायुष्य की कामना करता है।

डॉ0 महावीर अग्रवाल

विद्या भवन
Vidya Bhavan
वेदरत्न पुरस्कार-2003
-2003
09.200

भारतीय विद्या भवन, मुम्बई की ओर से डॉ० जयदेव वेदालंकार को वेदरत्न पुरस्कार से सम्मानित करते हुए राष्ट्रसन्त पूज्य मोरारी बापू

102
102
मेरा भारत महान
INDIA
PAKISTAN
NGERS

उत्तर भारतीय कुलपति सम्मेलन गुरुनानक देव विश्वविद्यालय अमृतसर (अक्टूबर, २००४) के अवसर पर बाघा बॉर्डर (पाकिस्तान) पर बांये से श्री दयानन्द डोगाआनेकर सेक्रेटरी जनरल ए.आईयू., प्रो० स्वतंत्र कुमार कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, डॉ. एस.पी. सिंह कुलपति गु०ना० देव विश्वविद्यालय, प्रो० के.मोहन अध्यक्ष ए.आईयू. एवं अन्य

५ सितम्बर
शिक्षक दिवस पर विशेष............

डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का जन्म 5 सितम्बर 1888 ई0 को मद्रास के तिरूतणी गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपके पिता श्री वीरस्वामी उय्या पुरोहिताई करते थे। आगे चलकर राधाकृष्णन् महान् शिक्षा-शास्त्री और दार्शनिक बने। उन्होंने इंग्लैण्ड जाकर शिक्षा नहीं पाई अपितु वे भारतीय विश्वविद्यालय के लिए ही गर्व की वस्तु है। वे पश्चिमी जगत् की चकाचौंध से आक्रान्त नहीं हुए। 20 वर्ष की आयु में मद्रास प्रेसीडेंसी कालेज में वे दर्शन (फिलॉसफी) तर्कशास्त्र के सहायक उपाध्याय या असिस्टेंड प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1908 में उपाध्याय हुए। शिक्षक के रूप में युवा राधाकृष्णन् की ख्याति शीघ्र ही कालिज की दीवारों को पार कर फैल गयी। स्वाधीनता संग्राम को भी उन्होंने अपने भाषणों व लेखों से बल दिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्यात् 1952 में वे निर्विरोध भारत के उपराष्ट्रपति चुने गए। इस पद का गौरव आपने 12 मई 1962 तक बढ़ाया।12 मई 1962 ई0 को 31 तोपों की सलामी के बीच विश्व प्रसिद्ध दार्शनिक राजनीतिज्ञ डा0 राधाकृष्णन् ने दुनिया के सबसे बड़े लोकतन्त्री गणराज्य भारत के राष्ट्रपति पद की शपथ ली। वे भारत के 2 य राष्ट्रपति बने।

डॉ0 राधाकृष्णन् को गुरुकुल कांगड़ी की शिक्षा-पद्धति से बहुत स्नेह था। वे गुरुकुल में दो बार आए। यहाँ हम उनके 28 चैत्र 2011 के गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के दीक्षान्त पर दिए भाषण के कुछ अंश उद्‌घृत कर गौरव अनुभव कर रहे हैं- (सम्पादक)

श्रीयुत कुलपति जी तथा मित्रो!

सब से प्रथम मैं गुरुकुल की ओर से दिए गए स्नेह और सौहार्दपूर्ण अभिनन्दन-पत्र के लिए आप का कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद करता हूँ।

तत्वज्ञानी लोग लौकिक कार्यें में भी अपना योग प्रदान करें- यह परम्परा हमारे देश के लिए नवीन नहीं है। इतिहास के अरुणोदय से ही हमारे देश में यह व्यवहार चला आया है। विदेह जनक और श्री कृष्णचन्द्र की जीवनचर्या इस परम्परा के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

यहाँ आकर मैं बड़ा आनन्द अनुभव कर रहा हूँ। इस गुरुकुल की यह मेरी दूसरी यात्रा है। स्वाधीनता प्राप्त होने से पूर्व मैं सन् 1942 में यहाँ पर आ चुका हूँ।

जिन दिनों गुरुकुल की स्थापना हुई थी, उस समय देश में चहुँओर अन्धकार छाया हुआ था। यह गुरुकुल देश के उन गिने चुने शिक्षा प्रतिष्ठानों में से एक था, जिन्होंने शिक्षण-संस्कृति की यज्ञाग्नि को प्रबुद्ध और सतेज रखा था। आज यह ज्योति और अधिक दीप्तिमान् है। हम यह तो नहीं कह सकते कि इस ज्योति ने इस देश के समस्त क्षेत्रों से अन्धकार को दूर भगा दिया है, परन्तु इतना अवश्य हुआ है कि हम जन-समाज के मनों और हृदयों को आलोकित करने का यह शुभ कार्य अपने हाथ में लेने में समर्थ हुए हैं। शिक्षातत्व के वे अनेक सिद्धान्त जो आज अनेक शिक्षणालयों द्वारा स्वीकार किए जा रहे हैं, सब से पहले इस गुरुकुल द्वारा प्रवर्तित किए गए थे।

आपने इसे एक आधुनिक विश्वविद्यालय बनाया है। आपने छात्रों के संख्यातिरेक को नापसन्द किया है। आप इस देश की पुरातन संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त करने में विश्वास रखते हैं। आपने

मातृ-भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया हुआ है। इन समस्त सिद्धान्तों को आज के शिक्षातत्वज्ञ स्वीकार करना चाहते हैं।

यहूदी धर्मग्रन्थों में एक प्रसिद्ध वचन है--'जेरूसेलम का विनाश हो गया, क्योंकि वहाँ पर शिक्षकों का सम्मान नहीं होता था।' यह कोई नवीन बात नहीं है। प्राचीन समय से हम इस सचाई को बराबर सुनते आ रहे हैं। जब शिक्षकों का सम्मान नहीं होता और गुरुजनों की शिक्षाएँ श्रद्धा-पूर्वक नहीं सुनी जाती, तो समझ लेना चाहिए कि देश का पतन समीप है। यदि गुरुजन अपना सम्मान चाहें तो उन्हें शिष्यों के निकट सम्पर्क में आना चाहिए। उन्हें छात्रों के साथ सौहार्द स्थापित करना चाहिए। गुरुशिष्य का यह सौहार्द और सान्निध्य सार्वजनिक प्रवचन करने मात्र से नहीं हो सकता। सौहार्द और सम्मान की भावना के लिए गुरुशिष्य का निकट सम्पर्क होना ही चाहिए।

यहाँ गुरुकुल में छात्रों का भीड़-भड़क्का नहीं है। यहाँ आप लोग संख्या-वृद्धि के लोभ से अभिभूत नहीं हैं। यहाँ अन्तेवासियों की संख्या मर्यादित है। मुझे ज्ञात हुआ है कि आप के यहाँ 400 अन्तेवासी हैं। आपने उनको आदर्श जीवन जीने की अनुकूलता प्रदान की है। आपके छात्रों को अपनी मातृभूमि के वातावरण को तथा उसकी संस्कृति को हृदयङ्गम करने का पूरा अवसर मिलता है।

प्रश्न उठता है--गुरु और शिष्य के बीच में कैसा सम्बन्ध होना चाहिए? इस विषय में ऊँचे मनीषी-जनों का विचार है कि शिष्य को अपना विकास स्वयं साधने दीजिये। उसे स्वयं ही अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने दीजिये। इस विषय में अन्य विचारक, व्यक्ति के मानसिक निर्माण के लिये समष्टिवादी (समग्रवादी-टोटेलिटेरियन) पद्धति को अपनाने का आग्रह रखते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार अपने हस्तकौशल से हम एक मृत्ति का पिण्ड को वांछित रूप प्रदान कर सकते हैं, उसीप्रकार व्यक्ति का निर्माण भी किया जा सकता है। परन्तु हमारे देश की परम्परा इस विषय में उन से भिन्न है। हम व्यक्ति का सम्मान करते हैं। हम व्यक्ति के गौरव को समझते हैं। श्री कृष्णचन्द्र जी गीता में अर्जुन के प्रति अच्छी से अच्छी शिक्षा देने के पश्चात् भी कहते हैं-- यथेच्छसि तथा कुरु--अपनी इच्छा के अनुकूल कार्य करो। वे अपने विचारों को अर्जुन के मन पर थोपने का प्रयत्न नहीं करते। वे कहते हैं--मुझे सत्य की जैसी प्रतीति हुई है, वैसी तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत कर दी। परन्तु मेरा काम यह नहीं कि मैं अपने दृष्टिबिन्दु को तुम पर थोप डालूँ। अपनी अन्तरात्मा की सहायता से सत्य को तुम्हें स्वयं खोज निकालना चाहिए। उस के बाद अपनी ही न्यायबुद्धि से तुमने यह निश्चय करना है कि तुम्हारे लिये ठीक मार्ग कौन सा हो सकता है? हमारे देश ने इसी परम्परा को अक्षुण्ण रखा है कि व्यक्ति का सम्मान करो। किसी भी विषय पर जो कुछ भी श्रेष्ठतम विचार किया गया है, उसे व्यक्ति के समक्ष प्रस्तुत कर दो और उस पर निर्णय करने का सम्पूर्ण अधिकार उसी को सौंप दो। अभिप्राय यह है कि व्यक्तित्व की पवित्रता और प्रतिष्ठा का आदर किया जाता रहा है। गुरु और शिष्य के व्यवहार का अनुशासन करने वाली पद्धति यही होनी चाहिए। गुरुजनों को इस प्रकार कदापि नहीं सोचना चाहिए कि इन समस्त व्यक्तियों के मनों में अपने विचार हथौड़े से कूट कर ठूँस दिए जाए।

शिष्यों के प्रति इस भावना से दृष्टिपात करना चाहिए कि ये आत्मा-रूपी कोमल कलिकाएँ कुसुमों के रूप में विकसित होने के लिये प्रयत्नशील हैं। गुरुजनों का सही मनोभाव इसी प्रकार का होना चाहिए।

रूस, इङ्गलैंड, अमेरिका, यूनान और रोम आदि विभिन्न देशों ने शिक्षा के ध्येय के विषय में विभिन्न विचार स्वीकार किए हैं। हम भारतीयों का शिक्षा के स्वरूप के विषय में एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण रहा है। भारतीय मनीषियों ने बताया है कि शिक्षा मानवात्मा की स्वाधीनता के लिये होनी चाहिए--'सा विद्या या विमुक्तये।'

शिक्षा का प्रयोजन यही होना चाहिए कि वह मनुष्य की आत्मा में इस प्रकार का सामर्थ्य उत्पन्न कर दे कि उसको नया जीवन द्वितीय जन्म द्वितीय लोक (स्वाधीनता और आध्यात्मिकता का लोक) प्राप्त हो जाय।

तद्द्वितीयं जन्म, माता सावित्री, पिता आचार्यः।..........

जब प्रश्न पूछा गया कि अमृत क्या है तो ऋषि द्वारा उत्तर दिया गया-

प्राणानां आरामः। मनसः आनन्दः। शान्ति समृद्धिः॥

अर्थात्-प्राणों (शरीर) के विश्राम, मन के आनन्द और आत्मा की शान्ति-परमशांति-में अमृत समाया हुआ है। मनुष्य तीन तत्वों से बना है- शरीर, मन और आत्मा। मानवीय प्रकृति के इन तीन तत्वों को विकसित और समृद्ध बनाने वाली शिक्षा को ही हम सर्वाङ्गीण शिक्षा कह सकते हैं।

हमें यह नहीं समझना चाहिए कि विद्या के आदान-प्रदान और दाक्षिण्य के हस्तान्तरण का नाम ही शिक्षा है। उनकी बड़ी आवश्यकता है। इस में भी कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति को इस योग्य होना चाहिए कि वह अपनी जानकारी और कार्यपटुता से अपना योगक्षेम (आजीविका) चला सके। कहा भी है--'अर्थकरी विद्या'। परन्तु यही सब कुछ नहीं। यदि आप वैज्ञानिक दृष्टि से निपुण हो जाते हैं, यदि आप अपनी आत्मा के अन्य पहलुओं को विकसित नहीं करते, और यदि आप यह नहीं मानते कि विद्या और प्रज्ञा के अतिरिक्त भी कोई उदात्त तत्व आपके जीवन में विद्यमान है तो आप अपने जीवन के स्वामी होने के स्थान पर केवल राक्षस बन जायँगे।

किसी ने ठीक ही कहा हैं--**साक्षरोविपरीतत्वे राक्षसो भवति ध्रुवम्।**

अर्थात्-यदि हम अपने जीवन के आध्यात्मिक पार्श्व की उपेक्षा करेंगे तो अवश्य ही हम राक्षस (दानव) बन जायेंगे।

अतः यदि हम वर्तमान जगत् की विपदाओं और यन्त्रणाओं से बचना चाहें तो हमें केवल विज्ञान की प्रगति आवश्यक नहीं है, अपितु साहित्य, कला, विद्या-विनोद और प्रज्ञा की प्रगति में उन्नति करनी होगी। जब तक हम मानवीय प्रकृति के इस पहलू को विकसित और समुन्नत नहीं करते, विज्ञान की ये त्रासदायक उपलब्धियाँ मानवता के लिए विनाश-कारिणी सिद्ध होगी, किसी भी प्रकार सहायक नहीं बनेंगी। यह सब कुछ उन व्यक्तियों पर निर्भर है जिन्होंने इन वैज्ञानिक आविष्कारों को अपना वशवर्ती बनाया हुआ है। हम आग से क्या करें, यह अग्नि की प्रकृति के ऊपर निर्भर नहीं है अपितु आग का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के स्वभाव पर आश्रित है। आग से आप अपनी अँगीठी गरम कर सकते हैं, अपना भोजन पका सकते हैं तथा उसे आप अपने पड़ोसी के मकान को जलाने में भी प्रयुक्त

कर सकते हैं। इसी प्रकार अणुबम्ब एक यन्त्र है। वह आजकल मनुष्य के हाथ में पकड़ा दिया गया है। क्या हम उसका उपयोग मानवता, सौन्दर्य और जीवन के प्रकर्ष के लिए कर रहे हैं या विनाश के लिए? मानव-जीवन अणुशक्ति पर आश्रित नहीं है, अपितु उन व्यक्तियों की प्रकृति पर अवलम्बित है जिन्होंने इस शक्ति का पता लगाया है। स्थान की दृष्टि से जगत् सिकुड़ता जा रहा है। ज्यों-ज्यों वह छोटा होता जाता है, त्यों-त्यों हमारे हृदय विशाल होने चाहिएँ।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्॥

धर्म वही है जो मानवता को एकत्र करता है। अधर्म मानवता को विभक्त करता है। धर्म वह है, जो समाज को धारण किए रखता है--एक सूत्र में पिरोए रखता है। अधर्म हमें विशृङ्खल (विकीर्ण) कर देता है। धर्म हमारा अवलम्बन है। अधर्म से हमारा पतन होता है। धर्म के नाम पर हमने अपने देश में इस प्रकार के अनेक आचरण स्वीकार किए हुए हैं जो वस्तुतः अधर्म हैं। सब प्रकार के जाति-पाँति के प्रभेद तथा वे समस्त आचरण जिन के द्वारा हमने अबला नारियों और निम्न श्रेणी के लोगों का दमन और शोषण किया है, हमारे विनाश का कारण सिद्ध हुए हैं।

यज्ञ के नाम पर वृक्ष-वनस्पतियों को काट कर पशुओं की हत्या कर, उन का रक्त बहा कर, यदि हम स्वर्ग जा सकते हैं तो बताइये नरक में किस मार्ग से जाएँ?

वृक्षाँश्छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिर-कर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गः नरकः केन गम्यते॥

सदा स्मरण रखिए, सच्चे धर्म के महान् समर्थक सदा सुधारक वृत्ति के लोग (प्रोटस्टेन्ट मनोभाव के व्यक्ति) ही रहे हैं। धर्म के क्षेत्र में वे महान् सुधारक निहित स्वार्थों के विरुद्ध सदा आवाज उठाते रहे हैं। महर्षि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे महाप्राण पुरुषों ने हमारे देश की प्रामाणिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व किया है। वे अन्धविश्वासों के विरुद्ध सदा जूझते रहे हैं।

हमारी यह मातृभूमि सदा से महान् रही है। आप को उपदेश करते हुए आप के आचार्य जी ने अभी बताया है कि हमारे ऋषि-मुनियों ने इस पवित्र भूमि को अपने ज्ञान के आलोक से आलोकित किया है। उन्हीं के योगदान से यह देश गौरवशाली बना है। इस देश की संस्कृति की सुदीर्घ परम्पराएँ इस कारण अक्षुण्ण नहीं रही हैं कि हम लोग अशुद्ध रूप में उन को दुहराते रहे हैं। उस का प्रधान कारण यह है कि हम परिवर्तन के लिए सदा सन्नद्ध रहे हैं।अपने आचार-व्यवहारों और क्रिया-कलापों को अपने आधारभूत विचारों के अनुसार परिवर्तित करने के लिए हम सदा तैयार रहते आए हैं। जब-जब सच्चे आदर्शों और विकृत आचारों के बीच विसंवाद (विरोध) आता था, तब-तब वे विचारक अशुद्ध आचरणों को छोड़ कर जाति को पुनः धर्म के सच्चे पथ पर प्रवर्तित करते रहे हैं।

आज मानव निर्माणमूलक कार्यों की उदात्त उपलब्धियों के लिए अभीप्सा कर रहा है। उसके लिए मेरी समझ में ध्यान (एकाग्रता) की, चित्त को केन्द्रित करने की बड़ी आवश्यकता है। इस संसार में जो मनुष्य तुच्छ विषयों के प्रति अपनी शक्तियों का अपव्यय करते रहे हैं, वे जीवन में किसी महान् सिद्धि को नहीं प्राप्त कर सके हैं।

आज इस विश्वविद्यालय से विदा होने वाले नवयुवकों का यह कर्तव्य है कि वे समस्त जीवन में स्वाध्याय और प्रवचन को अपना व्रत रखें-आप के आचार्य जी ने भी आप को यही उपदेश दिया है- स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

आजकल हमें इस प्रकार के बहुत कम छात्र दिखाई देते हैं जो किसी एक पुस्तक को पूरी तरह आद्योपान्त पढ़ते हों। अपने शिक्षकों से पूछ कर वे नोट्स लिख लेते हैं। परीक्षा के दिनों में उन को उत्तर-पत्रों पर उगल देते हैं और उसके बाद उन पाठों को वे सदा के लिए भुला देते हैं। इतिहासज्ञ गिब्बन नें कहा है-'भारत की समृद्धि मिलने पर भी मैं अध्ययन के आनन्द को नहीं छोड़ सकता।' प्रत्येक विश्वविद्यालय को चाहिए कि वह अपने तरुणों के मन में इस भावना को बद्धमूल करे।

प्रिय नवयुवको! आपने इस शिक्षा-निकेतन में भारतीय-संस्कृति की भावना को हृदयङ्गम किया है। मैं आशा करता हूँ कि आप उसके प्रभाव और तेज पर विश्वास रखेंगे। स्मरण रखिए, सत्य के साथ उस संस्कृति की एक-रूपता है। इसी के द्वारा आप जनता के हृदयों और मनों पर विजय प्राप्त कर सकेंगे। मैं आप से यह भी कह देना चाहता हूँ कि वह भारतीय-संस्कृति, जिस का सत्य से अभेद है, अपने अन्दर अद्‌भुत शक्ति रखती है।

आप को उस संस्कृति का उत्तराधिकारी बनना चाहिए। उस के लिए आप को अभिमान करना चाहिए। आप इस संस्कृति के महत्व को अपने हृदयों में स्थापित करें और उसकी वृद्धि करें।यदि आप ऐसा करेंगे तो आप केवल अपने देश की ही नहीं अपितु सारे विश्व की कुछ सेवा कर सकेंगे। मैं आशा करता हूँ कि आपने इस विद्या-मन्दिर में जो शिक्षा पाई है, वह आप की आकांक्षाओं को सफल बनाने में सहायक होगी।

(हिन्दी भाषान्तर-शंकरदेव विद्यालंकार)

महाभारते नैतिकमूल्यानि

भारतीय-लौकिक-वाङ्मये रामायणानन्तरं महाभारतस्यैव स्थानं वर्तते। महाभारतं चैतद् भारतीय-वाङ्मयस्य आकरः ग्रन्थः। महाभारते तत्कालीनानां सर्वेषां सांस्कृतिक-साहित्यिकादि विषयाणां संकलनं वर्तते। अस्मिन् ग्रन्थे एकतः सरसपद्यानां निबन्धनं विद्यते, अन्यतश्चआचारसंहितायाः विशदं वर्णनं प्राप्यते। महाभारते धर्मार्थकाममोक्षात्मकस्य चतुर्वर्गस्य प्रतिपादनं वर्तते।

महाभारते एवं श्रीमद्भगवद्गीताऽपि समन्विता वर्तते। अतः एतस्य महत्त्वं सर्वातिशायि। श्रीमद्भगवद्गीतेयं कोटिशो हिन्दूजनानां न केवलम् आचारसंहिता वर्तते, अपितु वेदसदृशोऽयं धर्मग्रन्थोऽपि वर्तते। महाभारते विभिन्न-संस्कृतीनां समिश्रणं प्राप्यतें, एतस्मिन् राष्ट्रीयभावनायाः उदयः, आसुरीप्रवृत्तीनां दमनप्रयासः, भौगोलिक-अनेकतायाम् एकता, जीवन-दर्शनस्य व्यावहारिक-दृष्ट्यावर्णनं, स्वाधिकारप्राप्त्यै जागरूकता, नारीषु अबलात्व-परित्यागस्य प्रवृत्तिः। राजनीति-कूटनीति-छद्मनीति-दण्डनीत्यादीनाम् अनीत्याश्च व्यावहारिकं प्रदर्शनं, राजधर्मस्य सर्वांगीणं विवेचनं, नीतिशास्त्रस्य समाकलनं, चतुर्वर्गस्य च सर्वासां समस्यानां समाधानम् इह प्राप्यते।

महाभारते एकतः राजधर्मस्य उपदेशः, अपरतश्च मोक्ष-धर्मस्य। क्वचित् अशान्तेः अन्यतश्च शान्तेः चर्चा, एकतःकर्ममार्गस्य वर्णनम् अपरतश्च ज्ञानमार्गस्य। महाभारते रोचकतावर्धनाय एकतः भीष्मपितामह-सदृशानां नैष्ठिक-ब्रह्मचारिणां वर्णनम् अपरतश्च **शिखण्डि-सदृशानां क्लीबानां वर्णनं वर्तते।**[१] यदि अभिमन्यु-सदृशाः कर्मशूराः सन्ति, तर्हि अपरतः अश्चत्थामा सदृशाः वाक्शूराः अपि वर्तन्ते। यदि एकतः श्रीकृष्णसदृशाः योगिराजाः नीतिशास्त्र-निपुणाःसन्ति, तर्हिअपरतः दुःशासनसदृशाः दुश्चरित्राः नीति-विध्वंसकाश्चापि सन्ति। यदि एकतः विदुरसदृशाः ज्ञानिनः पवित्रात्मानः सन्ति, तर्हि अपरतः शकुनिसदृशाः छद्मजीविनः चापि सन्ति। एवं महाभारते विरोधि-तत्वानां समन्वयः दृश्यते। एवम् अस्मिन् महाकाव्ये विविधरूपतायाम् एकरूपता, अनेकतायाम् एकता, वि शृंखलतायां समन्वयः, व्यवहारेऽपि आदर्श-स्थापना अशान्तौ च शान्तेः सन्देशः, श्रेयोमार्गस्य प्रेयोमार्गस्य च उभयोः समाहारः दृश्यते।

महाभारते नैतिकमूल्यानां वर्णनं विशेषतः श्रीकृष्णेन, भीष्मपितामहेन विदुरेण च विधीयते। नैतिक-मूल्य-दृष्ट्या महामहाभारतस्य सर्वातिशायित्वं वर्तते। आचारः परमो धर्मः इति अधिकृत्य आचारपालनं प्रथमों धर्मः इति विवेचयता महर्षिणा व्यासेन उच्यते--

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥ महा0 उद्योग0 36.30

लोके कथं व्यवहरेत् इति विषये व्यासेन उच्यते यद् यथायोग्यं मानवेन वर्तितव्यम्। अतएव महाभारते उच्यते--

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिन् तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥
महा0 उद्योग0 3.77

शत्रुषु कथं व्यवहर्तव्यम् इति विवेचयता व्यासेन उच्यते यत् शत्रोः कदापि उपेक्षा न कर्तव्या। यतोहि शत्रुः सदैव दुःखकरो भवति। उक्तं च-

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा।
अल्पोऽपि दहत्यग्नि-र्विषमल्पं हिनस्ति च ॥ महा0 शान्ति0 57.17

लोकव्यवहारार्थं धनस्य परमावश्यकता। निर्धनता सदा दुःखकरी। धनस्य उपयोगितां विवेचयता व्यासेन उच्यते यत्-

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम्।
जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः॥ महा0 उद्योग0 7१.३१
धनात् कुलं प्रभवति धनाद् धर्मः प्रवर्धते।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम॥ महा0 शान्ति0 8.22

महाभारते नैतिक-मूल्य-दृष्ट्या प्रतिपाद्यते यद् यथा राजा तथा प्रजा। यदि राजा धर्मम् आचरति तर्हि जनाः अपि भ्रष्टाचारे न मज्जन्ति। यदि राजा अधिकारिणश्च अधर्मे प्रवर्तन्ते तदा प्रजाऽपि धर्मभ्रष्टा भवति। उच्यते च शान्तिपर्वणि--

राज्ञा हि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते।
यद् यदाचरते राजा तत् प्रजानां स्म रोचते ॥ महा0 शान्ति0 75.4

राज्ञः प्रजायाश्च सम्बन्धं वर्णयता व्यासेन उच्यते यत् राजा प्रजाश्च अन्योन्यसम्बद्धाः सन्ति। उच्यते च ---

राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम्।
राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति ॥
महा0 शान्ति0 67.51

सत्यस्य महत्त्वं वर्णयता महात्मना व्यासेन उच्यते यत् सत्यं स्वर्गस्य सोपानं वर्तते। यथा समुद्रोतरणाय नौका इव।

एकमेवाद्वितीयं तद् यद् राजन् नावबुध्यसे।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव॥ महा0 उद्योग0 33.47

महाभारते नैतिकमूल्यदृष्ट्या साधु उच्यते यत् एकः स्वादु वस्तु स्वयं न भक्षयेत्, अपितु स्वादिष्टं वस्तु विभज्यैव भक्षयेत्।

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान् न चिन्तयेत्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात्॥ महा0उद्योग0 33.46

क्षमागुणस्य महत्त्वं वर्णयता व्यासेन उच्यते यत् क्षमा लोकस्य वशीकरणशक्तिः। क्षमया सर्वं साध्यते।

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते।
शान्तिखड्ग करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः॥
महा0 उद्योग0 33.50

क्षमायाः विद्यायाः अहिंसायाश्च महत्त्वं वर्णयता व्यासेन उच्यते यत् क्षमा परमः धर्मः, विद्या सर्वार्थ-साधिका, अहिंसा च सदा सुखदा। उक्तं च-

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा॥ महा0 उद्योग0 33.52

महाभारते नैतिकमूल्यदृष्ट्या बहुशोभनम् उच्यते यत् अदाता धनवान्, अतपस्वी च दरिद्रः न

लोके जीवितुम् अर्हति। उक्तं च-

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्।। महा0 उद्योग0 33.60

महाभारते कामः क्रोधः तथा लोभत्रयं एतत् नरकस्य द्वारं पुरुषस्य च नाशकं वर्ण्यते। उक्तं च-

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्।।

महा0 उद्योग0 33.66

महाभारते वर्ण्यते यत् शरणागतं कदाचिदपि न त्यजेत्।। उक्तं च-

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्।
त्रीनेतान् शरणं प्राप्तान् विषमेंऽपि न संत्यजेत्।। महा0 उद्योग0 33/68

महाभारते वर्ण्यते यत् एते षड्गुणाः कदापि न परित्याज्याः-सत्यं, दानम्, अनालस्यम्, परदोषस्य अदर्शनं, क्षमा, धैर्यं च। उक्तं च---

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याःकदाचन।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः।। महा0 उद्योग0 33.89

व्यासेन उच्यते यत् स्वकल्याणम् इच्छता मनुष्येण एते षड् दोषाः सदा त्याज्याः-निद्रा, तन्द्रा, भयं, क्रोधः, आलस्यं, दीर्घसूत्रता च। उक्तं च---

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता।। महा0 उघोग0 33.78

महाभारते उच्यते यत् अस्मिन् संसारे षड् सुखकराः गुणाः सन्ति। ते सन्ति सदा अर्थस्य प्राप्तिः, नीरोगता, सुखदा भार्या, प्रियवादिनी च भार्या, आज्ञाकारी पुत्रः अर्थकरी विद्या च। उक्तं च--

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्।। महा0 उद्योग0 33.82

महाभारते महत्त्वपूर्णं वर्णनं प्राप्यते यत् एते अष्टगुणाः पुरुषस्य ख्यातिं वर्धयन्ति-बुद्धिः, कुलीनता, इन्द्रिय-निग्रहः, विद्वता, पराक्रमः, मितभाषिता, यथाशक्ति दानं, कृतज्ञता च। उक्तं च-

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।
पराक्रमश्चावहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च।। महा0 उद्योग0 33.99

महाभारते वर्ण्यते यत् एतादृशाः षट्प्रकारकाः जनाः सदैव दुःखिताः भवन्ति। ते सन्ति- यः नित्यम् ईर्ष्यां करोति, यः सदा घृणां करोति, यः सदा असन्तुष्टः, यः सदा शंकाकुलः, यः च सदा पराश्रयः वर्तते। उक्तं च--

ईर्ष्यी घृणी त्वसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।

परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः॥ महा0 उद्योग0 33.90

महाभारते उच्यते यत् यत्र एते गुणाः सन्ति तत्र कदापि अनर्थाः आपदाश्च न भवन्ति- यः आश्रितान् विभज्य भोजनं भक्षयति, यः अल्पं स्वपिति, अत्यधिकं च श्रमं करोति, यः अमित्राणां अपि विपत्तौ सहायतां करोति। उक्तं च--

मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सन्
तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः॥ महा0 उद्योग0 33.118

महाभारते उच्यते यत् एतैः गुणैर्युक्ताः जनाः सदा सुखं ख्यातिं च प्राप्नुवन्ति। ते गुणाः सन्ति-सर्वजनानां हित-सम्पादनं, सत्यसंभाषणं, स्वभावे मधुरता, परेषां समादरः, विचार-शुद्धिश्च। उक्तं च--

यःसर्वभूतप्रशमे निविष्टः
सत्यो मृदुर्मानकृत् शुद्धभावः।
अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये
महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः। महा0 उद्योग0 33.120

एवं कथयितुं शक्यते यद् महाभारतं नैतिकमूल्यानां वर्णने आकर-ग्रन्थ रूपेण वर्तते।

डा० भारतेन्दु द्विवेदी
प्रवक्ता संस्कृत
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर उ०प्र०

ऋग्वेद में ऋत की अवधारणा

प्रारम्भ में वैदिक आर्यों की प्रतिबद्धता अनेक देवों के प्रति थी। वे प्रकृति के नाना रूपों में विभिन्न देवों का प्रतिबिम्ब देखते थे। कालान्तर में बौद्धिक विकास के साथ धीरे-धीरे परमजिज्ञासु आर्योंका चिन्तन एक परमसत्ता तक पहुँचा। समालोचकों ने आर्यों की बौद्धिक यात्रा' बहुदेववाद से एक देववाद तक' को चिन्तन की परिपक्वता का द्योतक माना है। बेदों में उस परमसत्ता 'देवाधिदेव' को अनेक स्थलों पर सांकेतिक रूप से वर्णित किया गया है। आर्यों का यही विकसित चिन्तन उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य एवं अद्वैत वेदान्त का मुख्य उपजीव्य है। ऋग्वेद में ऋत-सम्बन्धी विचार को इसी प्रकार के विषयों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

आर्ष द्रष्टा ऋषियों की मान्यता थी कि स्वयमेव जीवन प्रदान करती वायु नहीं बहती है और न धरती को आर्द्र करती हुई नदियाँ प्रवाहित होती हैं। सूर्य-चन्द्र, दिन-रात आदि जो अपना कार्य नियत समय में एक निर्धारित व्यवस्था के अन्तर्गत सतत करते आ रहे हैं, उसके मूल में एक अदृश्य शक्ति है, जो उन्हें ऐसा करने के लिए प्रेरित करती है। वह एक नैतिक एवं सार्वभौम व्यवस्था है, एक नियम है, जो सृष्टि के सभी पदार्थों में व्याप्त है। अणु से अणुतर पदार्थ भी उसकी व्यवस्था से परे नहीं हैं। उसी तत्व के कारण विषमता के स्थान पर क्षमता, अशान्ति के स्थान पर शान्ति का साम्राज्य विद्यमान है। उसी तत्त्व के द्वारा विश्व का नियमन होता है, वही विश्व कीश्रृंखला एवं धर्म का मूल तथा अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहने वाला तत्त्व है। वैदिक ऋचाओं में वह तत्त्व ऋत के नाम से अभिहित है। ऋत अखिल ब्रह्माण्ड में उत्पन्न होने वाला सर्वप्रथम तत्त्व है, उसके अनन्तर ही दिन-रात्रि एवं जल से परिपूर्ण समुद्र की उत्पत्ति हुई है। एक ऋग्वैदिक मन्त्र में कहा गया है-

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ (ऋ0 10/190/1)

वैदिक ऋचाओं में ऋत के आकार की अपेक्षा उसके सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणों को विशेष रूप से प्रकाशित किया गया है।

सामान्य रूप से ऋत को सत्य का पर्याय माना जाता है। अमरकोश (1/6/21) में कहा गया है-'सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्'। कठिन वैदिक शब्दों के व्याख्यान ग्रन्थ निरुक्त (4/1/45) में ऋत का निर्वचन करते हुए लिखा गया है कि ऋत, सत्य अथवा यज्ञ है-'ऋतं सत्यं वा यज्ञं वा'। आचार्य सायण ने भी एक ऋग्वैदिक मन्त्र (4/23/8) के भाष्य में ऋत शब्द का यही अर्थ किया है-

-'ऋतशब्दे नेन्द्रोवादित्योवासत्यं वा यज्ञो वोच्यते' अर्थात् ऋत शब्द इन्द्र, आदित्य एवं सत्य अथवा यज्ञ का बोधक है। यहाँ मुख्यतः इन्द्र का सम्बन्ध सत्य से तथा आदित्य का यज्ञ से है। आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्र जीवात्मा, प्राण और मन का प्रतीक माना जाता है, जो स्थूल शरीरान्तर्गत एकमात्र सत्य है। आदित्य यज्ञ अर्थात् सत्कर्म का प्रतीक है। सूर्य की उदयावस्था ही मनुष्य को यज्ञादि सत्कर्मों में प्रवृत्त करती है। निरुक्त (12/2) में यास्क ने सूर्य शब्द का निर्वचन-'सुवतेर्वा' किया है, जिसका अर्थ है-जो सम्पूर्ण विश्व को अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त करता है, वह सूर्य है। भगवद्गीता में सूर्य को कर्मवाद का महान् प्रवर्तक बताया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं सर्वप्रथम सूर्य के प्रति ही कर्मयोग का उपदेश दिया था-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। गीता 4/1

निरुक्त (2/7) में एक स्थल पर ऋत को जल भी कहा गया है- 'ऋतमित्युदकनाम' क्योंकि ऋत (सत्य) की भाँति ही जल भी 'प्रत्यृतम् भवति' सर्वत्र व्याप्त है। वृहद्देवता (2/42,43) के अनुसार ऋत ही अपनी मायावी शक्ति से गर्जन के साथ बरसने वाली आन्तरिक आर्द्रता के साथ आकाश में स्थित है। वही जल-वर्षा कराने वाला इन्द्र है, जो मन की आँखों से दृष्टिगत होता है। पौराणिक युग में तो इन्द्र जल के एकमात्र अधिष्ठातृ देव के रूप में स्तुत हुआ है। इस प्रकार देव रूप में इन्द्र सत्य के समान ही जल (ऋत) से भी सम्बन्धित है।

वैदिक मन्त्रों में जल के विशाल स्रोतों को ऋत के अधीन माना गया है। स्तोता सदैव जल की कामना से ऋत की स्तुति करते हैं, क्योंकि ऋत का सामर्थ्य उन्हें शीघ्र जल प्रदान करता है।[1] नदियाँ स्वयं ऋत की वाहिका हैं-

-'ऋतमर्पन्ति सिन्धवः'।[2] नदियों का 'ऋतावरी' (अत्यधिक जलवाली) विशेषण इसी तथ्य को प्रकाशित करता हैं। ऋत द्वारा प्रदत्त जल से ही अनेक धाराओं वाला, काम-वर्षक, जलवर्द्धक, राजा, दिव्य स्तुत्य, अमरत्व को प्रदान करने वाला सोम सम्बर्द्धित होता है-

सहस्रधारं वृषभं पयोवृधं प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं वृहत्॥ ऋ. 9/108/8

ब्राह्मणग्रन्थों में ऋत एवं जल के सन्दर्भ में पृथक् व्याख्या भी प्राप्त होती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/8/3/6) में कहा गया है कि सत्य या ऋत आपः द्वारा प्रादुर्भूत है तदनन्तर इसी सत्य (ऋत) से ब्रह्मा (प्रजापति) की उत्पत्ति हुई है। शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकधा जल को ऋत जल से ही उत्पन्न बताया गया है। इसी प्रकार अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकधा जल को ऋत का उद्गम स्थल बताया गया है।

ऋग्वैदिक मन्त्रों में वरुणदेव ऋत के महान् संरक्षक के रूप में स्तुत्य हुआ है। वैदिक ऋचाओं में वरुण का 'ऋतगोपा' विशेषण बहुशः उल्लिखित है। वरुण की प्राकृतिक पृष्ठभूमि विस्तृत सर्वांपरक आकाश है और वैदिक ऋचाओं में आकाश को उत्तर समुद्र के रूप में स्मृत किया गया है। अतः वरुण ऋत (जल) का देवता है। वरुण 'रवामृतस्य' (ऋत का स्रोत) कहा गया है[1]। वेद के समतुल्य पारसी धर्म ग्रन्थ अवेस्ता में भी अहुरमज्दा (वैदिक वरुण) को ही ऋत का उद्गम स्थल 'अशाहे खाओ' कहां गया है।[2]

तैत्तिरीय ब्राह्मण (2/8/5/6) में कहा गया है कि वरुण ही ऋत का संचालक है एवं वही ऋत के साम्राज्य को व्यवस्थित करता है-

'ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे'

ऋत की स्थापना में वरुण के अतिरिक्त अन्य देव भी सहायक बनते हैं। ऋग्वेद में देवों के लिए ऐसे विशेषणों के प्रयोग हुए हैं, जो इसी तथ्य को व्यञ्जित करते हैं, जैसे-शुभस्पतिः (अच्छे कर्मों के रक्षक) धियस्पतिः (सत्कर्मों के रक्षक) विचर्षणिः और विश्वचर्षणिः (शुभ और अशुभ कर्मों के द्रष्टा) विश्वस्थ कर्मणोधर्त्ता (सभी कर्मों के आधार) आदि। एक मन्त्र में कहा गया है कि सूर्य अपनी ओजस्वी रश्मियों के माध्यम से ऋत का सृष्टि में विस्तार करता है, परन्तु ऋत का साम्राज्य वहाँ तक फैला हुआ है, जहाँ तक सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँचती हैं-

'ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वा सूर्यस्य यत्र निमुचन्त्यश्वान्' (ऋ0 5/62)

ऋग्वेद में एक स्थल पर ऋत को सूर्य का जनक कहा गया है, जिसके कारण सूर्य निश्चित

समय एवं स्थान पर आकाश में चमकता है।[3] विस्तीर्णा एवं दूरवगाह्या सम्पूर्ण द्यावा-पृथिवी ऋत के लिए ही दुग्ध दोहन करती है-

ऋतं येमान ऋतमिद्वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते॥ (ऋ0 4/23/10)

अथर्ववेद (12/1) में कहा गया है कि ऋत ही इस विशाल धरा का धारक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि का भी सम्पादन जिस प्रकार यज्ञों द्वारा वर्णित है, ठीक उसी प्रकार ऋत के द्वारा भी सम्पन्न होता है। पितरों ने ऋत के बल पर ही सूर्य को स्वर्ग लोक में जगत् को आलोकित करने के लिए स्तम्भित किया था। सम्वत्सर के बारह मास ऋत के बारह अरों वाले चक्र माने गये हैं।

यज्ञ से ऋत का सम्बन्ध घनिष्ठ है। इस सन्दर्भ में ब्राह्मण ग्रन्थ ऋचाओं से पृथक् विषय का भी प्रतिपादन करते हैं। शतपथ ब्राह्मण (13/4/1/6) में यज्ञ को ऋत का उत्स बताया गया है-'यज्ञो वै ऋतस्य योनिः। यज्ञ में दी गयी आहुतियों को देवों तक पहुँचाने तथा देवों को आहुतियों तक आहूत करने का कार्य ऋत सम्पन्न करता है। ऋत यज्ञ की वृद्धि कराता है। तथा उसे व्याप्त करता है। यजमान द्वारा देवों के प्रति किये गए समस्त यागादि अनुष्ठान ऋत द्वारा ही विनियमित होते हैं। यहाँ यज्ञ का अर्थ कर्मकाण्डीय अनुष्ठान मात्र नहीं है, अपितु बृहद् अर्थ में समस्त सत्कर्म हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रसिद्ध उक्ति है- 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'। सत्कर्म ही सृष्टि की व्यवस्था के मूल, परस्पर सौमनस्य एवं सौहार्द के कारण हैं। ऋत शब्द का शाब्दिक अर्थ-ऋ + गतौ (सत्कर्म के प्रति गमन) भी इसी मत की पुष्टि करता है। यह वैदिक विचार ही आगे चलकर कर्मवाद के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। कर्मवाद के अनुसार कर्मों के धर्म तथा अधर्म सर्वथा सुरक्षित रहते हैं। कर्मवाद कृत- प्रणाश तथा अकृताभ्युपगम के पक्ष में नहीं है। अर्थात् किये गए कर्म का फल नष्ट नहीं होता है। बिना किये गए कर्म का फल नहीं मिलता। हमारे कर्मफल का नाश भी नहीं होता और हमारे जीवन की घटनाएँ हमारे अतीत कर्मों के अनुसार ही होती हैं। इसी विचार से प्रभावित मनुष्य सत्कर्मों में प्रवृत्त होता हैं। मानव कृत सत्कर्म ऋत की व्यवस्था के पोषक होते हैं। यदि ऋत की व्यवस्था बाधित नहीं होती है तो सृष्टि का क्रम सुचारु रूप से चलता रहता है। प्रायः समस्त भारतीय दर्शन ऋत की नैतिक व्यवस्था को स्वीकार करते है। न्याय- वैशेषिक के अनुसार यह 'अदृष्ट ' है। इसका प्रभाव परमाणु तक पर होता है। वस्तुओं का उत्पादन एवं घटनाओं का उपक्रम इसी के अनुसार है। मीमांसक इसे अपूर्व कहते हैं। मीमांसकों के अनुसार वर्तमान जीवन के कर्मों का उपभोग परवर्ती जीवन में 'अपूर्व' के द्वारा ही किया जा सकता है। जैन एवं बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शनों में भी इस प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं।

वैदिक ऋचाओं में ऋत का सत्य रूप सर्वाधिक प्रकाशित हुआ है। देवता सत्य (ऋत) स्वरूप माने गये हैं। सत्य देवताओं का गुण माना जाता है। देवों में जो प्रकाश, शक्ति, परोपकारिता, बुद्धिमत्ता, अनन्तता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अमरत्व, सर्वव्यापकता, पवित्रता, दया आदि सद्गुण हैं, वे ऋत के ही प्रभाव से हैं। परस्पर भिन्न होते हुए भी देवों के तादात्म्य के मूल में ऋत ही है। ऋग्वेद के एक पूरे सूक्त (3/55) में ही देवों की महिमा को एक माना गया है-'महद्देवानां असुरत्वमेकम्'। वैदिक भाष्यों में देवों के तीन रूपों की चर्चा मिलती है- पहला स्थूल रूप (आधिभौतिक रूप) जो नेत्र के सम्मुख दिखता है। दूसरा गूढ़रूप (आधिदैविक रूप) जो भौतिक इन्द्रियों से अग्राह्य एवं अतीत है। तीसरा आध्यात्मिक रूप जो अध्यात्म से जाना जा सकता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में सूर्य के इन्हीं

तीन रूपों को क्रमशः उत्, उत्तर एवं उत्तम नाम दिया गया है-

उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ (ऋ. 1/50/10)

अर्थात् सूर्य की उस ज्योति का नाम उत् है, जो इस भुवन के अन्धकार को दूर करती है, वह सूर्य का आधिभौतिक रूप हैं। इस ज्योति मण्डल का अभिमानी देव जो देवों के मध्य निवास करता है, वह उत्तर है। उन दोनों से बढ़कर विशिष्ट ज्योति की संज्ञा 'उत्तम' है। उत्तम रूप सूर्य का आध्यात्मिक रूप है, जो सत्य, सर्वव्यापी एवं नित्य है। ऋत का दार्शनिक पक्ष भी इसी उत्तम रूप का समर्थन करता है। इसी प्रकार ऋत ही जीवों के अन्तस् में आत्मरूप से अवस्थित है। भौतिक शरीर तो अनित्य है, शरीरान्तर्गत आत्मतत्त्व ही एकमात्र सत्य है। आत्मा की प्रेरणा से ही जीव अपने शुभाशुभ कर्मों का सम्पादन करता है। ऋत के माध्यम से ही जीव परमात्मा से सम्बद्ध रहता है। यह परमात्मा का पूर्वस्थापित सामञ्जस्य है। जीव का जितना ही ऋत का ज्ञान प्रौढ़ होता है, उतना ही विज्ञान का आविष्कार होता है। एवं उतना ही जीव अपने हितकारी कर्मों से प्रकृति की व्यवस्था को सुदृढ़ करता है। ऋत की सत्ता न केवल चेतन जीवों में अपितु जड़-वनस्पतियों में भी है। एक ऋग्वैदिक मन्त्र (3/55/5) में कहा गया है कि जीर्ण औषधियों, नव्य वनस्पतियों एवं सद्योजात पल्लवित औषधायों के अभ्यन्तर में गुणानुरूप से अग्नि या सूर्य रूप सत् विद्यमान है। इन्हीं के प्रभाव से औषधायाँ बिना किसी पुरुष के संयोग से फल-पुष्पादि को उत्पन्न करती हैं। ये अग्नि या सूर्य ऋत के रुप हैं। एक ही अग्नि के अनेक स्फुलिङ्गों की भाँति ही सभी देव उसी तत्त्व से सम्बद्ध हैं। निरुक्त (7/1) में कहा गया है-'एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति'।

ब्राह्मणग्रन्थों में ऋत एवं सत्य के भेद की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि नैतिक स्तर पर ऋत सत्य का ही रूप होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/7/7/4)में कहा गया है कि सत्य मानसिक धरातल पर ऋत है, जबकि उसका प्रत्यक्ष स्फुटित भौतिक रूप सत्य है। ऋग्वेद (4/23/8) के समान ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋत एवं सत्य को क्रमशः अग्नि एवं आदित्य भी कहा गया है। दिन में अग्नि ऋत है एवं आदित्य सत्य/रात्रि के समय इसके विपरीत अग्नि सत्य तथा आदित्य ऋत है। सत्य ठोस या परिदृश्यमान् विधि रूप होता है जबकि ऋत परोक्ष अदृश्यमान् ये दोनों अन्योन्याश्रित होते हैं। ऋत सत्य पर क्रिया के लिए निर्भर करता है। सत्य की संरक्षा ऋत के द्वारा होती है, जबकि ऋत की गतिमत्ता सत्य के बल पर निर्भर है।

इस प्रकार ऋत (सत्य, यज्ञ या जल) अनन्त परिणाम का द्योतक है जो अशेष रूप से सम्पूर्ण सृष्टि को व्याप्त करता है। जड़चेतन सभी में न्यूनाधिक रूप से ऋत ही उस सत्ता के रूप में अवस्थित है, जो स्वधर्म के लिए प्रेरित करती है। सृष्टि के सभी सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दनों के मूल में अद्वितीय ऋत उपास्थित है।

डॉ० हेरम्ब पाण्डेय
एन १/३०, ए-९ नगवा
वाराणसी-५

'कूपादन्धं वारयति' वाक्य का अर्थ-विमर्श

पाणिनि के 'वारणार्थानामीप्सितः'[1] सूत्र के अनुसार वारणार्थक धातुओं के प्रयोग-स्थलों में ईप्सित कारक ही 'अपादान' सञ्ज्ञा होती है[2] तथा उसमें पञ्चमी[3] विभक्ति का प्रयोग होता है। णिजन्त वृञ्[4] से उपस्थाप्य 'वारण' का अभिप्राय है-'प्रवृत्तिविघात'[5] अर्थात् भक्षण, संयोग आदि के जनक व्यापार के अभाव का जनक (विमुखीकरण-रूप) व्यापार[6]। तात्पर्य यह है कि 'यवेभ्यो गां वारयति' (= यवों से गाय को रोकता है अर्थात् यवों के भक्षण में रत अथवा भक्षण के लिये जाती हुई गाय को रोकता है) आदि स्थल में गौ आदि व्यापार में प्रवृत्त होने से विमुख करना ही 'वारण' कहलाता है। उक्त प्रयोग-स्थल में यदि 'यव' वारणकर्ता के ईप्सित हैं[7]। यदि 'यव' परकीय हैं तथा 'गौ' स्वकीया है तो उस स्थिति में भी 'यव' वारणकर्ता के इप्सित होते हैं, क्योंकि परकीय यवों के नाश से अधर्म हो सकता है अथवा यवों का स्वामी गौ को अपने घर ले जाकर बाँधकर रख सकता है तथा गौ के स्वामी को दण्डित कर सकता है। अतः उक्त कारणों से रक्षा के लिये इष्ट होने से 'यव' ईप्सित होते हैं[8]। इस प्रकार उक्त दोनों ही स्थितियों में वारणकर्ता को ईप्सित होने के कारण यवों की 'अपादान' सञ्ज्ञा हो जाती है।

परन्तु अपादानसञ्ज्ञाविधायक प्रकृत सूत्र में पठित 'ईप्सित' शब्द का रूढ अर्थ 'अभिप्रेत' स्वीकार करने वाला कोई पूर्वपक्षी कह सकता है कि यदि ईप्सित कारक की 'अपादान' सञ्ज्ञा स्वीकार की जाएगी तो 'कूपादन्धं वारयति' (= कुँए से अन्धे को रोकता है अर्थात् जब कोई मनुष्य किसी अन्धे पुरुष को कुँए की ओर जाने से रोकता है) स्थल में 'कूप' की 'अपादान' सञ्ज्ञा नहीं हो सकेगी, क्योंकि इस वाक्य में वारणकर्ता को 'कूप' ईप्सित नहीं होता। उसका ईप्सित तो 'अन्ध पुरुष' होता है[9], क्योंकि वह अनुकम्पावशात् उसे ही कूप में गिरने से बचाना चाहता है। उक्त स्थल में वारणकर्ता को कूप के विनाश का भय नहीं होता और न ही उसे कूप-विनाश के कारण राजा से मिलने वाले किसी दण्ड का भय होता है[10]।

उक्त आशङ्का के समाधान में महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है कि उक्त स्थल में वारणकर्ता को 'कूप' ही ईप्सित है, क्योंकि वह (वारणकर्ता) विचार करता है कि अन्धा पुरुष कूप को प्राप्त न हो अर्थात् कूप की ओर न जाए[11]। अथवा कूप की ओर जाने से रोके जाने वाले अन्धे पुरुष को अपनी 'गमन' आदि क्रिया से जन्य 'संयोग'-रूप फल से सम्बद्ध करने के लिए 'कूप' ईप्सित होता है, अतः उसकी ('कूप' की) 'अपादान' सञ्ज्ञा हो जाती है[12]। अन्धा पुरुष बिना देखते हुए जिस प्रकार अन्य स्थानों में जाना चाहता है उसी प्रकार वह कूप की ओर भी जाना चाहता है[13], अतः अन्य स्थानों के समान 'कूप' में भी उसकी ईप्सा (= क्रियाजन्य 'फल' से सम्बद्ध करने की इच्छा) होती है। अन्धे पुरुष की ईप्सा का अनुमान उसकी गमन आदि क्रिया में प्रवृत्ति से होता है[14]। कैयट-कृत 'प्रदीप' तथा नागेश-कृत 'उद्द्योत' के अवलोकन से स्पष्ट है कि भाष्यकार ने उक्त समाधान 'ईप्सित' शब्द को क्रियाशब्द मानकर प्रस्तुत किया है, 'अभिप्रेत' अर्थ में रूढ़ मानकर नहीं[15]। 'ईप्सित' शब्द सम्बन्धार्थक आप्लृ[16] से इच्छार्थक 'सन्'[17] तथा कर्मार्थक वर्तमानकालिक 'क्त'[18] प्रत्यय के योग से निष्पन्न है, अतः इसका अर्थ है-कर्ता को अपनी 'क्रिया' से उत्पन्न होने वाले 'फल' के साथ सम्बद्ध करने के लिये इष्ट। इस प्रकार अपादानसञ्ज्ञाविधायक सूत्र 'वारणार्थानामीप्सितः' में वारणार्थक धातु के वाच्यार्थ 'फल' (संयोगजनक व्यापाराभाव आदि) के आश्रय को ही 'ईप्सित' कहा गया है[19]।

नागेशभट्ट के अनुसार 'कूपादन्धं वारयति' स्थल में णिजन्त वृञ् का अर्थ है- 'संयोगजनकव्यापाराभाव-रूप फल का जनक व्यापार'। यहाँ अन्धे पुरुष में होने वाला 'संयोगजनक व्यापार' अभाव का प्रतियोगी (Counter-positive) है। अभिप्राय यह है कि वारणकर्ता द्वारा रोके जाने पर अन्धे पुरुष में कूप के साथ होने वाले 'संयोग' के जनक 'गमन' व्यापार का अभाव अर्थात् ध्वंसाभाव होता है। किसी वस्तु के नाश से उत्पन्न होने वाला अभाव 'ध्वंसाभाव' कहलाता है[20]। जिस प्रकार मुद्गर के प्रहार आदि से घट का नाश होने से घट का जो अभाव उत्पन्न होता है। उसे 'घट का ध्वंसाभाव' कहते हैं[21] उसी प्रकार उक्त प्रयोग-स्थल में अन्धे पुरुष में 'संयोगजनक व्यापार का अभाव', वारणाकर्ता की 'वारण' क्रिया से उत्पन्न होने के कारण, 'ध्वंसाभाव' होता है। उक्त प्रयोग-स्थल में वारणकर्ता के 'वारण' व्यापार से जो संयोगजनक व्यापार का अभाव-रूप फल उत्पन्न होता है उसका आश्रय 'कूप' है, अतः वारणार्थक धातु के फल-रूप अर्थ का आश्रय होने से वह (कूप) ईप्सित होता है जिसके परिणाम स्परूप उसकी प्रकृतसूत्रानुसार अपादान' सञ्ज्ञा होती है[22]। इस प्रकार 'कूपात्' पद में अपादानपञ्चमी का प्रयोग उत्पन्न हो जाता है।

प्रकृत वाक्य के अर्थ पर वैयाकरणों के अतिरिक्त नैयायिकों और मीमांसकों ने भी विचार किया है। किसी अज्ञात नव्य नैयायिक का कथन है कि 'वारयति' पद के घटक वृञ्+णिच्[23] का अर्थ 'प्रतिबन्धजनक व्यापार' (अर्थात् 'कूपे मा पत'-इस प्रकार का शब्दप्रयोग-रूप व्यापार) है। 'तिप्' प्रत्यय का अर्थ 'कृति' (= यत्न) है जो उक्त 'प्रतिबन्धजनक व्यापार' का जनक होता है। 'प्रतिबन्ध' धात्वर्थतावच्छेदक फल[24] है जिसमें 'अन्धम्' पद में प्रयुक्त द्वितीया के 'अम्' प्रत्यय का अर्थ 'वृत्तित्व' (= आधेयत्व[25]) अन्वित होता है। 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी विभक्ति के प्रत्यय (ङसि[26]>आत्[27]) का अर्थ 'पतन' है[28]। उक्त वाक्य का शाब्दबोध इस प्रकार होता है- 'अन्ध-वृत्तिकूपपतनप्रतिबन्धानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान्'[29] अर्थात् 'अन्धे पुरुष में रहने वाला(अन्धवृत्ति) जो कूपपतन-प्रतिबन्ध, उस कूपपतन-प्रतिबन्ध का जनक जो ('कूपे मा पत'-इस प्रकार का शब्द प्रयोग-रूप) व्यापार, उस व्यापार के जनक 'यत्न' का आश्रय (वारणकर्ता)'।

उक्त मत को नव्यन्याय के ही विद्वान् भवानन्द सिद्धान्तवागीश ने दोषयुक्त माना है। उनका कथन है कि (ऊँची दीवार से घिरे हुए अथवा लोहे की जाली आदि से ढके हुए। जिस कूप में किसी भी व्यक्ति का 'पतन' असम्भव अथवा प्रसिद्ध हो, उस कूप में अन्धें पुरुष का भी 'पतन' सम्भव नहीं होगा[30]। ऐसी स्थिति में 'अन्धवृत्ति कूपपतनप्रतिबन्ध' कथन निरर्थक हो जाएगा, क्योंकि उक्त प्रकार के कूप में 'पतन-क्रिया का प्रतिबन्ध' अन्धे पुरुष में नहीं रह सकता। अन्धे पुरुष में कूपपतन का प्रतिबन्ध तभी रह सकता है जबकि उसका कूप में पतन सम्भव हो। अतः प्रकृत स्थल में पञ्चमी का अर्थ जो 'पतन' स्वीकार किया गया है, उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उक्त दोष के परिहार के लिये किसी अन्य अज्ञात नव्य नैयायिक ने समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी का अर्थ'वृत्तित्व' है जो कि धात्वर्थतावच्छेदक फल 'अभाव' में अन्वित होता है। 'अन्धम्' पद में प्रयुक्त द्वितीया का अर्थ'पतन' है। इन अर्थों की दृष्टि से उक्त वाक्य का शाब्दबोध इस प्रकार होता है- 'कूपवृत्त्यन्धपतनाभावानुकूलव्यापारविषयकयत्नवान्' अर्थात् 'कूप में रहने वाला जो अन्धपतनाभाव(= अन्धे पुरुष के पतन का अभाव), उस अन्ध पतनाभाव का जनक जो व्यापार, तादृश व्यापार जिस यत्न का विषय है, उस यत्न का आश्रय (वारणकर्ता)'।

उक्त समाधान के अनुसार अन्धे पुरुष के भी 'पतन का अभाव' उस कूप में रह सकता है जिस कूप में किसी भी व्यक्ति का पतन अप्रसिद्ध हो। किन्तु भवानन्द सि0 वा0 ने इस समाधान को भी समीचीन नहीं माना है। उनका कथन है कि जिस अन्धे पुरुष का 'पतन' कभी सम्भव ही न हो उसके विषय में उक्त रीति से शाब्दबोध नहीं हो सकता[31]। अभिप्राय यह है कि जिस अन्ध पुरुष में चलने का सामर्थ्य न होने को कारण पतन क्रिया सम्भव ही न हो उसके विषय में 'कूपवृत्ति अन्धपतनाभाव' कहना निरर्थक होगा, क्योंकि उक्त स्थिति में 'कूपवृत्तित्व' तथा 'अन्धपतनाभाव' -इन अर्थों का अन्वय असम्भव है।

भवानन्द सि0 वा0 ने प्रकृत वाक्य का स्वाभिमत अर्थ प्रतिपादित करते हुए कहा है कि 'वारयति' पद में प्रयुक्त णिजन्त वृ का अर्थ 'अभावानुकूल व्यापार' तथा 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी का अर्थ 'वृत्तित्व' (= आधेयत्व) है। 'अन्धम्' पद में प्रयुक्त द्वितीया का अर्थ 'प्रतियोगिता' (अथवा 'अनुयोगिता') है जिसका अन्वय धात्वर्थतावच्छेदक फल 'अभाव' में होता है। प्रकृत स्थल में 'कूपात्' पद का प्रयोग होने से कहा जा सकता है कि अन्धे पुरुष (प्रतियोगी) का कूप में रहने वाला जो 'अभाव' है, वह (अभाव) 'पतन' सम्बन्ध से है। 'अन्धा पुरुष' पतन का प्रतियोगी तथा 'पतन' अनुयोगी है। इस प्रकार प्रकृत वाक्य का शाब्दबोध इस रूप में होता है- '*पतनसम्बन्धेन कूपवृत्त्यन्धप्रतियोगिकाभावानुकूलव्यापारविषयकयत्नवान्*' अर्थात् 'अन्धा पुरुष-रूप प्रतियोगी का 'पतन' सम्बन्ध से कूप में रहने वाला जो अभाव, तादृश अभाव का जनक 'व्यापार' है विषय जिस यत्न का, उस यत्न का आश्रय (वारणकर्ता)'[32]। पञ्चमी का अर्थ 'वृत्तित्व' मानने पर जिस कूप में किसी भी व्यक्ति का पतन अप्रसिद्ध हो उस कूप में भी 'अभाव' पतन-सम्बन्ध से रह सकता है। एतदतिरिक्त, जिस अन्धे पुरुष में चलने का सामर्थ्य न होने के कारण पतन क्रिया अप्रसिद्ध अथवा असम्भव है, उस अन्धे पुरुष में भी पतनाभाव की प्रतियोगिता रह सकती है अर्थात् तादृश अशक्त अन्धा पुरुष पतनसम्बन्धावच्छिन्न अभाव का प्रतियोगी हो सकता है।

प्रकृत वाक्य के अर्थ के विषय में 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में उद्धृत एक मत[33] यह है कि 'वारयति' पद में प्रयुक्त णिजन्त वृ का अर्थ 'पतन का प्रतिकूल व्यापार' है अर्थात् ऐसा व्यापार जिससे पतन-रूप फल उत्पन्न नहीं होता। इस अर्थ के एक अंश 'पतन' में अन्धे पुरुष का 'आधेयता' (वृत्तित्व) सम्बन्ध से तथा कूप का, पत् के सकर्मक होने के कारण, 'कर्मत्व' सम्बन्ध से अन्वय होता है, अर्थात् पतन-रूप फल अन्धे पुरुष का 'आधेय' (अर्थात् उसमें रहने वाला) होता है तथा 'कूप' उस 'पतन' के प्रति 'कर्म' कारक होता है। परिणामस्वरूप प्रकृत वाक्य का शाब्दबोध इस प्रकार होता है-'अन्धनिष्ठकूपकर्मकपतनप्रतिकूलव्यापारवान्' अर्थात् 'अन्धे पुरुष में रहने वाला तथा कूप-रूप 'कर्म' कारक वाला जो 'पतन' (फल), उस पतन को उत्पन्न न होने देने वाले व्यापार का आश्रय (वारणकर्ता)'।

उक्त मत को नव्य नैयायिक जगदीश तर्कालङ्कार ने समीचीन नहीं माना है। उनका कथन है कि यदि अन्धा पुरुष वस्तुतः कूप में नहीं गिर रहा होगा तो उस स्थिति में 'कूपादन्धं वारयति' वाक्य ही प्रयोग के अयोग्य हो जाएगा, क्योंकि उक्त स्थिति में अन्धे पुरुष में ऐसी 'पतन' क्रिया नहीं होती है जिसका कूप-रूप 'कर्म' कारक के साथ सम्बन्ध हो[34]। जगदीश तर्का0 के अनुसार प्रकृत वाक्य में णिजन्त वृञ् का अर्थ है- 'क्रियाधर्मिकनिवृत्त्यनुकूलव्यापार' अर्थात् 'किसी क्रिया से निवृत्ति का जनक व्यापार'। धातु के इस अर्थ में विद्यमान 'क्रिया' शब्द का, प्रकृत स्थल में, तात्पर्य है-

'पतन' क्रिया। अतः प्रकृत धातु का अर्थ हुआ-'पतन क्रिया से निवारण को उत्पन्न करने वाला व्यापार'। यह व्यापार वारणकर्ता द्वारा किया जाने वाला 'कूपे मा पत' वाक्य का उच्चारण ही है[35]। 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी विभक्ति से ज्ञात होता है कि धात्वर्थ के एक अंश 'निवृत्ति' के प्रति 'कूप' विशेषण(अप्रधान) है। 'अन्धम्' पद में प्रयुक्त द्वितीया विभक्ति से इस बात का बोध 'अन्धनिष्ठपतनधर्मिककूपप्रकारकनिवृत्त्यनुकूलव्यापारवान्'[36] ('अन्धे पुरुष में रहने वाला जो कूपपतन से निवारण, तादृश निवारण-रूप फल के जनक "कूपे मा पत" वाक्य का उच्चारण-रूप) व्यापार का आश्रय (वारणकर्ता)') - इस प्रकार होता है।

जगदीश तर्का0 के परवर्ती नव्य नैयायिक गदाधर भट्टाचार्य के अनुसार णिजन्त वृञ् का अर्थ 'क्रिया का प्रतिषेध' होने के कारण उक्त प्रयोग-स्थल में 'वारयति' पद से 'गमन क्रिया का प्रतिषेध' अर्थ गृहीत होता है। यहाँ 'प्रतिषेध' का अर्थ है- 'गमन क्रिया के कर्तृत्व का जो अभाव, तादृश अभाव का जनक व्यापार[37]। 'वारयति' पद के इस अर्थ में 'कर्तृत्वाभाव' (अर्थात् 'गमन' क्रिया के कर्तृत्व का अभाव) धात्वर्थतावच्छेदक फल है। इस कर्तृत्वाभाव-रूप धात्वर्थतावच्छेदक फल का आश्रय होने के कारण अन्धे पुरुष की 'कर्म' (कारक) सञ्ज्ञा होती है[38]। 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी विभक्ति से इस बात का बोध होता है कि अन्धे पुरुष की इच्छा का विषय बने हुए कूपनिष्ठ उत्तर देश संयोग-रूप फल की जनकता 'गमन' क्रिया में है। इस 'गमन' क्रिया के कर्ता अन्धे पुरुष में रहने वाली 'इच्छा' का 'कूपात् पद में प्रयुक्त पञ्चमी के अर्थ में अन्तर्भाव कर लेना चाहिये[39], क्योंकि 'कूप' (ईप्सित) की 'अपादान' सञ्ज्ञा करने वाले सूत्र 'वारणार्थानामीप्सितः' में पठित 'ईप्सितः' पद में इच्छार्थक 'सन्' (स) प्रत्यय प्रयुक्त है[40]। अतः गदाधर के मत में प्रकृत वाक्य का शाब्दबोध 'कूपनिष्ठत्वेन अन्धेच्छाविषयो य उत्तरदेशसंयोगः, तत्फलकान्धनिष्ठव्यापार-विशेषकर्तृत्वाभावानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान्'[41] ('अन्धे पुरुष की इच्छा का विषय बना हुआ जो कूपनिष्ठ उत्तरदेशसंयोग-रूप फल, तादृश फल के जनक व्यापारविशेष (गमन) के कर्तृत्व का जो अभाव, तादृश अभाव के जनक व्यापार (वारण) को उत्पन्न करने वाले 'यत्न' का आश्रय (वारण करने वाला 'चैत्र' आदि)'-इस प्रकार होता है।

नव्य मीमांसक खण्डदेव के मतानुसार 'कूपादन्धं वारयति' स्थल में 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी का अर्थ 'वृत्तित्व' (आधेय होना) है। णिजन्त वृञ् का अर्थ है- 'पतनजनक व्यापार (गमन) के अभाव का जनक व्यापार (वारण)[42]। अतः प्रकृत वाक्य का अर्थबोध इस प्रकार होता है- 'कूपवृत्ति (कूप में रहने वाला) जो अधोदेश से विशिष्ट संयोग, तादृश संयोग को उत्पन्न करने वाली जो 'पतन' क्रिया, उस पतन क्रिया का जनक जो अन्धनिष्ठ व्यापार (गमन), उस व्यापार (गमन) के अभाव का जनक जो व्यापार (वारण), उस व्यापार (वारण) को उत्पन्न करने वाला 'यत्न' वारणकर्ता ('चैत्र' आदि) में है'[43]।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि 'कूपादन्धं वारयति' वाक्य के पदगत घटकों के अर्थ विभिन्न विद्वानों के अनुसार इस प्रकार हैं:- (क) 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी का अर्थ:- 'ईप्सित'= 'अपादान' (वैयाकरण): 'पतन' (कोई अज्ञात नव्य नैयायिक): 'वृत्तित्व'='आधेयत्व' (कोई अन्य अज्ञात नव्य नैयायिक, भवानन्द सि0 वा0, जगदीश तर्का0, गदाधार भट्टाचार्य और नव्य मीमांसक खण्डदेव)। (ख) 'अन्धम्' पद में प्रयुक्त द्वितीया का अर्थ :- 'कर्म' कारक (वैयाकरण):

'वृत्तित्व' (कोई अज्ञात नव्य नैयायिक तथा खण्डदेव); 'पतन' (कोई अन्य अज्ञात नव्य नैयायिक); 'प्रतियोगिता' (भवानन्द सि0 वा0 आदि नव्य नैयायिक)। (ग) 'वारयति' पद में प्रयुक्त णिजन्त वृञ् का अर्थः- 'प्रवृत्तिविघात' अर्थात् 'संयोग' के जनक 'गमन' व्यापार के अभाव का जनक विमुखीकरण -रूप व्यापार (वैयाकरण); 'प्रतिबन्धजनक व्यापार' (कोई अज्ञात नव्य नैयायिक); 'अभावानुकूल व्यापार' (कोई अन्य अज्ञात नव्य नैयायिक तथा भवानन्द सि0वा0); 'पतनक्रियाधर्मिकनिवृत्त्यनुकूल व्यापार' (जगदीश तर्का0); 'गमन क्रिया के कर्तृत्व के अभाव का जनक व्यापार' (खण्डदेव)। यह कहा जा सकता है कि विभिन्न विद्वानों द्वारा अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार किया गया अर्थ-विवेचन ही उक्त वाक्य के पदगत घटकों के अर्थभेद का कारण है।

डॉ. अरविन्द कुमार विद्यालंकार
रीडर, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग
कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
हरियाणा-१३६१११

पादटिप्पणियाँ

1. अष्टाध्यायी (अमृतसर, 1964), 1.4.27
2. वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽर्थोऽपादानं स्यात्।
   -भट्टेजिदीक्षित, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (दिल्ली, 1986), सूत्र 590, पृ. 659
3. अपादाने पञ्चमी। -अष्टा. 2.3.28
4. वृञ् आवरणे। -सायणाचार्य, माधवीया धातुवृत्ति (रेवली, 2002), चुरादिगण, धातुसंख्या 207, पृ. 715; टि.-जिनेन्द्रबुद्धि (न्यास (काशिकावृत्ति,वाराणसी, 1965; 1.4.27), पृ. 540), हरदत्त मिश्र (पदमञ्जरी (का.वृ. 1.4.27), पृ. 541), भट्टोजिदीक्षित (शब्दकौस्तुभ (वाराणसी, 1991), 1.4.27, पृ. 119) एवं ज्ञानेन्द्र सरस्वती (तत्त्वबोधिनी (वै.सि.कौ.), पृ. 659) यहाँ चुरादिगणीय वृञ् (वृञ् आवरणे। -मा.धा.वृ., चुरादि., धा. सं. 207, पृ. 715) का प्रयोग मानते हैं। परन्तु सायण (मा.धा.वृ.,पृ. 571) के अनुसार प्रकृत स्थल में स्वादिगणीय वृञ् वरणे +णिच्) प्रयुक्त है।
5. वारणं प्रवृत्तिविघातः। -नागेश, उद्द्योत (महाभाष्य, गुरुकुल झज्जर, 1962; 1.4.27), पृ. 393.
6. भक्षणसंयोगादिजनकव्यापाराभावानुकूलो व्यापारः।
   -नागेश, लघुशब्देन्दुशेखर (बनारस, 1954), पृ. 499
7. यवानां स्वकीयतया संरक्षणीयत्वेन ईप्सितत्वादपादानत्वं न तु गोः, तस्याः परकीयत्वेनानीप्सितत्वात्, ... तथा च 'तथायुक्तं च' इति गोः कर्मत्वाद् द्वितीया।
   -वासुदेवदीक्षित, बालमनोरमा (वै.सि.कौ., सूत्र 590), पृ. 659
8. यदा तु यवाः परकीयाः, गौस्तु स्वकीया, तदा... यवानां परकीयत्वेऽपि तद्विनाशादधर्मः स्यात्। यवस्वामी गामपहृत्य बध्नीयात्। गोस्वामिनं च यवस्वामी दण्डयेत्। अतो यवानां रक्षितुमिष्टतमत्वाद्ईप्सितत्वादपादानत्वभस्त्येव। गोस्तु स्वकीयत्वेऽवेऽपि... वारयितुमिष्टतमत्वात्-कर्मत्वम्। -बा.म. (वै.सि.कौ., सूत्र 590), पृ. 659-60
9. इह 'कूपादन्धं वारयतीति कूपेऽपादानसंज्ञा न प्राप्नोति। न हि तस्य कूप ईप्सितः। कस्तर्हि? अन्धः। - म.भा. (1.4.27), पृ. 394

10. अन्धसंबन्धे कूपस्य न विनाशो नाऽपि राजभयमिति प्रश्नः।
-कैयट, प्रदीप (म.भा., 1.4.27), पृ. 394
11. तस्यापि कूप एवेप्सितः। पश्यत्ययम्- अन्धः कूपं मा प्राप' दिति। -म.भा. (1.4.27), पृ. 394
12. अथवा यथैवाऽस्यान्यत्राऽपश्यत ईप्सैवं कूपेऽपि। -तत्रैव, पृ. 394
इस पर द्र. – निवार्यमाणस्याऽन्धस्य गमनादिक्रियया कूप आप्तुमिष्टो भवतीति प्रवर्त्ततेऽपादानसंज्ञा।
-प्रदीप (म.भा., 1.4.27). पृ. 394
13. स ह्यपश्यन्नपि गन्तव्यं जिगमिषति। अन्यथा न क्वाचित्तस्य प्रवृत्तिः स्यात्।-तत्रैव, पृ.394
14. अन्धस्य च-प्रवृत्यनुमेयेप्सा। तत्रैव, पृ. 394
15. (क) 'ईप्सित' शब्दः क्रियाशब्द आश्रीयते, न तु रूढिशब्दः। -तत्रैव, पृ. 393
(ख) वारणार्थकधातुप्रतिपाद्यव्यापारजन्यफला श्रयत्वमेवाऽत्रेप्सितत्वम्। -उद्0 (म.भा., 1.4 27),
16. आप्लृ व्याप्तौ। -मा. धा. वृ., स्वादिगण, धा. सं. 15
17. धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा। -अष्टा., 3.1.7
18. मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च।-तत्रैव, 3.2.188
19. ईप्सित इति। वारणार्थधात्वर्थफलाश्रय इत्यर्थः । -ल.श. शे., पृ. 499
20. तुल. – जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम्।
– विश्वनाथन्यायपञ्चानन, सिद्धान्तमुक्तावली (वाराणसी, 1981), पृ. 12
21. ...ध्वंसः मुद्गरप्रहारादिना घटो ध्वस्तो विनष्ट इत्यादिप्रतीतिसिद्धो नाशपदध्वंसपदाभिधेयस्तथा चास्य जन्याभावत्वं लक्षणम्।
नारायण तीर्थ, न्याय चन्द्रिका कारिकावली, वाराणसी, 1981) पृ. 13
22. संयोग0- जनकव्यापाराभावानुकूलो व्यापारो धात्वर्थः।
अभावप्रतियोगिव्यापारजन्यफलाश्रयोऽत्रापादानम्। वारणार्थानामीप्सित इति सूत्रात्
वारणार्थधात्वर्थफलाश्रयत्वमत्रेप्सितत्वम्। – नागेश, वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा (द्वितीय भाग) (वाराणसी, 1989), पृ. 1295
23. हेतुमति च। – अष्टा., 3.1.26
24. किसी वाक्य में प्रयुक्त धातु के अर्थ को 'धात्वर्थ' तथा उसमें (धात्वर्थ में) रहने वाले धर्म को 'धात्वर्थता' कहते हैं। धात्वर्थता के आश्रयभूत धात्वर्थ अर्थात् 'व्यापार' से उत्पन्न होने वाले 'फल' को 'धात्वर्थतावच्छेदक फल' कहा जाता है (द्र.–न्यायकोश (पुण्यपत्तन, 1978), पृ. 85)।
25. द्र. – न्या. को., पृ. 798
26. स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसि0। -अष्टा., 4.1.2
27. टाङसिङसामिनात्स्याः। तत्रैव, 7.1.12
28. कूपादन्धं वारयतीत्यादौ पञ्चम्याः पतनं, द्वितीयाया धात्वर्थतावच्छेदकप्रतिबन्धान्वयि वृत्तित्वं, धातोः प्रतिबन्धानुकूलव्यापारः, कृतिराख्यातस्य चार्थः।
-भवानन्द सिद्धान्तवागीश, कारकचक्र (कलिकाता, 1923), पृ. 101 पर उद्धृत।
29. तत्रैव, पृ. 101
30. अयन्तु न युक्तः, यत्कूपे कस्यापि पतनमप्रसिद्धं तत्रासम्भवात्। -तत्रैव, पृ. 101

31. द्वितीयायाः पतनं, पञ्चम्या थात्वर्थतावच्छेदकान्वयिवृत्त्विं धातोश्चाभावानुकूलव्यापारोऽर्थः, तथा च कूपवृत्त्यन्धपतनाभावानुकूलव्यापारविषयकयत्नवानित्यर्थोऽपि न युक्तः, यदन्धस्य पतनमप्रसिद्धं तत्रासम्भवात्। -तत्रैव, पृ. 102

32. धातोरभावानुकूलव्यापारः, पञ्चम्या वृत्तित्वं, द्वितीयायाः प्रतियोगित्वम् अनुयोगित्वं वा धात्वर्थतावच्छेदकीभूताभावान्वितमर्थः, अभावश्च कूप... समभिव्याहारवशात् पतनादिसम्बन्धेन बोध्यः। एवञ्च पतन.... सम्बन्धेन कूपवृत्त्यन्धप्रतियोगिकाभावानुकूलव्यापारविषयकयत्नवान् इत्यन्वयधीः।-तत्रैव, -तत्रैव, पृ. 102

33. कृष्णकान्त विद्यावागीश के अनुसार यह मत वैयाकरणों का है (द्र.- कृष्णकान्ती टीका (शब्दशक्तिप्रकाशिका, वाराणसी, 1973), पृ. 305)।

34. यत्तु- पतनादिप्रतिकूलव्यापार एव वारणं, तदेकदेशे च पतनादावन्धादेराधेयत्वेन कूपादेः कर्मत्वेनान्वयादन्धनिष्ठस्य कूपकर्मकपतन्स्य प्रतिकूलव्यापारवानित्यादिरूपः 'कूपादन्धं वारयती' -त्यादितो बोध इति। तत्तुच्छम्, तादृशपतनस्याप्रसिद्धस्थले तथाविधवाक्यस्यायोग्यतापत्तेः। -श.श.प्र., पृ. 305

35. 'कूपादन्धं वारयति'...इत्यादौ च क्रियाधर्मिकनिवृत्त्यनुकूलव्यापारो वारणं,... क्रिया च पतन0... आदिर्विशेषतो ग्राह्या।... तथाविधनिवृत्त्यनुकूलव्यापारश्च स्वार्थधीद्वारा 'कूपे मा पत'... इत्याद्यभिलापरूपः स्फुट एव। - तत्रैव, पृ. 304

36. अन्धनिष्ठायाः पतनधर्मिककूपप्रकारकनिवृत्तेः... अनुकूलव्यापारवानित्याकारकस्तत्र बोधः।-तत्रैव, पृ. 304

37. 'कूपादन्धं वारयति' इत्यादौ....वारणं क्रियाप्रतिषेधः। क्रिया च... गमनादिरूपा। प्रतिषेधः कर्तृत्वाभावानुकूलव्यापारः। व्युत्पत्तिवाद (तिरुपति, 1985), पृ0 141

38. कर्तृत्वाभावरूपधात्वर्थतावच्छेदकफलशालितया.... अन्धादेः कर्मता। -तत्रैव, पृ. 141
टि.- नैयायिक-मत में 'कर्म' कारक का लक्षण इस प्रकार है-
'परसमवेतधात्वर्थजन्यधात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं कर्मत्वम्' (द्र.-अरविन्दकुमार, भवानन्द-कृत कारकचक्र : एक अध्ययन (व्याकरणशास्त्र एवं नव्यन्याय के आलोक में) (कुरूक्षेत्र, 1992), पृ. 73)। इस लक्षण के अनुसार द्वितीयान्त पद के प्रकृत्यर्थ से भिन्न में होने वाली क्रिया से उत्पन्न ऐसे 'फल' के आश्रय की 'कर्म' सञ्ज्ञा होती है जो (फल) धात्वर्थतावच्छेदक हो अर्थात् धात्वर्थता के आश्रय धात्वर्थ 'व्यापार' से उत्पन्न हुआ हो।

39. तुल.- यवादिपदोत्तरपञ्चम्या यवादिगतत्वेनेच्छाविषयफलकत्वं भक्षणादौ प्रत्याय्यते, इच्छा च भक्षणादिक्रियाकर्तृगवादिनिष्ठा तदर्थेऽन्तर्भावनीया।- तत्रैव, पृ. 141

40. .... सूत्रकृता "ईप्सितः"इत्यत्र सन्प्रत्ययेनेच्छोपदानम्। - तत्रैव, पृ. 142

41. द्र.- तत्रैव, पृ. 141-42

42. 'कूपादन्धं वारयतीत्यत्र' वृत्तित्वं पञ्चम्यर्थः, पतनानुकूलव्यापाराभावानुकूलो व्यापारो धात्वर्थः। -भाट्टतन्त्ररहस्य (वाराणसी, 1970), पृ. 132

43. 'कूपवृत्ति अधःप्रदेशावच्छिन्नसंयोगानुकूलक्रियारूपं यत् पतनम्, तदनुकूलो योऽन्धवृत्तिव्यापारः, तदभावानुकूलः यो व्यापारः तदनुकूलकृतिश्चैत्रवृत्तिरिति बोधःपर्यवसितः। -तत्रैव, पृ. 132.

आर्यसमाज की शास्त्रार्थ- परम्परा

आर्यसमाज की विचाराधारा को जन-जन तक पहुँचाने तथा विभिन्न मतमतान्तरों के आचार्यो एवं विद्वानों द्वारा वैदिक मन्तव्यों के विपरीत दुष्प्रचार का खण्डन-मण्डन करने के उद्देश्य से आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में शास्त्रार्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कितने ही 'शास्त्रार्थ महारथी' आर्य विद्वानों ने विरोधी धर्माचार्यों को शास्त्रार्थों में पराभूत कर वैदिक धर्म के प्रचार में अपना अनुपम कर्तृत्व प्रदर्शित किया है। शास्त्रार्थों की यह परम्परा महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन-काल में ही आरम्भ हो गई थी। उन्होंने पौराणिक, पण्डितों, ईसाई पादरियों और मुसलमान मौलवियों से अनेकों शास्त्रार्थ किये और उनके मन्तव्यों की आलोचना कर वैदिक धर्म की युक्तियुक्तता व उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया। वस्तुत: उनके ये शास्त्रार्थ वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के प्रबल माध्यम थे। 20 वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अनेक आर्य विद्वानों ने स्थान-स्थान पर जाकर जो शास्त्रार्थ किये, उनका स्वरूप प्राय: सार्वजनिक हुआ करता था और उनमें हजारों की संख्या में जन-समुदाय एकत्र होता था, जबकि स्वामी दयानन्द जी के समय में शास्त्रार्थ-सभा में केवल ऐसे लोगों को ही उपस्थिति होने दी जाती थी, जिनमें शास्त्रार्थ के लिए नियत विषय एवं विचार-विनिमय को समझ सकने की क्षमता हो। आर्यसमाज द्वारा आयोजित ये शास्त्रार्थ काफी लोकप्रिय होते थे।

पाठकों को आर्यसमाज की इस विद्या से परिचित कराने के उद्देश्य से यहाँ कतिपय प्रमुख शास्त्रार्थ महारथियों के कर्तृत्व का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

१. महर्षि दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापवना से पूर्व और पश्चात् अनेक स्थानों पर विरोधी मतावलम्बियों से भिन्न-भिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ किये। उनका प्रथम शास्त्रार्थ सन् 1867 ई0 में अनूपशहर (उ0प्र0) में पंडित अम्बादत्त पर्वती से 'मूर्तिपूजा' विषय पर हुआ, जिसमें पंडित जी मूर्तिपूजा को वैदिक सिद्ध करने में असमर्थ रहे। अनूपशहर से आरंभ हुआ शास्त्रार्थ का यह क्रम आजीवन जारी रहा। स्वामी जी ने सन् 1867 ई0 से 1882 के मध्य जिन स्थानों पर पौराणिक मतावलंबियों से शास्त्रार्थ किये उनमें प्रमुख हैं: कर्णवास (1867), ककोडा (1867), फर्रुखाबाद (1869), कन्नौज (1869), मिर्जापुर (1870), डुमरांव (1870), आरा (1872-1873), पटना, कलकत्ता (1873), छपरा (1873)।, सूरत (1874), भडौंच, राजकोट (1875), बम्बई (1875-1876),बड़ौदा (1875), बरेली (1876), चांदापुर (1877), बदायूँ, शाहजहाँपुर (1876), आदि। इनमें से अधिकांश शास्त्रार्थों का विषय मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद ही था। काशी के दुर्गाकुण्ड के निकट आनन्दबाग में 16 नवम्बर 1899 को काशी नरेश की अध्यक्षता में स्वामी विशुद्धानन्द, पं0 बाल शास्त्री, पं0 ताराचरण तर्करत्न, पं0 माधवाचार्य, पं0 वामनाचार्य आदि पंडितों के साथ मूर्तिपूजा के औचित्य विषयक शास्त्रार्थ के कारण स्वामी दयानन्द के पाण्डित्य की सर्वत्र धूम मच गयी। काशी के अतिरिक्त कानपुर में पंडित हलधर ओझा, डुमरांव में शैव पंडित दुर्गादत्त, हुगली में पंडित ताराचरण तर्करत्न, कर्णवास में पण्डित हीरावल्लभ, ककोड़ा मेले में पंडित उमादत्त के साथ हुए शास्त्रार्थ भी उल्लेखनीय है।

स्वामी जी ने न केवल हिन्दू पौराणिक पंडितों से वरन् ईसाई पादरियों एवं मुसलमान मौलवियों से भी शास्त्रार्थ किये। इनमें चांदापुर (शाहजहांनपुर), मुरादाबाद, बरेली, अजमेर, जालंधर और उदयपुर के शास्त्रार्थ उल्लेखनीय हैं, चांदापुर मेले में सत्य धर्म की जिज्ञासा हेतु 15 मार्च 1877 से 22 मार्च

1877 तक आयोजित शास्त्रार्थ में आर्यसमाज के प्रतिनिधि के रूप में महर्षि दयानन्द एवं मुंशी इन्द्रमणि (मुरादाबाद) सम्मिलित हुए, जबकि देवबंद वाले मौलवी मुहम्मद कासिम और पादरी जे0टी0 स्काट (बरेली) इस्लाम और ईसाई मतों में प्रतिनिधि थे। इस शास्त्रार्थ का विशद विवरण -सत्य धर्म विचार' शीर्षक से प्रकाशित होचुका है। बरेली का शास्त्रार्थ 25-27 अगस्त 1879 को पादरी जे0टी0 स्काट के साथ आवागमन, ईश्वर के देह-धारण करने तथा ईश्वर तथा जीवों के पाप क्षमा करना आदि विषयों पर लिखित रूप में हुआ था। यह शास्त्रार्थ भी 'सत्यासत्य विवेक' शीर्षक से छप चुका है। इसके अतिरिक्त सन् 1866 में मुरादाबाद में स्वामी जी का पादरी डब्ल्यू. पार्कर के साथ लिखित रूप में शास्त्रार्थ हुआ था जो 15 दिन तक चला, जिसमें स्वामी जी ने ईसाई सिद्धान्तों का खण्डन किया था। जालन्धर में 'आवागमन और चमत्कार' विषय पर मौलवी अहमद हसन, उदयपुर में मौलवी अब्दुल रहमान जज के साथ 11-17 सितम्बर 1882 को तथा अजमेर में 28 नवम्बर 1878 को पादरी ग्रे और डॉ0 हजबैण्ड के साथ संपन्न शास्त्रार्थ भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

२.आर्य पथिक पंडित लेखराम

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के उपदेशक के रूप में कार्य करते हुए पंडित लेखराम ने अनेक शास्त्रार्थ किये। जब पंडित जी पुलिस सेवा में थे उस समय उनके सुपरिन्टेन्डेन्ट अपने डिपुटी रीडर मुहम्मद वजीर अली के साथ पंडित जी के शास्त्रार्थ करवाया करते थे। कादियाँ के मिर्जा गुलाम अहमद का पंडित जी ने शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया। मिर्जा जी शास्त्रार्थ के लिए तो तैयार नहीं हुए, परन्तु पंडित जी ने उनके द्वारा रचित 'बुराहीन अहमदिया' के उत्तर में 'तकजीब बुराहीन अहमदिया', लिखी । हैदराबाद सिंध में मौलवी सैयद मुहम्मद अली शाह के साथ पैगम्बर के मौजियों (करामात चमत्कार) पर शास्त्रार्थ किया। भागोवाला (गुरदासपुर) के उत्सव पर एक मुसलमान ग्रेजुएट से नियोग विषय पर शास्त्रार्थ हुआ। मौलवियों के अतिरिक्त पंडित जी ने नाहन, नकोदर, रोपड़ आदि में पौराणिक पंडितों से तथा डेरागाजी खां में एक पादरी से शास्त्रार्थ किया।

३.स्वामी श्रद्धानन्द

आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेता, गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक, शुद्धि एवं संगठन में मंत्रदाता स्वामी श्रद्धानन्द जहाँ एक ओर ख्याति प्राप्त लेखक, पत्रकार एवं व्याख्याता थे, वहीं दूसरी ओर उन्हें शास्त्रार्थ में भी महारथ प्राप्त थी। उनके द्वारा लाहौर से 'अखबारे आम' नामक पत्र के प्रकाशक काश्मीरी पंडित गोपीनाथ-जो अपने पत्र में आर्य समाज और ऋषि दयानन्द के संबंध में अनर्गल बातें लिखा करता था-सें सन् 1898 में लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर मूर्तिपूजा, श्राद्ध तथा वेद संज्ञा विचार आदि विषयों पर किया गया शास्त्रार्थ बहुचर्चित रहा। एक महीने बाद इन दोनों का जालन्धर में पुनः शास्त्रार्थ हुआ।

४. पंडित भीमसेन शर्मा

महर्षि दयानन्द के शिष्य, स्वामी जी के ग्रन्थों का लेखन-कार्य करने वाले, वैदिक मंत्रालय प्रयाग के प्रबन्धक तथा आर्यसिद्धान्त' नामक मासिक पत्र के प्रकाशक इटावा निवासी पं0 भीमसेन शर्मा अपने पत्र के माध्यम से ही लिखित शास्त्रार्थ किया करते थे। उन्होंने पौराणिक विद्वानों द्वारा लिखे गये आर्य समाज विरोधी ग्रन्थों का उत्तर लिखा। इन ग्रन्थों में प्रमुख है: पं0 राममोहन शर्मा का महामोह विद्रावण' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेद संज्ञा विचार प्रकरण का खण्डन) का उत्तर, हरिशंकर

शास्त्री के 'सद्धर्म दूषणोद्धार' का उत्तर, जैन साधु पंडित आत्माराम कृत 'अज्ञान, तिमिर भास्कर-का उत्तर, साधु सिंह लिखित 'सत्यार्थ विवेक' का खण्डन आदि। इसके अतिरिक्त पंडित जी ने फिरोजाबाद में जैन विद्वानों से भी शास्त्रार्थ किया।

५. स्वामी नित्यानन्द एवं स्वामी विश्वेश्वरानन्द सरस्वती

इन संन्यासीद्वय ने अपने जीवनकाल में अनेक महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ किये, जिनमें नरसिंहगढ़ रोवला(नासिक) तथा बूंदी के शास्त्रार्थ प्रसिद्ध हैं। नरसिंहगढ़ का शास्त्रार्थ वहाँ के राजपण्डितों से नरसिंहगढ़ नरेश की अध्यक्षता में श्रावण शुक्ता 5, संवत् 1945 विक्रमी को हुआ था। बूंदी शास्त्रार्थ दोनों पक्षों द्वारा संस्कृत में लिखे गये पत्रों के माध्यम से 'ब्राह्मण भाग का वेद होना या न होना' विषय पर हुआ था। इस शास्त्रार्थ में पं० गंगासहाय, श्री नवनन्द शर्मा, श्री व्यास हरिदास तथा श्री निवास ताताचार्य ने पौराणिक पंडितों का प्रतिनिधित्व किया था। यह शास्त्रार्थ संवत् 1946 में वैदिक मंत्रालय प्रयाग से प्रकाशित हुआ था।

६.पण्डित गणपति शर्मा

पंडित गणपति शर्मा अपने समय के उच्चकोटि के शास्त्रार्थ महारथी थे। 10-15 हजार श्रोताओं के समूह को बिना माइक आदि के कई-कई घंटों तक धारा प्रवाह भाषण देने में सक्षम थे। उनके विभिन्न मतमतान्तरों के आचार्यों से विविध विषयों पर शास्त्रार्थ हुए। उन्होंने गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के उत्सव पर रुड़की के पादरी श्री जे0 वी0 फ्रेंक से, श्रीनगर (कश्मीर) में पादरी जानसन से, कोटा में पौराणिक पंडित श्री आत्मानन्द से, झालावाड में वहाँ के नरेश के नाना महाराज बलभद्रसिंह की अध्यक्षता में पंडित जयदेव मीमांसाचार्य से, झालावाड़ में ही पं0 भीमसेन शर्मा से तथा महाविद्यालय ज्वालापुर के उत्सव पर स्वामी दर्शनानन्द से 'वृक्षों में जीव' विषय पर शास्त्रार्थ किये तथा ख्याति अर्जित की।

७. स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

आर्यसमाज के अद्वितीय दार्शनिक विद्वान् तर्क शिरोमणि, तथा गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के संस्थापक स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती ने अपनी शास्त्रार्थ-प्रतिभा के कारण अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। उन्होंने 'स्वामी दयानन्द ने देव शब्द का अर्थ विद्वान् किया है, यह ठीक नहीं है' इस विषय पर काशी के महामहोपाध्याय पं0 शिवकुमार शास्त्री से शास्त्रार्थ किया जो उनका प्रथम महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ था। 19-21 फरवरी 1901 को आगरा में आपका पं0 भीमसेन शर्मा से, 29-30 मार्च 1901 को बिजनौर में 'प्रायश्चित्त' विषय पर पं0 भमसेन शर्मा (इटावा) एवं पं0 ज्वाला प्रसाद मिश्र से, 1962 विक्रमी धामपुर में 'श्राद्ध' विषय पर पण्डित बिहारी लाल से, 8 अप्रैल 1912 को ज्वालापुर महाविद्यालय में 'स्थावर वृक्षों में जीव' विषय पर पं0 गणपति शर्मा से तथा जून 1912 ई0 में 'ईश्वर सृष्टिकर्ता है' विषय पर जैन पण्डित गोपालदास बरैया से शास्त्रार्थ हुआ तथा प्रतिपक्षियों को पराजय का मुख देखना पड़ा। आपने न केवल पौराणिक पण्डितों से, वरन् मुसलमान मौलवियों से भी सफल शास्त्रार्थ किए। आगरा में आपका संन्यासाश्राम प्रवेश से पूर्व वेद तथा कुरान में से कौन-सी पुस्तक इल्हामी है' विषय पर मौलवी अब्दुल फरह और मौलवी अब्दुल हमीद पानीपती से शास्त्रार्थ हुआ था जिसकी मध्यस्थता एक युरोपीय श्री जेसफासेन ने की थी। आपका एक बृहत् शास्त्रार्थ सन् 1903 ई0 को देवरिया में 'वेद अथवा कुरान का ईश्वरोक्त होना' विषय पर मौलवी अमृतसरी सनाउल्ला

मौलवी अब्दुलहक देहलवी आदि से हुआ था। उक्त दोनों शास्त्रार्थ तथा आगरा शास्त्रार्थ उर्दू में प्रकाशित हुए थे।

८. पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी

शास्त्रार्थ महारथी के रूप में विख्यात पंडित बुद्धदेव मीरपुरी को प्रारम्भ से ही शास्त्रार्थ-कला के प्रति विशेष अभिरुचि थी, परिणामत: काशी में अध्ययन करते हुए वे वहाँ के पौराणिक पण्डितों से तर्क पूर्ण ढंग से शास्त्रार्थ करते थे। मीरपुर में पुरोहित का कार्य करते समय इन्होंने पण्डित माधवाचार्य, पण्डित अखिलानन्द आदि से शास्त्रार्थ किया। इसके साथ शास्त्रार्थों का जो क्रम आरम्भ हुआ वह आजीवन चलता रहा। इन्होंने शामचौरासी (होशियारपुर) में 'स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों की वेदानुकूलता, उचकोट (लायलपुर) में 'पुराणों की वेदानुकूलता' विषय पर पण्डित श्रीकृष्ण शास्त्री से शास्त्रार्थ किये। इन्हीं शास्त्री जी से उन्होंने ऊधमपुर (जम्मू) एवं मियानी(शाहपुर) में भी शास्त्रार्थ किये। इसके अतिरिक्त पंडित मीरपुरी जी ने लाहौर छावनी में पण्डित अखिलानन्द, माधवाचार्य एवं स्वामी प्रकाशानन्द से, हालवास (भिवानी) में पं0 जगदीशचन्द्र शास्त्री से, अम्बाला छावनी में जैन आचार्य कर्मानन्द से, बद्दोमल्ली (स्यालकोट) में मौलवी सनाउल्लाह अमृतसरी से तथा समुद्रतीर्थ (करनाल) एवं बटाला (गुरदासपुर) में पण्डित माधवाचार्य से सफल शास्त्रार्थ किये। भारत में ही नहीं, वरन् नैरोबी (अफ्रीका) में भी पण्डित मीरपुरी ने पण्डित माधवाचार्य से शास्त्रार्थ किया।

९. प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति

प्रो0 इन्द्र विद्यावाचस्पति जब गुरुकुल कांगड़ी से स्नातक बनकर निकले उस समय सन् 1916 में उनका सनातन धर्म के ख्याति प्राप्त विद्वान् महामहोपाध्याय पं0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी से 'वर्ण व्यवस्था' पर शास्त्रार्थ हुआ। यह शास्त्रार्थ ऐतिहासिक महत्त्व का था, जिसमें आवश्यकतानुसार प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए प्रचुर मात्रा में साहित्य लाया गया था। प्रो0 इन्द्र जी द्वारा प्रस्तुत युक्तियों के समक्ष पंडित जी को घुटने टेकने पड़े। इस शास्त्रार्थ का विवरण कई पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था।

१०. पं० बुद्धदेव विद्यालंकार

आर्यसमाज के शास्त्रार्थ महारथियों की परम्परा में पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार की अद्वितीय भूमिका रही है। अपने जीवन काल में उन्होंने पौराणिक मतावलम्बियों के साथ अनेक शास्त्रार्थ किये, जिनमें आपके शास्त्रसम्मत अकाट्य प्रमाणों के आगे प्रतिपक्षी विद्वान् टिक नहीं पाते थे। उन्होंने 27-30 जून 1929 ई0 को नीमच (म0 प्र0) मैं पंडित अखिलानन्द नवरत्न एवं पण्डित कालूराम शास्त्री से 'सत्यार्थप्रकाश'प्रभूति ग्रन्थ सर्वथा वेदविरुद्ध हैं, क्या आर्यसमाजी स्वयं स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों को जूते तले कुचलते हैं, आदि विषयों पर शास्त्रार्थ किये। आप द्वारा 3-6 जुलाई 1935 ई0 को हैदराबाद दक्षिण में पौराणिक विद्वान् पं0 माधवाचार्य शास्त्री से 'वर्ण व्यवस्था गुण, कर्म, स्वभाव से है या जन्म से-, 'स्वामी दयानन्द कृत ग्रन्थ वेद विरुद्ध और कपोल कल्पित हैं, एवं मूर्तिपूजा' विषयों पर किया गया शास्त्रार्थ आर्यसमाज के इतिहास में बहुचर्चित रहा, जिसमें पंडित बुद्धदेव जी ने प्रतिपक्षी द्वारा यह कहे जाने पर कि यदि आप मूर्तिपूजा नहीं मानते तो स्वामी दयानन्द के चित्र पर जूता मार कर दिखाइये तो हम जानें कि आप जड़ोपासना नहीं मानते' महर्षि दयानन्द के चित्र पर जूता मार दिया। उनके इस कृत्य की आर्यसमाज के हर स्तर पर उत्तेजनापूर्ण प्रतिक्रिया

हुई। इनके अतिरिक्त पंडित जी ने आर्यसमाज डीडवाना (राजस्थान) में पंडित माधवाचार्य और पंडित अखिलानन्द से, दिल्ली में पं0 लक्ष्मीचन्द्र शर्मा से, पाली में एक गरीबदासी सम्प्रदाय के साधु से तथा दूबलधन, माजरा और बेरी में काशी के पंडितों से अनेक शास्त्रार्थ किये। रोहतक में आयोजित शास्त्रार्थ स्वयं में विलक्षण था जिसका विषय था 'ऊंट की दाढ़ें नहीं होती है।, अशुद्ध हैं, इसमें पंडित जी ने दष्ट्र और दाढ़ों की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए यह पुष्ट किया कि इस पशु के स्थूल रूप में दाढ़ नहीं होती हैं। पौराणिक पंडित के अपने मत पर अड़े रहने पर पंडित जी ने सभा में ऊंट मंगाकर उसके मुंह में हाथ डालकर दाढ़ न होने की पुष्टि स्वयं कर ली।

वे प्रमाण रूप में महर्षि दयानन्द के संदर्भों, वैदिक ऋचाओं को उद्घृत करते हुए अपने पक्ष की स्थापना और प्रतिपक्षी के मत का खण्डन इतने मार्मिक एवं तर्क संगत ढंग से किया करते थे कि विरोधी विद्वान् को पराजय स्वीकार करने के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं मिलता था।

पंडित जी के कुछ शास्त्रार्थ पुस्तक रूप में तथा कुछ शास्त्रार्थ-संग्रह के अंश के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं।

११. पं० रामचन्द्र देहलवी

आर्यसमाज के अद्वितीय वक्ता, शास्त्रार्थ महारथी तथा इस्लाम एवं ईसाई मत के मर्मज्ञ विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित पंडित रामचन्द्र देहलवी अपने व्याख्यानों एवं शास्त्रार्थों में ईसाई तथा मुसलमान धर्म प्रचारकों का मुंहतोड़ उत्तर दिया करते थे। उन्होंने कुरान का विधिवत् अध्ययन किया था और कुरान का जितना शुद्ध उच्चारण वे करते थे वैसा बड़े-बड़े मुल्ला-मौलवियों का भी नहीं था। उन्होंने सैंकड़ों शास्त्रार्थ किये, जिनमें कतिपय उल्लेखनीय हैं। उन्हेंने बाड़ा हिन्दूराव दिल्ली में पहली बार मौलवियों से शास्त्रार्थ किया और अपूर्व सफलता प्राप्त की। मुजफ्फरपुर में ईसाई पादरी रेवरेण्ड जुडाह की मध्यस्थता में मुसलमानों से शास्त्रार्थ हुआ। उन्हेंने एक शास्त्रार्थ में किसी मौलवी से आयत पढ़ने में जबर जेर के ऊपर विवाद होने पर जब कुरान खोलकर वास्तविकता प्रदर्शित की तो मौलवी ने अपनी भूल स्वीकार कर ली। कालांतर में आप द्वारा दीनानगर (पंजाब) में मौलवी अल्लाहदित्ता से, फतहपुर हसुवा में दार्शनिक विषयों पर कानपुर के एक मौलवी से, बरेली में कुरान के ईश्वरीय ज्ञान होने के प्रश्न पर तथा पिलखुआ (मेरठ) में आदम और हव्वा के प्रथम दम्पती होने पर शास्त्रार्थ हुए उन्होंने सभी शास्त्रार्थों में अपूर्व सफलता प्राप्त की।

१२. शास्त्रार्थ केसरी ठाकुर अमर सिह आर्य पथिक (अमर स्वामी सरस्वती)

अरबी, फारसी तथा संस्कृत के साथ-साथ वैदिक सिद्धान्तों एवं ईसाई एवं इस्लाम धर्म का तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरांत आर्य प्रतिनिधि सभा लाहौर में उपदेशक के रूप में कार्यरत पण्डित अमरसिंह आर्यपथिक ने पौराणिक पण्डितों, जैन विद्वानों, मौलवियों आदि के साथ समय-समय पर अनेक शास्त्रार्थ किये। इन धर्माचार्यों में प्रमुख थे सर्वश्री पं0 कालूराम शास्त्री, अखिलानन्द कविरत्न, राजनारायण षट्शास्त्री, माधवाचार्य, स्वामी कर्मानन्द, पं0 राजेन्द्र कुमार मौलवी, सनाउल्लाह अमृतसरी, मौ0 लालहुसैन, मौ0 खुदादाद खाँ आदि। आपके द्वारा किए गए कतिपय उल्लेखनीय शास्त्रार्थ हैं श्यामचौरासी (होशियारपुर), मियानी (शाहपुर) एवं उचकोट (लायलपुर) में पंडित श्रीकृष्ण शास्त्री से, लाहौर छावनी में पं0 अखिलानन्द, पं0 माधवाचार्य एवं स्वामी प्रकाशानन्द से, हालूबास (भिवानी) में पं0 जगदीशचन्द्र शास्त्री से, अम्बाला छावनी में जैन विद्वान्

पं0 राजेन्द्र से, बंद्दोमल्ली (सियालकोट) में मौलाना सनाउल्ला अमृतसरी से। आपके शास्त्रार्थों का प्रमुख विषय 'स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों की वेदानुकूलता' हुआ करता था। शास्त्रार्थों में महारथ प्राप्त करने के साथ-साथ उन्होंने 'आर्य सिद्धान्त सागर' नामक एक ऐसे अद्भुत ग्रन्थ का निर्माण किया था जिसमें शास्त्रार्थोंपयोगी विषयों से संबंधित सैंकड़ों शास्त्रीय प्रमाण एकत्रित हैं। इसी के साथ आपने आर्यसमाज के विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए शास्त्रार्थों को संकलित कर 'निर्णय के तट पर शीर्षक ग्रन्थ तीन खण्ड) प्रकाशित करवाया।

१३. पण्डित रामसहाय शर्मा (स्वामी अभेदानन्द सरस्वती)

राजस्थान में नगर-नगर, गांव-गांव में वैदिक धर्म के प्रचार की अलख जगाने वाले तथा आरम्भ में आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान में आर्योपदेशक पं0 रामसहाय शर्मा ने पौराणिक विद्वानों से अनेक शास्त्रार्थ किये। उनका प्रथम शास्त्रार्थ भारत धर्म महामण्डल के स्वामी हीरानन्द से 'मूर्तिपूजा' पर हुआ था, जिसमें पौराणिकों ने पक्षपोषण में अपनी निर्बलता जानकर पंडित जी पर जलती हुई लकड़ी फेंकी थी। इसी प्रकार सन् 1924 ई0 में फतहपुर (शेखावटी) में शास्त्रार्थ के दौरान एक मन्दिर के पुजारी ने नंगी तलवार से पंडित जी पर प्रहार करने का प्रयास किया। सन् 1928 में उन्होंने फुलेरा जंक्शन में भी 'मूर्तिपूजा' विषय पर, सन् 1940 ई0 में ग्राम डांगावास में पंडित श्रीपति से 'वर्णव्यवस्था' के संबंध में तथा छोटी सादड़ी (मेवाड़) में प्रख्यात पौराणिक पं0 कालूराम के शिष्य श्री कल्पनाथ शास्त्री से 'ईश्वर का निराकारवाद' विषय पर सफल शास्त्रार्थ किये।

१४. पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड (स्वामी धर्मानन्द सरस्वती)

आर्यसमाज के ख्याति प्राप्त विद्वान्, वेदों के मर्मज्ञ, लेखक पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने पौराणिक विद्वानों एवं ईसाइयों से मुख्यतया बाल विवाह, जातिभेद, अस्पृश्यता, मूर्तिपूजा, यज्ञों में पशुहिंसा, पशुबलि आदि विषयों पर शास्त्रार्थ किये। आपके अधिकांश शास्त्रार्थ दक्षिण भारत में वेद धर्म का प्रचार करने की अवधि में ही हुए। उन्होंने बाल विवाह के औचित्य पर शास्त्रार्थ के लिए मैसूर राज्य में पण्डितों का आह्वान किया। यह शास्त्रार्थ 24 जनवरी 1931 ई0 को बंगलौर में 'वीर केसरी' के संपादक पण्डित सीताराम शास्त्री से हुआ था। सन् 1938 में धर्मावरम् में आपने पशु यज्ञों के विरोध में शास्त्रार्थ किया जिसका इतना अच्छा प्रभाव पड़ा कि वहाँ के जनसमुदाय ने आपकी जय जयकार करते हुए विराट् शोभायात्रा निकाली। सन् 1937 में उन्होंने नन्नपटन (मैसूर) में प्रसिद्ध लिंगायत कथावाचक विद्वान् पं0 शिवमूर्ति शास्त्री से मूर्तिपूजा पर तथा सन् 1932 में उडवी मठ (दक्षिण कर्नाटक) में वर्णव्यवस्था पर पौराणिकों से सफल शास्त्रार्थ किया। इसके अतिरिक्त आपके फादर कोटीं, एण्ड्रज आदि पादरियों से भी शास्त्रार्थ हुए।

१५. पण्डित शान्ति प्रकाश महोपदेशक

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के महोपदेशक पण्डित शान्ति प्रकाश ने दिल्ली और पंजाब में शास्त्रार्थ महारथी के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त की। शास्त्रार्थों में सार्वजनिक सफलता प्राप्त करने के निमित्त उन्होंने सस्कृत और अरबी दोनों भाषाओं में प्रवीणता प्राप्त की थी। सभा में उपदेशक बनने के बाद आपका पहला कार्यक्रम सुल्तानपुर लोधी में शास्त्रार्थ का मिला। दूसरा शास्त्रार्थ गीरा नामक स्थान में मिर्जाई सम्प्रदाय के अनुयायियों से हुआ। इसके बाद उन्होंने बरेटा मण्डी के निकट एक गांव में पं0 कालूराम शास्त्री से संस्कृत में शास्त्रार्थ किया। आपके अन्य उल्लेखनीय शास्त्रार्थ हैं: झोंक

उतरा (डेरा गाजी खाँ) में पौराणिकों से, कोट अहु (मुजफरगढ़ा) में 'अवतारवाद' पर पण्डित श्रीकृष्ण शास्त्री से, पाक पदृन में श्राद्ध विषय पर दो बड़े शास्त्रार्थ, देश विभाजन के बाद सालवन (करनाल) में पं0 माधवाचार्य से 'नमस्ते और पुराण' विषय पर दो शास्त्रार्थ, तथा धुनौंदा (महेन्द्रगढ़) में भी पंडित माधवाचार्य से दो शास्त्रार्थ किये।

देश विभाजन से पूर्व पण्डित जी ने पूर्वी पंजाब, दिल्ली, सिंध तथा सीमा प्रान्त में मुसलमानों तथा कादियानी मिर्जाई लोगों से सैंकड़ों शास्त्रार्थ किये। यथा-लाहौर में मौलवी अब्दुल हक मिर्जाई से, अमृतसर में मौलवी सनाउल्लाह, मौलवी अस्मतुल्लाह तथा मिर्जा मुजफरबेग से, राजनपुर में मुजफर बेग से (15 दिन तक) तथा शेरग्राम के निकट एक अरबी के विद्वान् मौलवी से। इसके अतिरिक्त उन्होंने पेशावर, कराची, डेरा गाजी खां, मुलतान, सरगोधा, लाहौर, दीनानगर, संगरूर, भटिंडा आदि में भी अनेक मुसलमान मौलवियों के साथ शास्त्रार्थ किये। इनमें से दीनानगर में दो दिन तक खलीलदास चतुर्वेदी से, पठानकोट में मौलवी मोहम्मद ऊमर, मौलवी अल्लाहदित्ता एवं एक अन्य मौलवी से, पिण्डी भाटियां और दीवानहाल दिल्ली में मौलवी मोहम्मद ऊमर से शास्त्रार्थ करके विजयश्री प्राप्त की । भारत विभाजन के बाद उन्होंने उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद, गोंडा, झांसी, लखनऊ एवं सहारनपुर, बंगाल में कलकत्ता आदि नगरों में भी शास्त्रार्थ किये।

पण्डित जी ने न केवल मौलवियों, वरन् ईसाई पादरियों से भी शास्त्रार्थ किये। उन्होंने इलाहाबाद में ईसाइयों के सबसे बड़े पादरी अब्दुल हक, पादरी वाशिंगटन तथा पादरी रलियाराम को पराजित किया।

१६. पंडित ओमप्रकाश शास्त्री

आर्य समाज के ख्याति प्राप्त उपदेशक एवं पुरोहित पण्डित ओमप्रकाश शास्त्री ने पण्डित रामचन्द्र देहलवी से शास्त्रार्थ कला का अभ्यास करके उसमें प्रवीणता प्राप्त की। उन्होंने एक बार लालकुँआ दिल्ली स्थित गिरजाघर में प्रज्ञाचक्षु पादरी अहमद मसीह से शास्त्रार्थ किया। कालांतर में भी उनके इन्हीं पादरी से अनेक शास्त्रार्थ हुआ करते थे। शास्त्रार्थ के विषय पुनर्जन्म, त्रैतवाद, नियोग आदि रहते थें इन्होंने एक शास्त्रार्थ कैम्ब्रिज मिशन के पादरी श्री पाइज से जीव तथा प्रकृति के अनादित्व एवं अस्तित्व विषय पर किया। कालांतर में श्री अब्दुल हक पादरी, मौलाना शेर मुहम्मद, मौलाना बशीर अहमद, पादरी वाशिंगटन, पादरी सादिक, पादरी लूक जैसे व्यक्तियों से सफल शास्त्रार्थ किये। जुलाई 1936-...........को बेहट (सहारनपुर) में इनके पादरी गुलाम मसीह से 'मोक्ष तथा आवागमन' विषय पर दो लिखित और दो मौखिक शास्त्रार्थ हुए।

इसके अतिरिक्त शास्त्री जी ने कतिपय पौराणिक पंडितों से शंका समाधान और शास्त्रार्थ किये, जिनमें पण्डित माधवाचार्य, पण्डित राजनारायण, 'अरमान', श्री प्रेमाचार्य आदि प्रमुख है। 1969 ई0 कांशी में आयोजित दयानन्द शास्त्रार्थ शताब्दी समारोह के अवसर पर पौराणिक पंडित प्रेमाचार्य की शंकाओं का समाधान किया।

उपर्युक्त शास्त्रार्थ महारथियों के अतिरिक्त पण्डित तुलसीराम स्वामी, महामहोपाध्याय पं0 आर्यमुनि, पं0 धर्म भिक्षु, पं0 मुरारीलाल शर्मा, पं0 भोजदत्त शर्मा आर्य मुसाफिर, पं0 मनसाराम शास्त्री 'वैदिक तोप' सम्पादकाचार्य पं0 रुद्रदत्त शर्मा, पं0 देवेन्द्र नाथ शास्त्री सांख्यतीर्थ, पं0 बस्तीराम, पं0 ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पं0 भागवद्दत्त बी0ए0, काव्यतीर्थ पं0 बिहारी लाल शास्त्री, पं0 युधिष्ठिर मीमासक

आदि ने भी समय-समय पर विभिन्न मतमतान्तरों के विद्वानों से अनेकों शास्त्रार्थ किये तथा शास्त्रार्थ महारथी के रूप में प्रचुर ख्याति अर्जित की।

महर्षि दयानन्द सरस्वती से आरम्भ हुई आर्यसमाज की यह शास्त्रार्थ-परम्परा अब लुप्तप्राय होती जा रही है। इसका कारण है इस परम्परा को आगे बढ़ाने वाले स्वाध्यायशील एवं अकाट्य तर्कों से प्रतिपक्षी को ध्वस्त करने में सक्षम तथा खंडन-मंडन में पारंगत विद्वानों की न्यूनता। वेदों में पारंगत उद्‌भट विद्वान् लेखक, प्रवचनकर्ता एवं उपदेशक तो अभी आर्यसमाज में उपलब्ध हैं, उपदेशक विद्यालयों में प्रशिक्षण द्वारा नये-नये उपदेशक/ पुरोहित तैयार करने के श्लाघनीय प्रयास भी किये जा रहे हैं, परन्तु शास्त्रार्थ-विधा की ओर किसी का ध्यान नहीं हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है। आर्यसमाज की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली, प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं, उपदेशक विद्यालयों एवं गुरुकुलों को समन्वयवाही दृष्टिकोण का मोह त्याग कर इस दिशा में सक्रिय होना चाहिए।

डॉ० विनोद चन्द्र विद्यालंकार
-४६२, आर्यनगर, ज्वालापुर-२४९४०७

जीव्यात् चिरं भारतवर्ष राष्ट्रम्

(उपजातिवृत्तम्)

(1)

प्राप्तं प्रतिष्ठं जगद्गुरुत्वं ज्ञानेन दानेन पराक्रमेण।
जेगीयते यस्य यशोहि शुभ्रं जीव्यात् जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(2)

प्रबोधितं येन जगत्प्रसुप्तं परेशविद्याऽऽगम भास्करेण।
आविष्कृतं वै गणनायं शून्यं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(3)

निसर्गरम्यं भुवनाभिरामं यशो हिमै शुभ्र विशाल भालम्।
नदीनदै कल्पित तारहारं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(4)

धन्यं प्रवर्षं धरणीप्रधानं पुण्यै पवित्रं तपसां निधानम्।
हर्षं प्रकर्षं ललितं निकामं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(5)

वेदैश्च लोकैश्च समानसेव्यं देवै मनुष्यैश्च समान पूज्यम्।
भूतैश्च भव्यैश्च समानदृश्यं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(6)

पञ्जाब विन्ध्यांचल झारखण्डं विहार सौराष्ट्रदशार्णबङ्गम्।
दधाति दिल्लीप्रमुखं प्रवर्षं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(7)

कणादकुत्सः कपिलो वसिष्ठः भौमो भरद्वाज-अगस्त्यमुख्याः।
बभूवु यस्यैव हृदयावतंसा जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(8)

धन्या रघुर्कर्णदधीचवर्याः सदाप्रजापालनकर्मदक्षाः।
यज्ञेन दानेन तपोव्रतेन जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(9)

श्रीराम कृष्णार्जुन विक्रमेण पुरोर्प्रतापस्य पराक्रमेण।
ख्यातं महाभारत गौरवेण जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(10)

परं समृद्धं हि सुशासनेन समुद्रगुप्तेन च विक्रमेण।
नयेन दानेन च वैभवेन जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(11)

मन्त्राम्भसायज्ञ पवित्रभूतं यमेन उग्रं विभवै समग्रम्।
विद्यानिधानं समताप्रधानं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(12)

कण्वाङ्गिरस्भार्गव यज्ञक्षेत्रं सीताऽनुसूया तपसिद्धभूमिः।
तपोवनं त्वेतत् कौशिकानां जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रत्।।

(13)

पार्थाधिपानां कुरुक्षेत्रमेतत् राणा शिवानां शिवयुद्धभूमिः।
क्रीडागृहं वै भरतस्य एव जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(14)

प्रभुत्वपूर्णं जनतन्त्रदीपं सौम्यत्व-बन्धुत्व-ममत्वभूतम्।
विभाति दिव्यं सुरलोकरूपं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(15)

श्रद्धास्पदंभक्ति विभूतिभूतं पूज्यं परं प्रेमनुतं विशेषम्।
सर्वाभिप्रतं किल शान्तिदूतं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(16)

शूरा श्रुतिज्ञा व्रतिनो युवानः वृद्धा प्रसिद्धा विबुधा विदग्धाः।
यजन्ति रक्षन्ति च नित्यमेव जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(रचना- १४.४.२००४)

डॉ० राधेश्याम गंगवार
प्रवक्ता. संस्कृविभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
पिथौरागढ़ २६२५०१

वैदिक संस्कृति में पुनर्जन्म की अवधारणा

वैदिकधर्म में पुनर्जन्म सिद्धान्त का प्रधान स्थान है। वेद-वेदाङ्ग, दर्शन, स्मृति, पुराणादिसर्वत्र इसे देखा जा सकता है। पुनर्जन्म से तात्पर्य है- एक शरीर का त्याग करके दुबारा जन्म लेना। अनेक कारण होने पर भी प्रधानतः अपने शुभाशुभ कर्मों की वासना ही पुनर्जन्म का मुख्य कारण है। अर्थात् पुनर्जन्म का अर्थ है- नया जीवन 'जननमिति जन्म' पैदा होने का नाम जन्म है। 'जनी प्रादुर्भावे धातु से 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' से औणादिक मनिन् प्रत्यय होने पर 'जन्म' शब्द बनता है। इसी के पर्यायवाचक 'जनुः जननं, जनिः उत्पत्तिः उद्भवः ये प्रसिद्ध है। पुनः जन्म पुनर्जन्म। 'सह सुपा' से समास है।' इसके अन्य नाम-पुनर्जन्म, गतजन्म, पुनर्भव, परलोक इत्यादि है। जहाँ जीवन नहीं है वहाँ निर्वाण, मुक्ति या मोक्ष है। मोक्ष में पुनर्जन्म का कारण नहीं है इसलिये मोक्षोपरान्त पुनर्जन्म की अवधारणा भी नहीं है। कार्य का निर्माण कारण पर आधारित है पुनर्जन्म का कारण है-कर्म।

वेदों में जीव के तीन जन्म स्वीकार किए गए हैं-प्रथमतः, शिशु के रूप में, द्वितीयतः आध्यात्मिक शिक्षा की प्राप्ति के द्वारा और तृतीयतः मृत्यु के अनन्तर आत्मा को जीवनचक्र से सम्बद्ध माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रारंभिक रूप दिखाई पड़ता है। इसके अनुसार जो अपने कर्त्तव्यों का पालन उचित रूप से करते हैं तथा जिन्हें सम्यक् ज्ञान है- मृत्यु के उपरांत अमरत्व (मोक्ष) प्राप्ति के लिए उनका पुनर्जन्म होता है। इसके विपरीत जो अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना करते हैं अर्थात् जो अज्ञानी है। उन्हें मृत्यु का शिकार बनने के लिए बार-बार जन्म ग्रहण करना पडता है।

उपनिषदों में पुनर्जन्म का अस्तित्व इहलोक में माना गया है। अच्छे एवं बुरे कर्मों का प्रतिफल दो रूपों में प्राप्त होता है- (1) परलोक में और (2) पुनः इस पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करने पर। ब्रह्म से ऐक्य की अवस्था उत्तर प्रकार का अमरत्व है। जब हम इस अवस्था से च्युत होते हैं तब संसार में एक ज़न्म से दूसरे जन्म में भटकने लगते हैं। इस जीवन में किए गए कर्मों के अनुसार हमारा अगला जन्म निर्धारित होता है। आत्मा अपने कृत्तकर्मों के फल भुगतने के लिए मृत्यु के पश्चात् दो मार्गों से पार हो सकती है-

1. देवयान मार्ग (प्रकाश मार्ग)
2. पितृयान मार्ग (धूम मार्ग अर्थात् तमः मार्ग)

प्रथम मार्ग अग्नि आदि विभिन्न लोकों से होकर ब्रह्म या सत्य लोकों को जाता है जहाँ से पुनरावर्त्तन नहीं होता। पितृयान धूमरात्रि आदि विभिन्न लोकों से होते हुए चन्द्रलोक को ले जाता है जहाँ से अपने सुकर्मों का फल भोगने के उपरान्त जीव को पुनः इस संसार में आना पड़ता है।

> ''अग्निर्ज्योरहः शुक्लः षणमासा उत्तरायणम्।
> तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
> धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षणमासा दक्षिणायनम्।
> तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्यनिवर्तते॥
> शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
> एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥

जिस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है, दिन का अभिमानी देवता है, शुक्ल पक्ष का अभिमानी देवता है और उत्तरायण के छः महीनों का अभिमानी देवता है, उन मार्गों में मरकर गए हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओं द्वारा क्रम से ले जाये जाकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं तथा जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता है, रात्रि अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्ष का अभिमानी देवता है और दक्षिणायन के छः महीनों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में मरकर गया हुआ सकाम कर्म करने वाला योगी उपर्यक्त देवताओं द्वारा क्रम से ले गया हुआ चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर स्वर्ग में अपने शुभकर्मों का फल भोगकर वापस आता है क्योंकि जगत् के ये दो प्रकार के शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एक के द्वारा गया हुआ-जिससे वापस लौटना नहीं पड़ता उस परम गति को प्राप्त होता है और दूसरे के द्वारा गया हुआ फिर वापस आता है अर्थात् जन्म मृत्यु को प्राप्त होता है एक तीसरे आनंद- विहीन तिमिराछन्न लोक को ले जाने वाले मार्ग का भी निर्देश है-

"पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्॥[3]

अर्थात् जो (अंतिम बार) जल पी चुकी है, जिनका घास खाना समाप्त हो चुका है, जिनकादूध भी दुह लिया गया है और जिनमें प्रजनन शक्ति का भी अभाव हो गया है उन गौओं का दान देने वाला आनन्द लोक को जाता है। यह वह मार्ग है जहाँ जीव कीट, पतंग आदि निकृष्ट योनियों में गुजरता हुआ जन्म-मृत्यु का शिकार होता है।

"ते कीटाः यदिदं दन्दशूकम्।[4]

जीव सब प्रकार के अनुभवों से ज्ञानी बने। ये अनुभव और ज्ञान पूर्णरूप से प्राप्त करने के लिए अनेक जन्म लेने पड़ते हैं। यही पुनर्जन्म का प्रयोजन है।

पुनर्जन्म हिन्दू संस्कृति के तत्वज्ञान का एक मौलिक सिद्धान्त है। शरीर की मृत्यु के साथ शरीरगत आत्मा की मृत्यु न होकर वह आत्मा उस देह में प्राप्त संस्कारों के साथ दूसरे देह में चली जाती है, इसी को 'पुनर्जन्म' कहते हैं। "जायते पुनः" शब्द बहुत ही स्पष्ट रूप से पुनर्जन्म की घोषणा करते हैं। पुनर्जन्म का आधार कर्म है। पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए ही पुनर्जन्म लेना पड़ता है। मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगने के लिए जन्म के पश्चात् किसी भी योनि में आ जा सकता है। जड़ भरत जैसे महासिद्ध योगी को भी कर्मवशात् हिरण का जन्म लेना पड़ा। फिर कैसे कहा जा सकता है कि मनुष्य जन्म प्राप्त होने के बाद जीव अन्य किसी योनि में नहीं आता? शास्त्रों में ऐसे हजारों उदाहरण है। मनुष्य योनि तो क्या साक्षात् इन्द्र का पद प्राप्त होने पर भी नहुष को सर्प बनना पड़ा। "पक्षियों में जो स्वतंत्रता होती है, वह मनुष्यों में नहीं देखी जाती । किसी के पास एक वस्तु है तो दूसरी नहीं यह जो माया का विचित्र खेल है, इससे जीव अनुभव प्राप्त करते -करते परमोच्च ध्येय को प्राप्त हो, यह एक जन्म में सधने वाली बात नहीं है। एक जन्म में देहात्मा का

पूर्ण विकास होने के लिए कई वर्ष लगते हैं, इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्मा के पूर्ण विकास के लिए अनेक पुनर्जन्म आवश्यक होते हैं। आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की पूर्णता प्राप्त करने की अन्तः स्फूर्त तृष्णा जीव में ही होती है। ब्रह्म के सिवा इस जगत् में और कुछ नहीं है फिर भी अज्ञान दशा में स्थूल, सूक्ष्म शरीर और उनके स्थूल, सूक्ष्म लोक व्यवहार बन्धवत् प्रतीत होते हैं। यह अज्ञान दूर हो इसके लिए बार-बार इनका अनुभव प्राप्त कर, इन्हें आत्मसात करके सहजावस्था में आ जाने के लिए इहलोक में यथावश्यक पुनर्जन्म ग्रहण कर कर्म, उपासना, ज्ञान आदि योग साधना करना आवश्यक होता है। पुनर्जन्म का यह एक व्यापक कारण है।[5] पुनर्जन्म के सिद्धान्त के कारण प्रत्येक व्यक्ति यह समझ सकता है कि उसका सुख-दुःख, श्रेष्ठत्व-कनिष्ठत्व, सद्गुणों का अभाव आदि सब उसी के पूर्वजन्मों में किये हुए कर्मों के परिणाम है और इस जन्म में यदि वह अपने कर्मों में सुधार कर ले तो इसी जन्म में वह अधिक श्रेष्ठ एवं सुखी बन सकता है। उसे यह भी विश्वास होता है कि जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष, इस एक जन्म में न भी प्राप्त हो तो भी उसके लिए उचित प्रयत्नों में रत रहने से आने वाले जन्मों में वह अपने को मोक्ष के लिए अधिकाधिक योग्य बनाकर, अन्त में जीवन-मरण के सब सुख-दुखों से छूटकर अपनी नित्य, शुद्ध, मुक्त सच्चिदानंद स्थिति में स्थिर हो सकता है, धन्य हो सकता है। जीवात्मा के अनन्तानन्त पुनर्जन्मों का अन्तर्भाव पाँच पुनर्जन्मों में हो जाता है। उनके नामों और स्वरूपों का निर्देश इस प्रकार है-

(1) शुक्र में जन्म (2) शोणित में जन्म, (3) भूमि में जन्म, (4) संस्कारों में जन्म, (5) परलोक में जन्म। कर्मात्मा की अन्न के द्वारा शुक्र में प्रतिष्ठा प्रथम जन्म है। शुक्र के द्वारा शोणित रज में प्रतिष्ठा द्वितीय जन्म है। गर्भाशय से भूमि में प्रतिष्ठा तृतीय जन्म है। संस्कारों से दिव्य-भाव में प्रतिष्ठा चतुर्थ जन्म है। अग्नि के द्वारा परलोक में प्रतिष्ठा पञ्चम जन्म है।[6] पुनर्जन्म का प्रयोग सब उपनिषदों की सारभूत भगवद् गीता में मिलता है-

''मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।''[7]

गत जन्म का प्रयोग भी गीता में है-

''अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।[8]

अर्जुन ने पूछा- रात जन्म में आपेन यह अव्यय योग विवरस्वाम् को कहा था, यह मैं कैसे जानूँ? इस पर भगवान ने कहा-

''बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।।''

श्री भगवान बोले-हे पनरंतुप श्अर्जुन मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सबकों तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ।

'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'[9]

अर्थात् तेरे और मेरे बहुत जन्म हो चुके हैं मेरा जन्म दिव्य हुआ करता है। पुनर्जन्म का अन्य नाम पुनर्भव है। जैसा कि श्रीमद्भगवत्गीता में प्राप्त है-

"क्षणार्धेनापि तुल्ये न स्वर्गं नापुनर्भवम्"
यहाँ अनूपनर्भव मुक्ति का नाम है।[१०]

पुनर्जन्म का अन्य नाम परलोक भी है। इससे भी पुनर्जन्म के विषय में प्रकाश पड़ता है। 'परलोक" शब्द उपनिषद् में भी मिलता है।-

न साम्परायः प्रतिभाति बाले
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥"

इस प्रकार मनुष्य जीवन के महत्व को नहीं समझने वाला अभिमानीमनुष्य सांसारिक भोग-सम्पत्ति की प्राप्ति के साधनरूप धनादि के मोह से मोहित हुआ रहता है। अतएव भोगों में आसक्त होकर वह प्रमोद पूर्वक मनमाना आचरण करने लगता है। उसे परलोक नहीं सूझता। उसके अन्तः करण में इस प्रकार के विचार उत्पन्न ही नहीं होते कि मरने के बाद मुझे अपने समस्त कर्मों का फल भोगने के लिए बाध्य होकर बारंबार विविध योनियों में जन्म लेना पड़ेगा। अज्ञानी मनुष्य समझता है कि, बस, जो कुछ यहाँ जितना विषय- सुख भोग लिया जाए, उतनी ही बुद्धिमानी है। इसके आगे क्या है। परलोक को किसने देखा है। परलोक तो लोगों की कल्पना मात्र है इत्यादि। इस प्रकार की मान्यता रखने वाला मनुष्य बारम्बार यमराज के चंगुल में पड़ता है और वे उसके कर्मानुसार उसे नाना योनियों में ढकेलते रहते हैं। उसके जन्म-मरण का चक्र नहीं छूटता।

यद्यपि 'परलोक' इसके भिन्न स्वर्ग आदि लोकों का नाम है तथापि परलोक शब्द भी पुनर्जन्म को सिद्ध करता है, क्योंकि मरकर पुनर्जन्म केवल मनुष्य लोक में हो ऐसा नहीं है। किन्तु स्वर्ग आदि अन्य लोको में भी हुआ करता है यह इससे सूचित होता है।

इसके अतिरिक्त पुनर्जन्म केवल मनुष्य योनि में ही नहीं होता, किन्तु पशु योनि में भी होता है, पक्षी योनि में भी होता है, कीट पतंगादि योनियों में भी होता है तथा देव-गन्धर्वादि योनियों में भी होता है। उसमें पशु-पक्षी, कीट-पतंग मनुष्य लोक में होते हैं और स्थूल शरीर होते हैं, देव, गन्धर्व आदि स्वर्गोदि लोकों में होते हैं। वे वहां सूक्ष्मकाय भी होते हैं और काम रूप भी होते हैं अतः परलोक शब्द से भी पुनर्जन्म की सिद्धि होती हें उसमें कारण यह है कि यदि पुरुष यही होकर यहीं मर जाता तब तो पुनर्जन्म का कोई प्रसंग ही नहीं था, पर चूँकि शास्त्रों में मृतक को परलोक में जाना कहा गया है तब इससे सिद्ध हुआ कि इस लोक में स्थित होकर सब वह परलोक में गया है, यह भी पुनर्जन्म है। गीता में भगवान् अर्जुन से कहते हैं-

वासांसि जीर्णानि यथा विहायनवानिगृह्णाति नरोऽपराणि॥

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।

अर्थात्- जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है कि आत्मा शरीर की अपेक्षा एक स्थायी तत्व है। जो एक अस्थायी आवास से दूसरे अस्थायी आवास में अपना स्थानांतरण करता हर हता है। आत्मा के नए चोले का निर्णय पूर्वजन्मों में किए गए कर्मो के परिणामों पर ही आधारित होता है।

इसी प्रकार जब बालक इस धारती पर जन्म लेता है तो वह जन्म लेते ही रोने लगता है। और जन्म लेने के पश्चात् कभी रोता है, कभी हंसता है, कभी सोता है। जब उसमें से दूध खींचने लगता है और धमकाने आदि पर भय से काँपता हुआ भी देखा जाता है। बालक के ये सब आचरण पूनर्जन्म को सूचित करते हैं क्योंकि इस जन्म में तो उसने ये सब बातें सीखी ही नहीं। पूर्वजन्म के अभ्यास से ही सब बातें उसके अन्दर स्वाभाविक रूप से होने लगती हैं। पूर्वजन्म में अनुभव किये हुए मृत्यु भय के कारण ही वह काँपने लगता है तथा पूर्व जन्म में किए हुए स्तनपान के अभ्यास से ही वह माता के स्तन का दूध खींचने लगता है। इससे भी पूनर्जन्म सिद्ध होता है। पुनर्जन्म केवल कर्मयोगी मनुष्यों में ही नहीं होता, बल्कि भोगयोनि, पशु-पक्षी आदि में भी जन्म होता है, वह भी यही लोक है।

जीव को जन्म-जन्म में पुण्य-पाप के कारण सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। अत्यंत पुण्य से स्वर्ग, अत्यन्त पाप से नरक प्राप्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि पुण्य-पाप दोनों की समानता हो, तो जीव मनुष्य लोक में जन्म लेता है। स्वर्ग-नरक में तो शरीर की पृथ्वी प्रधानता नहीं थी, पर पृथ्वी लोक में पृथ्वी-प्रधान होने से स्थूल शरीर होता है। पुण्य-पाप दोनों के न रहने से जीव की मुक्ति हो जाती है। उसमें संकल्पमय शरीर माना जाता है। तथा कर्मों के अभाव से पुनर्जन्म की समाप्ति हो जाती है। आशा का संचार होता है और निरन्तर कर्मयोगी की भान्ति कर्म करता रहता है। जैसे कर्म करता है वैसे-वैसे ही उसके संस्कार बनते हैं और उन्हीं संस्कारों के अनुसार मनुष्य को आगामी शरीर प्राप्त होता है। वेद कहता है-

"ये अर्वाञ्चखाँ उ पराच आदुर्य पराञ्चस्ताँ उ अर्गच आहुः।
इन्द्रक्ष या चक्रयुः सोम तानि धुरा न युक्ता राजसो वहन्ति॥"

अर्थात् जोनीचे थे, वे ऊपर पहुँच जाते हैं, और जो ऊपर थे वे नीचे आ जाते हैं। इन्द्र अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी जीवात्मा जिन कर्मों को करता है वे धुरी की भांति युक्त होकर इसे लोक लोकान्तरों में एक योनि से दूसरी योनि में ले जाते हैं। इसी प्रकार-

"य ईं चकार न सो अस्यवेद य ह ददर्शहिरूगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतोऽन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश॥

अर्थात्- जननी के गर्भ में झिल्ली और अज्ञान से ढंका हुआ जीवात्माजिन अनेक जन्म ध

ारण करता है। यह बहुप्तजा अनेक जन्मों तथा संततियोवाला बनता है और घोर से घोर दुर्गति में पड़ता है। इस दुर्दशा में यह जो कुछ करता है, उसे स्वयं भी नहीं जानता है और जो कुछ देखता है वह भी इससे छिपा हुआ ही रहता है। उदात्त आत्मा का यह कैसा अध:पतन है।

पुनर्जन्म के कारण ही आत्मा का शरीर, इन्द्रियों तथा विषयों से सम्बन्ध जुड़ता रहता है और आत्मनो भोगायतनं शरीरम् न्याय से उस जीव को सुख-दु:ख के भोगों के लिए बार-बार एक शरीर से दूसरे में भटकना पड़ता है। हमारे उपनिषद् भी पुनर्जन्म तथा परलोक के बारे में एक मत हैं। कठोपनिषद में यम तथा नचिकेता का अन्यान्य प्रश्नों का संवाद इसी ओर इंगित करता है। मनुष्य अपने कर्मानुसार स्वर्ग (परलोक) की प्राप्ति करता है। नचिकेता स्वर्ग की समृद्धि का वर्णन करते हुए कहता है कि स्वर्ग लोक में कोई मरा नहीं है वहाँ न तो मृत्यु है और न कोई वृद्धावस्था से डरता है। भूख-प्यास दोनों से रहित होकर तथा शोक रहित हुआ व्यक्ति प्रसन्न हो जाता है। अथर्ववेद तो ऐसे मन्त्रों से परिपूर्ण है जिनसे पुनर्जन्म की समस्या पर किसी न किसी रूप में प्रकाश पड़ता है। कहीं अगले जन्म में विशिष्ट वस्तुएं पाने के लिए प्रार्थना है कहीं स्पष्ट कहा गया है कि पूर्वजन्म के अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार ही जीवात्मा नवीन योनियों में शरीर धारण करता है। कर्मानुसार पशु-योनि में जन्म लेने का भी उल्लेख इन मन्त्रों में पाया जाता है। ऋग्वेद के इन मन्त्रों से भी पुनर्जन्म की सिद्धि होती हे-

"पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवंव्रातंसचेमहि"[१६]

अर्थात् मैं पुनः पुनः माता-पिता को प्राप्त करूँ, दिव्यजन होकर जीव के विग्रह को प्राप्त करूँ।

आत्मा का सच्चा स्वरूप वह नहीं है जो बन्धन में पड़े हुए आत्मा का देखा जाता है। आत्मा का सच्चा स्वरूप सच्चिदानन्द है। वह परमात्मा का ही एक स्वरूप है। जिस प्रकार एक चिंगारी अग्नि का अंश है और वह चिंगारी भी अग्नि के समस्त गुणों को सूक्ष्म रूप में समेटे रहती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी परमात्मा का एक स्वरूप होने के कारण परमात्मा के सभी गुणों को अपने में समेटे रहता है। गीता में भी भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि-

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"

अर्थात्-मेरा ही अंश इस मर्त्यलोक में जीव के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। पर इस जीवात्मा में जो शक्ति है जिसके लिए वेद में 'स्वधा' शब्द आया है, वह शक्ति ही उसके सच्चे स्वरूप को ढ़क देती है और उस स्वधाशक्ति से प्रभावित होकर यह आत्मा अपने को बंधन में समझने लगता है। इसी को यजुर्वेद के मन्त्र में इस प्रकार से कहा गया है-

"हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।"

अर्थात्- सोने के पात्र से सत्य ढका हुआ है। चमक-दमक वाली माया जीवात्मा के सच्चे स्वरूप को ढंक देती है उस अवस्था में वह आत्मा अपनी शक्तियों से युक्त होकर मर्त्य शरीर को अपना स्थान बनाकर एक शरीर से दूसरे शरीर में निवसता है, यही इसका 'पुनर्जन्म' है।

जीवात्मा अजर अमर अविनाशी है। उसे अपने अनादि कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त होते हैं। जिसके फलस्वरूप वह शुभ तथा अशुभ कर्मों के फलों को भोगता है और पूर्व संस्कारों के अनुसार कर्म करता रहता है। समय पाकर उनकावियोग हो जाता है। इस प्रकार जब तक जीवों के कर्म एवं उनके संस्कार बने रहते हैं, तब तक जन्म-मरण रूपी संसृत्ति चक्र चलता है। उन कर्मों के क्षय ये ज्ञान एवं प्रभु की पराभक्ति से मोक्ष हो सकता है। पराभक्ति द्वारा प्रभु का साक्षात्कार होने पर कर्मों से निवृत्ति एवं मुक्ति हो जाती है फिर पुनर्जन्म नहीं होता, यही भगवान् का कथन है-

''मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते''

इस जन्म में कर्म करता हुआ मनुष्य थक सा जाता है। यदि पुनर्जन्म न होता तो जीव कर्मों के भार से थकित होकर हीनता का अनुभव करने लगाता। उस अवस्था में जीव के सामने घोर निराशा छा जाती। किन्तु पुनर्जन्म होने से जीव इस आशा में रहता है कि हमें शुभ कर्मानुसार पुनः सुखोपभोग का अवसर मिलेगा और उसमे आशा का सञ्चार रहता है और निरंतर कर्मयोगी की भान्ति कर्म करता रहता है।

डॉ० (श्रीमती) मंजू सिंह ठाकुर
सहायक प्राध्यापिका
दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर

संदर्भ-सूची

1. कल्याणः परलोक एवं पुनर्जन्म विशेषांक, वर्ष 43, पृ. 160
2. श्रीमद्भगवद्गीताः 8/24-25-26, गीता प्रेस, गोरखपुर
3. कठोपनिषद्: 1/1/3, गीता प्रेस, गोरखपुर
4. वृहदारण्यक उपनिषद् : 6/2/16, गीता प्रेस, गोरखपुर
5. कठोपनिषद : 1/1/3,
6. कल्याण : तैतालींसवे वर्ष का विशेषांक, पृ. 79
7. श्रीमद्भगवद्गीता :8/16
8. वहीः 4/4
9. वहीः 4/5
10. वहीः 4/9
11. वहीः 4/24-57
12. वहीः 2/13
13. ऋग्वेद : 1/164/19, गीता प्रेस, गोरखपुर
14. ऋग्वेद : 1/164/30,
15. ऋग्वेद : 12/38,
16. ऋग्वेद : 11/4/20,
17. श्रीमद्भगवदगीता : 8/16
18. वहीः 8/16

मृदा प्रदूषणः वैदिक समाधान

मृदा भू-पपड़ी का वह भाग है जिसमें कार्बनिक पदार्थ विद्यमान होते हैं तथा जिसमें पौधे उगते हैं।[1] मृदा ही पेड़-पौधों को आवश्यक खाद्य सामग्री उपलब्ध कराती है जिसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मनुष्य एवं जीव-जन्तु ग्रहण करते हैं।

मृदा के भौतिक, रासायनिक और जैविक गुणों में ऐसा कोई भी अवांछित परिवर्तन जिसका दुष्प्रभाव मनुष्य, पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं पर पड़े अथवा जिससे भूमि की प्राकृतिक गुणवत्ता तथा उपयोगिता नष्ट हो मृदा प्रदूषण कहलाता है।

मृदा उस विराट् पर्यावरण (environment) का अंग है जिस पर समस्त प्रकार का प्रदूषण हो रहा है। चाहे वायु प्रदूषण हो या जल प्रदूषण इन सब में मृदा भी सहभागिनी है। इसलिए मृदा धीरे-धीरे जल या वायु की अपेक्षा प्रदूषण की सम्भावना से अधिक संत्रस्त है।

मृदा का प्रदूषण वायु प्रदूषण या जल प्रदूषण से इस बात में भिन्न है कि वह स्थानिक है जबकि वायु या जल प्रदूषण सार्वभौम है।

सामान्यतः मृदा प्रदूषण छः कारणों से होता है-

(1) वायुमण्डल से प्राप्त प्रदूषक तथा अम्ल वर्षा।
(2) औद्योगिक अपशिष्ट तथा धात्विक कणीय पदार्थ-सीसा, पारा व कैडमियम आदि।
(3) कृषि अपशिष्ट और अन्य कूड़ा-करकट।
(4) भूमिगत लवण
(5) उर्वरकों और जीवनाशी रसायनों का प्रयोग।
(6) ऊष्मीय (thermal) प्रदूषण और नाभिकीय (nuclear) प्रदूषण।

मिट्टी अपने प्रदूषण को स्वयं तक सीमित न रखकर वनस्पतियों में स्थानान्तरित करती है और वनस्पतियाँ आहार चक्र द्वारा अन्य प्राणियों सहित मनुष्यों में।

प्रदूषित मृदा प्राणियों को हानि पहुँचाती है यह धनात्मक प्रदूषण (Positive pollution) है। लेकिन इससे भी भयावह प्रदूषण वह है जिसमें स्थलाकृति में रद्दोबदल होता है। यह किसी साधन-स्रोत के अत्यधिक उपभोग या निष्कासन से होता है। इसे ऋणात्मक प्रदूषण (Negative pollution) कहते हैं। भूमि क्षरण (Soilerosion) ऐसा ही मृदा प्रदूषण है ज़ो अत्यधिक पशुचारण एवं वनस्पति के विनाश से उत्पन्न होता है। मरुस्थलों की उत्पत्ति का एकमात्र कारण ऋणात्मक प्रदूषण है।

घरेलू तथा औद्योगिक अपशिष्ट जो मृदा में फेंक दी जाती है। तृतीय प्रदूषण (Third pollution) है। इन अपशिष्टों में डिटरजेंट, बोरेट, फास्फेट तथा अन्य लवण इतनी मात्रा में रहते हैं कि मिट्टी में पहुँचने पर वे मिट्टी की उर्वरता पर दुष्प्रभाव डालते हैं।

मृदा प्रदूषण से बचने या कम करने के लिए उर्वरकों, जीवनाशी रसायनों का नियंत्रित उपयोग, औद्योगिक अपशिष्टों का शोधन, कूड़े-करकट का समुचित निपटान आदि उपाय हैं।

इन सब उपायों के बावजूद आज मृदा प्रदूषण की समस्या गंभीर होती जा रही है।

समस्या के समाधान के लिए व्यक्ति के मानसिक चिंतन व दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक है। इसके लिए हमें वैदिक दृष्टिकोण से चिंतन मनन करना होगा।

वेदों का मन्तव्य है कि मानव प्रकृति की मर्यादा में रहकर ही प्रगति कर सकता है। ''रक्षया प्रकृतिः पातु लोकाः''[1] उक्ति मनुष्य को सदैव याद रखनी होगी। ऋषियों ने समस्त प्रकृति को नमन किया है[2], जिसमें प्रकृति संरक्षण के भाव भी निहित हैं।

वेदों में पृथिवी को माता कहा गया है[3], जिसका गूढ़ार्थ है कि माता तुल्य पृथिवी का आदर किया जाए तथा उसे प्रदूषण मुक्त रखा जाए।

जल में कमल पत्र तुल्य पृथिवी मूलतः स्वच्छ एवं प्रदूषण रहित है[4], वह शान्तिदायिनी, सुगन्धदायिनी, सुखदायिनी, अमृतदायी पदार्थों वाली और दुग्धादि पदार्थों वाली है[5]। यह विश्वम्भरा, धन की खान, प्रतिष्ठा, हिरण्यवक्षा और जगत् को अपने ऊपर बसाने वाली है[6]।

अथर्ववेद में पृथिवी की उपमा धेनु से दी गयी है। धेनु के समान यदि पृथिवी का पालन और संरक्षण किया जाए तो वह उत्तम आयु, संतान, पुष्टि और धन प्रदान करेगी[7]। भूमि माता तुल्य, अन्तरिक्ष भ्राता तुल्य व द्युलोक पिता तुल्य है क्योंकि वे विपत्ति से बचाते हैं तथा मानव का दायित्व है कि वह ऐसा कोई कार्य न करे जिससे उसके इन बन्धुओं को हानि हो[8]।

भूमि में प्राण, रक्त और आत्मा विद्यमान है-भूम्यां असुरसृगात्मा क्वस्वित्[9]। इस प्रकार पृथिवी मानव सदृश है उसे हिंसित, पीड़ित या प्रदूषित करना पृथ्वी पर भारी अपराध है। यजुर्वेद ने निर्देश दिया है- पृथ्वी मातर्मा हिंसी मा अहंत्वाम्[10]।

वेद मानव को प्रेरित करता है कि तू उत्कृष्ट खाद आदि के द्वारा भूमि को पोषक तत्त्व प्रदान कर, भूमि को दृढ़ कर, भूमि की हिंसा मत कर-पृथिवीं यच्छ पृथिवीं हंह पृथिवीं मा हिंसीः[11]। पृथिवी की हिंसा का अभिप्राय है कि लगातार फसलों द्वारा मृदा को पोषक तत्त्व विहीन करना तथा कीटनाशक दवाओं के अनुचित प्रयोग से उद्योगों के ठोस तथा जलीय दूषित पदार्थों की निकासी से और घरेलू अपशिष्ट पदार्थों के अनियंत्रित विसर्जन से मृदा को प्रदूषित करना।

वेद कहता है कि पृथिवी की गोद अर्थात् उसका धरातल एवं अन्दर के अवयव हमारे लिए कीटाणुयुक्त तथा रोगोत्पादक न रहें-उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्माः[12]।

इसका अभिप्राय यह है कि हम अपशिष्ट पदार्थों आदि के द्वारा मृदा को प्रदूषित न करें।

रत्नगर्भा भूमि के गर्भ में सोना, चांदी, लोहा और हीरा आदि पदार्थ प्रचुर मात्रा में हैं। उनका अधिकाधिक दोहन मृदा प्रदूषण का कारण बना है। अथर्ववेद में हिरण्यवक्षा भूमि को प्रणाम करके उसका अधिक दोहन न करने का संकेत है-

शिला भूतिरश्मा पांसुःसा भूमि संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः।।[13]

जो पृथिवी को क्षीण करते हैं अथवा प्रदूषित करते हैं, उन्हें पृथिवीं उसी प्रकार दण्डित करती है जिस प्रकार अश्व धूल को झाड़कर फेंक देता है[14]। अतएव मानव के हित में अथर्ववेद ने निर्देश दिया है कि यदि हम भूमि की खनन आदि कार्यों के लिए खोदें तो उसकी क्षतिपूर्ति करें। उसकी

रोहण क्षमता नष्ट न करें[15]।

पृथ्वी के प्रदूषण रहित एवं उर्वर होने पर ही मानव पूर्णायु प्राप्त कर सकता है अतः यज्ञ और हव्य पदार्थों द्वारा भूमि को प्रदूषण मुक्त और उर्वर बनाने का प्रयास वेदों में प्राप्त होता है[16]।

वन वायु प्रदूषण को दूर करके मृदा प्रदूषण को रोकते हैं। तैत्तिरीय संहिता में वनस्पति को देव कहा गया है और उससे ऊपर से रक्षा की प्रार्थना की गयी है[17]। मैत्रायणी संहिता (1. 8 .9) और काठक संहिता (6. 6) में औषधियों को पवित्र करने वाली कहा गया है-"औषधयः पावकाः"। शतपथ ब्राह्मण[18] में "जगत्यः औषधयः" कहा गया है जिसका भाव है जगत् हित कारिणी। मैत्रायणी संहिता[19] में वनस्पति को वायु का रक्षक बताया गया है।

वन मृदा अपरदन को रोककर पृथ्वी की रक्षा करते हैं तथा पदार्थों को भी हितकारी द्रव्य के रूप में परिणत कर देते हैं। वेदों में वनों की महिमा को स्वीकार किया गया[20] तथा वनों को सुखदायी माना-अरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु[21]। वृक्ष व वनस्पतियाँ भूमि को समुन्नत तथा उर्वर बनाती हैं अतः ऐसी भूमि सबका भरण-पोषण कर सकती है[22]। मृदा प्रदूषण को दूर करने में पेड़-पौधों के महत्त्व को आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है[23,24] अथर्ववेद ने कठोर शब्दों में कहा है कि जो औषधियों-वनस्पतियों को मारकर पृथ्वी को सताता है उन्हें पृथ्वी हिला देती है, पीड़ित करती है, नष्ट कर देती है[25]।

मृदा प्रदूषण को रोकने का वैदिक समाधान यह भी है कि भूमि पर विद्यमान वनसंपदा के साथ प्राणी जगत् की भी रक्षा की जाए। रासायनिक उर्वरकों व कीट नाशियों की अपेक्षा पशु-पक्षी व कीट भूमि की उर्वरता को बढ़ाने में अधिक सक्षम हैं। ऋग्वेद के अरण्यानी सूक्त में तथा अथर्ववेद[26] में सर्पादि जीव-जन्तुओं, मृग, सिंह आदि पशुओं और कीटों के संरक्षण व पालन पर बल दिया गया है। वनों की रक्षा वास्तव में मनुष्य नहीं करता है, वह तो उसका विनाश और उपभोग ही करता है। इसका श्रेय तो वन्य जीवों को ही जाता है[27]। अथर्ववेद के अनुसार मनुष्यों को खा जाने वाले इन वन्य पशुओं के कारण मनुष्य इन वनों से दूर ही रहते है[28]। परिणामस्वरूप वन अपने स्वाभाविक रूप में विकसित होते हैं।

मृदा प्रदूषण को दूर करने तथा मृदा को उर्वर बनाने में गायों के गोबर व मूत्र का महत्वपूर्ण योगदान होता है अतः वेदों में गौ संरक्षण पर विषेष बल दिया गया है[29]।

अथर्ववेद के अनुसार-सदा जागरूक रहते हुए देवता और राष्ट्र के नेता सब पदार्थों को प्रदान करने वाली इस पृथ्वी की प्रमाद रहित होकर रक्षा करते हैं, तब यह पृथ्वी हमारे लिए मधुर प्रिय पदार्थों का दोहन करती है और हमें तेज तथा ऐश्वर्य से सींचती है[30]। ऋषि प्रार्थना करता है कि, हे पृथ्वी, जो तुम्हारा मध्य भाग है, नाभिस्थानीय केन्द्र स्थान है और जो तुम्हारे बल सम्पन्न प्रदेश हैं उसमें हमें स्थापित करो। हम को सब ओर से पवित्र करों। भूमि मेरी माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ। मेघ मेरा पिता है वह भी हमारा पालन करे[31]।

वेद की शैली में, प्रार्थना के रूप में मनुष्य को आदेश दिया जाता है, अतः इन मंत्रों में मृदा

(पृथ्वी) को प्रदूषण से बचायें रखने का उपदेश दिया गया है।

वेदों के शान्तिमंत्रों[32] में मृदा आदि की जो प्रार्थना की गयी है, वह वास्तव में पर्यावरण प्रदूषण को रोकने का मूल-मंत्र है।

मृदा-संरक्षण के प्रति वेद सचेत हैं। अथर्ववेद का कथन है कि-यह हितकर बात है कि यदि कोई व्यक्ति भूमि का दोहन व शोषण करता है तो हम तेजस्विता के साथ विवेक युक्त होकर उसका नाश करें[33]। मृदा-प्रदुषण के दुष्प्रभाव अब हमारे सामने आने लगे है[34]।

हमारा दायित्व है कि विश्वशंभुवा[35] अर्थात् विश्व का कल्याण करने वाली पृथ्वी की-मृदा को प्रदूषित कर उसका व स्वयं का अकल्याण न करें।

वैदिक जीवन दर्शन व मूल्यों का यदि मानव अनुकरण करेगा तब प्रदूषण युक्त भूमि श्री व भूति प्रदान करेगी और मानव मंगलकारी रीति से प्रतिष्ठित होगा-

भूमे मातर्निधेहि मा, भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे, श्रियां मा धेहि भूत्याम्।।[36]

डा. नन्दिता सिंघवी
व्याख्याता, संस्कृत
राजकीय स्नातकोत्तर डूँगर महाविद्यालय,
बीकानेर-३३४००१

संकेत सूची :-

1. एन्वायरमेण्टल स्टडी-डा.जे.ऐन. गुर्टू। 1990, विमल पब्लिकेशन्स, मेरठ।
2. यजुर्वेद, 36.17
3. अथर्ववेद, 2.28.4, 3.9.1., 12.1.12; यजुर्वेद, 10.23; ऋग्वेद 1.160.2,3
4. इयं (पृथिवी) वै पुष्करपर्णम् - शतपथ ब्राह्मण, 7.4.1.12
5. शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोघ्नी पयस्वती-अथर्ववेद 12.1.5.
6. विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी-वही, 12.1.6
7. वही, 4.39.2
8. वही, 6.120.2
9. वही, 9.14.4
10. यजुर्वेद, 10.23
11. वही, 13.8
12. अथर्ववेद, 12.1.62
13. वही, 12.1.62
14. अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान्य अक्षियन्पृथिवीं यादजायत-वही, 12.1.57
15. यत्ते भूमे विखनाभि क्षिप्रं तदपि रोहतु। मा ते मर्म विमृग्वरी मा ते हृदयमर्पितम्।। वही, 12.1.35
16. भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्। जरदिष्टं मा पृथिवी कृणोतु।। वही, 12.1.22- यजुर्वेद, 2.6-8
17. देवो वनस्पति रूहर्वो मा पाहि-तैत्तिरीय संहिता, 1.2.2.3

18. 1. 2. 2. 2
19. 3.9.4
20. ऋग्वेद, 10. 146
21. अथर्ववेद, 12. 1. 11
22. यस्यां वृक्षा वनस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
    पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि।। वही, 12. 1. 27
23. "डिफोरेस्टेशन एण्ड इट्स कंसीववेन्सिज़ -ए- फोर्मिडेबिल सिचुएशन इअन इण्डिया" वाई यज्ञमा रेड्डी, के. ऐस.ऐस. प्रसाद एण्ड जी जयचन्द्र रेड्डी, एनिवश्न्मेण्ट एण्ड इकोलोजी, 8(1), 1990, 192
24. "कन्जर्वेशन स्टेट्स ऑफ दि चिला मोतीचूर कॉरिडोर फोर एलीफैण्ट मुवमेण्ट इन राजाजी कार्बेट्ट पार्क्स एरिया" ए.जी.टी. जोह्वसिंह, नरेन्द्र प्रसाद एण्ड एस.पी. गोयल। बायोलोजिकल कन्जर्वेशन 51(2), 1990, 125
25. अथर्ववेद, 12.2.57
26. वही, 3.14.3; 12.1.46-49
27. "स्टेटस ऑफ स्नो लिओपार्ड पैन्थेरा यून्सिया इन नोर्थ वेस्ट इण्डिया", जे.एल.फोक्स, एस.पी. सिन्हा, आर.के. चूड़ावत एण्ड पी.के. दास। बायोलोजिकल कन्जर्वेशन, 55, 1991,238
28. अथर्ववेद, 12.1.49
29. वही, ऋग्वेद 4.32, अथर्ववेद 3.28; 4.21; 9.7; 14.2 आदि।
30. यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
    सा नो मधुप्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा।। अथर्ववेद, 12.1.7
31. यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
    तासु नो धेह्यमि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।
    पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु। वही, 12.1.12
32. वही, 19.9.1, 5
33. यद् बदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
    त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः।। अथर्वकेद, 12.1.58
34. "प्रदूषण के भावी संकट"- प्रदूषण पृथ्वी का ग्रहण, प्रेमानन्द चन्दोला, पृष्ठ 110-115, हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली- 110031
35. ऋग्वेद, 1.160.1, 4; 6.70.6
36. अथर्ववेद, 12.1.63

ऋषि कुतुक से पराजित उर्वशी

पुरुरवा और उर्वशी की प्रेम कथा भारतीय साहित्य में आदिकाल से ही मिलती है। सर्व प्रथम ऋग्वेद में इसका उल्लेख प्राप्त होता है-

पुरुखः! पुनरस्तं परोहि
दुरापना बात इवाहमस्मि।

अनेक भारतीय ग्रंथों में इस कथा का भिन्न-भिन्न प्रकार से उल्लेख मिलता है। पुरुरवा सोमवंश के आदि पुरुष हैं। शतपथ ब्राह्मण में महाराज पुरुरवा से उर्वशी को छह पुत्ररत्न प्राप्ति का उल्लेख मिलता है। वहाँ ज्येष्ठ पुत्र का नाम 'आयु' बतलाया गया है।

ऋग्वेद में उर्वशी के आविर्भाव का उल्लेख है किन्तु इसकी उत्पत्ति पर कोई निश्चित मत नहीं है। उर्वशी की उत्पत्ति के संबंध में दो मत प्रचलित हैं-(1) जब देव और असुरों ने समुद्र मंथन किया था तब जो अप्सरायें निकली थी उनमें उर्वशी भी थी, (2) नारायण ऋषि ने अपनी योगमाया से एक अप्सरा की सृष्टि की, जो उनके उरु से उत्पन्न हुई। वह अत्यन्त रूपमती थी। उरु से उत्पन्न होने के कारण वह उर्वशी कहलायी। ऋषि ने उसे इन्द्रलोक भेज दिया।2

श्री अनन्त राम मिश्र 'अनन्त' की सन् 1979 की प्रकाशित कृति उर्वशी-उर्मिला' (दो काव्याख्यान) मुझे अचानक डॉ0 अम्बाप्रसाद 'सुमन' की निजी लायब्रेरी में प्राप्त हुई। मैंने उसे आद्योपान्त पढ़ा। इसके प्रथम आख्यान 'उर्वशी और कुतुक' ने मुझे प्रभावित किया। मुझे यह आख्यान युग सापेक्ष भी प्रतीत हुआ। इसमें कवि ने युगानुरूप परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए त्रिवर्गीय पात्रों को प्रमुख रूप से प्रस्तुत किया है-

1. आधुनिकता क़ी प्रतीक उर्वशी
2. साधना पथ के संयमी-पथिक ऋषि द्वय-पर्वत और कर्दम
3. साधना-शिखर पर आरूढ़ विजयी कुतुक।

मिश्र जी का यह काव्याख्यान प्राचीनता एवं नवीनता का दर्पण है। इस लेख में मैंने ''कुतुर्षि' से पराजित 'उर्वशी' के प्रसंग पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की है।''कुतुर्षि' की 'उर्वशी' पर विजय'' को काव्यमय रूप में मिश्र जी ने बड़ी सरस शैली में प्रस्तुत किया है।

मिश्र जी को 'उर्वशी और कुतुक' की कथावस्तु सर्वप्रथम कानपुर से निकलने वाली श्री सेवक वात्स्यायन द्वारा सम्पादित मासिक पत्रिका 'अनुरंञ्जिका' (15 मार्च 1972) में ''उर्वशी कहाँ है?'' शीर्षक से प्राप्त हुई। श्री मद्भागवत में भी पर्वत, कर्दम और कुतुक में से पर्वत और कर्दम की चर्चा देवहूति के साथ मिलती है। मिश्र जी ने 'उर्वशी और कुतुक' वृत्त को इक्तालीस विविध सवैया छंदों में लिखा है।

जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। काम को सृष्टि का मूल माना गया है। वासना की उपासना अनादि काल से होती आयी है। साथ ही यह भी सत्य है कि तप, संयम एवं साधना काम के सम्मुख सदैव परास्त नहीं हुए हैं। गंगापुत्र भीष्म, पाण्डु पुत्र अर्जुन, अष्टावक्र,

कुतुक आदि के आगे काम ही पराजित हुआ। रूप-यौवन से सम्पन्न इन्द्रलोक की रूपसी अप्सरा उर्वशी जब अर्जुन से अपमानित हुई तब वह अर्जुन को क्लीव पुरुष होने का शाप दे बैठी। इसी शाप के परिणाम स्वरूप अर्जुन को विराट् राज के यहाँ क्लीव रूप में रहना पड़ा।[1]

'उर्वशी और कुतुक' काव्याख्यान के अन्तर्गत अन्त जी ने उर्वशी के रूप-सौन्दर्य का अनुपम वर्णन किया है। इन्द्र से संभाषण करती हुई उर्वशी कहती है-

" प्यास नहीं अभी यौवन की बुझी
कामना निर्झर-सी इठला रही।"[2]

रूप गर्विता उर्वशी का अहंकार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वह महर्षियों तक को प्रश्रयावनत मानती है। इन्द्र इसे अपना अपमान समझते है और वे तिलमिला उठते हैं। नारद जी उनकी व्यग्रता समझ जाते हैं और उनको सान्त्वना देते हुए कहते हैं-

"संयमियों की कमी नहीं संसृति में,
इसको दिखला के रहूँगा
नित्य के कृत्य करो तुम, उर्वशी
का सब दर्प मिटा के रहूँगा।।

नारद जी ने इंद्र का सभा में पर्वत, कर्दम और कुतुक को आमंत्रित किया। ये तीनों ऋषि निश्चित समय पर उर्वशी के नृत्यायोजन में उपस्थित हुए। उर्वशी के नृत्य के प्रारम्भ होने पर धीरे-धीरे संयमी पर्वत और कर्दम ऋषि के संयम के गढ़ हिलने लगे। धीरज के कगार टूट चले। उर्वशी ने जैसे विजय श्री प्राप्त कर ली। वह स्मर-प्राङ्गण में वीरों को धरा साई कर चुकी।

पर्वत और कर्दम की भाँति कुतुर्षि साधना पथ के अर्द्ध-पथिक नहीं थे। वे तो नितान्त पहुँचे हुए संयमी एक निष्ठ साधक-सन्त थे। दैविक, भौतिक रहस्यों के ज्ञाता थे। इन्द्र की सभा में नारी के उस रूप को देखने के लिए प्रतीक्षित थे, जो मानव को विक्षिप्त कर देता है-

"पागल जो करती जन का मन
रूप की राशि सँवारी कहाँ है।२
"मैं उसे देखना चाहता हूँ, इस
अंग-तरंग से न्यारी कहाँ है।"[3]

नारद ऋषि को समझाते हुए कहते हैं-

"नारद ने कुतुकर्षि को यों समझाया कि 'क्या मन में जड़ता है।

रजत-भ्रम सीप में सर्प का रज्जु में त्यों सदा मुने! उर्वशी के तन में है।"4

महर्षि कुतुक की साधना के पथ में कभी भौतिक रूप आड़े नहीं आया-

"साधना के पथ में उनके कभी
भौतिक रूप नहीं अड़ता है।"[1]

ऋषि कुतुक को उस समय बड़ी मर्मांतक पीड़ा हुई जब उनके दो साथी पर्वत और कर्दम उर्वशी के रूप-सौन्दर्य द्वारा छले गये-

"नारद! है जड़ता नहीं, खेद कि
व्यर्थ दो मित्र हमारे छले गये।"[2]

ऋषि कुतुक उर्वशी का दर्प दलित करके पुनः तप के लिए चले गये। अन्तिम जीत संयम की हुई-

"अन्तिम जीत है संयम की'-
दृढ़ हो, भर बुद्धि में भाव भले गये।"[3]
"और यहाँ रुक क्या करेंगे अब
अप्सरा के सब दर्प दले गये।"[4]

बेचारी रूप गर्विता उर्वशी पराजित थी। वह अकुलायी हुई सी लजाई हुई सी इन्द्र के समक्ष खड़ी रह गयी-

"दम-संयम-शक्ति के सामने, वासना
म्लानमना अकुलायी हुई थी।
खड़ी इन्द्र-समक्ष नतानत निश्चल-
उर्वशी आज लजायी हुई थी।"[5]

कुतुकर्षि से पराजित उर्वशी का रूप चित्रित करके मिश्र जी ने काम पर संयम की विजय का जो परिचय दिया है उससे भारतीय संस्कृति का गौरव बढ़ा है। तप, संयम, साधना के प्रति निष्ठा बढ़ी है। आधुनिक युग में ऐसे कवि और काव्य ही समाज का दिशा निर्देश करने के साथ ही युवा-वर्ग का सही मार्ग-दर्शन भी कर सकते हैं।

डॉ० शारदा शर्मा
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
मुन्नालाल एवं ज़०ना०वि०क०भी०
ए० ८७ आवास विकास, सहारनपुर

इतिहास बोलता है..........

संसार में किसका समय है, एक सा रहता सदा।
निशि-दिवा सी घूमती, सर्वत्र विपदा-सम्पदा।।
जो आज एक अनाथ है, नरनाथ कल होता वही।
जो आज उत्सव मग्न है, कल शोक से रोता वही।।

राष्ट्र-कवि मैथिली शरण गुप्त की यह वाणी इतिहास के काल-चक्र की विडम्बना बनकर बोल रही हे। हाँ, हाँ, कवियों की ओजस्वी वाणी में, महापुरुषों के महान् क्रिया कलापों में, वीरों के शौर्य प्रदर्शन में, शस्त्रों-अस्त्रों की झंकारों में, यौवन की उद्दाम प्रचण्ड ज्वालाओं में, तपस्वियों और मनीषियों की ज्ञानाग्नि के तपः पूत यज्ञ की परम पावनी प्रचण्ड आहुतियों में, झनझनाती बेडियों में कशमशाता इतिहास, विप्लव का-विद्रोह का-गदर का, क्रान्ति का जलता, गरजता, शौर्य की उत्तप्त रक्तवाहिनियों में उबलता-उफनता इतिहास। इतिहास बोलता है।

इतिहास, हाँ इति + ह + आस। इतिहास ही है। रुदन व हास-परिहास से संवलित इतिहास। इतिहास निर्माण का पाथेय है। आने वाली पीढ़ी को झकोरता है। झकझोरे क्यों न? इतिहास मिट्टी से सम्भूत होता है। रक्त से सींचित होता है। भावनाओं से स्फुरित होता है। व्यक्ति-परिवार-समाज-राष्ट्र व विश्व से सम्पृक्त होता है। बड़ी वेदनायें-आपदायें-पीडायें-हास-विलास परिहास सहकर भी इतिहास चुप नहीं रहता, वह बोलता है। वह चुप रह ही नहीं सकता। उसकी प्रकृति में स्पन्दन हैं। जीवन है, गति है। वह चरैवेति का साकार रूप है। वह काल गति को अंकित कर उसे उभार देता है, शब्द देता है। यही तो इतिहास है। इसी चेतना से समस्त जग व्याप्त है।

इमारा इतिहास, थोथा इतिहास नहीं है। यह वेद, महाभारत, रामायण, पुराण, उपनिषद्, दर्शन, चरक, सुश्रुत, वराहमिहिर, वाग्भट्ट, कर्पर, कालिदास, भवभूति, भास, वाणभट्ट आदि का सत्य-सनातन इतिहास है। बड़े-बड़े साम्राज्यों, सम्राटों, महाराजाओं के क्रियाकलापों, बड़े-बड़े निर्माणों, मीनारों, किलो, प्रासादों, मन्दिरों, गुफाओं, गगन चुम्बी अट्टालिकाओं, स्तूपों, शिलाओं का इतिहास है। समय की दीवारों पर उत्कीर्ण उन सबकी यशः गाथाओं का इतिहास है। हमारा इतिहास शिव, राम, कृष्ण के परम पवित्र जीवन का उनके लोक कल्याण में समर्पित जीवन का इतिहास है। गंगा-यमुना-ब्रह्मपुत्र, सिंधु, कावेरी के तटों पर विखरा संस्कृति व सभ्यता का इतिहास है। हिमालय की उत्तुंग हिमाच्छादित धवलिम चोटियों का इतिहास, समुद्र की अगाध गहराई में और विस्तृत गगन व अन्तरिक्ष में कुछ खोजता, ऊँचाई को छूता इतिहास। बन्देमातरम् का इतिहास, भारत माँ की जय का इतिहास। हाँ, हाँ यही वह इतिहास है जिसे बड़े-बड़े मनीषियों ने, साहित्यकारों ने, नीतिकारों ने, भूपतियों ने, शिल्पकारों ने स्वातन्त्र्यवीरों ने वाणी दी, रूप दिया और गति दी।

इस पुण्यभूमि का इतिहास, अंगडाई लेता इतिहास, भारत के नवनिर्माण का इतिहास, स्वातन्त्र्योत्तर अनेक संघर्षो व युद्धों का इतिहास, जियो और जीने दो का इतिहास, जय-जवान और जय किसान तथा जय विज्ञान का, भारत की अस्मिता, परमाणु विस्फोटो, अग्नि-पृथ्वी मिसाइलों का इतिहास। दूर संचार व सोफ्टवियर में अद्वितीय उपलब्धियों का इतिहास। खाद्यान्न में पूर्ण निर्भरता का इतिहास। पड़ोसियों से मित्रता व यथायोग्यवाद का इतिहास। भावी सदी का इतिहास। नमन है, नमन है, तुझे ए इतिहास! नमन है।

हमारा इतिहास, हमारी अस्मिता है। शौर्य-उत्सर्ग वीरता व पराक्रम का इतिहास है। स्वराज्य के लिए मर मिटने का इतिहास है। हमारा इतिहास-स्वतन्त्रता देवी के चरणों में अपने शीश अर्पित करने वाले क्रान्तिवीरों का इतिहास, जग-मगाता इतिहास, चमकता इतिहास, हृदयों को उल्लसित कर देने वाला इतिहास, जन्म भूमि भारत माँ की जय-जयकार का इतिहास, अपनी प्यारी मातृभूमि के दारुण दुखों का इतिहास, रक्तिम इतिहास, जलता इतिहास, दहकता इतिहास हृदयों को विदीर्ण कर देने वाला इतिहास, भूखे और नंगे तथा गरीब व अमानवीय अत्याचारों से त्रस्त जन-जीवन का इतिहास, करवट लेता इतिहास, अंगडाई लेता इतिहास-हाँ यही है वह इतिहास, जिसे भारतीय जनता ने अपने रक्त बिन्दुओं से सींचा। यह इतिहास आज का नहीं वर्षों-वर्षों का इतिहास है। इसी इतिहास की एक महानतम कड़ी है लोक मान्य बाल गंगाधर तिलक, जो वस्तुतः भारत माँ के भाल के तिलक थे।

भारतीय धमनियों में बहने वाला स्वतन्त्रता का जोशीला रक्त तिलक जी से पूर्व भी भारतीय मृत्तिका से अग्नि बाणों की तरह निकल निकलकर उत्पीड़क व उद्दण्ड राज-सत्ता को चुनौती देता रहा। उसे बेधता रहा। सालता रहा। आंधी और तूफान बन झकोरता व झंझोड़ता रहा।

अपनी प्यारी जन्मभूमि भारत माँ को परतन्त्रता को बेडियों में जकड़ा देख-कभी नाना जी, तात्याटोपे, कुंवरसिंह, रानीलक्ष्मीबाई, गोबिन्दसिंह, शिवाजी, महाराणा प्रताप आदि एवं उनके पीछे सुभाष, सावरकर, बिस्मिल, अशफाक, भगतसिंह, चन्द्रशेखर, राजगुरु, सुखदेव आदि वीर-हृदयों में असीम चाह और हाथों में तेग तलवार-तमंचे लेकर निकले, तो कभी गुरु रामदास, गुरु विरजानन्द, स्वामी दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द राणाडे, गोखले और उनके पीछे तिलक, गांधी, लाला लाजपत राय जैसे संत व नेता अपने कृत्यों से जनमानस में वैचारिक क्रान्ति का शंखनाद करते रहे।

कितनी प्यारी चीज है स्वतंत्रता! स्वतन्त्र रहना कौन नहीं चाहता? आज संसार का छोटे से छोटा राष्ट्र भी किसी बड़े राष्ट्र की प्रभु सत्ता के नीचे अपने सपनों को दफन. नहीं करना चाहता।

राष्ट्रों के जीवन में समय-समय पर कुछ महान् विभूतियाँ आती है जो क्रान्तिकारी परिवर्तन कर जाती है और समयानुसार कोई न कोई नारा दे जाती है। तिलक जी ने हमें एक महान् नारा (उद्घोष) दिया था-''स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है''। उस समय की नृशंस और अत्याचारी अंग्रेजी सत्ता को बरबस कँपा देने वाला यह नारा 'बालगंगाधार तिलक की आवाज नहीं अपितु जन-जन की आवाज वन गूंज उठा था। स्वतन्त्रता आन्दोलन के उन दिनों में सर्वत्र **बाल, पाल और लाल** की ही चर्चायें होती थी। सारा देश इनकी आवाज सुनता था।

हमारे नायक तिलक जी का जीवन सत्य-न्याय और स्वतन्त्रता, कर्तव्य निष्ठा व साहसादि गुणों से ओत-प्रोत था। पत्रकारिता वाक्पटुता, कर्मशीलता, राजनैतिक विवेकता सभी क्षेत्रों में उनकी अनुपम छाप पड़ती थी। सचमुच तिलक जी का जीवन, जीवन के उच्चतम आदर्शों की एक खुली पुस्तक है। गांधी युग से पूर्व तिलक ही तिलक थे। उन्हीं का मान-सम्मान था। उनकी लेखनी और वाणी ही भारत राष्ट्र को गति और उत्साह प्रदान करती थी। नीति और राह दिखाती थी, भारतीय इतिहास का वह युग 'तिलक-युग' था।

ऐसे लोक मान्य महामानव तिलक जी का जन्म 23 जुलाई 1856 ई0 में महाराष्ट्र के रत्नागिरि कस्बे में रामचन्द गंगाधार राव और पार्वती बाई के घर में हुआ था। केशव उनका बचपन का नाम था। संस्कृत और गणित पर उनका प्रारम्भ से ही असाधारण अधिकार था। बिना कागज पैन्सिल गणित के कठिन से कठिन सवाल क्षणों में हल कर देते थे।

सत्यवादी ऐसे कि उसके लिए अपने को न्यौछावर कर देने वाले, पढ़ते हुए एक बार किसी बालक ने मूंगफली के छिलके उनके पास डाल दिए अध्यापक की असत्य बात के सामने डट गए। क्योंकि मूंगफली तिलक ने नहीं खाई थी। पिता ने भी अध्यापक से कहा-'तिलक सदा सत्य बोलते है और बाहर की कोई वस्तु नहीं खाते।' ऐसे सत्य के प्रति हठीले थे हमारे तिलकजी महाराज।

समय आया। सर्वत्र भारत के कोने-कोने से तिलक-तिलक यही आवाज आती थी। यही गूंज होती थी। तिलक नेता नहीं। सेवक थे। पीड़ित जनता के सेबक। पराधीन जनता के सेबक। कराहती और तड़पती जनता के सेवक/प्लेग की महामारी से तड़पती जनता के सेवक। दु:खी जनता के सेवक। अशिक्षित व बेपढ़ जनता के सेवक। सच्चे-हित-चिन्तक। सन् 1908 के वे दिन। मांडले जेल में तिलक जी नजरबन्द, अपराध...... केसरी अखबार में अंग्रेजी राज्य सत्ता के विरुद्ध लेख। खुला राज-विद्रोह। किन्तु मांडले जेल से आध्यात्मिक विचार गंगा की अमृत धारा 'वह निकली-"गीता रहस्य" रूप में विश्व की अनुपम पुस्तक। इस ग्रंथ ने भी तिलक जी को अमर कर दिया।

तिलकजी मन-वचन और कर्म की एक-रूपता के प्रतीक थे। भारतीय जनता के बेताज के बादशाह थे। अपने विशेष गुणों के कारण ही जनता के प्यारे बने और **लोक मान्य** कहलाये। 31 जुलाई 1920 को भारत के इस अमर सपूत का महा प्रयााण हुआ। सारा राष्ट्र ही शोक-संतप्त नहीं हुआ अपितु प्रकृति भी रो उठी। आकाश से भी भारी वर्षा की झड़ी लग गई उनके कार्य उनका नाम अमर है आओं स्वतन्त्रता की इस जन्म सिद्ध अधिकार की महान् ज्योति को कभी बुझने न दे। स्वतन्त्रता के अमर शहीद सपूतों को कभी विस्मृत न होने दें। इतिहास बोलता है बोलता रहेगा। समय की भिति पर स्वर्णिम रेखायें चित्रित होती हैं होती रहेंगी। परन्तु 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' गीता की यह पंक्ति कर्त्तव्य का बोध कराती रहेगी। युग-युग तक-हाँ युग-युग तक।

– महावीर 'नीर' विद्यालङ्कार
गुरुकुल कांगडी,
हरिद्वार

महर्षि दयानन्द की वैज्ञानिक दृष्टि

आदि सृष्टि में अग्नि, वायु, आदित्य और अँगिरादि ऋषियों के माध्यम से वेद ज्ञान प्राप्त हुआ। इसी ज्ञान के आधार पर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जब देखा कि समाज मूलतः वैदिक सिद्धान्तों एवं संस्कारों से दूर हो गया है तो उन्होंने दिग्भ्रमित समाज को सुव्यवस्थित एवं संस्कारित करने के लिए मानवीय जीवन में कृण्वन्तो विश्वमार्यम् के सिद्धान्त को परिलक्षित करने का व्रत लिया। यजुर्वेद का वेद वाक्य 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा' भी निरन्तर वेद-वाणी के श्रवण की ही शिक्षा प्रदान करता है, क्योंकि अनादि काल से ही इस सृष्टि का रचयिता परमात्मा है जो शासक, स्वामी एवं नियन्ता भी है। जो प्राणी श्रेष्ठ, सदाचारी, धर्मात्मा, सत्यवादी, संस्कारी तथा प्रगति शील होता है। वही आर्य अर्थात् ईश्वर-पुत्र कहलाता है।

विगत पाँच हजार वर्षों के इतिहास में आज तक महर्षि दयानन्द सदृश सूक्ष्मदर्शी दिव्य द्रष्टा, वेदों के यथार्थ स्वरूप का व्याख्याता, नाना मत मतान्तरों के जाल से मानव जाति को मुक्त कराकर एकता और प्रेम के सूत्र में विश्व को बांधने वाला प्राचीन आर्य-सभ्यता और संस्कृति को गौरवान्वित करने वाला, निर्भीकता पूर्वक सत्य भाषण वक्ता महामानव नहीं हुआ। वस्तुतः 19वीं सदी के महा नायक महर्षि दयानन्द सरस्वती एक युग द्रष्टा ऋषि थे। जिन्होंने हिमालय की चोटी से संसार को सन्देश दिया कि वैदिक ज्ञान की ओर लौटो तथा अपने जीवन को आर्य बनाते हुए-

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
सवं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

मनुस्मृति के इस वाक्य को जीवन में संयोजित कर 'मत्वाकर्माणि सिव्यति' के सिद्धान्त को परिलक्षित करो। दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश तथा स्व मन्तव्यामन्तव्य प्रकाश की भूमिका में अपने सार्वभौम विचारों और मन्तव्यों को भली प्रकार दर्शाया है। विज्ञान, आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक, शैक्षणिक, शारीरिक, राजनीतिक, औद्योगिक, आर्थिक तथा वर्णाश्रम व्यवस्था को स्पष्ट रूप में वर्णित किया है। दूसरी ओर महर्षि दयानन्द की सूक्ष्मेक्षिका वैज्ञानिक दृष्टि ने वेदों का आश्रय लेकर मूर्ति-पूजा, अवतार वाद तीर्थाटन, जन्म परक, वर्ण-व्यवस्था, गुरुडम, सम्प्रदायवाद, श्राद्ध-तर्पण, सती-प्रथा नारी-असमानता, आदि कुरीतियों व अन्धविश्वासों का विरोध एवं खण्डन वेद, उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृति एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की महत्ता को वैज्ञानिक दृष्टि से प्रसारित किया है। दयानन्द के मत में-सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जातें हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है। दयानन्द की शिक्षा-नीति भी वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक है। उसमें सह-शिक्षा के लिए कोई स्थान नहीं है। सह-शिक्षा पाश्चात्य संस्कृति के संस्कारों की जननी है, किन्तु वैदिक गुरुकुलीय शैक्षिक प्रणाली मानव को जहाँ सुसंस्कारों से संस्कृत करती है वहीं वेदों में वह सभी ज्ञान सामग्री विद्यमान है जो प्राणिमात्र को ज्ञान-विज्ञान की पराकाष्ठा से अभिसिञ्चित करती है। दयानन्द जानते थे कि वेदों में केवल यज्ञ-योग एवं आध्यात्म ही नहीं है अपितु ज्योतिष, यान्त्रिक कला, खगोल, भूगोल, काम-शास्त्र एवं शिक्षा शास्त्र के मूल सिद्धान्त

भी विद्यमान हैं, जिन्हें देखकर आधुनिक विशेषज्ञ वैज्ञानिक मौन रह जाते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त भी करोड़ो वर्षों पूर्व वेद के दीर्घतमा ऋषि ने आधुनिक वैज्ञानिक न्यूटन से पूर्व ही प्रतिपादित कर दिया था, वहीं दयानन्द के प्रबुद्ध शिष्य पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी ने भी वेद के "मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुण च." इस मन्त्र को लेकर जल की संरचना के सिद्धान्त को निरूपित किया है जो वेदों एवं वेदानुकूल महर्षि दयानन्द की वैज्ञानिक दृष्टि का ही परिणाम है।

श्री अभिनव कृष्ण भारती की पुस्तक वैदिक गणित ने तो न केवल भारत में बल्कि जर्मन, इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि देशों के विश्व विद्यालयों को भी अनुसंधान का नया विषय प्रदान कर दिया है। यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में ज्योतिष सिद्धान्त निहित हैं। वायुयान का आविष्कार होने से पूर्व ही यहाँ संस्कृत भाषा में निबद्ध 'वृहद् विमान शास्त्र' नामक ग्रन्थ उपलब्ध था जो जीर्ण-क्षीर्ण अवस्था में प्राप्त हुआ है। वेदों में प्राप्त इन वैज्ञानिक दृष्टिकोणों के आधार पर ही महर्षि दयानन्द ने कहा था कि यदि मुझे समस्त साधन एवं उपकरण प्राप्त करायें जाये तो मै भी वायुयान का निर्माण कर सकता हूँ। प्राचीन काल में भौतिक, वैज्ञानिक ऋषि महर्षि भारद्वाज का वैज्ञानिक दृष्टि कोण भी वेदानुकूल एवं शास्त्र सम्मत था, जिसका वर्णन उपनिषदादि में प्राप्त होता है।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में स्वामी दयानन्द ने लिखा है-वेदों में दो विद्यायें है। -एक अपरा, दूसरी परा। इनमें से अपरा यह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है, दूसरी परा-जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है।

स्वामी दयानन्द की इस वैज्ञानिक एवं राष्ट्रीय प्रेम की दृष्टि को देखकर उनकी मृत्यु के समय फैडंरिक पैन्थम पाश्चात्य वैज्ञानिक ने कहा था- "स्वामी दयानन्द की मृत्यु का समाचार मेरे लिए वज्रपात के तुल्य है, उनके देहावसान से भारत ने एक ऐसा दार्शनिक खो दिया है जिसके समान भारत में सम्भवतः अन्य दार्शनिक पैदा नहीं होगा।" कांग्रेस के संस्थापक एलन आक्टेवियो ह्यूम, जे0 रीड ग्राह्म, पी0 हैरीसन, ऐनीबैसेन्ट आदि पाश्चात्य विद्वान् दार्शनिकों ने भी दयानन्द को श्रेष्ठ पुरुष मानते हुए अनुभव किया कि दयानन्द को खोकर भारत को बहुत हानि उठानी पड़ी है।

विश्व बन्धुत्व की कल्पना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का लक्ष्य विश्व को काया-कल्प करने की क्षमता केवल वेद में है जो समता, विश्व भ्रातृ-भाव, सर्वांगीण विकास और वैज्ञानिक आधार से पूर्णतया सम्पुष्ट है।

पाश्चात्य वेदज्ञ भी अब वेदों के यथार्थ स्वरूप का सामुख्य करने पर विवश हो रहे हैं। वेद विश्व धार्म का मूलाधार है अतः देर-सवेर विश्व को इनकी ओर ही लौटना होगा। साम्प्रदायिक आग्रहों से मुक्त होकर यदि वेद मंथन हो तो और उनके अनुरूप हमारा आचरण हो तो प्राचीन आर्यों की भाँति हर हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी, यहूदी अपने व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं वरन्

अपने सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन में भी एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकता है। विश्व-शान्ति, विश्व भ्रातृत्व और विश्व कल्याण का लक्ष्य इसी क्रान्ति-पक्ष पर चल कर प्राप्त हो सकता है। वस्तुतः वेद ही मानव जाति के उज्ज्वल भविष्य की आशा है।

हम प्रतिवर्ष युग-प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी का पुण्य समरण करते हुए उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। जिसकी महक हमारे दिल, दिमाग और आत्मा को पूरे वर्ष भर सुवासित किये रखती है, लेकिन इतने मात्र से हम ऋषि-ऋण से उऋण नहीं हो सकते। इसके लिए तो हमें संसार भर में ऋषि का वेद-गान गुंजाना होंगा, 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का लक्ष्य पूरा करना होगा। ऋषि दयानन्द का उद्देश्य और लक्ष्य अभी अधूरा है उसे पूरा करने के लिए हमें संसार की चारों दिशाओं में वेद का प्रकाश फैलाना होगा जिससे वास्तविक विश्व-धर्म की सार्वभौमिकता, सार्वकालिकता, विश्व-भ्रातृत्व तथा विश्व शान्ति का चिर-घोषित पथ प्रशस्त हो सके। यही प्रातः स्मरणीय देव दयानन्द के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी। यथा-

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्ध्नि वचसा वेदयामसि॥

डॉ० योगेश शास्त्री
गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. (हरिद्वार)

नाट्य में रूपकों की संख्या-एक विवेचन

आचार्य भरतमुनि की अमरकृति 'नाट्यशास्त्र' संस्कृत साहित्य जगत् में समस्त कलाओं का विश्वकोष माना जाता है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्यकला की उत्पत्ति का आख्यान उपलब्ध होता है। इसके अनुसार प्राचीनकाल में त्रेता युग में वैवस्वत मन्वन्तर के प्रारम्भ में लोगों के काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि के वशीभूत हो जाने पर इन्द्रादि देवों ने ब्रह्मा के पास जाकर एक ऐसे क्रीडनीयक के निर्माण की प्रार्थना की जो दृश्य एवं श्रव्य हो।[1] इसी के फलस्वरूप ब्रह्मा ने समाधिस्थ होकर 'नाट्यवेद' नामक पञ्चम वेद की सृष्टि तथा भरतमुनि को इसकी शिक्षा देकर उन्हें अपने पुत्रों के साथ प्रयोग करने के लिए आदेश दिया।[2] आचार्य भरत ने जिस नाट्यशास्त्रीय परम्परा का सूत्रपात किया उसी को आधार बनाकर कालान्तर में शास्त्रीय एवं काव्य ग्रन्थ लिखे गए।

काव्य में नायक की धीरोदात्तादि जो अवस्थाएँ प्रतिपादित की गई हैं उसी को 'नाट्य' की संज्ञा प्रदान की गई है। जैसा कि दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने लिखा है-

"अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्"

शारदातनय ने अपने ग्रन्थ में नाट्य को इन शब्दों में परिभाषित किया है-

नटकर्मैव नाट्यं स्यादिति नटविदां मतम्।[3]

नाट्य को 'रूपक एवं 'रूप' की भी संज्ञा दी जाती है। नट किसी भी मूल नायक आदि का अभिनय मन्च पर प्रस्तुत करता है। इस प्रक्रिया में नट पर नायकादि के व्यवहारों का आरोप होने से ही नाट्य को 'रूपक' कहा जाता है तथा जो अभिनय नट प्रस्तुत करता है वह सामाजिकों के द्वारा देखा जाता है। इस कारण से इसकी 'रूप'संज्ञा भी सार्थक है।

अभिनय पर आधारित इस नाट्य के भेदों की चर्चा भी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होती है। 'नाट्य-शास्त्र' में आचार्य भरत ने नाट्य के दस भेदों की चर्चा की है जो इस प्रकार हैं- नाटक, प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग।[1] 'भरत प्रतिपादित नाट्य के ये दस भेद ही परवर्ती नाट्यशास्त्रियों' के लिए प्रामाणिकता का आधार बन गये। दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने भी भरतोक्त दस प्रकार से रूपकों को ही स्वीकारा है।[2] इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ[3] एवं आचार्य विद्यानाथ[4] भी दस प्रकार के रूपकों को ही मान्यता प्रदान करते है।

नाट्यजगत् में दस प्रकार के रूपकों के अतिरिक्त नाट्य के अन्य भेदों को भी कहीं-कहीं ग्रहण किया गया, जिन्हें उप-रूपक की संज्ञा प्रदान की गई। आचार्य धनञ्जय ने सर्वप्रथम 'नाटिका' का उल्लेख किया है[5] जो दस प्रकार के रूपकों से पृथक् है। आचार्य धनिक ने उपरूपकों को नृत्य का भेद माना है। नाट्य भेद नहीं। उपरूपकों में आङ्गिक अभिनय का बाहुल्य होता है। शारदातनय ने अपने ग्रन्थ भाव प्रकाशन में भरताभिमत दस रूपकों के साथ ही उसके बीस और प्रकार बताए हैं।इनके अनुसार जहाँ भरतोक्त दस रूपक रसात्मक होते हैं। वहीं बीस भावात्मक होते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने भी अठारह उपरूपकों को स्वीकार किया है-

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा॥
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भणिकेति च॥
अष्टादश प्राहु रूपकाणि मनीषिणः॥[१]

संस्कृत नाट्य में रूपक एवं उपरूपक के ये भेद काल्पनिक नहीं अपितु वास्तविक हैं तथा उसके कुछ आधार भी हैं। शारदातनय के अनुसार रूपक नाट्य है और उपरूपक नृत्य।[2] नाट्य रसाश्रित होता है तथा नृत्य भावाश्रित। इसी प्रकार रूपक वाक्यार्थभिनय को कहते हैं तथा उपरूपक पदार्थाभिनय होता है। धनञ्जय भी इसी मत से सहमत हैं। प्रस्तारतन्त्र के रचयिता तथा आचार्य भरत के शिष्य कोहल के अनुसार नाट्यके दो भेद हैं-मार्ग तथा देशी। इनमें मार्ग के बीस भेद होते हैं। उनमें दस रूपक कहे गए हैं। देशी के दस भेद होते हैं। इस प्रकार इन्होंने नाट्य के तीस भेद माने हैं।[3]

यद्यपि नाट्यशास्त्रीय विद्वानों ने रूपकों, उपरूपकों की संख्या के विषय में भाँति-भाँति के विचार प्रस्तुत किए हैं, तथापि नाट्य के क्षेत्र में नाट्य अथवा रूपकों की मान्य संख्या दस ही है। भरत प्रतिपादित रूपक के दस भेदों को ही प्रधान माना गया है।

रूपकों के इस भेद की चर्चा के प्रसङ्ग में यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि रूपकों के इस प्रकार से भेद-प्रतिपादन का आधार क्या है? यद्यपि सभी रूपक मुख्य रूप से अवस्थाओं के अनुकरण पर ही आधारित हैं तथापि कथावस्तु, अभिनेता एवं रस के आधार पर उनके प्रकार माने जाते हैं। जैसा कि दशरूपककार ने कहा है-

"वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः"

आचार्य विद्यानाथ ने भी अपने ग्रन्थ में कहा है-

"वस्तुनेतृरसास्तेषां रूपकाणां हि भेदकाः"[१]

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' में नाटक आदि के विवेचन में वस्तु को विषय बनाया है किन्तु रस को नहीं। इससे यही प्रतीत होता है कि वे केवल वस्तु को ही रूपकों का भेदक स्वीकार करते हैं।

नाट्य के उपर्युक्त भेदक तत्त्वों में कथावस्तु ही नाट्य का शरीर मानी जाती है। आचार्य धनञ्जय ने **कथावस्तु** मुख्य रूप से दो प्रकार की मानी है- मुख्य अर्थात् आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक। आधिकारिक कथावस्तु नेता द्वारा फल सिद्धि तक पहुँचाई जाती है तथा समस्त अधिकृत में व्याप्त रहती है।

प्रासङ्गिक कथावस्तु आधिकारिक की अङ्गभूत होती है। जैसा कि साहित्य दर्पण में कहा गया है-

"अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीष्यते।"[१]

इन दोनों ही प्रकार की कथावस्तु के उदाहरण स्वरूप साहित्यदर्पण में ही कहा गया है।

'रामायण' में रामचन्द्र का चरित आधिकारिक कथावस्तु है तथा सुग्रीव आदि का चरित उसका उपकारक है अतः वह प्रासङ्गिक कथावस्तु है।

नायक के आधार पर भी रूपकों में भेद किया गया है। नाट्शास्त्रीय परम्परा में नायक चार प्रकार के माने गये हैं-

1. धीरोदात्त
2. धीरोद्धत
3. धीरललित
4. धीरप्रशान्त

मुख्य रूप से तो नायक दाता, कृतज्ञ, पण्डित, कुलीन, लक्ष्मीवान् लोगों के अनुराग का पात्र, रूप यौवन और उत्साह से युक्त, तेजस्वी, चतुर एवं सुशील माना गया है किन्तु विशेष प्रकार का नायक विशेष प्रकार के गुणों से ही युक्त होता है। जैसे धीरोदात्त नायक तेजस्वी, अत्यन्त गम्भीर, सहनशील, स्वाभिमानी तथा दृढव्रती होता है। 'नाटक' का नायक 'धीरोदात्त' कोटि का ही होता है। जैसे 'उत्तर रामचरितम्' नाटक के नायक राम हैं।

डिम, व्यायोग, वीथी एवं ईहामृग आदि रूपकों का नायक धीरोद्धत होता है। यह दर्प, मात्सर्य, मायावी, छद्मी, अहंकारी, चञ्चल और उग्र स्वभाव वाला होता है।

विभिन्न प्रकार की कलाओं में आसक्ति रखने वाला सुखी और कोमल नायक धीर ललित नायक कहलाता है। प्रायः यह राजवंश तथा नाटिकाओं का नायक होता है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका का नायक उदयन धीरललित कोटि का ही नायक है।

'साहित्यदर्पण' में कहा गया है-

> "सामान्यगुणैर्भूयान्द्विजादिको धीर शान्तः स्यात्"

अर्थात् सामान्य गुणों वाला, ब्राह्मण, मन्त्री या वणिक् धीरप्रशान्त नायक होता है। प्रकरण का नायक धीर प्रशान्त ही होता है जैसे 'मृच्छकटिकम्' एवं 'मालतीमाधवभ् में क्रमशः चारुदत्त एवं माधव'धीर प्रशान्त' नायक हैं।

नाट्य में रस सर्वप्रधान तत्त्व माना जाता है। इसके आधार पर भी रूपकों का भेद किया जाता है। रस की महत्ता को स्पष्ट करते हुए भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में लिखा है कि रस के बिना किसी भी अर्थ का प्रवर्तन नहीं होता। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के संयोग से निष्पन्न होने वाला रस सहृदयों द्वारा आस्वाद्य होता है। नाट्य में विभिन्न भावों के अभिनय में व्यञ्जित तथा वाणी, अङ्ग एवं सत्त्व से मिले हुए स्थायी भावों का आस्वाद प्राप्त कर सामाजिक (दर्शक) आनन्दित होते है। रसानुभूति से होने वाले आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द कहा गया है।

आचार्य भरत ने श‍ृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स एवं अद्भुत संज्ञक आठ रसों को माना है। किन्तु 'नाट्यशास्त्र' की टीका अभिनव भारती में अभिनवगुप्त के अनुसार शान्त

नामक नवम रस भी है। नवरस को स्वीकृति प्रदान करने वाले आचार्यों में आचार्य मम्मट, हेमचन्द्र, रामचन्द्र, गुणचन्द्र, विद्यानाथ, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि प्रमुख है। किन्तु आचार्य धनञ्जय एवं धनिक ने शान्त रस की पुष्टि नाट्य में न होने से इसे अस्वीकार किया है-

''शमपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।''

इन्हीं के अनुकरण पर शारदातनय ने भी शान्त रस को नाट्य के लिए उपयोगी नहीं माना है।

उपर्युक्त वस्तु, नेता और रस इन तीन मौलिक भेदक तत्त्वों को आधार बनाकर ही नाट्यशास्त्रीय परम्परा में रूपकों का भेद विवेचन किया गया है।

डॉ० आशा रानी राय
प्राचार्या
कानपुर विद्या मन्दिर महिला
(पी.जी.) महा विद्यालय
स्वरूप नगर- कानपुर

1. नाट्यशास्त्र- 1/12-16
2. नाट्यशास्त्र- 1/19-24
3. भावप्रकाशन, 2 अधिकार, पृ0 46
1. 'नाट्यशास्त्र', 18/2-3
2. 'दशरूपक' 1/8
3. साहित्यदर्पण-6/4-6
4. अग्निपुराण - 338/ 1-4
5. दशरूपक - 3/ 43
1. साहित्यदर्पण-6/3-6
2. भावप्रकाशन - अधिकार-7
3. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर - पृ. 543
1. प्रताप रुद्रयशोभूषण नाटक प्रकरण, पृ. 102
1. साहित्यदर्पण-6 / 4

अध्वरीय तथा अर्ह विश्लेषण

अध्वरीय-वैदिक कोष निघण्टु में 'अध्वरम्' अन्तरिक्षवाची तथा 'अध्वरः' यज्ञवाची नामों में परिगणित है[1]। इस यज्ञवाची 'अध्वर' पद में 'ध्वृ' धातु हिंसार्थक है, अध्वर में उसका प्रतिषेध है। 'नञ्' पूर्वक 'ध्वृ' धातु से 'पुंसि संज्ञायां धः प्रायेण' (अष्टा0 3,3,118) से 'घञ्' प्रत्यय होकर 'अध्वरः' पद बना है। यद्यपि आचार्य पाणिनि के धातुपाठ में 'ध्वृ हूर्छने[2]' धातु कौटिल्यार्थक पढ़ी है, किन्तु निघण्टुकार ने इसे हिंसार्थक माना है। काशकृत्स्नधातुपाठ में 'ध्वृ' धातु अपरिगणित है। एवं यज्ञवाची अध्वर पद का निर्वचन 'अध्वानं सन्मार्गं राति ददति' - इस प्रकार किया जा सकता है। शतपथब्राह्मण में 'तस्माद्यज्ञोऽध्वरो नाम[3]' लिखकर अध्वर का यज्ञवाची उल्लेख हुआ है।

चतुर्वेदवैयाकरण पदसूची में अध्वरीय धातु का निर्देश किया गया है, जिससे 'अध्वरीयसि' रूप का प्रयोग माना है। ऋग्वेद में 'अध्वरीयसि' का प्रयोग तीन स्थलों पर हुआ है -

तवे प्रशास्त्रं त्वमेध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ॥ २, १, २

ऋषिः आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः।। **देवता**-अग्निः।। "हे अग्निदेव, जिस समय तुम यज्ञ की इच्छा करते हो, उस समय प्रशास्ता का कर्म भी तुम्हारा है"।

यहाँ वेंकटमाधव एवं सायण ने धातु का अर्थ 'यज्ञ की कामना करना' गृहीत किया है[4]। यास्काचार्य ने इसीलिए "**अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं कामयत इति वा**[5]" कहा है। स्वामी दयानन्द ने यहाँ धातु का "अपने को अंहिसा कर्म की इच्छा करना' अर्थ दिखाया है -हे अग्नि के समान बलवान् वर्त्तमान विद्वान् ! आपका उत्तम शिक्षा करना काम है, आप अपने आप को अंहिसा कर्म की इच्छा करते हो[6]"।

ऋग्वेद (10,91,10) में उपर्युक्त मन्त्र की पुनरावृत्ति हुई है। प्राप्त भाष्यों में अर्थ पूर्ववत् ही हैं।

उप ब्रूषे यजस्यध्वरीयसि।। ऋ० १०,९१,११

ऋषिः अरुणो वैतहव्यः।। **देवता** अग्निः।। "हे अग्निदेव ! तुम यज्ञानुष्ठान करते हो और अध्वर्यु का कार्य करते हो"।

वेंकटमाधव ने "यजमान बनकर यज्ञ करते हो और अध्वर्यु के समान आचरण करते हो" अर्थ किया है[7]। सायण-कृत् अर्थ भी वेंकटमाधवानुसार ही है[8]।

एवं 'अध्वरीय' धातु का अर्थ वेदभाष्यकारों ने यज्ञ करना, अध्वर्यु के समान आचरण करना तथा अपने को अहिंसा कर्म की इच्छा करना किया है। सभी का अभिप्राय यास्काचार्य-प्रोक्त अध्वर्यु के निर्वचन पर आधारित है, जहाँ उन्होंने अध्वर्यु के चार प्रचार के व्याख्यान किये हैं। (१) '**अध्वरं युनक्ति इति अध्वर्युः**"। यज्ञ को संयुक्त करने वाले का नाम अध्वर्यु है। यहाँ अध्वर पूर्वक यज् धातु को '**मृगय्वादयश्च**[9]' से कु प्रत्यय निपातन से होकर 'अध्वर्यु' पद बना है। इसीलिये स्वामी दयानन्द ने अध्वर्यु-पद का निर्वचन एवं किया है- '**अध्वरं यज्ञं यातीति अध्वर्युः**"[10]। (2) '**अध्वरस्य नेता**"। यज्ञ का नेता। निरुक्त के हिन्दी भाष्यकार श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार पालीरत्न का

कथन है कि "णीञ् प्रापणे, और या प्रापणे दोनों धातुयें समानार्थक हैं, यास्काचार्य ने स्पष्टीकरण के लिये नेता का प्रयोग कर दिया है, अन्यथा **'अध्वरस्य याता'** चाहिए[11]"। यहाँ भी अध्वर पूर्वक 'या' धातु से **'मृगय्वादयश्च'** से कु प्रत्यय होकर अध्वर्यु पद सिद्ध हुआ है। **'अध्वरं कामयते अध्वर्युः'** यज्ञ की कामना करने वाला अध्वर्यु है। यहाँ कामना अर्थ में अध्वर पद से "सुपः आत्मनःक्यच्" (अष्टा0 3, 1,8) से 'क्यच्' प्रत्यय होकर "क्याच्छन्दसि" (अष्टा0 3,2,170) से 'उ' प्रत्यय होकर 'अध्वर्यु' पद निष्पन्न हुआ है। (4) **अध्वरम् अधीते अध्वर्युः**। अध्वर्यु यज्ञविद्या का अध्ययनकर्ता होता है। यहाँ अध्ययन करने अर्थ में अध्वर पद से 'यु' प्रत्यय हुआ है। आचार्य पाणिनि ने यद्यपि **'तदधीते तद्वेद'** (अष्टा0 4,2,58) से अण्, **'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्'** (अष्टा0 4, 2, 59) से ठक्, **'क्रमादिभ्यो वुन्'** (अष्टा0 4,2,60) से वुन् तथा **"अनुब्रह्माणादिनिः"** (अष्टा0 4, 2, 61) से इनि- ये चार प्रत्यय अध्ययन अर्थ में माने हैं, किन्तु आचार्य यास्क ने 'अध्वर्यु' पद के निर्माण में अध्ययन प्रकरण होने पर 'यु' प्रत्यय का निर्देश किया है।

लौकिक भाषा में भी 'अध्वर' पद यज्ञार्थ में प्रयुक्त हुआ है-

'तमध्वरे विश्वजिति क्षितिशम्"।। रघुवंश

ऋग्वेद में **अध्वर श्रीः**[१२] (यज्ञ का महान् अविनाशी परमेश्वर का आश्रय लेकर रहने वाला); **अध्वरस्य केतुः**[१३] (अविनाशी महान् यज्ञ का प्रवर्तक और ज्ञापक-सूर्य); **अध्वर्यन्ता** (अश्विद्वय या स्त्री पुरुष का विशेषण। अर्थ यज्ञ की इच्छा करते हुए); **अध्वर्यू**[१५] (हिंसा एवं आत्मविनाश न चाहने वाले, अविनाशी दोनों आत्मा, यज्ञशील स्त्री पुरुष); **अध्वराणां नेता**[१६] (क-यज्ञों का नेता अग्नि; ख-न नष्ट होने वाले तत्वों का संचालक); **अध्वराणां सम्राट्**[१७] (क-यज्ञों का सम्राट् स्वरूप अग्नि; ख-परमेश्वर); **अध्वरीयत्**[१८] (हिंसारहित यज्ञ करने वाला ऋत्विक्; जीवन यज्ञ का सम्पादक प्राण); पदों का प्रयोग प्राप्त होता है, जो हिंसारहित कर्म और यज्ञीय भावना को अध्वरीय से संयुक्त करते हैं।

अर्ह-आचार्य पाणिनि के धातुपाठ में अर्ह् धातु भ्वादिगण में एक बार तथा चुरादिगण में दो बार पूजा अर्थ में पठित है[19]। भ्वादिगणी अर्ह धातु परस्मैपदी है तथा चुरादिगणी उभयपदी। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने इसका क्रमशः(1) पूजा करना, सत्कार करना; (2) पूजनीय होना, पूजा योग्य होना; (3) योग्य होना;-अर्थ किये है[20]। आचार्य काशकृत्स्न ने भी अर्ह धातु पूजा के अर्थ में मानी है, चन्नवीर कवि ने इसका अर्थ 'पूजा योग्य होना' दिखाया है तथा इससे अर्हन्-पूज्यः, जिनः,।अर्हः, अर्हिः, अर्हुः, अर्हणम्-ये चार पूज्यार्थक पद दर्शाये हैं[21]। काशकृत्स्न के धातुपाठ में चुरादिगण में एक बार अर्ह धातु पूजार्थक है[22]। माधवीया धातुवृत्ति में भी चुरादिगणान्तर्गत इस धातु का एकधा व्याख्यान हुआ है, जो उचित है। प्रयोग-सामर्थ्य से अर्ह धातु प्रशंसा के अर्थ में प्रयुक्त हुई है, यथा-'अर्हन् इह भवान् विद्याम्' (आप विद्या पढ़ने के योग्य हैं); 'अर्हन् इह भवान् पूजाम्' (आप सत्कार के योग्य हैं)। 'अर्ह प्रशंसायाम्' (अष्टा 3.2.133) में आचार्य पाणिनि का प्रशंसार्थक अभिप्राय है। भट्ट

हलायुध कोष में अर्ह् धातु से निर्मित अर्हन् पद के क्षपणकः; बुद्धः; जिनः; पारगतः; त्रिकालवित्; क्षीणाष्टकर्मा; परमेष्ठी; अधीश्वर; शम्भु; स्वयम्भू; भगवान्; जगत्प्रभुः; तीर्थङ्करः; तीर्थकर; जिनेश्वरः; वादी; अभयदः; सार्कः; सर्वज्ञः; सर्वदर्शी; केवली; देवाधिदेवः; बोधदः; पुरुषोत्तमः; वीतरागाप्तः; पूज्यः; मान्यः; स्तुत्यः; - इन पदों का भाव भगवान् महावीर से तो है ही किन्तु ये सब पद प्रशंसा के भी बोधक हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल में कवि कालिदास ने इस अर्हधातु का प्रयोग पूजार्थ में दर्शाया है-

''त्वमर्हतामग्रसरः स्मृतोऽसि नः''॥

प्रयोग-सामर्थ्य से ही यह धातु निन्दार्थ में भी प्रयुक्त मिलती है-यथा-''वधमर्हति चोरः''॥

ऋग्वेद में अर्ह् धातु के अर्हति, अर्हत, अर्हतः, अर्हन्ति, अर्हसि, अर्हथः, अर्हामसि, अर्हसे -ये सात रूप प्रयुक्त हुए है। लोक में यह धातु भ्वादिगणी होने पर परस्मैपदी है किन्तु ऋग्वेद में यह उभयपदी प्राप्त होती है।

एष इन्द्रो अर्हति पीतिमस्य ॥ ऋ0 2,14,2

ऋषिः गृत्समदः॥ देवता इन्द्र॥ इन्द्रदेव सोमपान के उपयुक्त पात्र हैं॥

वेंकटमाधव, सायण एवं स्वामी दयानन्द ने यहाँ अर्ह् धातु योग्यता के अर्थ में गृहीत की है[23]।

जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति॥ ऋ0 10.158.2

ऋषिः चक्षुः सौर्यः॥ देवता सूर्यः॥ ''हे सविता, तुम्हारे तेज के लिये सौ यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिये''॥

वेंकटमाधव एवं सायण ने धात्वर्थ 'योग्य होना' दर्शाया है।[24]

सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात्स इद्वाधूयमर्हति॥ ऋ0 10,85,34

ऋषिः सूर्या सावित्री॥ देवता सूर्या ॥ यह ऋचा सूर्या विवाह प्रकरण की है-''जो ब्राह्मण सूर्या को जाने वही वस्त्र पा सकता है''॥

भाष्यकार वेंकटमाधव एवं सायण ने यहाँ अर्ह धातु 'समर्थ होने' के अर्थ में व्याख्यात की है 25।

सोमानां प्रथमः पीतिमर्हसि॥ ऋ0 1.134.6

ऋषिः परुच्छेपः॥ देवता वायुः॥ ''हे वायु ! तुम अभिषुत सोमपान प्राप्त कर सकते हो''॥

मन्त्र में वेंकटमाधव तथा सायण ने धात्वर्थ ''समर्थ होना'' लिया है 26।

स्वामी दयानन्द ने धातु का 'योग्य होना' अर्थ दर्शाया है27।

ये चार्हन्ति मरुतःसुदानवः स्मन्मीळहुषश्चरन्ति ये ॥ ऋ0 8,20,18

ऋषिः सोभरिः काण्वः॥ देवता मरुतः॥ ''जो सुन्दर दान वाले यजमान मरुतों की पूजा करते हैं और जो इन सेचन-कर्ताओं को हव्य द्वारा पूजित करते हैं''॥

वेंकटमाधव तथा सायण ने मन्त्र में धातु का अर्थ ''पूजा करना'' लिया है[28]।

सुमारुतं न ब्रह्माणमर्हसे गणम्।। ऋ010.77.1

ऋषि: स्यूमरश्मिर्भार्गव:।। देवता मरुत:।। ''मरुतों के समान महान् दल की मैंने पूजा नहीं कि है''।।

उद्गीथ ने यहाँ सामर्थ्य से उपमार्थ में नकार मानते हुए अर्थ किया है, किन्तु धात्वर्थ 'पूजा करना' ही लिया है[29]। सायण को भी यही अर्थ अभिप्रेत है[30]।

अर्हामसि प्रमियं सान्वग्ने:।। ऋ04.55.7

ऋषि: विश्वदेव:।। देवता विश्वेदेवा:।। ''हम अन्न को अनुष्ठानों के द्वारा संवर्धित कर सकते हैं''।।

वेंकटमाधव, सायण एवं स्वामी दयानन्द ने धात्वर्थ 'संवर्धन करना' लिया है[31]।

यह 'अर्हामसि' रूप उत्तमपुरुष बहुवचन के लट् लकार का है। वेद-विषय में 'मस्' (उत्तम पुरुष बहुवचन, लट्लकार)इदन्त (इत्-इकार, अन्त-अवयव वाला) हो जाता है, अर्थात् मस् को इक् आगम होता है[32]। इस नियम के अनुसार 'नमो भरन्त एमसि[33]; त्वमस्माकं तव स्मसि[34]; नहि नु यादधीमसि[35]; अच्छा च त्वैना नमसा वदामसि36; इत्यादि अनेक क्रियाएँ उत्तम पुरुष बहुवचन लट् लकार की हैं।

एवं भाष्यकारों ने अर्ह् धातु का योग्यता, समर्थ होना, अनुष्ठान करना, पूजा करना, संबर्द्धन करना, व्याख्यात किया है। योग्यता, समर्थ होना, संबर्द्धन करना-ये प्रशंसा के अर्थों में हैं तथा अनुष्ठान करना, पूजा करना-ये सत्कार अर्थ के द्योतक हैं।

डॉ० सत्यदेव निगमालंकार
रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

प्रमाण एवं टिप्पणियाँ:-

1. निघ0 1,3; 3,17;
2. भ्वादि0 672
3. श0ब्रा0 1,4,1,40
4. त्वम् एवं अध्वरं चेच्छसि, यथाऽध्वर्युरध्वरं कामयते-वें0।।
   अध्वरीयसि अध्वरं यज्ञं कामयते। अध्वर्युर्भवसीत्यर्थ:- सा0।।
5. निरु0 यास्कभूमिका 7;
6. अध्वरीयसि आत्मनोऽध्वरमहिंसामिच्छति-दया0।।
7. यजमानो भूत्वा यजसि तथाऽध्वर्युरिव च आचरसि-वें0।।
8. अध्वरीयसि अध्वर्युरिवाचरसि। अथवान्यं यज्ञं कर्तुमिच्छसि-सा0।।
9. उणादि0 1,36

10. उणादि0 दयानन्दकृत् वृस्त्ति:1,36
11. द्र0 निरुक्त भाष्य यास्क-भूमिका, पृ0 44, प्रकाशक-आर्ष कन्या गुरुकुल नरेला, दिल्ली
12. उषसां न केतवोऽध्वरश्रिय:।। ऋ0 10.78.7
13. ऊर्ध्वं कृण्वन्तु अध्वरस्य केतुम्।। ऋ0 3.8.8.
14. अर्ध्यन्ता यदुन्निनीथो अपारम्।। ऋ0 1.181.1
15. वृषणाध्वर्यू वृषभासो अद्रय:।। ऋ0 2.16.5
16. प्राञ्चं यज्ञं नेतारमध्वराणाम्।। ऋ0 10.46.4
17. सम्राजन्तमध्वराणाम्।। ऋ0 1.27.1
18. जामयो अध्वरीयताम्।। ऋ0 1.23.16

19अर्ह पूजायाम्-भ्वादि0 492; चुरादि0 199; 256

20. संस्कृत धातुकोष:, प्रकाशक-रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ सोनीपत, हरयाणा
21. काशकृत्स्नधातुपाठ: भ्वादि0 323
22. काशकृत्स्नधातुपाठ: चुरादि0 168
23. क-सोऽयम् अस्य पानम् अर्हति-वें।। ख- अस्य सोमस्य पीतिं पानम् अर्हति-सावा
    ग- अर्हति योग्यो भवित-दया0।।
24. क- बहून् सोमान् अर्हति-वें0।। ख- अर्हति योग्यं भवति-सा0।।
25. क- स: एव एतद् वधूवस्त्रम् अर्हति-वें0।। ख- यो ब्रह्मा ब्राह्मण: सूर्याम् इदानीं पुस्तुतां देवीं विद्यात् सम्यग्जानीयात् स इत् एव बाधूयं वधूवस्त्रम् अर्हति-सा0।।
26. क- प्रथममेव पानम् अर्हसि-वे:।। ख- पीतिं पानम् अर्हसि प्राप्नोषि-सा0।।
27. कर्तुं योग्योऽसि -दवा0।।
28. क- ये च स्तोत्तियम् अर्हन्ति-वें।।ख- मरुत: देवान् अर्हन्ति पूजयन्ति- सा0।।
29. किञ्च न ब्राह्मणम् अर्हसे पुरस्तादुपचारोऽपि अत्र सामर्थ्याद् उपमार्थे नकार:। ब्रह्माणं न यथा ब्रह्माणं प्राजापत्यम् अर्हसे पूजयसि-उद्0।।
30. अर्हसे पूजार्थं न अस्तोषि, नास्तौषम्-सा0।।
31. क-अर्हाम...वें0।। ख-अर्हामसि अर्हाम:, समर्थो भवाम:, किंत्वनुष्ठानेन संवर्धितुम् अर्हाम इत्यर्थ: - सा0 ।। ग- अर्हामसि योग्या भवाम:-दया0।।
32. इदन्तो मसि (अष्टा0 7.1.45)
33. ऋ0 1.1.7
34. ऋ0 8.92.32;
35. ऋ01.80.15;
36. ऋ0 8.21.6;

कादम्बरी - अतिद्वयी कथा

संस्कृत साहित्ये कवि कुलगुरुकालिदासो यथा रचनाचातुर्येण कल्पनावैचित्र्येण पद्यबन्ध गरिष्ठो वरिष्ठश्च मन्यते तथैव गद्यकाव्यनिबन्धने कविवर वाणः श्रेष्ठतमः। सः सर्वमूर्धाभिषिक्तः, असाधारण प्रतिभासम्पन्नः महामेधावी च आसीत्। गद्यकाव्य बन्धे गुणाढ्यस्य बृहत्कथा सुबन्धोश्च वासवदत्ता सुप्रसिद्धकथाकाव्यद्वयं वर्त्तते। अनयोः द्वयोःकथा काव्ययोः गौरवं सर्वैरेव संस्कृतज्ञैः ज्ञायते स्वीक्रियते च । महाकविः बाणभट्टः विश्वप्रसिद्धायां कादम्बर्यां मंगलाचरणात्मकेषु पद्येषु स्वगुरुणां, स्वपितुः, पितामहस्य, प्रपितामहस्य च महत्त्वं, गौरवञ्च गायति, तत्रैव महाकविः कादम्बर्याः श्रेष्ठत्वं प्रतिपादयन् निगदति-'धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा'। अस्याः सूक्तेराशयः सुस्पष्टः। अत्र वयं विचारयामः किं तद् वैशिष्ट्यं कि तत्कारणं, येन बाणभट्टः अन्यान् कवीश्वरान् अतिशेते। किं नास्ति कादम्बर्याम्[1] बाणस्य वर्णनेषु भाषा-भावयोः सामञ्जस्यम्, भावानुकूल भाषा प्रयोगः, अलंकाराणां सुसंयतो विनियोगः, भाषायाम् आरोह अवरोहौ, दीर्घतर समस्त पदावली प्रयोग समनन्तरमेव लघु पदावली प्रयोगो विशेषतोऽवलोक्यते।

बाणभट्टस्य काव्यसौरभेण आकृष्टाः आलोचकाः महाकवेः सूक्ष्मां निरीक्षण शक्तिं मनोहारिणीं वर्णनपद्धतिं अक्षयशब्द राशिं, मौलिकानाम् अर्थानां संहतिं दर्शं-दर्शं परमानन्दं विन्दन्ति।

धर्मदासोऽस्य कवेः वाण्यां मुग्धः जातः। स आनन्दसागरे निमज्जन् इत्थमाचष्टे-

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणि[1]? नहि नहि, वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य॥

नूनं बाणस्य प्रतिभा अद्वितीया, तस्य कविता कौमुदी सर्वलोक प्रथिता अतः अनन्यसाधारणतया संस्कृत वाङ्मये विलसति अतितराम्। बाणभट्टस्य प्रशंसायामुक्तिस्तु एषा प्रसिद्धा एव-

बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।

तत्कारण पर्यालोचन प्रसङ्गे आचार्यवर्येण द्विजेन्द्रनाथेन प्रतिपादितम्-'वस्तुतः बाणवाणी कामपि अनन्य साधारणीं नैपुणीम् आविष्करोति न कदापि औचितीमतिक्रमते। अनुबध्नाति सर्वदैव उर्वरां कल्पनाम्। उपलक्षयति सूक्ष्म निरीक्षणधियम्। प्रकटयति लब्धावसरं विकट पद प्रयोगपाटवम्। उपलालयति पदलालित्यम्। ग्रथ्नाति गम्भीर भाव कुसुमस्तबकम्। व्यक्ति करोति प्रलम्बसमास व्यास वैदुषीम्। क्वचित्तर्जनं करोति अन्यत्र भर्त्सनम्, इतरत्र गर्जनम्। एकतः निर्दिशति, अन्यतश्च उपदिशति। सर्वत्र परिपुष्णाति भारतीय संस्कृतिम् अनुपालयति आर्यमर्यादाम्। धर्मं प्रबलयति, अवहेलयति अधर्मम्। किं किं न करोति सत्कवि समुचितमाखिलमेव।

कादम्बर्यां बाणस्य यथा काव्य कौशलं, प्रतिभा वैभवं, गद्यशैलीश्रियं न तथा अन्यस्य कस्यापि कवेः गद्यकाव्ये। अतएव साधूच्यते-

कादम्बरी रसभरेण समस्त एव मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्। प्रसन्नराघव

कारो जयदेवो बाणभट्टं कविता-कामिनी-मनोमन्दिरवासिनं साक्षात् कामदेवमेव मनुते। तस्य कविता कामिनी सर्वमनोमोहिनी सर्व चित्ताकर्षिका च। उच्यते च-

हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः।
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय॥

बाणो रससिद्धः कवीश्वरः। शृङ्गारोऽस्य प्रेष्ठो रसः। महाश्वेता वर्णने तस्यां यौवन प्रवेशस्य एकावलीमूलकं वर्णन कथमिव मनोज्ञताम् उद्वहति-

क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव माधुमासेन मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन, नवयौवनेन पदम्।

बाणस्य वर्णन शैली तथा सुमधुरा, रसप्रधाना, गुणवती यथा एकदा कादम्बरी-पठने प्रवृत्ताय मानवाय आहारोऽपि न रोचते।

आदर्श-गद्यस्य ये गुणास्ते बाणेन स्वयमेव हर्षचरिते निरूपिता। तद्यथा-

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषः स्पष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षर बन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥

एते सर्वेऽपि गुणाः तस्य गद्यकाव्ये सुस्पष्टरूपेण प्रतिभान्ति। विन्ध्याटवीं वर्णयन्नसौ पाञ्चाली रीतिमाश्रित्य विकटानेव शब्दान् ग्रथ्नाति, तत्रैव च श्लेषेन स्व पाण्डित्यमपि प्रकटयति-

'प्रेताधिपनगरीव सदा सन्नीहित मृत्यु भीषणा महिषाधिष्ठिता च, समरोद्यतपताकिनीव बाणासनारोपित शिलीमुखा विमुक्तसिंहनादा च, कात्यायनीव प्रचलितखङ्ग भीषणा रक्तचन्दनालङ्कृता च, ... क्वचित्प्रलयवेलेव महावराहदंष्ट्रासमुत्खातधरण्मिण्डला, क्वचिद्दशमुख नगरीव चटुलवानरवृन्द भज्यमान तुङ्गशाला कुलाशाल्मली तरूवर्णयन् श्लेषेन चमत्करोति चेतांसि सचेतसाम्-

"दुर्योधन इवोपलक्षित शकुनिपक्षपातः, नलिननाथ इव वनमालोपगूढः, नव-जलधर व्यूह इव नभसि दर्शितोन्नतिः, अखिल भुवनतलावलोकन प्रसाद इव वनदेवतानाम्, अधिपतिरिव दण्डकारण्यस्य, नायक इव सर्ववनस्पतीनाम्, सखेव विन्ध्यस्य, शाखाबाहुभिरूपगुह्येव विंन्ध्याटवीं स्थितो महाञ्जीर्णः शाल्मलितरूः। अनुप्रास विन्यासोऽप्यस्य चमत्कारपूर्णः -

"इभकलभ कल्लोलपल्लव वेल्लित लवलिलयैः मधुकर कुलकलङ्क कालीकृत कालेयक कुसुम कुड्मलेषु।

सन्ध्यावर्णने उत्प्रेक्षा माधुर्यम् आनन्दयति सचेतसां चेतांसि। यथा-

क्वापि विहृत्य दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तमाना सन्ध्या मुनिभिरदृश्यत। अपराम्भसि पतिते दिनकरे अम्भः सीकरनिकरमिव तारागणम् अम्बरम् अधारयत्।

शुकनासोपदेशे विरोधाभासमूलकं लक्ष्मी स्वभाव वर्णनम् दर्शनीयं वर्तते यथा-

उन्नतिमादधानापि नीचस्वभावताम् आविष्करोति। अमृतसहोदरापि कटुकविपाका।

विग्रहवत्यपि अप्रत्यक्षदर्शना। पुरुषोत्तमरताऽपि खल जनप्रिया।

तत्रैव प्रसादगुणोपेता पदावल्यपि अतीव प्रशंसनीया वर्तते। यथा- न परिचयं रक्षति। नाभिजनमीक्षते। न रूपमालोकयते। न कुल क्रममनुवर्तते। न शीलं पश्यति। न वैदग्ध्यं गणयति। न श्रुतमाकर्णयति।

महाकवेरस्य परिसंख्याश्री विलोक्यताम् तारापीडवर्णन प्रसंगे-

यस्मिंश्च राजनि गिरीणां विपक्षता, प्रत्ययानां परत्वम्, दर्पणानाम् अभिमुखावस्थानम्, शूलपाणिप्रतिमानां दुर्गाश्लेषः, जलधराणां चापधारणम्, प्रतीहाराणाम् असिधारणम्, तैक्ष्ण्यमसिधाराणाम्, ध्वजानामुन्नतिः, करिणां दानविच्छित्तिः, अक्षक्रीडासु शून्यगृहदर्शनं पृथिव्यामासीत्

बाणभट्टः प्रकृतिसौन्दर्यचित्रणेऽद्वितीयः। कर्णगोचरी क्रियताम् सरोवरस्य रामणीयकत्वम्- 'मणिदर्पणमिव त्रैलोक्यलक्ष्म्याः, स्फटिकभूमिगृहमिव वसुन्धरा देव्याः, निर्गमन मार्गमिव सागराणाम्, निष्यन्दमिव दिशाम्, कैलाशमिवद्रवतामापन्नम्, तुषारगिरिमिव विलीनम्, चन्द्रातपमिव रसतामुपेतम्, हराट्टहासमिव जलीभूतम्।

कादम्बर्यां यथा रसानां मन्दाकिनी अलंकाराणां मञ्जुला छटा, प्रकृतेः रमणीयता भावानां सान्द्रता, सरसता, ओजप्रसादमाधुर्यादि गुणानां विच्छित्तिः, तथैव राजनीतेः, धर्मस्य, संस्कृतेश्च मनोहराणि वर्णणानि पदे-पदे दृष्टिपथमुपयान्ति।

डॉ. वीना अग्रवाल
२२, नन्द विहार, हरिद्वार

''श्रीमद्भगवद्गीता- एक आचार संहिता भी''

इस महामोहमायामय असार संसार में मानव जीवन बड़ा दुर्लभ है, जिसे पाने के लिए देव लोग भी तरसते हैं, नरत्वं दुर्लभं लोके। यह मानव जीवन साधनधाम एवं मोक्ष-प्राप्ति का द्वार है। मनुष्य जीवन में अपने इसी पार्थिव शरीर से धरा पर धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष - इन 4 पुरुषार्थों की सिद्धि करता है। इनमें मोक्ष तो सभी पुरुषार्थों में सर्वश्रेष्ठ हैं। अज्ञान से जीव संसार में बंधकर 84 लाख योनियों में भटकता हैं। परन्तु तत्वज्ञान से उसे मोक्ष या ब्रह्म-स्वरूप की प्राप्ति सुकर होती है। जिस तरह पतवार के बिना नाव भटक जाती है, वैसे ही मनुष्य लक्ष्य के बिना पथ-भ्रष्ट हो जाता है।

मानव जीवन का उद्देश्य भोगवादी नहीं है। 'खाओ पीओ और खुश रहो' चार्वाक की यह दृष्टि जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं, अन्यथा मनुष्य भोगों के जाल में फंसकर रुग्ण होकर नरक के गर्त में जा गिरेगा, जहाँ उसे कठोर यम-यातनाएं सहनी पड़ेगी।

इस संसार परिधि में प्रादुर्भूत जीव कर्म करने के लिए स्वतंत्र नहीं। उसे अपनी इच्छानुसार मार्ग चुनने का अधिकार नहीं। जैसे सड़क पर बायें चलने एवं चतुष्पथ पर चारों ओर देखकर सड़क पार करने का निर्देश होता है, इसी तरह भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में मनुष्य को मोक्ष पाने के लिए आचार-संहिता के अनेक नियम निर्दिष्ट किये हैं, जिनका सम्यक् आचरण करके मनुष्य अज्ञान-बन्धन से निवृत्त होकर मोक्ष सुख की अनुभूति करता है।

शास्त्र आचार संहिता के पालन का निर्देश सर्वदा पुरुष से कराता है, 'शासनात् शसनात् का शास्त्रमित्यभिधीयते।'

इसी दिशा में गीता संसार के मनुष्यों को निर्देश देती है कि 'यज्ञ, दान, तपादि नित्य कर्म हैं, इन्हें प्रतिदिन करना चाहिए। इन्हें कभी त्यागना नहीं चाहिए। क्योंकि ये कर्म जीवों के अन्तःकरण को शुद्ध करने वाले हैं।

''यज्ञदान तपः कर्म, न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।। -गी0 18/5

'दृष्ट, अदृष्ट सभी फल वाले कर्मो को मुझ वासुदेव में समर्पण करके मुझ वासुदेव में निरन्तर अपना चित्त लगाओ।'

मच्चितः सततं भव। 18/57

गीता कहती है कि संसार के सभी क्लेशों का नाश करने के लिए मन, वाणी और शरीर द्वारा सब प्रकार से ईश्वर का आश्रय ग्रहण करो, पुनः विष्णु के परम धाम को प्राप्त करोगे।

''तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।'' -18/ 62

गीता कहती है कि मुझमें अपना मन लगाओ, मेरा भजन करो, मेरा पूजन करो, मुझे नमस्कार करो, इस प्रकार तूँ मुझी को प्राप्त होगा।

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिज्ञाने प्रियोऽसि मे ॥'

अन्त में भगवान् श्री कृष्ण कहते है कि सभी धर्मों का त्याग करके तू एक मात्र मेरी शरण को प्राप्त हो, मैं तेरे को सभी धर्म अधर्म से मुक्त कर दूँगा।[2]

''सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥'' - 18/66

गीता के अनुसार जो मनुष्य अनन्य भाव से श्री कृष्ण की उपासना करते हैं, भगवान् उनके योग-क्षेम को स्वयं वहन करते हैं।

'अनन्याश्चिन्तंयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
.... योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ -9/ 22

गीता ने शुभ आचरण वाले, भगवान् के प्रिय भगवद्भक्त का लक्षण निम्न प्रकार संकेतित किया है-

'संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ -12/ 14
अनपेक्षः शुचिदर्क्षः उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ -12 / 16
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी। -12 / 13

जो लोक से द्वेष नही करता, जो हर्ष, क्रोध, भय, उद्वेग से रहित है।[1] जो न शोक करता है, न इच्छा करता है, शुभ अशुभ की चिन्ता से रहित है।[2]

भगवद्भक्त को शत्रु, मित्र, मानापमान, शीतोष्ण, सुख-दुःख में समभाव रखना चाहिए।

''समः शत्रौच मित्रे च''[३]

श्री कृष्ण का प्रिय बनने के लिए निन्दास्तुति में तुल्य, मौन, संतुष्ट, निवास में ममत्व रहित, स्थिर बुद्धि वाला होना चाहिए।[4]

गीता भक्त से अनुरोध करती है- तुम श्री कृष्ण में अपने मन को स्थिर करो, उनमें निश्चय करने वाली बुद्धि को स्थिर करो।[5]

'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अंत ऊर्ध्वं न संशयः॥ १२/८

मनुष्य को अपने किये सारे कर्म- भोजन, हवन, दान, तप आदि ईश्वर को अर्पित करने चाहिए अर्थात् ब्रह्मार्पण बुद्धि से सांसारिक कार्य करने चाहिए।

''यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुस्व मदर्पणम्''[१]

गीता अर्जुन के माध्यम से संसार के समस्त मानव प्राणियों को उनका कर्तव्य निर्देश करती है-

"तू हर समय वासुदेव का स्मरण कर और शास्त्रानुसार अपना धर्म रूप युद्ध करो।" इस प्रकार श्री कृष्ण में मन और बुद्धि अर्पित करके तू भगवान् के स्वरूप को ही प्राप्त होगा।[2]

"तत्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैण्यस्यसंशयः॥

गीता कहती है कि भक्त को जो कुछ मिल जाए, उसी से संतुष्ट रहे, शीतादि द्वन्द्वों से परे हो, ईर्ष्यारहित बुद्धिवाला हो, सिद्धि-असिद्धि में समान हो।

"यदृच्छालाभसंतुष्टः द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिध्दावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते"४/११॥

गीता कहती है कि तुम सुख-दुःख को समान समझो, लाभ-हानि, जय पराजय को समान समझो, इस प्रकार तुम युद्ध रूप कर्तव्य के लिए चेष्टा करो, ऐसा करने से तुम्हे पाप नहीं लगेगा।

"सुखदुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौजयाजयौ।
ततौ युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ २/३८

गीता कहती है कि तुम्हारा कर्मो के आचरण में ही अधिकार है, कर्मो के फल में कदापि नहीं, XXX सब कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति नही होनी चाहिए।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
.................मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥" –2/47

भगवान् श्री कृष्ण के माध्यम से गीता अर्जुन से कहती है-हे अर्जुन, आसक्ति त्याग कर योगमें स्थित होकर कर्म करो, सिद्धि -असिद्धि दोनो में समभाव रक्खो, समता धारण करना ही योग है।

"योगस्थः कुरु कर्माणि, सगं त्यक्त्वा धनन्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योगउच्यते" २/४८॥

गीता कहती है कि साधक भक्त समत्वयोग विषयक बुद्धि से युक्त होकर अन्तःकरण की शुद्धि और ज्ञान प्राप्ति के लिए पुण्य एवं पाप दोनो को यहीं त्याग देता है एवं कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

अतः समत्व बुद्धि रूप योग की प्राप्ति के लिए यत्न करो।[2]

"बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम्" २/५०॥

अतः गीता की इस आचार संहिता को अपने आचरण में धारण कर मनुष्य अपना आत्यंतिक कल्याण प्राप्त कर सकता है। भगवान् श्री कृष्ण के इस आचार संहिता के पालन से विश्व का मानव समुदाय अकर्मण्य एवं अवसादग्रस्त होने से बच जायेगा। उसका ऐहिक और पारलौकिक कल्याण होगा। इस प्रकार उपभोक्तावादी संस्कृति वाले विदेश से त्यागमयी संस्कृति वाला हमारा भारत देश सदैव गौरवास्पद रहेगा।

-डॉ० शिवशंकर गुप्त
रीडर संस्कृत विभाग टी.डी. कॉलेज, जौनपुर (उ.प्र.)

उपनिषदों में योग अवधारणा

प्राचीन काल से ही भारत में योग को मुक्ति का साधन माना जाता रहा है, इसलिए प्राचीन ग्रन्थों और सभ्यताओं में इसका महत्वपूर्ण स्थान दिखाई पड़ता है। जिस तरह भारतीय दर्शन में वेदान्त का उच्च स्थान रहा है उसी के अनुरूप योग भी है। इतनी सुदृढ़ और महत्वपूर्ण साधना-प्रणाली होते हुए भी आज तक इसकी स्थिति आलोच्य ही रही है। कारण यह है कि योग प्रणाली की शुरूआत कब और कहाँ हुई यह बताना असम्भव है इसलिए इसकी विशालता कम है। इस पर विचार प्रकट करते हुए श्री क्षिति मोहन कहते हैं, ''कुछ लोगों की राय में योग वेदपूर्व साधना प्रणाली है। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई से कुछ ध्यानस्थ मूर्तियाँ आदि मिली हैं, उनके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि आर्यो ने यह विद्या अनार्यो से सीखी। उनकी दृष्टि में सिन्धु-प्रदेश की सभ्यता आर्यपूर्व सभ्यता थी और उस प्रदेश के निवासी आद्य योगी थे।''[1] श्री विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार 'कुछ लोगों की इस सिद्धान्त में आस्था नहीं है। जो भी हो इतना तो निश्चित है कि वैदिक युग में योग साधना कोई अपरिचित साधना नहीं थी। वेदों की ऋचाओं का साक्षात्कार वेदर्षियों ने सामान्य मानसिक धरातल पर निश्चय ही नहीं किया होगा, मंत्र साक्षात्कार के लिए उन्हें उच्चतम मानसिक भूमिका का आश्रय लेना पड़ा होगा और उसकी उपलब्धि में योग साधना की सहायता अवश्य रही होगी।'[2] डॉ0 एस0पी0 आत्रेय द्वारा लिखित पुस्तक योग मनोविज्ञान के प्राक्कथन में डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं कि ''वैदिक युग में जब ऋषियों ने ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध में अन्वेषण किया तभी उन्हें योग-विद्या की आवश्यकता प्रतीत हुई। वस्तुतः कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वैदिकमन्त्रों की रचना योग के अभ्यास की उच्चतम भूमिकाओं का परिणाम है। जिसे पातञ्जलि ने 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहा है, वह 'ऋत्' विश्व के उन प्रथम धर्मो की संज्ञा है जिससे प्रजापति सृष्टि का विधान करते हैं, समष्टि और व्यष्टि दोनों ही उसके परिणाम है। वस्तुतः 'ऋत्' से अनुप्रविष्ट मानवचित्त ही योग की उपलब्धि है। मानव का मन ब्रह्म रूप ऋत् से संयुक्त हो जाता है उसी ऋतम्भरा प्रज्ञा की स्थिति में विश्व को जिन सत्यों का दर्शन होता है वे वैदिक मन्त्रों में प्रकट हुआ है। कोशों के अनुसार वैदिक मन्त्रों का अर्थ पर्याप्त नहीं है। मनः समाधि उच्चतम भूमिका में मन्त्रों का दर्शन होता है।[3]

योग-दर्शन का साहित्य अन्य भारतीय दर्शनों की तरह विशाल नहीं है, परन्तु यह एक अत्यन्त वैज्ञानिक और व्यावहारिक दर्शन है। वेदों से लेकर मध्यकालीन सन्त साहित्य तक योग वर्णन किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। डॉ0 बी0एन0 सिंह के अनुसार, ''योग का अल्प साहित्य होते हुए भी यह भारतीय दर्शन का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है, इसका प्रचार-प्रसार बहुत है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा इसकी अपनी विशेषता यह

है कि यह सैद्धांतिक ही नहीं बल्कि व्यावहारिक भी है। शारीरिक तथा मानसिक दोनों की इसके प्रतिपाद्य विषय है।''[4]

संस्कृत साहित्य में योग शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थो में हुआ है। ऋग्वेद में कहा गया है कि योग के बिना विद्वान् का कोई भी यज्ञ-कर्म सिद्ध नहीं होता।[5] अमर कोष के अनुसार 'संनहन, उपाय, ध्यान, संगति और युक्ति को योग कहते है।[6] कहा जाता है कि प्राचीन भारत में युद्ध के लिए योद्धाओं का संनहन-सन्नद्ध हो जाने, कवच पहनने, हथियार उगने के लिए योगोयोग: ऐसी पुकार होती थी। वैद्यक के अनुसार, 'रोग दूर करने के उपाय को भी योग कहा जाता है।'[7] द्रव्य शास्त्रों में अपूर्वार्थ-संप्राप्ति, वपु: स्थैर्य-प्रयोग, विष्कंभ, भेषज, विश्रब्धघातक, द्रव्योपाय, कार्मण आदि भी योग शब्द के समानार्थक माने जाते हैं।[8] ऋग्वेद् में योगे शब्द अप्राप्त की प्राप्ति, सम्बन्ध, जुआ जीतने के अर्थ में हुआ है।[9] देवीभागवत में योग शब्द 'प्रेम' के अर्थ में माना गया है।[10] मनुस्मृति में योग का अर्थ 'छल' लिया गया है।

पाणिनि व्याकरण में योग शब्द 'युज्' धातु से माना गया है। इस व्याकरण में इसके तीन पाठ मिलते हैं-युजिर् योगे[12], युज् समाधौ[13] तथा युज् संयमने[14]। इसमें समाध्यर्थक 'युज्' धातु अकमर्क है और अन्य दो सकर्मक है। भट्टोजिदीक्षित कौमुदीकार ने समाधि का अर्थ चितवृत्ति का निरोध किया है: समाधिश्चित्तवृतिनिरोध:[15]। जबकि पातञ्जलि ने योग की परिभाषा 'योगश्चितवृत्तिनिरोध:[16] बताई है। इससे स्पष्ट है कि योग समाधि का अपरपर्यायवाची शब्द है और धातु की अकर्मक क्रिया की ओर संकेत भी है। योग से जिस एकाग्रता तथा विरत-व्यापारान्तरता का बोध होता है उसकी सिद्धि इसी अर्थ से सम्भव है, क्योंकि समाधि में मनुष्य विगलितवेद्यान्तर रहता है। इस आधार पर अष्टाध्यायी में योग की परिभाषा,''युज्यते समाधौ विधीयते मन: अनेन इतियोग:'' बताई है।[17] उपर्युक्त परिभाषा से योग शब्द दो प्रकार से निष्पन्न होता है, 'युजिर् योगे' यह सम्बन्धवाचक है तथा 'युज् समाधौ' यह समाधिवाचक है।

याज्ञवल्क्य ने जीव और परमात्मा के मेल को ही योग कहा है।[18] इसी प्रकार शाक्त मत में भी कहा गया है कि योग वह क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य की चेतना ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाती है।[19] गीता में कहा गया है कि देहयुक्त जीवन में दु:ख का संयोग होता है उसका जो वियोग है वही योग है। इसी योग में आत्मा अपनी दिव्य स्थिति की प्राप्त करता है।[20]

आधुनिक विचारक जैसे हिरियान्ना[21] डा0 राधाकृष्णन्[22] ने चितवृत्तियों का निरोध एवं आत्मा परमात्मा के मेल का समर्थन किया है। डॉ0 बी0 जी0 रेले ने योग के बारे में कहा है ''योग वह विद्या है जिसके द्वारा मनुष्य का अन्त:करण इस योग्य बन जाता

है कि वह उच्च स्फूरणों की ओर अग्रसर होता हुआ असीम चेतन व्यापार को प्राप्त करता है।''[23] योग की सरल परिभाषा दास गुप्त ने देते हुए कहा है ''योग का अर्थ है किसी वस्तु-विशेष के साथ चित का शांतिमय संयोग।[24]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय दार्शनिक विचारधारा में योग का विशिष्ट स्थान रहा है। यहाँ पर योग शब्द का अर्थ संख्या का जोड़ना नहीं बल्कि आत्मा-परमात्मा के मेल को माना गया है। यही कारण है कि आत्मा-परमात्मा के मिलन के भिन्न आधारों पर अलग-अलग योगों का वर्णन किया गया है जैसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग अर्थात् जहाँ भी आत्मा-परमात्मा का मिलन सम्भव हो सका उसी को भारतीय दार्शनिकों ने अपना कर योग का नाम दे दिया। पातञ्जलि के योग की भारतीय दर्शन में अलग ही विशेषता है जिस कारण उसे ''राजयोग'' का नाम दिया है। योग की परिभाषा बताते हुए पातञ्जलि ने अपने ''योग शास्त्र'' में कहा है कि ''चितवृत्तियों का निरोध ही योग है'' (जैसा कि पीछे बताया जा चुका है)। आगे बताते हैं कि साधारणतः चितवृत्तियाँ पांच प्रकार की होती है प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति।[25] जब व्यक्ति इन वृत्तियों को संयमित कर लेता है तो योग-साधना का श्री गणेश माना जाता है। यदि इनके योग साधना के व्यावहारिक पक्ष को देखें तो पता चलता है कि इसमें पहला कदम ''क्रिया योग'' है जिससे कि योगी में तप, स्वाध्याय और कर्मफल के ईश्वरार्पण की भावना होनी जरूरी है।[26] यहाँ व्यक्ति का पहला कर्तव्य है कि वह अविद्या, काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, घृणा आदि को त्यागें[27] तभी वह यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), नियम, (शौच, संतोष, तप,स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान), आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की तरफ और अग्रसर हो सकता है।[28] इसी योग से भारत के कुछ सम्प्रदाय जैसे नाथ, सिद्ध, तान्त्रिक आदि ने हठयोग को अपनाया परन्तु वे राजयोग से वंचित रहे। भारत में ऋषि-मुनियों ने अपने-अपने आत्मसाक्षात्कार के अनुसार योग का वर्णन किया है लेकिन उपनिषदों में जैसा योग का वर्णन है ऐसा अन्यत्र नहीं है क्योंकि उपनिषदकारों ने व्यावहारिकता और अध्यात्म दोनों का समावेश किया है जिस कारण उपनिषदों में वर्णित योग उच्चता को प्राप्त होता है।

उपनिषदों में योग अवधारणः-

उपनिषद का अर्थ (उप+नि+सद्) गुरु के पास बैठकर सत्य वचनों को ग्रहण करना है। प्रमुख उपनिषदों की संख्या दस मानी गई है। इनमें केवल ब्रह्म साक्षात्कार हेतु ज्ञान को ही महत्व दिया गया है। विद्वानों का मत है कि उपनिषदों की संख्या दस न होकर 108 है। उपनिषदों को दो भागों में बांटा गया है। प्रथम दस को पूर्ववर्ती तथा अन्य परवर्ती उपनिषद् कहा गया है। परवर्ती उपनिषदों में योग का अत्यधिक वर्णन किया गया है। जिस

कारण विद्वानों ने इन्हें 'परवर्ती योग उपनिषद्' कहा है।

उपनिषदों में योग विचारधारा का अपना विशेष स्थान है। इनकी प्राणोपासना ही प्राणायाम की आधारशिला है। प्राणोपासना में प्राणायाम का विषेष महत्व है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि, 'जो प्राण को ऊपर ले जाता है और अपान को नीचे हृदय के मध्य रहने वाले उस प्राण की सभी देवता उपासना करते हैं।'[29] इसी में यम-नचिकेता संवाद में योग के बारे में कहा गया है कि 'सम्पूर्ण योग विधि को जानों'। फिर बताया गया है "जो कठिनता से दीख पड़ने वाला गुह्य स्थान में रहता है, बुद्धि में स्थिर रहने वाले ऐसे पुरातन को अध्यात्म योग द्वारा ही जाना जा सकता है तथा उसे वही पुरुष जान सकता है जिसकी बुद्धि स्थिर है, धीर है। जब उसे जान किया जाता है तो वह पुरुष सभी हर्ष-शोक से मुक्त हो जाता है।"[30] यह शरीर नित्य, विज्ञान स्वरूप अजन्मा पुर है, इसके ग्यारह दरवाजे हैं उन पर ध्यान करने पर जीव को ज्ञान प्राप्त होता है। और मुक्ति भी।[31] इसी उपनिषद् में प्राणायाम का भी विवेचन मिलता है।[32] परमगति (मोक्ष) का वर्णन करते हुए कहा गया है। कि 'जब जीव की पांचों इन्द्रियाँ मन के साथ आत्मा में स्थिर हो जाती है। बुद्धि कार्यकलापों से परे हो जाती है, तो इस अवस्था में पुरुष प्रमाद रहित हो जाता है, जो कि योग के द्वारा ही सम्भव है।[33] इसी में लय योग (कुण्डलिनी) का भी वर्णन मिलता है।' जब नाड़ी मूर्धा का भेदन करती हुई सुषुम्णा द्वारा ऊपर चली जाती है तो पुरुष अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।'[34] इसी योग विद्या द्वारा नचिकेता ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है।[35]

माण्डूक्य तथा मुण्डक उपनिषद में ओंकार की उपासना का वर्णन किया गया है। कहा गया है 'जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में अरे लगे होते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण नाड़ियाँ सुषुम्ण में एकत्रित होती है। ॐ नाम का ध्यान करने पर उनमें दो तरह से संचरण होता हैजो जीव को अमरत्व की ओर ले जाता है।'[36] बृहदारण्यक्योपनिषद् में कहा गया है 'यदि पुरुष मन और इन्द्रियों काबू कर ले तो वह समाधि की ओर अग्रसर होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद्[37] तथा छान्दोग्योपनिषद् में भी बताया गया है कि जिस व्यक्ति ने मन वचन, कर्म को संयमित कर लिया है वह आत्मा को जान लेता है। मैत्रायणी उपनिषद् में षडांगयोग (प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि) का वर्णन किया गया है।[38] फिर कहा गया है। कि व्यक्ति प्राणायाम और प्रत्याहार द्वारा अन्तर्मुखी होकर औंकार को ध्यानावस्था करके, प्राणों को धनुष बनाकर ब्रह्म को वेध सकता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ध्यानयोग का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। कहा गया है कि जिस व्यक्ति ने योग (षडांग) द्वारा आत्मा को जान लिया वह हर्ष शोक से परे है उसे मृत्यु कभी भी नहीं आ सकती अर्थात् यही मोक्ष है।[39] फिर आगे कहा गया

है कि 'जिस प्रकार सारथि लगाम खींच कर घोड़ों को काबू करता है, उसी प्रकार योगी भी अपनी इन्द्रियों पर काबू पाता है, इस योग के लिए ओंकार जाप अत्यावश्यक है।[40] इसी उपनिषद् में योगी के योगाभ्यास तथा ध्यान हेतु उचित स्थान के बारे में बताते हुए कहा गया है कि 'योगी के लिए वही भूमि उतम है जो समतल हो, जल पर्याप्त मात्रा में हो और अग्नि का डर न हो। ऐसे स्थान पर योगी प्राणायाम साधना द्वारा मन को नियन्त्रित करके तप को प्राप्त होता है। जब योगी तप द्वारा मन को नियन्त्रित कर लेता है तो उसे ब्रह्म-संयोग का अनुभव होता है, तब वह नवद्वार का ज्ञान प्राप्त करके हंस रूपी आत्मा को जान लेता है।'[41] इससे स्पष्ट होता है कि उपनिषद् काल में ब्रह्म, आत्मा आदि के लिए प्रतीकों का प्रयोग होने लगा था।

परवर्ती योग उपनिषदों में योग अवधारणाः-

उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त परवर्ती उपनिषद् भी अवलोकित हैं। इनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय योग ही रहा है इसलिए इन्हें 'योगोपनिषद्' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। डॉ0 पाल डायसन ने इन्हें चार भागों प्राचीन गद्य, उपनिषद्, छन्द उपनिषद्, परवर्ती गद्य, उपनिषद् और आद्यवर्ण उपनिषद् में बांटा है।[42]

शिखोपनिषद् सबसे उत्तम तथा महत्वपूर्ण योग उपनिषद् माना गया है। इसमें मन्त्र, लय, हठ तथा राजयोग का वर्णन किया गया है।[43] इन योगों के बारे में कहा गया है कि इन चारों योगों की अपनी अपनी भूमिका रही है। जब इनकी भूमिकाएं परस्पर कार्य करती हैं तो 'महायोग' कहलाता है। कहा गया है कि सूर्यनाम दक्षिण स्वर का है तथा चन्द्रमा नाम वाम स्वर का है, जब दोनों में समानता होती है तो 'हठयोग' कहलाता है।[44] जब हंकार के द्वारा श्वास बाहर और सकार के द्वारा अन्दर जाती है, इस प्रकार से 'हंस' मन्त्र का जाप करते रहना चाहिये, परन्तु इसके साथ-साथ गुरु वाक्यों को भी महत्व देना चाहिए। जब यह जप 'सोऽम्' का रूप धारण कर लेता है वह 'मन्त्र योग' कहलाता है, इसे 'अनहदनाद' भी कहा गया है।[45] अनहदनाद द्वारा सुषुम्णा का मार्ग खुल जाता है और चित स्थिर हो जाता है तथा ब्रह्म का साक्षात्कार होने लगता है। राजयोग के बारे में कहा गया है जहाँ रज और रेतस् का योग हो उसे 'राजयोग' कहते हैं।[46] राजयोग के लिए हठ योग का अपनाया जाना नितान्त आवश्यक है' इसके बिना राजयोग की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिए हठयोग को राजयोग के लिए प्रथम सीढ़ी माना गया है। पं0 गोपीनाथ कविराज के अनुसार, ''हठयोग से सम्भवतः राजयोग का विकास होता है, जबकि कुछ लोग हठयोग और राजयोग को अलग-अलग मानते हैं।[47] जब कुण्डलिनी जाग्रत होकर षट्-चक्रों का भेदन करती हुई सहस्र में स्थित परमशिव में लय हो जाती है। तब इसे लय योग (कुण्डिलीनी योग) कहा जाता है। शिखोपनिषद में बन्धों तथा वैखरी, खेचरी मुद्राओं का

भी वर्णन किया गया है। इसी तरह का वर्णन योग कुण्डुल्युपनिषद् में भी मिलता है। परन्तु इस उपनिषद् में आसानी से हो जाने वाले आसनों पर जोर दिया गया है। नादबिन्दु उपनिषद् में प्रणवोपासना तथा नादानुसंधान पर अधिक जोर दिया गया है। ॐ का वर्णन करते हुए इसमें कहा गया है कि प्रणव रूपी पक्षीराज का 'अ' कार दक्षिण पक्ष, 'ऊ' कार वामपक्ष, 'म' कार पूंछ, अर्धमात्रा उसका मस्तक है, गुण (रज,तम,सत) उसके शरीरांग आदि हैं। प्रणव पक्षीराज को जानते वाला मुक्त पुरुष है।[48] पुरुष वैष्णवी मुद्रा में बैठकर दक्षिण कान से नाद को सुने। जब उसे यह नाद अनेक प्रकार से सुनाई देने लगे तब वह वहाँ-वहाँ अपने चित को स्थिर करें। स्थिरभूत होकर सभी चिन्ताओं से मुक्त हो और मन को उस नाद में लय कर दे इस प्रणव में जब चित स्थिरासन हो जाये तो परमपद की प्राप्ति होती है।[49] ध्यान बिन्दु उपनिषद् में प्रणव ॐ को निःशब्द परमपद माना गया है। इस परम पद शब्द को जो जानता है वही मुक्त पुरुष है। इसमें षडांग योग के महत्त्व को भी दर्शाया गया है। इसमें 'अ' में अग्नि, 'उ' में अन्तरिक्ष 'म' में द्यौः का लय है। इसके अन्तर्गत तीन गुण (रज, तम, सत्) तीन स्थान जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति का वर्णन किया गया है। जब ये उपर्युक्त तीन गुण और स्थान मिलते हैं तो शरीर में इच्छा (भाव), ज्ञान, क्रिया की अभिव्यक्ति होती है।[50] प्रश्नोपनिषद् की तरह कहा गया है कि प्रणव को धनुष, आत्मा को बाण तथा ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर भेदा जाये तो जीव मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। सभी देवता आदि इसी प्रणव से ही पैदा होते हैं। यही इस जगत् का नियन्ता है।

योगतत्वोपनिषद् में मन्त्र, हठ, लय और राजयोग का विस्तृत विवरण दिया गया है। जो इन चारों को जानता है वही मुक्त पुरुष है।[51] इसमें ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, समाधि का विस्तृत वर्णन करते हुए ज्ञान एवं योग को विशेष महत्व दिया है।[52] फिर इसमें सगुण-निर्गुण दो प्रकार का ध्यान बताया गया है। उठते-बैठते, खाते-पीते ईश्वर का ध्यान करते हुए उस परम पद प्रणव को नहीं भूलना चाहिए।[53] योगचुड़ामणि उपनिषद् में योग के छः अंग आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, ध्यान, धारण, समाधि का वर्णन मिलता है। कहा गया है कि जो व्यक्ति षट् चक्र, सोलह आधार, पंचभूत को नहीं जानता वह इस योग के बारे में अनभिज्ञ रहेगा। व्यक्ति गायत्री मंत्र जाप करता हुआ 'सोऽहं' जाप द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत करके मोक्ष द्वारा खोलता है।[54] इस उपनिष्द्द् में प्रणव के जाप के साथ मुद्राओं तथा बन्धों पर भी जोर दिया गया है।

तेजबिन्दु उपनिषद् योग दर्शन में अपना विशेष स्थान रखता है। इसमें योग के 15 अंग यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक् स्थिति, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि बताये गये हैं।[55] यम के बारे में कहा गया है कि ब्रह्म ज्ञान के लिए इन्द्रियों का संयम ही यम है। यम के लिए योगी को अभ्यास की

अति आवश्यकता है।[56] जो योग के अनुरूप है वह ग्राह्य है जो अनुरूप नहीं त्याज्य है उसे नियम कहा गया है।[57] फिर कहा गया है। कि पुरुष 'अहं ब्रह्माऽस्मि का जाप करे तो उसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है।[58]

उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त छोटे-2 योग उपनिषद् भी मिलते हैं। अमृतोनाद उपनिषद् में योग के छः अंग प्राणायाम, प्रत्याहार, तर्क, धारणा, ध्यान, समाधि का वर्णन किया गया है। इनमें प्रथम पांच समाधि के लिए सहायक है।[59] इसी प्रकार दर्शनोपनिषद् में दतात्रेय अपने शिष्य संस्कृति को यम, नियम, आसन, देह नाड़ी, प्राणायाम का उपदेश देते हुए योग की व्याख्या करते हैं। महावाक्योग उपनिषद् में शिखोपनिषद् की 'हंस' विद्या का ही वर्णन किया गया है। वराहोपनिषद् में पहले कुछ अध्यायों में ज्ञान की चर्चा की गई है बाद में हठ, लय, मन्त्र योग आदि के बारे में बताया गया है। क्षुरिकोपनिषद् में प्राणायाम की क्रियाओं रेचक, कुम्भक, पूरक का वर्णन करके इड़ा पिंगला, सुषुम्णा का विवेचन किया गया है। महामण्डल उपनिषद् ब्राह्मणोपनिषद् तथा शांडिल्य उपनिषद् में पातञ्जलि के अष्टांग योग का ही वर्णन मिलता है, परन्तु पाशुपत उपनिषद् में पाशुपत योग का विवेचन है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में योग-प्रणाली अत्यन्त प्राचीन, व्यवस्थित तथा व्यवाहारिक है। इसलिए यहाँ केवल योग को ब्रह्म से मिलने तक ही सीमित नहीं रखा गया है। बल्कि एक व्यावहारिक प्रक्रिया के अन्तर्गत रखते हुए समाज उत्थान का लक्ष्य भी सामने रखा है। जब मानव शारीरिक और मानसिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट होगा वही योग का अधिकारी है। जब वह इन उपर्युक्त दृष्टियों से हृष्ट-पूष्ट है तो समाज अपने आप ही उन्नति की तरफ अग्रसर होगा। यदि हम योगी की आध्यात्मिक और व्यवहारिकता को स्पष्टतः देखना चाहते हैं तो पातञ्जलि अष्टांग योग में पूर्णता पाते हैं।

डॉ० रोहतास कुमार, पी० एच० डी०, डी०लिट्
व्याख्याता (दर्शनशास्त्र)
राजकीय महाविद्यालय आदमपुर, हिसार (हरियाण)

सन्दर्भ:-

1. श्री क्षितिमोहन सेन, कल्याण (योगांक),पृ0 298
2. श्री विधुशेखर भट्टाचार्य, वही पृ0 425
3. डॉ0 एस0 पी0 आत्रेय, योग मनोविज्ञान, पृ0 264
4. डॉ0 बदरीनाथ सिंह, भारतीय दर्शन, पृ0264
5. ऋग्वेद, 1/18/7

6. अमर कोश, 3/3/22
7. कल्याण (पूर्वोक्त) पृ0 68
8. वही, पृ0 68
9. Dr. S.N.Dass Gupta, A History of Indian Philosophy, P-222 Vol.II
10 देवी भगवत, 3/15/13
11 मनुस्मृति, 8/115
12 भट्टोजिदीक्षित, सिद्धान्त कौमुदी, पृ0105
13 वही, पृ0 92
14 वही, पृ0 119
15 वही, पृ0 49
16 पातञ्जल योग सूत्र, 1/2
17 पाणिनि कृत अष्टाध्यायी, 3/3/21
18 याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/43
19 Sir Johan Udaff, Shakti and Shakatta, DP 632
20 गीता, 9/23
21 Dr. Hiriyanna, Out line of Indian Philosophy, P.309
22 Dr. Radha Krishanan, Indian Philosophy, P. 337 Vol-II
23 Dr. B.G. Ralley, the Mystirious Kundilini, P.10-11
24 Dr. S.N. Dass Gupta, A Historyirious of Indian philosophy, P. 33 Vol-II
25 पातञ्जल योगसूत्र 1/5
26 वही, 2/1
27 वही, 2/3
28 वही, 2/45
29 कठोपनिषद् 2/5/2
30 वही, 1/2/12
31 वही, 2/1/1
32 वही, 2/2/3-5
33 वही, 1/3/10-12
34 वही, 2/3/16
35 वही, 2/3/18
36 मुंडकोपनिषद्, 2/2/6, प्रश्नोपनिषद् 6/6

37 प्रश्नोपनिषद् 2/13, 3/1/7
38 मैत्रयाणी उपनिषद्, 6/18
39 श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/12
40 वही, 2/9
41 वही, 6/15,3/18-19
42 डॉ0 पाल डायसन, उपनिषदों का दर्शन, पृ0 22-26
43 शिखोपनिषद्, 1/121
44 वही, 1/133
45 वही, 2/130-132
46 वही, 1/37
47 पं0 गोपीनाथ कविराज, तान्त्रिक वांङ्मय में शाक्त दृष्टि
48 नादबिंदु उपनिषद् 1-6
49 वही, 31-47
50 ध्यानबिन्दु तत्वोपनिषद्, 9-22
51 योग तत्वोपनिषद्, 19
52 वही, 14-15
53 वही, 36-45
54 योग चुड़ामणि उपनिषद्, 18-34
55 तेजबिन्दु उपनिषद्, 1/15-16
56 वही, 1/17
57 वही, 1/18
58 वही, 3/4-5
59 अमृंतोनाद उपनिषद्, 5/6

वेदान्त दर्शन

(एक अध्ययन)

भारतीय दर्शनों में से एक वेदान्त दर्शन हैं वेदान्तदर्शन को ब्रह्मसूत्र तथा उत्तर मीमांसा के नाम से भी जाना जाता है। कुछ विद्वान् वेदान्तदर्शन को व्यास की रचना मानते हैं, परन्तु मुख्य रूप से इसके रचयिता बादरायण माने जाते हैं।

साधारण रूप से लोग वेदान्त का अर्थ वेद का अन्त अर्थात् उपनिषद् जानते हैं, परनतु शास्त्रीय दृष्टि से यह ठीक नहीं है। वेदान्त का शास्त्रीय अर्थ वह शास्त्र है, जिसके लिए उपनिषद् का प्रमाण है। वेदान्त में जो विषय वर्णित किया गया है, उस सबका मूल उपनिषद् है।

वेदान्त 'ज्ञानकाण्ड' का विचार है, ब्रह्मसूत्र पर सबसे प्राचीन टीका जो उपलब्ध है, वह शंकराचार्य का भाष्य है। वेदान्त का मुख्य विषय अद्वैतवाद है। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म सर्वोच्च परमार्थ सत्य है। वह मनुष्य के पुरुषार्थ का चरम लक्ष्य है। ब्रह्म सत्, सनातन और अपरिवर्तनीय है। वह ज्ञान का आश्रय नहीं, बल्कि स्वयं ज्ञान स्वरूप है ब्रह्म-ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भी है। ब्रह्म के अतिरिक्त व्यावहारिक स्तर पर अन्य वस्तुओं का अस्तित्व है परन्तु पारमार्थिक स्तर केवल ब्रह्म ही है और उसके अलावा और कुछ भी नहीं है। आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। आत्मा के रूप में ब्रह्म घट-घट में व्यापक है। जो विभु में है, वही अणु में भी है। जिस प्रकार एक ही सूर्य के प्रतिबिम्ब अनेक स्थानों पर पड़तें हैं, उसी प्रकार समस्त आत्माएं उसी ब्रह्म के प्रतिबिम्ब मात्र है। प्राणिमात्र में जो भिन्न-भिन्न आत्मा दिखलाई देती है, वे एक ही आत्मा अर्थात् परमात्मा अर्थात् ब्रह्म है। श्वेतकेतु को शिक्षा देते हुए वेदान्त के एक प्रामाणिक ग्रन्थ महाकाव्य में कहा गया है। हे श्वेतकेतु तत्वमसि अर्थात् तुम ही वह हो, तुम ही आत्मा हो, ब्रह्म हो। अपनी आत्मा के स्वरूप का यह ज्ञान ही सत्यज्ञान कहलाता है। जैसे ही यह ज्ञान हो जाता है, संसार की माया का स्वयमेव ही लोप हो जाता है। उस ज्ञान के अभाव में ही मनुष्य इधर-उधर भटकता फिरता है।

सत्यज्ञान के हो जाने पर सारी अविद्या, मोह आदि का नाश हो जाता है। मेरा-तेरा आदि का भेद समाप्त हो जाता है। माया के बन्धन स्वयमेव अलग हो जाते हैं। वह केवल ज्ञानी होकर निर्द्वन्द्व विचारण करता है, परमूहंस पद को प्राप्त होता है।

वेदान्त में ब्रह्म को अनिर्वचनीय माना गया है, जिसका अर्थ यह है कि व्यावहारिक भाषा में हम उसका वर्णन नहीं कर सकते, क्योंकि वह इन्द्रियातीत है। उपनिषदों ने नेति-नेति कह कर उसका वर्णन किया है। अनिर्वचनीय का अर्थ अज्ञेय भी नहीं, क्योंकि उसका अनुभव किया जा सकता है। व्यावहारिक जगत् से ऊपर उठने पर जीव को ब्रह्म अर्थात् अपने स्वरूप का बोध होता है।

वेदान्त में माया का विषय भी महत्वपूर्ण है। माया को अनादि माना गया है। जिन वस्तुओं का आदि है, उन सबमें यह माया प्रकट होती है। माया असत् और अनादि है, यह स्वयं प्रकाश एवं सर्वव्यापी आत्मा को आच्छादित करती है, जिस प्रकार शीशे पर मैल आ जाने पर प्रतिबिम्ब स्वच्छ दिखायी नहीं देता उसी प्रकार माया का आत्मा पर आवरण आ जाने पर उसका यथार्थ दर्शन नहीं हो पाता।

वेदान्त में ब्रह्मज्ञान से ही परमपद की प्राप्ति होती है। उसका ज्ञान श्रुति प्रमाण से होता है। उसके ज्ञान के लिए एक मात्र प्रमाण है शब्द। परन्तु साधारण लोगों को यह ज्ञान बिना माया की सहायता के नहीं हो सकता। इसलिए अन्य प्रमाणों की भी आवश्यकता होती है। इस दृष्टि को लेकर वेदान्त में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापति तथा अनुपलब्धि ये छः प्रमाण माने गये हैं।

अन्य भारतीय दर्शनों की भांति वेदान्त दर्शन भी मोक्ष-शास्त्र ही है। मुक्ति का अर्थ आत्मा को माया से मुक्त करना है। माया ही जीव के लिए कष्ट का सबसे बड़ा कारण है। वेदान्त के अनुसार जिसने 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव कर लिया है, वह मुक्त हो जाता है। ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर ज्ञान का उदय होता है और समस्त कर्मों का नाश हो जाता है और जीव ब्रह्म हो जाता है। यही वेदान्त की मुक्ति है। दूसरे शब्दों में आनन्ददायक ब्रह्म प्राप्ति और माया निवृत्ति ही मोक्ष है। मुक्ति की अवस्था में विशुद्ध ब्रह्मज्ञान का प्रकाश अखण्ड सत्-चित्त-आनन्द के धन रूप में विलक्षण रूप से प्रकट होने लगता है।

एकमेवाद्वितीयं नेदेह नानास्ति किंचन यह श्रुति वाक्य प्रमाणित हो जाता है। इसके परे तो गन्तव्य पद नहीं रहता है। इसी अद्वैततत्व का साक्षात्कार करने पर साधक अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है। वेदान्त में भी जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों की मान्यता है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी कुछ समय तक शरीर रह सकता है। मुक्त व्यक्ति भी सामान्य व्यक्ति की तरह चलता-फिरता, खाता-पीता है, परन्तु वह कर्मों में लिप्त नहीं होता। शरीर छूटने के पश्चात् वह फिर कभी जन्म नहीं लेता।

वेदान्त में मोक्ष को प्राप्त करने के लिए साधना का वर्णन किया गया है। उच्चाधिकारी की तो श्रुति-वाक्य के सुनने मात्र से ही हृदयग्रन्थि कट जाती है, अर्थात् जीव और ब्रह्म का भेद समाप्त हो जाता है। इसे शब्दापरोक्षवाद कहते हैं। सामान्य साधक के लिए साधना को बहिरंग और अन्तरंग दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। बहिरंगः- मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चार वृत्तियों की समिष्टि का नाम ही अन्तःकरण है। वहिरंग साधन चार हैं-जिनको साधन चतुष्टय कहा गया है। इनके होने पर मनुष्य सच्चा जिज्ञासु होता है। इनमें पहला साधन नित्यानित्य वस्तु विवेक है। ब्रह्म के अतिरिक्त सभी वस्तुएं अनित्य हैं, यह जानना होता है दूसरा साधन समस्त भोग-विलास और स्वर्गादि परलोक

के सुखों से विमुख हो जाना है। तीसरा साधन शमादि है, जिनमें शम, दम, तितीक्षा,उपरति, समाधान, श्रद्धा शमिल हैं। चौथा साधन मुमुक्षत्व है, जिसका अर्थ अज्ञान-कल्पित बन्धन से मुक्त हो जाने की इच्छा से है। इस प्रकार विवेक से वैराग्य तथा वैराग्य से मोक्ष अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति की जिज्ञासा होती है। अन्तरंगः- साधना में श्रवण, मनन और निदिध्यासन तथा समाधि ये चार अन्तरंग साधन हैं। छः प्रकार के लिंगों द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का एक ही ब्रह्म में तात्पर्य समझना श्रवण कहलाता है। शिष्य-गुरु के पास जाकर अहंब्रह्मास्मि, 'अयमात्मादि' वाक्यों को सुनता है। इसके पश्चात् वेदान्त के अनुकूल युक्तियों द्वारा ब्रह्म का चिन्तन करना, मनन कहलाता है। समस्त पदार्थो में भिन्नत्व भावना को हटा कर सबमें एकमात्र ब्रह्मविषयक चित्त की वृत्तियों को एकाकार करना समाधि कहलाती है। इन दोनों प्रकार के साधनों द्वारा मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद का इतिहास बहुत प्राचीन है, उपनिषदों में तो अद्वैतवाद की प्रतिपादक अनेक श्रुतियाँ हैं और उनके विशेष अध्ययन से उपनिषदों में अद्वैतवाद की मुख्य विचारधारा प्रवाहित होती है। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी अद्वैतवाद का समर्थन दिखायी पड़ता है। बौद्धमत् में भी विज्ञानवादी तथा शून्यवादी अद्वैतमत के ही समर्थक हैं। शैवागम और शाक्त में भी अद्वैतमत का ही प्राधान्य है। जैन मत में भी समन्तभद्र ने अद्वैतमत का उल्लेख किया है।

कहा जाता है कि दर्शन के बिना विज्ञान अन्धा है। आज जबकि विज्ञान ने ऐसे आविष्कार भी कर लिए हैं, जिनसे मानवजाति का सर्वनाश भी हो सकता है। वर्तमान समय में बढ़ती हुई अहंकारिक वृत्तियाँ जहाँ एक दूसरे को गिराने के लिए तैयार हैं। आज जबकि धर्मों के नामों, जातियों की विभिन्नताओं, सम्प्रदायों के झगड़ों आदि की दिनोंदिन वृद्धि होती जा रही है, एक दूसरे पर प्रभुत्व जमाने की होड़ लग रही है। इन समस्याओं के लिए वेदान्त दर्शन हमारा बहुत अच्छी तरह मार्गदर्शन करता है।

धर्म हमें एक दूसरे पर दया करने का सन्देश देते हैं। ईसाई मत में यदि हमारी एक गाल पर कोई चपत लगाये तो दूसरी भी उसकी ओर करने के लिए कहते हैं इस्लाम धर्म में इंसान और शैतान दोनों की मदद करने के लिए कहा गया है। जैन धर्म में-अहिंसा परमोधर्म का उपदेश दिया गया है। परन्तु वेदान्त दर्शन तो हमें बतलाता हैं कि इम सब के अन्दर एक ही आत्मा है, हम सब वही एक आत्मा अर्थात् ब्रह्म हैं और जब हम वही एक हैं तो फिर किससे घृणा, किस पर प्रभुत्व जमाना? फिर तो केवल प्रेम, स्नेह ही रहता है। इस प्रकार वेदान्त की एकत्ववाद की भावना मानव को एक दूसरे के पास ही नहीं लाती बल्कि एकता की बात कहती है। सबके अन्दर उसी एक ब्रह्म के दर्शन होते हैं,

जो कि अपने में भी है। यहाँ तक कि विश्व के कण-कण में उसी आत्मा की अनुभूति होती है। जैसा कि स्वामी रामतीर्थ के जीवन में घटित हुआ। सबके साथ मनुष्य अपने जैसा ही प्यार और व्यवहार करता है। अपनी ही तरह दूसरों की रक्षा करता है। कहते हैं-स्वामी रामकृष्ण परमहंस के सामने जब कोई मनुष्य पीटा जा रहा था तो वे जोर से चिल्ला पड़े, कहने लगे कि मारो मत, मुझे मत मारो। जब उनके पास आकर देखा गया तो उनके शरीर पर चौटों के निशान थें। अद्वैत वेदान्त की इस अनुभूति से मानव को दूसरों के दुःख से भी उतना ही पीड़ित होता है, जितना स्वयं के दुख से। इस प्रकार समस्त भेद-भावों को समाप्त कर वेदान्त हमें एकता का पाठ पढ़ाता है।

डॉ० त्रिलोक चन्द
रीडर दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी वि०वि०, हरिद्वार

देशभक्ति

पर-सेवा के तुल्य है, और न कोई कर्म।
जीवन देना देश-हित, सबसे अच्छा धर्म।।
वीरों के बलिदान सब, होते देश-हितार्थ।
देकर जीवन देश को, नष्ट करें सब स्वार्थ।।
अस्त्र-शस्त्र बल-ज्ञान से, करें दूर आतंक।
हित-नित सोचे देश का, साफ करें सब पंक।।
कूट-कूट के नित भरें, देश-प्रेम का चाव।
अर्पित प्रतिपल प्राण हो,हो परार्थ का भाव।।
देशभक्त हों सब मनुष्य, अर्पण कर दें प्राण।
आर्य बने संसार सब, हो सबका कल्याण।।

रचयिता
आचार्य संदीप कुमार
त्यागी 'दीप'
साहित्याचार्य

‘‘प्रभो! तेरी कृपा हमें प्राप्त हो’’

ओ3म् इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध। स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्रे सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे।।
ऋ0 3।6।11।।

अन्वयः - अग्रे! (त्वम्) पुरुदंसम् इडा गोः सनिं शश्वत्तमं हवमानाय साध। नः विजावातनयाः सुनुः स्यात्! अग्रे! (या) ते सुमतिः सा अस्मे भूतु।

अन्वयार्थः - (अग्रे! पुरुदंसं इडां, गोः सनिम्) हे प्रकाशस्वरूप प्रभुवर! तू बहुविध कर्मों के करने के लिए आश्रयभूत अन्न और ज्ञानप्रदान करने वाली वेदवाणी, दुग्धाादि प्रदान करने वाली गौ, प्रकाश प्रदान करने वाली सूर्य-किरण का दान (शश्वत्तमं हवमानाय साध) सदा यज्ञादि शुभ-कर्मों के करने वाले यजमान के लिए सिद्ध कर, प्रदान कर। (नः विजावा तनयः सूनुः स्यात्) तेरी कृपा से हमारा विजयशील-गतिशील (Active) तनय अर्थात् कुल का विस्तार करने वाल-सुख-सौभाग्यों का विस्तृत-विकसित करने वाला, सूनु-अपने गुण-कर्म-स्वभावों से सर्वत्र स्वयं प्रशंसा पानेवाला और अपने माता-पिता को प्रशंसित करनेवाला तथा तुझ दिव्य परमेश्वर की स्तुति करनेवाला पुत्र होवे। (अग्रे! या ते सुमतिः सा अस्मे भूतु) हे प्रभो! जो तेरी शुभ मति है, उत्तर बुद्धि है, वह तेरी कृपा से हममें होवे।

अथवा

(अग्रे! पुरुदंसम् इडां, इडां. गोः सनिं) हे ज्ञान-प्रदाता! बसे अग्रणी परमेश्वर! तू बहुविध कर्मों की साधक, स्तुति योग्य, वेदवाणी का दान (वा सूर्य के प्रकाश का दान, दुग्धदात्री गौ का दान) (शश्वत्तमं हवमानाय साध) ज्ञान के लिए सदा समुत्सुक मनुष्य को प्रदान कर। उस ज्ञान के अनुरूप आचारण करने से (नःविजावा तनयः सूनुः स्यात्) हमारा विजयशील, ऐश्वर्यों का उत्पादक, कुल विस्तारक पुत्र होवे। (अग्रे! या ते सुमतिः सा अस्मे भूतु।) प्रभो! जो तेरी सुमति है, सत्प्रेरणा है, वह भी हमें सदा मिलती रहे।

वह प्रभु अगिस्वरूप हैा, प्रकाशस्वरूप है। हमें चाहिए कि हम हवमान बनें, हम सच्चे यजमान बनें, देवपूजा, संगतिकरण और दानादि गुणोंवाले बनें, उस ज्ञानप्रकाश के स्रोत परम पावन प्रभु के सच्चे उपासक बनें।

वह प्रभु भी हम हवमानों, हम यजमानों, हम उपासकों को भूमि प्रदान करे जिसपर हम बहुविध पुरुषार्थ कर अन्नादि उत्पन्न कर सकें और अपना घर बनाकर उसमें सुखपूर्वक भोजन-आच्छादन कर सकें। वह प्रभु हमें गौ का दान दे (वेदवाणी, सूर्य का प्रकाश एवं) पशुधन दे जिससे हम दुग्ध-दधि-घृत आदि प्राप्त कर उत्तम स्वास्थ्य आदि लाभ कर सकें। प्रभुकृपा से हमारे पुत्र ऐसे हों जो सदा गतिशील (Active), कुल का सदा विस्तार करनेवाले, अपने गुण-कर्म-स्वभावों से सदा स्वयं प्रशंसार पानेवाले एवं अपने माता-पिता को प्रशंसा प्राप्त करानेवाले हो।, हस सब सदा अग्रिस्वरूप तेरी स्तुतिप्रार्थना-उपासना करने वाले हों और तेरी सुति, तेरा सुज्ञान भी हमें सदा उपलब्ध होता रहे जिससे हम बिना कहीं अटके और बिना कहीं भटके निरन्तर आगे बढ़ते हुए लोक में सुख-सौभाग्य और मोक्ष में परमानन्द को प्राप्त करने वाले होवें।

प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति, गु.का.वि.वि. हरिद्वार

डॉ रामनाथ वेदालंकार : एक विलक्षण व्यक्तित्व

किसी भी संस्था का महत्व तब ओर भी बढ़ जाता है जब उसमें रहने वाले अपना सारा जीवन उसी संस्था को सर्मिपत कर दिन रात उसके विकास में लगे रहते है तब वह व्यक्ति तथा वह संस्था दोनी ही एक दुसरे के पूरक बन जाते है। ऐसे ही व्यक्तित्व के धनी है गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी स्नातक व पूर्व कुलपति, प्रस्तोता आचार्य, रामनाथ वेदालंकार जिन्होंने अपनी ज्ञान की ज्योति के प्रकाश से सम्पूर्ण शिक्षा जगत् को प्रकाशित किया है और ज्ञान गरिमा को गौरवान्वित किया है।

संस्कृत व वेदों के इस यशस्वी स्नातक का जन्म सात जौलाई 1914 को उत्तर प्रदेश के बरेली जिले के फरीदपुर ग्राम में हुआ था। इनके पूर्वजो का अपना निजी व्यवसाय था इनके दादा का नाम कण्ठीराम व पिता का नाम गोपालराम था जो प्रारम्भ से ही आर्य समाज के प्रति समर्पित थे इसी के चलते तत्कालीन वहाँ के प्रमुख आर्य समाजी डॉ0 श्याम स्वरूप से इनके पिताजी की काफी नजदीकी बढ़ गयी थी तथा वह आर्य समाज के कार्यक्रमो में बढ़चढ़कर हिस्सा लेने लगे जिसके चलते उन्होंने अपने सभी बच्चों को प्रारम्भ से ही शिक्षा लेने के लिए गुरुकुलों में भेजा। 1936 में आचार्य रामनाथ ने गुरुकुल काँगड़ी वि0वि0 से वेदालंकार की उपाद्यि प्राप्त की।

इनका विवाह बरेली निवासी शिवलाल जी की पुत्री प्रकाशवती के साथ 18 अप्रैल 1941 को सम्पन्न हुआ जिन्होंने इनके जीवन में प्रेरणा का स्रोत्र बन इन्हें शिक्षा जगत् में ऊँचाइयों तक पहुँचाया। अध्यापन को अपना मूल उद्देश्य मान जीवन चलाने का संकल्प लेकर चलने वाले इस मानव ने फिर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। विद्या अध्ययन के बाद (1939से 1976) लम्बे समय तक यह गुरुकुल काँगड़ी वि0वि0 में सेवारत रहते जुडे रहे।

इस दौरान इन्होंने विश्वविद्यालय के विभिन्न प्रशासनिक दायित्वों का भी कुशलता पूर्व संचालन किया। वर्ष 1976 से 1979 तक यह पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द अनुसंधान पीठ के अध्यक्ष पद पर आसीन रहे।

इनकी शिक्षा जगत् व संस्कृत सेवाभाव से प्रभावित हो समय-समय पर विभिन्न राष्ट्रीय व प्रादेशिक स्तर पर इन्हें सम्मानित किया जाता रहा है जिनमें 1997 में भारत के राष्ट्रपति द्वारा संस्कृत भाषा में विशेष योगदान के लिए सम्मानित किया जाना तथा उत्तरांचल संस्कृत अकादमी द्वारा वर्ष 2004 का राष्ट्रीय पुरस्कार भारत के राष्ट्रपति डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम द्वारा दिया जाना प्रमुख है इनके अलावा उत्तरप्रदेश अकादमी द्वारा 51 हजार रुपये का पुरस्कार व रजत ट्राफी तथा आर्य समाज शांताकुञ्ज बम्बई द्वारा वेद वेदांग पुरस्कार एवं भारतीर विद्या भवन की ओर से प्रदान किया गया एक लाख का स्वामी गंगेश्वरानन्द वेदरत्न पुरस्कार भी प्रमुख है।

वर्तमान में आप अपने लम्बे अनुभवों का लाभ गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय को उसकी शिक्षा पारिषद् को सदस्य के रूप में दे रहे है। यह इस विश्वविद्यालय के लिए गौरव की बात है कि उसे अपने इस पुरोधा का मार्ग दर्शन वर्तमान में भी प्राप्त हो रहा है।

ब्रजभूषण शर्मा

गुरुकुल काँगड़ी वि०वि०, हरिद्वार

गजकरणी क्रिया एवं अम्लपित्त प्रतिषेध

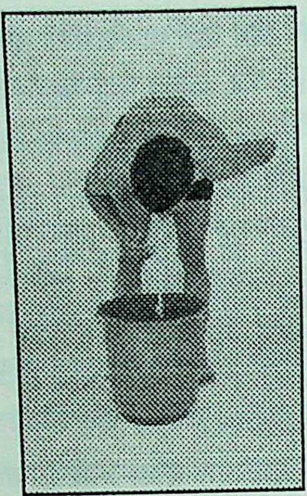

स्वास्थ्य व्यक्तिमात्र का मातृ ऋण है। शिशु के विकास से लेकर समझदार विकसित पुरुष बनने तक हमें स्वास्थ्य को धरोहर की भांति संरक्षित करना चाहिए क्योंकि शरीर द्वारा ही हम समस्त कार्य करने में सक्षम हैं।[1] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - सभी पुरुषार्थों की पूर्ति के लिए आरोग्य आवश्यक है।[2] अतः प्रत्येक सम्भव प्रयास द्वारा इस शरीर रूपी धरोहर को सुरक्षित रखने का यत्न करना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि इस धरोहर को सुरक्षित रखने के उपाय क्या हैं? यह भी विचारणीय है कि स्वास्थ्य में बाधक क्या-क्या हैं?

जैसा कि हम जानते हैं कि हमारे शरीर के संरचनात्मक घटक शरीर के विभिन्न क्रियाकलापों के द्वारा शरीर के अन्दर समन्वय की स्थिति में बने रहते हैं अथवा यूँ कहें कि शरीर के संरचनात्मक घटक दोष, धातु एवं मल शरीर की क्रियात्मकता के लिए उत्तरदायी हैं।[3] धात्वग्नि जठराग्नि एवं भूताग्नि के द्वारा समन्वित हैं। इन अग्नियों की क्रियाशीलता में किंचित् परिवर्तन शरीर के स्वास्थ्य को विचलित कर देने में समर्थ है। इनमें जठराग्नि का सबसे अधिक योगदान है। जठराग्नि की चार स्थितियों-तीक्ष्ण, मन्द, सम व विषम-में से समाग्नि की अवस्था वाला व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को संरक्षित रखने में समर्थ होता है। शेष तीन अवस्थाएँ शरीर में रोग वृद्धि में सहायक होती हैं। आयुर्वेद में 'काय' अग्नि का पर्याय है। इस लेख में वर्णित 'अम्लपित्त' को काय (अग्नि) में परिवर्तन का परिणाम ही कहा जाता है।

अम्लपित्त के कारण :-

'अम्लपित्त' जैसी रोग स्थिति आहार, विहार एवं मानसिक स्वास्थ्य के विपरीत होने से होती है। अधिक समय तक खट्टे, तीक्ष्ण एवं मसालेदार या उष्ण पदार्थों का निरन्तर सेवन करने से आमाशय में स्थित अन्न विदग्ध हो जाता है एवं उसी विदग्ध अन्न की स्थिति में आहार लेने से नवान्न भी विदग्ध होता रहता है। जैसे दही जमाए पात्र में शुद्ध दूध डालने पर दही ही बन जाता है[4]। अधिकसमय तक अन्न का विदग्ध रहना तथा मानसिक अस्वास्थ्य तथा आहार-विहारजन्य स्थितियाँ अम्लपित्त रोग को उत्पन्न करती हैं।

अम्लपित्त के लक्षण :-

'अम्लपित्त' रोग के लक्षणों में भोजन का न पचना, बिना परिश्रम के थकान, जी मिचलाना,

कड़वी तथा खट्टी डकारों का आना, उदर का भारीपन, हृदयप्रदेश व कण्ठप्रदेश में जलन, शिर तथा छाती में पीड़ा तथा पेट में अफारा आदि लक्षण बताये गए हैं[5]। जो अपद्रव्यों की आमाशय में उपस्थिति का परिचायक एवं रोगोत्पत्ति में निर्णायकता का सूचक हैं।

गजकरणी या कुञ्जल क्रिया :-

भक्तिसागर में स्वामी चरणदास ने कहा है कि-

गजकर्म यहि जानिए पिये पेट भर नीर।
फेरि युक्ति सौं काढ़िये रोग न होय शरीर ।।[6]

हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है-

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले।
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः।।[7]

अर्थात् अपानवायु को ऊपर कण्ठनाल में पहुँचाकर उदर में गए हुए पदार्थ का उद्वमन करते हैं। उसके क्रमपूर्वक अभ्यास से नाड़ी-समूह का वशीभूत होना। हठयोग के आचार्यों द्वारा गजकरणी कहा गया है।

विधि :-

गजकरणी क्रिया की विधि जो सामान्य रूप से प्रचलित है, वह यह है। गुनगुना जल कागासन में बैठकर आकण्ठ पीलें। खड़े होकर 60^0 पर झुक जाएँ। बाएँ हाथ से पेट के नाभि से ऊपरी भाग को दबाएँ तथा दाएँ हाथ की मध्यमा व तर्जनी अंगुली से छोटी जिह्वा (युवला) को स्पर्श करें जिससे जल वेग से बाहर आ जाएगा। जिसके साथ-साथ इसके द्वारा आमाशयस्थ अपद्रव्यों को बाहर निकालना सम्भव होगा।

चिकित्सीय उपयोग :-

अम्लपित्त की स्थिति उत्पन्न होने पर गजकरणी शमनात्मक परिणाम के लिए लाभप्रद होती है। आमाशयिक अपद्रव्य अथवा अवांछित अवशिष्ट कफ के रूप में बाहर आता है। कफ के अपकर्षण के बाद शुद्ध अम्ल रस अपनी स्वच्छ अवस्था या तीक्ष्णता को प्राप्त कर लेता है। इसी कारण गजकरणी के बाद दुग्धपान का निर्देश किया जाता है। जिससे कफ के द्वारा सुरक्षित आवृत्त आमाशय कला अम्लरस की तीक्ष्णता से प्रभावित न हो तथा अग्नि समस्था में बनी रहे। इस प्रक्रिया के द्वारा अम्लपित्त जैसी स्थिति से सहजभाव से बचा सकता है। अम्लपित्त के रोगियो पर प्रतिषेधात्मक दृष्टि से गजकरणी क्रिया का प्रभाव देखा गया है।

निष्कर्ष :-

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य आहार-विहार के प्रति सजग रहे। भोजन में तैल,

मिर्च, मसाले, खटाई, अल्कोहल आदि के आधिक्य से बचें और केवल गजकरणी क्रिया का अभ्यास करता रहे तो अवश्य ही अम्लपित्त की स्थिति से बच सकता है। यही नहीं रोग हो जाने के पश्चात् भी यदि वह आहार-विहार का ध्यान रखे और गजकरणी का अभ्यास करे तो रोग से मुक्त हो सकता है। दैनन्दिन जीवन में इसका अपनाया जाना स्वास्थ्यकर सिद्ध होगा।

प्रत्येक प्राणी स्वस्थ जीवन जीना चाहता है। मनुष्य तो रोग की कल्पना से ही सिहर उठता है। अच्छे स्वास्थ्य के विना जीवन भार-स्वरूप हो जाता है। यदि व्यक्ति स्वास्थ्य-संरक्षण के प्रति सजग रहे, तो स्वस्थ रह सकता है। स्वस्थ रहने के अनेकानेक उपायों में से योग प्राकृतिक उपाय है। इसी उपाय का आश्रय लेकर निरापद जीवन सम्भव है। गजकरणी द्वारा अम्लपित्त प्रतिषेध भी इसी दिशा में एक कदम है। योग द्वारा व्यक्ति सौ से अधिक वर्षों तक स्वस्थ जीवन जी सकता है।

डॉ. ईश्वर भारद्वाज
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
मानवचेतना एवं योग विज्ञान विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ. एस.बी. शर्मा
योग चिकित्साधिकारी
राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालय
सेक्टर-5, राजनगर गाजियावाद, उ0प्र0
डॉ. वी.के. अग्निहोत्री
प्रवक्ता, स्वस्थ्वृत्त विभाग
ऋषिकुल राज0 आयुर्वेद महाविद्यालय, हरिद्वार।

सन्दर्भः-

1. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। - कालिदास
2. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। - चरक संहिता 1/15
3. दोषधातु मलं मूलं हि शरीरम्। - चरक संहिता
4. अविशुष्के यथा क्षीरं प्रक्षिप्तं दधि भाजने।
   क्षिप्रमेवाम्लतामेति कूर्ची भावं च गच्छति।। - काश्यप संहिता, 8-16
5. अविपाको क्लमोत्क्लेश तिक्ताम्लोद्गार गौरवः।
   हृत्कण्ठ दाह रुचिभिश्चाम्लपित्त वदेत् भिषक् ।। माधवनिदान, अ.50
6. भक्तिसागर (षट्कर्म)
7. हठयोग प्रदीपिका - 2/26

वेदों में क्षय रोग (राजयक्ष्मा) और उसका निदान

शरीर के अन्दर श्वास-प्रश्वास, रक्तपरिभ्रमण, पाचन आदि अनेक क्रियाएँ होती हैं। राजयक्ष्मा रोग के उत्पन्न होने पर शरीर की ये सब क्रियाएँ धीरे-धीरे क्षीण होती जाती हैं, अत: इसे क्षय कहते हैं। इसके अतिरिक्त रक्त-मांस आदि का क्षय तथा शुक्र और ओज का भी क्षय होने से इसका क्षय नाम पड़ा है। फेफड़े में प्रधान रूप से विकृति होने के कारण इसे Pulmonary Tuberculosis (T.B.) टी.बी. कहते हैं। अधिक संभोग (Sex) के कारण शुक्र नष्ट होकर फेफड़ों के विकृत होने से उत्पन्न रोग राजयक्ष्मा (Phthisis, थाइसिस) है।

राजयक्ष्मा के विषय में चरक, सुश्रुत और अष्टांगहृदय में विस्तृत विवेचन मिलता है। वहाँ इसके कारण, चिकित्सा, पथ्य आदि का विस्तृत विवेचन है।

'अष्टांगहृदय' में राजयक्ष्मा के चार कारण बताए गए हैं :-

(1) साहस : शक्ति से अधिक परिश्रम।
(2) वेग संरोध : मलमूत्र आदि का वेग रोकना।
(3) वीर्य और ओज का क्षय
(4) खान पान में अनियमितता

अष्टांगहृदय .का कथन है - **दैवव्यपाश्रयं तत्तद् अथर्वोक्तं च पूजितम्** (चि0 5-83)। अर्थात्, दैवव्यपाश्रय चिकित्सा में अथर्ववेदोक्त यज्ञ आदि कर्म करें।

वेदों में राजयक्ष्मा रोग का उल्लेख है और इसकी अनेक प्रकार से चिकित्सा करने का निर्देश दिया गया है :-

(१) यज्ञ द्वारा चिकित्सा :

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कम्,अज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्॥

यह मन्त्र ऋग्वेद 10.161.1 और अथर्ववेद 3.11.1 में आया है। इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि जीवन के लिए और राजयक्ष्मा को समाप्त करने के लिए हवन आवश्यक है।

अथर्व0 19.38.1 में तो यह बताया गया है कि यदि गुग्गुल से हवन किया जाये तो यक्ष्मा रोग दूर भागता है -

न तं यक्ष्मा अरुन्धते, नैनं शपथोऽश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः, सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥

अथर्ववेद 7.76.5 में लिखा है - हे क्षय रोग हम तेरी उत्पत्ति को जानते हैं। जिस घर में हवन होता है उस घर में तू कैसे पहुँच सकता है- **'कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे।'**

अथर्ववेद में कूठ (कुष्ठ) औषधि को सर्वरोगनाशक कहा गया है। यह सब प्रकार के यक्ष्मा रोग को नष्ट करती है

1. स कुष्ठो विश्वभेषजः 19.39-6
2. यक्ष्मं च सर्वं नाशय 5.4-9

जबलपुर वासी डॉ0 फुन्दनलाल अग्निहोत्री ने तो एक 'सेनेटोरियम' का निर्माण कर क्षय रोगियों की हवन के माध्यम से चिकित्सा की थी। उनकी लिखी पुस्तक में विस्तार से इस विषय को स्पष्ट किया गया है।

तैत्तिरीयसंहिता का कथन है कि प्रातः और सायं यज्ञ करने से तथा अमावस्या एवं पूर्णिमा को यज्ञ करने से राजयक्ष्मा नहीं होता -

यो दर्शपूर्णमासयाजी सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति (2.5.6.3)"

यज्ञ वायु को सुगन्धित करता है। यह सुगन्ध श्वास के द्वारा अन्दर जाकर फेफड़ों को शुद्ध करता है और उसमें व्याप्त दोषों को बाहर निकाल देता है।

2. सूर्य किरण चिकित्सा :

आदित्या अंशुम् आप्याययन्ति-तैत्तिरीय संहिता 2.3.5.2 के अनुसार राजयक्ष्मा रोग के निवारण के लिए सूर्य किरणों का सेवन अनिवार्य है। वेद में अनेक स्थानों पर प्रातः कालीन सूर्य की किरणों के सेवन से हृदय रोग एवं अन्य रोगों के ठीक होने का विधान है।

3. अन्य उपाय :

(क) पापों से, पाप भावनाओं से एवं पापकर्मों से बचना।

(ख) एक से अधिक विवाह न करना और अधिक स्त्री-सम्भोग से बचना।

(ग) मैत्रयाणी संहिता का कथन है कि राजयक्ष्मा रोग हो जाने पर चन्द्रमा प्रजापति के पास गया तो उन्होंने इसके निवारण के लिए उपाय बताया - सत्य बोलो। असत्य के कारण ही यक्ष्मा रोग लगता है। मनुष्य में वीर्य ही ओज है, यही प्राणरक्षक तत्व है। इसके संरक्षण से ही जीवनी शक्ति आती है और रोगों से मुक्ति होती है। ऋग्वेद 1.161 सूक्त में कहा गया है कि भले ही राजयक्ष्मा रोगी मृत्यु के पास पहुँच गया हो, जीवन की आशा क्षीण हो चुकी हो फिर भी यज्ञ की महिमा अपार हैं, वह अनन्त शक्ति वाला है, वह प्राण और अपान शक्ति को पुष्ट करता है तथा सत्य के हाथों से मृत्यु से बचा लाता है। अतएव मैत्रायणी संहिता में प्रजापति का उपदेश सार्थक है कि राजयक्ष्मा से बचने के लिए सत्य बोलें।

(घ) **सोमपान और पुरुषार्थ :** अथर्ववेद (7.76.6) में राजयक्ष्मा के उपचार के रूप में दो बातें और बताई गई हैं। वे हैं-सोमपान और पुरुषार्थ। इसका अभिप्राय यह है कि सोमरस या अन्य पौष्टिक रसों का पान यक्ष्मा रोग को दूर करता है। साथ ही पुरुषार्थ या मनोबल को क्षीण न होने देने से भी

रोग निवृत्ति के लिए उपयोगी है। ये रोग मनोविकार और इच्छाशक्ति के ह्रास से उत्पन्न होकर बढ़ते हैं। यदि इच्छाशक्ति को प्रबल रखा जाये तो इनका प्रकोप कम होता है और शनैः शनैः रोग का उपक्षय होता है।

मनोरंजन और धार्मिक कृत्य : राजयक्ष्मा के रोगी के लिए कुछ मनोरंजन, धार्मिक कृत्य और मांगलिक कार्यों के करने का आदेश आयुर्वेद के ग्रन्थों ने दिया है। उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं -

संगीत का सुनना, प्रसन्नचित्त रहना, वृद्धजनों की सेवा- शुश्रूषा, ब्रह्मचर्यपालन, दान, तप, सत्य भाषण करना।

चरक और वाग्भट का कथन है कि प्राचीनकाल में अथर्ववेद में वर्णित यज्ञ-क्रिया के द्वारा ही राजयक्ष्मा रोग पर विजय प्राप्त की गयी थी।

तां वेदविहितामिष्टिम् आरोग्यार्थी प्रयोजयेत्। चरक, चिकित्सा 8-189
दैवव्यपाश्रयं तत्तद् अथर्वोक्तं च पूजितम्। अष्टांग0 चिकि0 5-83

यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता और मैत्रायणी संहिता में भी राजयक्ष्मा का प्रसंग आया है। तैत्तिरीय संहिता में इसके तीन भेदों का भी वर्णन है। ये भेद हैं- राजयक्ष्मा, पापयक्ष्मा और जायान्य (या जायेन्य)। इस रोग की उत्पत्ति के विषय में कथा आती है कि प्रजापति ने राजा चन्द्रमा को अपनी 33 पुत्रियाँ दीं, परन्तु चन्द्रमा ने केवल रोहिणी नक्षत्र से अपना संपर्क अधिक बनाए रखा, अतः अतिविषयासक्ति के कारण उसे राजयक्ष्मा रोग लग गया। यह रोगों में मुख्य है और रोगों का राजा है, अतः इसे राजयक्ष्मा कहते हैं। इन संहिताओं में इस रोग के कारण और निदान का भी उल्लेख है। इनमें रोग की उत्पत्ति के तीन कारण बताए हैं -

1. अति विषयासक्ति
2. पापभावनाएं या पापकृत्य
3. अधिक स्त्रियों से संभोग।

तैत्तिरीय संहिता में इसको इस प्रकार कहा गया है -

राजानं यक्ष्म आरदिति तद्राजयक्ष्मस्य जन्म, यत् पापीयान् अभवत्
तत् पापयक्ष्मस्य, यत् जायाभ्योऽविन्दत् तत् जायेन्यस्य। (2.3.5.2)

राजयक्ष्मा का भाव है कि यह रोगों का राजा है। यह रोग राजाओं, धनिकों, सम्पन्न वर्ग के लोगों को अधिक होता है, क्योंकि विलासी जीवन के कारण उनमें रोग-रोधकता (रोग प्रतिरोधक शक्ति) की मात्रा कम हो जाती है। सम्पन्नता के कारण जीवन में विलासिता और कामुकता अधिक होती है। पापयक्ष्मा से अभिप्राय है कि मनुष्य पाप भावनाएं, पापकृत्य और अपने पापों के फलस्वरूप इस रोग से आक्रान्त होता है। जायान्य और जायेन्य दोनों शब्द मिलते हैं

इसके लिए कहा गया है कि

जायाभ्यः अविन्दत् या जायाभ्याम् अविन्दत्।

दो स्त्रियों या अनेक स्त्रियों से संभोग के कारण यह रोग लगता है। इसका अभिप्राय यह है कि बहुविवाह भी इस रोग का एक कारण है।

राजयक्ष्मा के प्रसंग में अथर्ववेद में एक महत्वपूर्ण संकेत यह दिया है कि यह जायान्य (क्षय रोग) छूत की बीमारी है। वेद का कथन है कि यह पक्षी की तरह उड़कर लगता है। रोगी और अरोगी दोनों प्रकार के व्यक्तियों को इससे सावधान रहना चाहिये -

'पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम्' अथर्व0 7.76.4

वेद सभी सत्य विद्याओं का जहां भण्डार है वहीं संसार के सबसे प्राचीन साहित्य में इसकी गिनती होती है। इनमें जहां क्षय रोग का वर्णन है वहीं कीटाणु विद्या का भी उल्लेख है। ऊपर जो प्रमाण (**पक्षी जायान्यः**) दिया गया है इससे यह सिद्ध होती है। अथर्ववेद और अन्य वेदों में क्षय रोग (**यक्ष्मा**) के मन्त्र यह सिद्ध करते हैं कि उस समय लोगों को इसकी सफल चिकित्सा का ज्ञान था। जिस कारण यह रोग इतने वेग से नहीं बढ़ने पाया जैसा आजकल बढ़ रहा है। **अतः जहाँ अन्य उपायों से यह नियन्त्रित होता है वहीं यज्ञ-चिकित्सा इसका पूर्ण व सर्वांगपूर्ण उपचार है।**

अथर्ववेद के निम्न मन्त्रों में राजयक्ष्मा या क्षय रोग का वर्णन पाया जाता है- 2.33. 1-7; 3.11.1, 3.31.1-11; 5.30.8-9; 6.127.3; 8.7.3, 5; 9.8.3, 9,10-11,19; 10.3. 5; 12.2.1-2,14; 19.36.3; 19.38.1-2; 20.96.17-23; 2.10.5; 3.11.5; 5.4.9; 5.22.11; 5.30.16; 6.14.2; 6.127.1; 7.80.3-5; 7.86.6; 8.1.21; 11.2.22; 12.4.8 आदि।

यज्ञ की सामग्री

जिस प्रकार सब चिकित्सा विधियों में रोगी की अवस्था विशेष पर भिन्न-भिन्न औषधियाँ होती हैं उसी प्रकार यज्ञ-चिकित्सा में भी यज्ञ की सामग्री में अनेक परिवर्तन करने पड़ते हैं। **डा० फुन्दन लाल अग्निहोत्री** ने रोगी की अवस्था को ध्यान में रखते हुए क्षय-रोगियों को चार श्रेणियों में बाँट कर हर श्रेणी के लिये पृथक्-पृथक् सामग्री दी है।

1. कुछ ऐसे शरीर रचना के लोग होते हैं जो रोगी जैसे दृष्टि पड़ते हैं। तंग सीना, कमर झुकी, गाल पिचके। ऐसे लोग सुगमता से क्षय रोगी हो सकते हैं। उनको तथा उन लोगों को जिनका सम्पर्क क्षय-रोगियों से रहता है। अर्थात् क्षय-रोगियों के परिचारक, चिकित्सक, नर्स, सम्बन्धी इत्यादि को विशेष सामग्री से नित्य प्रति हवन करना चाहिये।

प्रथम श्रेणी के लक्षण

रोगी कुछ उदास सा रहता है, थोड़ी-थोड़ी सूखी खाँसी होती है अर्थात् खाँसी का केवल ठसका सा आता है विशेषत: सोने, जागने व प्रात:काल के समय और भोजन करने के पश्चात् छाती में हसली की हड्डी के ऊपर नीचे दर्द होता है। जिसकी टीसें कंधों और पीठ तक जाती है और यदि प्लूरिसी (Pleurisy) भी हो तो दर्द तेज होता है। खांसते समय भी दर्द तेज होता है और कभी-कभी भोजन करने के पश्चात् खांसी आने पर वमन भी हो जाया करता है। बदहजमी का रोग लगा रहता है। घृत और अन्य चिकने पदार्थों से रोगी को अरुचि हो जाती है। हृदय तथा नाड़ी का स्पंदन बढ़ जाता है अर्थात् दिल धड़कने लगता है और नाड़ी की गति कुछ तीव्र हो जाती है, श्वास लेने में कुछ कष्ट अनुभव होता है। थोड़े से परिश्रम से श्वास फूल जाता है। रोगी दिन-प्रतिदिन निर्बल होता जाता है। पहिले दर्जे के अन्त में खाँसी में कुछ कफ भी आने लगता है। कभी कफ में रक्त भी होता है। कभी बहुत रक्त निकलता है, कभी खांसते और बोलते समय आवाज भारी होती है। प्राय: सायंकाल को रोगी को कुछ ज्वर भी हो जाता है।

द्वितीय श्रेणी के लक्षण

भूख मर जाती है। हाथ पाँव के तलवे जलते हैं। खांसी अधिाक आने लगती है। विशेषत: प्रात:काल जागने पर खांसी में कफ अधिक निकलता है। जो पीव मिश्रित होता है। यदि ऐसे कफ को पानी में डालें तो वह नीचे बैठ जाता है। अन्वीक्षण यंत्र द्वारा देखा जाये तो उसमें क्षय-कृमि, पीव और गले सड़े फफेड़े के अंश पाये जाते हैं। श्वास कष्ट से आता है और निर्बलता तथा दुबलापन बढ़ता जाता है। नाड़ी शीघ्र-शीघ्र चलती है। यदि रोग अधिक तीव्र हो तो ज्वर हर समय रहता है। अन्यथा सांयकाल को कुछ सर्दी लगकर बढ़ जाता है और प्रात:काल को उतरते समय बहुत पसीना आता है। रोगी के गालों पर कुछ लालिया प्रतीत होती है।

तृतीय श्रेणी के लक्षण

इस श्रेणी में उपरोक्त सभी लक्षणों की अधिकता होती है। फफेड़ों में गार पड़ जाते हैं। प्रात:काल खांसी बहुत आती है। कफ बहुत अधिकता से निकलता है, इसमें पीव की मात्रा बहुत अधिक होती है। रात को ज्वर बहुत तीव्र होता है और प्रात:काल को पसीना इस अधिकता से आता है कि रोगी के कपड़े तर हो जाते हैं। शक्ति क्षीण हो जाती है। बाल गिरने लगते हैं, नाखून सफेद और गोल हो जाते हैं। छाती और पीठ पर झाइयाँ और दाग पड़ जाते हैं। जिह्वा प्राय: लाल और साफ रहती हैं। भूख नहीं लगती और कभी-कभी वमन भी हो जाता है और अन्त को दस्त आने लगते हैं। रोगी सूखकर कांटा हो जाता है। हाथ पैर पर सूजन आ जाती है और अन्त को रोगी बहुत निर्बल होकर मर जाता है। अन्तिम अवस्था में दस्त आना, श्वास उखड़ जाना अथवा हिचकी आना ऐसे लक्षण हैं कि फिर रोगी का आरोग्य होना लगभग असम्भव है।

सारणी १ : क्षय रोग निवारण हेतु यज्ञ सामग्री

क्र.सं	नाम	वानस्पतिक नाम	कुल	उपयोगी भाग	स्टेज-०	स्टेज-१	स्टेज-२	स्टेज-३
1	गुग्गल	कोमिफोरा गुकुल	बसरैसी	निर्यास	+	+	+	+
2	सफेद चन्दन	सैण्टलम ऐलबम	सैण्टलेसी	काण्डसार	+	+	+	+
3	रक्त चन्दन	टेराकार्पस सैन्टेलिनम	लेग्युमिनोसी	काण्डसार	+	-	+	+
4	अगर	एक्विलेरिया अगलोचा	याईमेलिएसी	काण्डसार	+	+	+	+
5	तगर	वेलिरियाना वालिचिआई	वैलिरियनेसी	मूल	+	+	+	+
6	चिरौंजी	बचनोनिया लेनजेन	एनाकारडियेसी	फूल	+	+	+	+
7	नारियल	कोकस न्यूसीफेरा	पामी	फल	+	-	+	+
8	जायफल	माइरिसटिका फेगरेन्स	माइरिसटिकेसी	बीज	+	+	+	+
9	लवंग	साइजीजियम ऐरोनेटिकम	मर्टे सी	फल	+	+	+	+
10	मुनक्का	वाइटिस विनिफेरा	वाइटेसी	फल	+	+	+	+
11	किशमिश	वाइटिस विनिफेरा	वाइटेसी	फल	+	+	+	+
12	इलाइची	अमोमम ऐरोमेटिकम		फल	+	+	+	+
13	गुलाब	रोजा इण्डिका	रोजेसी	फूल	+	+	-	+
14	हरितकी	टर्मिनेलिया चिबुला	कोमब्रिटेसी	फल	+	+	+	+
15	चावल	ओरीजा सेटाइवा	ग्रेमीनी	फल	+	+	+	-
16	कर्पूर	सिनेमोमम् कैम्फरा	लॉरेसी	तना	+	+	+	+
17	शर्करा	सेकेरम एलबम	ग्रेमीनी	तना	+	+	+	-
18	खर्जुर	फिनिक्स सिल्वेस्ट्रिस	पामी	फल	+	-	+	+
19	गुडूची	टिनोस्पोरा कॉर्डिफोलिया	मेनिस्पर्मेसी	पंचांग	+	+	+	+
20	मण्डूकपर्णी	सेण्टेला एशियाटिका	अम्बेलिफेरी	पंचांग	-	+	+	+
21	इन्द्रवारूणी	सिट्र्युलस कोलोसिन्थिस	कुकुर्बिटेसी	फल	-	+	+	+
22	शालपर्णी	डेस्मोडियम गैंगेटिकम्	फेबेसी	पंचांग	-	+	+	+
23	रास्ना	प्लुचिया लैन्सिओलेटा	कम्पोजिटी	पत्र	-	+	-	+

24	गोक्षुर	ट्रिबुलस टिरेस्ट्रिस	जाइगोफिलेसी	फल	-	+	-	+
25	आँवला	एम्बलीका ओफिसिनेलिस	यूफोरबिएसी	फल	-	+	-	+
26	पुनर्नवा	बोर्हेविया डिफ्युजा	निक्टेजिनेसी	तना	-	+	-	+
27	चीड़	पाइनस रोक्सबरघाई	पाइनेसी	तना	-	+	+	+
28	खूबकलाँ	सिसिम्ब्रअम आयरिओ	क्रुसीफर्री	बीज	-	+	-	+
29	जौं	होरडियम बलगैर	ग्रेमिनी	फल	-	+	+	+
30	तिल	सीजेमम इण्डिकम	पेडेलिएसी	बीज	-	+	+	+
31	शतावरी	ऐस्पेरेगस रेसिमोसस	लिलिएसी	कन्द	-	+	+	+
32	बांसा	अधाटोडा वासिका	एकैन्थेसी	फल	-	+	+	+
33	बादाम	परोनस एमाईगस	रोजेसी	फल	-	+	+	+
34	कुकुम	क्राकस सेटाईवस	इरीडेसी	केशर	-	+	+	+
35	कपूर कचरी	हेडिकियम् स्पाइकेटम	जिंजिबेरसी	मूल	-	-	+	+
36	कूठ	सॉसुरिया लैप्पा	कम्पोजिटी	मूल	-	-	+	+
37	कुलंजन	ऐल्पिनिया गलंगा	जिन्जिवरेसी	कन्द	-	-	+	+
38	जावित्री	माइरिसटिका फ्रेगरेंस	मिरिस्टिकेसी	पुष्प	-	-	+	+
39	देवदार	सेड्रस देवदारु	पाइनेसी	काण्डसार	-	-	+	+
40	खस	वेटीवेरिया जिजेनिआयडिसग	ग्रेमिनी	मूल	-	-	+	+
41	हाऊबेर	ज्यूनिपेरस काम्युनिस	पाइनेसी	फल	-	-	-	+
42	नागरमोथा	साइपरस रोटण्डस	साइपरेसी	पंचांग	-	-	-	+

क्षय निवारणार्थ यज्ञ सामग्री के मुख्य संघटकों-आंवला, तिल, शक्कर, लोंग, गुग्गल, जायफल, तगर, अगर, श्वेत, चंदन तथा हरीतकी आदि का वैज्ञानिक विवेचन इस प्रकार है :-

आँवला

वानस्पतिक विवरण : इम्बिलिका आफिसिनेलिस वानस्पतिक नाम वाला यह वृक्ष कुल यूफोरबिएसी का सदस्य है, काण्डत्वक्धूसरपतली, पंखवत व्यवस्थित पत्र पीत वर्ण पुष्प गुच्छों में, पीताभ हरित फल व षट्कोण बीज।

आयुर्वेदिक उपयोग : त्रिदोषनाशक, मुख्य रूपेण पित्तशामक, दाह, पैत्तिक शिर:शूल व मूत्रावरोध में इसका लेप करते हैं। गर्भाशय दौर्बल्य व मूत्र रोग में आँवला स्वरस देते हैं: खालित्य, पालित्य केश रोगों में उपयोगी तथा त्रिफला के .... में पेटविकारों व नेत्र विकारों की उपयोगी औषधि।

रासायनिक संघटन : गैलिक एसिड, टैनिक एसिड, एल्डूयूमिन, सेल्युलोज इलेजिक एसिड, ल्यूपिऑल, लिनोलेइक एसिड, सेलुलोज व कैल्शियम मुख्य रासायनिक संघटक हैं।

तिल

वानस्पतिक विवरण : 1/2 से 1 मीटर उच्च यह वर्षायु क्षुप कुल पेडेलिएसी का *सीजेमम इन्डिकम* वानस्पतिक नाम से जाने जाने वाला पादप है। पत्र 6 से 12 सेमी लम्बे, पुष्प कोमल लोभयुक्त, बैंगनी श्वेत व पीत चिन्हांकित, फल 3 सेमी तक लम्बा, आयताकार-चतुष्कोणीय।

आयुर्वेदिक उपयोग : त्वचा रुक्षता निवारणार्थ तिल तैल का उपयोग करते है पक्षाघात, अर्दित, वातविकारों, अर्श आदि में विशिष्ट द्रव्यों से संस्कृत कर तेल की मालिश करते हैं। दौर्बल्य में तिल तेल प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संघटन : प्रोटीन, विटामिन ई, फाईटोस्टिरॉल, टीकोफेराल, सीजेमिन, सीजेमोलिन तथा फील फेनॉल योगिक सीजेमॉल मुख्य रासायनिक संघटक हैं।

शर्करा (गन्ना)

वानस्पतिक विवरण : *सैकेरम आफिसिनेरम* वानस्पतिक नाम वाला चिरपरिचित क्षुप कुल ग्रेमिनी का सदस्य है। काण्ड 2 1/2 से 4 मीटर ऊँचा ग्रन्थियुक्त, पत्र पतले, चपटे, पुष्प शाखायुक्त गुच्छों में।

आयुर्वेदिक उपयोग : रक्त पित्त, पीलिया, मूत्रकृच्छ्र, वृक्क रोगों में लाभकारी है। इसके अलावा गन्ना रस सामान्य दौर्बल्य, शुक्र दौर्बल्य में तथा स्तन्यवर्धनार्थ दिया जाता है।

रासायनिक संघटन : मेथिल एपिजेनिन, डाइमेथोक्सी फ्लेवोन ग्लूकोपाइरेनोसाइड, अल्ब्युमिन व कैल्शियम आक्जलेट पृथक् किये गयें हैं।

लवंग

वानस्पतिक विवरण : *साइजीजियम ऐरोमेटिकम* वानस्पतिक नाम वाला यह सदाबहार 9 से 12 मीटर ऊँचा वृक्ष, कुल मिरेटेसी का सदस्य है। कोमल, अनवरत शाखायें हरित वर्णपत्र, पुष्प सुगन्धित बैंगनी रंग, पुष्प कलिदोही लवंग नाम से जानी जाती है।

आयुर्वेदिक उपयोग : शिरशूल व प्रतिश्याय में ललाट पर लेप करते हैं। मुख रोगों व कण्ठरोगों में लंवग चूसते हैं। चर्म रोगों में लेप करते हैं। तेल का प्रयोग वात विकार में तथा दंतशूल में करते हैं।

रासायनिक संघटन : यूजिनॉल, युजिनॉल एसीटेट, कैरियोफाइलिन मेबिलएसेटोफेनॉन, कैरियोफाइलीन, नेफ्थेलीन आदि तत्व सुगन्धित तैल में पाये जाते हैं।

गुग्गल

वानस्पतिक विवरण : *कौमिफोरा मुकुल* नाम वाला, यह छोटा वृक्ष कुल वर्जरेसी का सदस्य है। संयुक्त व एकान्तर पत्र, रक्तवर्ण पंचदल पुष्प, तथा रक्त की लम्बगोल फल। निर्यास मिश्रित वर्ण व सुगन्धि युक्त होता है।

आयुर्वेदिक उपयोग : दुर्गन्ध व कृमि नाशक यह औषधि वात व्याधियों की अचूक औषधि है। यह कफहन, शुक्रदौर्बल्य व कष्टार्त्तव नाशक, अश्मरी नाशक शीतज्वरनाशक तथा वर्ण नाशक औषधि के रूप में प्रयुक्त की जाती है। मूत्रगत विकारों, हृद दौर्बल्य व अग्निमांद्य में भी इसका प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संघटन : इसके जड़ में पाये जाने वाले मुख्य संघटक रसायन आश्सोलिनालिल एसेटेट, 3-इपील्यूपेनिल एसेटेट, ल्यूपेऑन, 3-इपी-एल्फा-अमाइरिन, एल्फा-अमाइसैन, बीटा-एडुडेस्मॉल एसेटेट वीटा साइटोस्टरॉल, सेस्क्यूटरपिन्स एल्केहॉल कौमिफेरिन, सेड्रेलॉन, साईडेरिन मेथिलकाउयॉरिन आदि हैं।

जायफल

वानस्पतिक विवरण : *मिरिस्टिका फ्रेग्रेन्स* वानस्पतिक नाम वाला यह वृक्ष कुल मिरिस्टिकेसी का सदस्य है। यह कोमल शाखा युक्त, सुगन्धित र 9 से 12 मीटर ऊँचा, पत्र 7 सेमी0 से 10 सेमी0 लम्बे, चर्मवत्, अंडाकार-आयताकार, पुष्प हल्के भूरे रंग के, पुष्प पीव, छोटे एकलिंगी, फल गोल, बीज अण्डाकार कवचयुक्त।

आयुर्वेदिक उपयोग : वात व्याधि, शूल व जांगम विषों में इसका लेप किया जाता है, अतिसार, विसूचिका, कृमिरोगों में यह महत्वपूर्ण औषधि है। इससे विसूचिका के जीवाणुओं की वृद्धि दूर घट जाती है।

रासायनिक संघटन : जावित्री व जायफल से प्राप्त तैल में मिरिस्टीसीन, डी-पाइनीन, डी-कैम्फीन, जिरेनियॉल, सैफ्रोल युजिनॉल तथा सात नये फेनिलप्रोपेन्वाइडस पाये जाते हैं।

तगर

वानस्पतिक विवरण : वालेरिअनेसी कुल का यह बहुवर्षीय रोमश सुगन्धित गोंठदार जड़वाला शाक, *वालेरिएना जटामांसी* वानस्पतिक नाम से जाना जाता है। पर्ण मूल से उत्पन्न व गुच्छेदार, 2 से 3 सेमी0 चौड़े दन्तुर पुष्प शाखाग्र गुच्छों में गुलाबी श्वेत वर्ण युक्त होते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : दशांगलेप व तगरादि क्वाथ के रूप में पक्षाघात, संधिवात व आमवात में इसका प्रयोग करते हैं। उदरशूल, जलोदर व प्लीहा वृद्धि में यह लाभकर है। विषम ज्वर व जीर्णज्वर में शान्ति हेतु इसका प्रयोग किया जाता है। रक्त विकारों व वात रक्त में इसे दिया जाता है।

रासायनिक संघटन : एक सेस्क्यूटरपिन, 2-फेन्कीन'-सेस्क्यूफेन्कीन आइरिडुआइड ग्लूकोसाइड, जड़से प्राप्त किया गया। इसके अलावा वालेरोसाइडेटम, डिड्रोवाल्ट्रेटम, आइनेरिन, आइसोकेलेरेट एस्टर्स आदि तत्व पाये जाते हैं।

अगर

वानस्पतिक विवरण : *एक्यूलेरिया अगलोचा* वानस्पतिक नाम वाला यह 21 मीटर तक ऊँचा सदाबहार वृक्ष कुल थाइमेलिएसी का सदस्य है। पत्र 5 से 7 सेमी0 लम्बे, पुष्प श्वेत गुच्छों में तथा फल 2-5 सेमी0 लम्बे होते हैं। बाहरी काष्ठ श्वेत-पीताभ व अन्त:काष्ट कृष्ण वर्ण होती है, अन्त:काष्ठ से ही सुगन्धिता अगर की प्राप्ति होती है।

आयुर्वेदिक उपयोग : चर्मरोग व वेदना युक्त विकारों में इसका लेप करते हैं। मुख की दुर्गन्धिनाश हेतु तथा अग्निमांघ में इसे चबाते हैं। श्वास रोग में अगरु तैल पान में खिलाते हैं। शैय्यामूत्र में भी यह लाभकारी है।

रासायनिक संघटन : पादप निर्यास में अगारेस्टोरॉल, क्रोमोन, 1, 7 - ऑक्सोपॉरफिन, इरियोडेनिन, दो सेझस्क्यूटर्पस मेलेफ्यूरॉन तथा अगॉरॉल पाये जाते हैं।

श्वेत चन्दन

वानस्पतिक विवरण : *सेण्टलम एलबम* वानस्पतिक नाम वाला यह वृक्ष कुल सेन्टेलेसी का सदस्य है जो कि एक उच्च अर्धपराश्रयी वृक्ष है, बाहरी काष्ठ श्वेत व निर्गन्ध तथा भीतरी काष्ठ धूसर वर्ण व सुगन्धित होती है। अण्डाकार पर, पीताभ बैंगनी पुष्प तथा अष्ठिल फल पाये जाते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : पैत्तिक विकारो में चन्दन का लेप करते हैं इसके अतिरिक्त अतिश्वेदजन्य दुर्गन्ध, दाह व चर्म रोगों में भी इसका लेप करते हैं। जीर्णकास, कफ आदि में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संघटन : पादप से प्राप्त सुगन्धित तैल में, सैंटोलिक एसिड, पॉमिटिक एसिड, ऑलेश्क एसिड, लाइनोलेइक एसिड, ग्लूकोज, फ्रक्टोज, एन ऑक्टाकासानॉल, फाल्मिटॉन, हाइड्रोक्सी पाल्मिटॉन, एल्का-सेन्टालॉल, सैन्टीन, एल्फा तथा बीरा सेन्टालेन्स, टेरे सैन्टानॉल, नॉर-ट्राइसाइक्लोइकार्सिण्टेनॉल, आइसो वालेरल्डेहाइड, 1-सैण्टेनॉन, टेरसैंटेलिक एसिड जाये जाते हैं।

हरीतकी (हरड़)

वानस्पतिक विवरण : कुल कम्ब्रेटेसी का 15 से 24 मीटर उच्च यह हरे भूरे रंग की छाल वाला वृक्ष *टर्मिनेलिया चेबुला* वानस्पतिक नाम से जाना जाता है। पत्र 8 से 18 सेमी0 लम्बे, पुष्प छोटे, पीताभ-श्वेत, फल 2.5 इंच से 5 इंच लम्बा अण्डाकार, एकल बीजयुक्त।

आयुर्वेदिक उपयोग : वात, पित्त व कफ सम्बन्धी सभी बीमारियों में लाभप्रद, श्वास व कास में अतीव उपयोगी। त्रिफला का मुख्य घटक, पाचन सम्बन्धी बीमारियों में महत्वपूर्ण औषधि।

रासायनिक संघटन : पॉमिटिक, स्टेएरिक, ऑलेइक, लाइनोलेइक, एरकिडिक, बेहेनिक अम्ल पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त फल में टैनिन, चेबुलिक अम्ल कोरिलेजिन, फास्फोरिक, साक्सिनिक, क्विनिक एसिड पाये जाते हैं।

अतः आरोग्य चाहने वाले मनुष्य द्वारा उसी वेद विहित यज्ञ का अनुष्ठान करना उचित होता है जिस यज्ञ के प्रयोग से प्राचीन वैदिक काल में क्षय रोग नष्ट किया जाता था।

शतावरी

वानस्पतिक विवरण : ऐस्पेरेगस रेसमोसस नाम वाली यह कण्टकयुक्त झाड़ीदार आरोहिणी लता कुला *लिलिएसी* का सदस्य है। इसकी शाखायें विकोणयुक्त और रेम्पान्वित होती है। फल मटर के आकार के होते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : वातपैत्तिक विकारो, वातव्याधि, अम्लपित्त, ग्रहणी, अर्श, शुक्रक्षय, रक्तप्रदर, मूत्रकृच्छ तथा क्षय रोग में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें अनेक सेपोनित पाए जाते हैं।

वासा

वानस्पतिक विवरण : आघाटोडा वासिका नाम वाला यह झाड़ीदार, क्षुप कुल *एकैन्थेसी* का सदस्य है। इसके पत्र लम्बे, रोमश, दुर्गन्धयुक्त, अंडाकार तथा दोनों छोर पर संकोर्ण होते हैं। पुष्प-श्वेतवर्ण दि्वओष्ठी। बीज-छोटे, चिकने, ग्रन्थीमय, सिकुडनयुक्त होते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह कफ, पित्त विकारो, व्रजशोथ, नाड़ी शूल अतिसार, रक्तपित्त, यक्ष्मा, मूत्रकृच्छ और ज्वर में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें वसा, राल, कार्बोनिक अम्ल, शर्करा, गोंद, रंजक द्रव्य और लवण पाये जाते हैं।

कुलंजन

वानस्पतिक विवरण : ऐल्पिनिया गलंगा वानस्पतिक नाम वाला यह क्षुप कुल, *जिन्जि बरेसी* का सदस्य है। इसके पत्र 1-2 फुट लम्बे, 4-6 इंच चौड़े, हरे तथा स्निग्ध होते है। फल नींबू के समान होते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह कफ, वातज्न्य विकारो, झाईं, नाड़ी दौर्बल्य, उदरशूल, बहुमूत्र, प्रमेह, ध्वजभंग तथा श्वासरोगों में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें फ्लेवोन-कैम्फ्राइड, गलगिन तथा अल्पिनिन पाए जाते हैं।

द्राक्षा

वानस्पतिक विवरण : वाइटिस विनिफेरा वानस्पतिक नाम वाला यह आरोही लता कुल *वाइटेसी* का सदस्य है। पुष्पदण्ड छोटे होते हैं जिन पर तन्तु सूत्र नहीं होते पुष्प हरितवर्ष तथा गुच्छों में लगते हैं। फल गोस्तनाकार गुच्छों में लगते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह वातपित्तजन्य, मस्तिष्क दौर्बल्य, तृष्णा, विबन्ध, उदावर्त, हृदौर्बल्य, क्षय, मूत्रकृच्छ, शुक्रदौर्बल्य, त्वचा रोग तथा ज्वर में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : फलों में ग्लूकोज, टार्टरिक, साईट्रिक, रैसेमिक और मैलिक अम्ल और सोडियम और पोटाशियम क्लोराईड व फास्फोरस और लौह आदि जाते हैं।

गुडूची

वानस्पतिक विवरण : टिनोस्पोरा कोर्डिफोलिया वानस्पतिक नाम वाला यह बहुवर्षिय लता कुल मेनिस्पर्मेसी का सदस्यह है। पत्र हृदयाकार, फल अण्डाकार, चिकने तथा बीज मुड़े होते हैं। पुष्प वर्षा ऋतु में तथा फल शीतकाल में लगते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह जिदोषण विकारो, कफ, कुष्ठ पाण्डू, मधूमेह, जीर्णज्वर तथा विषम ज्वर और शुक्रदौर्बल्य।

रासायनिक संघटन : इसमें बर्बेरिन, ग्लूकोसाईड गिलोइन, स्टार्च आदि पाये जाते हैं।

रास्ना

वानस्पतिक विवरण : टलुचिया लैन्सिओलेटा नाम वाा यह झाड़ीदार वृक्ष कुल कम्पोजिटी का सदस्य है। इसके पत्र एकान्तर, लम्बे एवं अवृन्त, पुष्प-श्वेत या बैंगनी होते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह कब्ज, वेदानायुक्त विकारो, आमदोष, गुल्म, उदरशूल, रक्तविकारो, राज्यक्षमा तथा पीड़ी आदि में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें क्वर्सिटीन, आइजोरेमनेटिन और प्लुचिन होते है।

गोक्षुर

वानस्पतिक विवरण : ट्रिबुलस टिरेस्ट्रिस वानस्पतिक नाम वाला क्षुप कुल-जाइगोफिलिएसी का सदस्य है। इसकी शाखाएँ चारों ओर फैली, पत्र चने के पत्तों की तरह पुष्प छोटे पीतवर्ण फल गोलाकार, काष्ठीय खण्ड युक्त पत्ते खण्ड में दो जोड़े तीक्ष्ण काँटे प्रत्येक खण्ड में बीज होते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह कफ पैत्तिक, कुष्ठ, स्मृतिवर्धक, शक्तिवर्धक, ग्रहमी, रक्तपित्त, प्रमेह गंडमाला, ज्वरहन तथा ज्वर में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें तेल, रॉल, टैनिन, ग्लाइकोसाइड, स्टीरॉल, नाइट्रेट, हर्मन तथा सेपोनिन होते हैं।

पुनर्नवा

वानस्पतिक विवरण : बोर्हेविया डिफ्युजा वानस्पतिक नामवाला बहुवर्षिय क्षुप कुल निक्टेजिनेसी का सदस्य है। इसके पत्र गोल या अण्डाकार, पुष्प गुलाबी, अवृन्त, छोटे मुण्डकों में होते हैं। पुष्प व फल वर्षाकाल में आते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह त्रिदोवज विकार, नेत्ररोगों, उदररोग, पाण्डु रोग, श्वास, वाजीकरणार्थ, मूत्रकृच्छ, कुष्ठ तथा ज्वर में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें पुनर्नवीन, पोटेशियम नाइट्रेट, सल्फेट, क्लोराईड, नाइट्रेट और क्लोरेट पाए जाते हैं।

ब्राह्मी

वानस्पतिक विवरण : सेण्टेला एशियाटिका वानस्पतिक नाम वाला सुप वर्षायु कुल अम्बेलिफेरी का सदस्य है। इसके प्रत्येक पर्व में मूल, पत्र, पुष्प तथा फलों का उपगम होता हे। मूल सूक्ष्म और सूत्रवत होते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह कफपैत्तिक, कुष्ठ, मेघ्य स्मृतिशतिवर्धक ग्रहणी, रक्तपित्त, प्रमेह गंडमाला, ज्वरहन तथा ज्वर में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें हाईड्रोकोटिलिन, ग्लाईकोसाईड, बैलेरिन पैक्टिक अम्ल,

स्टेशल हैनिन तथा स्टिग्मास्टेरोल आदि पाये जाते हैं।

इन्द्रवारुणी

वानस्पतिक विवरण : सिट्रयुलस कोलोसिन्थिस वानस्पतिक नाम वाली आरोहणी लता कुल कुकुरबिटेसी सदस्य है। पुष्प, घंटाकार, फल-गोल तथा कृष्णाम होते हैं। पुष्प नवम्बर में तथा फल जनवरी में आते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह कफपैत्तिक, व्रणशोथ, विप्रधि, उदररोग, कामला, कासश्वास, कष्टप्रसव, प्रमेह तथा ज्वर में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें कोलोसिन्थिन, ए-इलेटरिन, हेण्ट्रिएकोटेन, फाइटोस्टेरोल, सेपोनिन, इपुरेना। ल, ग्लाइकोसाइड और टैनिन पाए जाते हैं।

अत: आरोग्य चाहने वाले मनुष्य द्वारा उसी वेद विहित यज्ञ का अनुष्ठान करना उचित होता है जिस यज्ञ के प्रयोग से प्राचीन वैदिक काल में क्षय रोग नष्ट किया जाता था।

-डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री
(वेद विभाग),
डॉ० नवनीत, प्रभात, अमित
(सूक्ष्मजीव विज्ञान विभाग)
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

सन्दर्भग्रन्थ सूची

1. अग्निहोत्री, फ, ल, 1949, यज्ञ चिकत्सा, सेठ रत्लाजी, हीरा जी चिकित्सा संस्थान, जबलपुर।
2. अग्निहोत्री, फ, ल, देवयज्ञ, वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम, अजमेर।
3. चुनेकर, के, सी, 1969, भावप्रकाश निघन्टु कमेटी, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी।
4. जोशी, के, ल, 1999 अथर्ववेद संहिता चौखम्भा प्रकाशन, देहली।
5. कौशिक, पी, व धीमान ए,के, मैडिसिनल प्लान्ट एण्ड रॉ ड्रग्स आफॅ इण्डिया।
6. नाडकरनी, ए, के, 1976, इण्डियन मैटिरियल मैडिका, बोम्बे पापुलर प्रकाशन।
7. लाला शालिग्राम वैश्य और पं0 कान्तिनारायण मिश्र, 1998, अष्टांगहृदयं, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
8. पं0 काशीराम शास्त्री व डा0 गोरखनाथ चतुर्वेदी 1976, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।

एक भूला-बिसरा क्रान्तिकारी

बात बहुत पुरानी है तब विदेशों में जाने का पासपोर्ट भी नहीं लेना पड़ता था। उत्तरीय अमेरिका विशेषकर ''कनाड़ा'' के घने जंगलों में बन्दूकों के कुन्दे-हथौड़ियों, कस्सिपों, बेलचों आदि औजारों के हत्थे, रेल के डिब्बे बनाने के लिए कीमती लकड़ी पर काम करने के लिए उत्तम कारीगरों की अत्यन्त आवश्यकता को देखते हुए भारत-सरकार की दृष्टि पंजाब पर पड़ी। क्योंकि यूरोपियन कारीगर अत्यन्त महंगे पड़ते थे। मेहनती भी कम थे अत: भारत के ''बढईयों'' को वहाँ ले जाकर बसाने का उपक्रम बनाया गया। हजारों सिक्ख और अन्य हिन्दू, मुसलमान वहाँ अधिक पैसा प्राप्त करने की आशा से गए। अब सारे संसार को लकड़ी का सामान वितरित होने लगा। कनाड़ा प्रान्त की आर्थिक दशा में अत्यन्त आशातीत उन्नति हुई। धन भी हमारे श्रमिकों ने खूब कमाया। इतने पर भी गोरें शासकों का व्यवहार हमारे श्रमिको के साथ अपमान जनक ही रहा। उनको कुली व काला आदमी के नाम से सम्बोधित किया जाता था।

कारण एक मात्र यह था कि हम पराधीन थे। अत: गुलाम गिने जाते थे। यद्यपि हमारे पंजाबी कारीगर सर्वथा अशिक्षित थे तथापि अभी तक उन में आत्मसम्मान की भावना विद्यमान थी। कनाड़ा के अनेक नगरों में इन श्रमजीवियों ने गुरुद्वारे स्थापित किए और अपनी ही भाषा में भजन, कीर्तन प्रारम्भ किए।

स्वामी दयानन्द जी के शिष्य **श्याम जी कृष्ण वर्मा** तथा **वीर सावरकर** के प्रयत्नों से उन में देश प्रेम व आत्मसम्मान की भावना जागृत हो गई। समय भी अनुकूल मिल गया। विश्व का प्रथम युद्ध सन् 1914 का प्रारम्भ हो ही रहा था कि बाबा गुरदत्तसिंह इत्यादि व्यवसायियों के प्रयत्न से इन गुरुद्वारों में देश को स्वतन्त्र करने की भावना अत्यन्त प्रबलता से उद्बुद्ध हो गई। 'गदर' नामक साप्ताहिक पत्रिका द्वारा इसका प्रचार भी आरम्भ हो गया। इस पर वहाँ के गोरे शासकों की नींद हराम हो गई। भारत से आने बाले यात्रियों पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए।

इस पर कुछ उत्साही व्यवसायियों व श्रमिकों ने बाबा गुरुदत्तसिंह को आगे करके एक जहाज खरीदा जिसका नाम था ''कामा गाटामारु जहाज'' जो भारतीय यात्रियों को लाने ले जाने लगा, परन्तु उसे भी बन्दरगाह पर रोककर वापस भारत जाने को बाधित करने पर एक जन-जागृति पैदा हो गई। प्रत्येक 'भारतीय प्रवासी' स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए तड़प उठा। उनका नारा था- 'चलो देश पर कुर्बान हो जाइये और अपने देश नू आजाद करिये''। शस्त्रों से लैस सैकड़ों भारतीय श्रमिक जिन में सिक्खों की संख्या अधिक थी, 'कामागाटा-मारु' जहाज से भारत रवाना हो गए। ब्रिटेन के शासक भी सजग हो गए। कलकता बन्दरगाह तक तो चुप रहे परन्तु जब जहाज़ बन्दरगाह से 8-10 मील दूर रह गया तो सैनिकों ने जलपोतों व नोकाओं से उस जहाज़ को रोक कर चारों ओर से घेर लिया। उसे आत्मसमर्पण करने के लिए बाधित किया गया। तोप के गोलों से ध्वस्त करने की धमकी दी गई।

मामूली युद्ध के बाद जहाज पर सेना का कब्जा हो गया। सब यात्री कैदी बनाए गए। हथियार, गोला, बारूद, बन्दूकें, रिवाल्वर जप्त कर जहाज को कब्जे में ले लिया गया किन्तु एक साहसी नवयुवक जिसका नाम 'पृथ्वीसिंह आजाद' था, जहाज से समुद्र में कूद पड़ा। सशस्त्र नौकाओं ने पीछा किया परन्तु वह सबको चकमा देता हुआ समुद्र तट पर स्नान करते यात्रियों व भक्तों में ऐसा विलीन

हुआ कि पुलिस भी उसे न पा सकी। वह कलकत्ते से अपने गांव ''चकवाल-भलवाल'' में जा पहुँचा और घर पर कृषि कार्य में लग गया। घर पर चचेरे भाई से जमीन के बंटवारे पर झगड़ा होने और उसकी गवाही पर पुलिस के हाथों पकड़ा गया। उधर 'कामागाटामारु' जहाज के यात्रियों की सारी सम्पति जो लाखों करोड़ों रुपये की थी, सरकार ने जप्त कर ली और उन सबको काले पानी का कठोर दण्ड दिया गया। उस में इस नवयुवक पृथ्वीसिंह आजाद को भी कठोर करावास (आजन्म कैद) का दण्ड मिला। पंजाबी होने के कारण उसे मद्रास 'मदुरा' जेल में भेजा गया। वहाँ की खुराक इमली का पानी, लाल मिर्च और घटिया किस्म के चावल थी, जो कि पंजाबी कभी खा न सकते थे। जेल से भागने के उपक्रम में दो बार पकड़े जाने पर उसे पुनः काले पानी (आजन्मकैद) का दण्द सुनाया गया। यहाँ तक की फांसी की सजा भी सुनाई गई परन्तु वह भी आजन्म कैद में परिणित हो गई। कई जेलों में परिवर्तित करते हुए उसे मद्रास की भयंकर जेल (हैवुचल सेंट्रल जेल) में भेजने का आदेश मिला। उसका शरीर हथकड़ी डंडाबेड़ी से कस कर एक दर्जन सिपाहियों के पहरे में स्टेशन लाया गया और मद्रास मेल के एक थर्ड क्लास के डिब्बे में बैठाया गया। डिब्बे में भी ताला लगा था। घन-घोर रात्रि में सब सिपाही ऊँघ रहे थे। उस साहसी ने शनै : शनै अपनी जंजीरें समेटी और खिड़की से थोडा-2 शरीर बाहर सरकाना प्रारम्भ किया। अन्त में उसने चलती ट्रेन से अपना सारा शरीर बाहर गिरा दिया। पत्थरों पर धड़ाम से गिरने की आवाज सुनकर प्रहरी जागे। कैदी को न पाकर गाड़ी की जंजीर खींची गयी। गाड़ी को लौटा कर कैदी की खोज प्रारम्भ हुई परन्तु पृथ्वीसिंह जिसने 'कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्' का दृढ़ संकल्प कर रखा था, उठकर पास के एक काँटेदार थूहर के झुण्ड में जा घुसा। सारा शरीर काँटों से छलनी हो गया परन्तु सांस रोक कर शांतभाव से बैठा रहा। निराश सिपाही गाड़ी पर सवार होकर आगे को रवाना हो गये। सब के चले जाने पर वह नौजवान झाड़ियों से बाहर निकला। सारा शरीर लहूलुहान हो गया था। रेल लाईन से दूर चल पड़ा। समीपस्थ एक गांव के बाहर की तरफ लुहार के घर पहुंचा और विनय पूर्वक बोला मेरे बन्धन काट दो यह सारा लोहा आपका हो जायेगा। पहले तो लुहार डर गया, उसने आना-कानी की किन्तु फिर बहुत कहने सुनने पर और कई किलो लोहे के लालच में आकर उसने बंधन काट दिया।

अब वह भूखा-प्यासा उस प्रान्त की भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ पागलों के समान अर्धनग्न शरीर में कई महीनों की पैदल यात्रा करता हुआ गुजरात प्रांत में आ पहँचा। शरीरिक स्वास्थ्य जाता रहा, शरीर घावों से छलनी हो गया था। आनन्द भावनगर आदि नगरों में भटकते-2 कुछ स्वास्थ्य लाभ कर उसने एक विद्यालय में नौकरी प्राप्त की । वहाँ विद्यार्थियों को लाठी, लेजिम, मलखम्भ तथा जिमनास्टिक का अभ्यास कराया। जिस से सब विद्यालयों में उसकी ख्याति फैल गयी। भिन्न-भिन्न नामों से भिन्न-भिन्न वेशों में उसने अनेक नगरों में निवास किया। यहाँ तक की राजकोट के सत्याग्रह में तीन मास की जेल भी हो आया। कांग्रेस का सक्रिय कार्य-कर्त्ता बन गया तथा गुजराती विद्यार्थियों में क्रान्ति की भावना भरने लगा। उसने ग्रीष्मावकाश में सारे प्रान्त के सैकड़ों नहीं हजारो विद्यार्थियों को एकत्रित कर भिन्न-भिन्न विद्यालयों में एक मास का व्यायाम शिविर चलाया।

अन्त में जब भावनगर में मौंटेसरी प्रणाली के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री श्री 'गिजुभाई' के पास पहुँचा तो गिजुभाई जो अत्यन्त पारखी व्यक्ति थे उस हीरे को पहचान गए। एकान्त में उसके पिछले जीवन की जानकारी तथा गत 20 वर्षों के विस्तृत कारनामों की जीवनी प्राप्त कर बोले-यदि आप

अपने नकली रूप को छोड़कर असली रूप में प्रकट होकर कार्य करें तो सम्पूर्ण बम्बई प्रान्त जिसमें (गुजरात प्रान्त भी समिलित था) के मुख्य व्यायाम शिक्षक व इन्सपैक्टर बनाये जा सकते हैं। पृथ्वीसिंह आजाद ने उत्तर दिया-मेरे नाम के वारंट हैं, हजारों रुपये का इनाम मुझे पकड़वाने पर घोषित है। दो-दो काले पानी (आजन्म कैद) का दण्ड घोषित है यहाँ तक की एक दण्ड फांसी का भी मिल चुका है। सरकार की दृष्टि में अत्यन्त भयंकर अपराधी घोषित होने पर मैं कैसे प्रकट रूप में आ सकता हूँ क्योंकि कुछ वर्ष हुए प्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद इसी आशय से श्रीं जवाहर लाल जी के आनन्द भवन से निराश होकर लौट आया था। यह सुन कर गिजुभाई बोले यदि आप अवसर दें तो मैं महात्मा गांधी जी से मिलकर आपको सर्वथा मुक्त कराने का प्रयत्न कर सकता हूँ।

आजाद की स्वीकरोक्ति पर गिजुभाई बम्बई में समुद्र तट पर जुहू नामक एकान्त स्थल पर जहाँ तुरन्त जेल से रिहा होने पर महात्मा जी एक कुटिया में स्वास्थ्य लाभ कर रहे थे-मिले। सम्पूर्ण बात सुनकर गांधी जी ने इतना ही उत्तर दिया कि ''यदि पृथ्वीसिंह आजाद मेरे सामने आत्मसमर्पण करके सम्पूर्ण अपना पुराना जीवन सत्य-सत्य वर्णन करें तो अवश्य ही उसे मुक्त कराने का प्रयास करूँगा। ऐसा ही हुआ भी। आज़ाद ने जुहू में जाकर गांधी जी के सामने आत्म समर्पण कर अपनी गत जीवनी विस्तार से सुना दी। इस पर महात्मा जी बोले-मेरी अन्तरात्मा की आवाज है कि तुमने सत्य-2 सब बात मुझे सुना दी है मैं तुम्हें सर्वथा मुक्त कराने का प्रयास करूँगा। पर यह सोच लो कि यदि मैं तुम्हें पुलिस को सौप दूं और पुलिस मेरी प्रार्थना को अस्वीकार कर न्यायालय द्वारा फांसी पर लटकाने का आदेश दे दे तो तुम क्या करोगे?

इस पर अत्यन्त आह्लाद से प्रसन्न मुद्रा में आजाद बोला-''महात्मा जी, जब मैंने आपको अपना 'आत्म-समर्पण' कर दिया है उस अवस्था में मैं अब चिन्ता मुक्त हूँ। अब चाहे मुझे फांसी हो या काला पानी या अन्य यातना मिले मैं सहर्ष सब कुछ स्वीकार करूँगा।

'अच्छा! तो सावधान!' इतना कह कर महात्मा जी ने टेलीफोन उठा कर पुलिस मुख्य कार्यालय 'काकड़ वाड़ी' से फोन मिलाया। आवाज आई 'हैलो! कौन बोल रहा है?''मैं गांधी जुहू से बोल रहा हूँ। आप कौन बोल रहे हैं।'' दूसरी तरु से आवाज आई-'मैं बम्बई प्रान्त का बड़ा पुलिस इन्सपैक्टर बोल रहा हूँ, आज्ञा कीजिए! क्या सेवा करूँ।''गांधी जी बोले मेरी कुटिया में आज से लगभग 25 वर्ष से फरार आपका एक क्रान्तिकारी बन्दी पृथ्वीसिंह आजाद बैठा है। मैं उसे आपको सौंपना चाहता हूँ। परन्तु यह बताएं कि क्या आप उसे मेरी जमानत पर छोड़ सकते हैं? ''पुलिस अधिकारी ने उत्तर दिया खेद है यह बात मेरे अधिकार से बाहर है। मैं तो आपकी आज्ञानुसार उसे पुलिस हिरासत में लेकर पंजाब के मुख्यमन्त्री श्री सिकन्दर हयात तक पहँचा सकता हूँ। आगे आप जानें और वे जानें''। '' तो फिर पधारिये'' इतना कहकर गांधी जी ने फोन रख दिया।

कुछ ही मिनटों में पुलिस आफिसर सशस्त्र सिपाहियों के साथ गांधी जी की कुटिया पर आ पहुँचा। इशारा करते ही, आजाद को गिरफ्तार कर पुलिस स्टेशन ले जाया गया। वहाँ से कड़े पहरे में पंजाब की राजधानी लाहौर और वहाँ से भी 'रावल पिंडी' सैंट्रल जेल में।

गांधी जी ने (कांग्रेस और मुस्लीम लीग) की मिलीजुली मिनिस्टरी के मु0 मन्त्री 'सिकन्दर हयात खाँ के पास अपने सैकरेटरी श्री महादेव भाई को सारा किस्सा समझाकर लिखित रूप में केस को प्रस्तुत करने के लिए भेजा। अनेकों बार पत्रोत्तर के आदान-प्रदान के बाद और न्यायालय में केस का नाटक कर कुछ ही सप्ताहों में 'पृथ्वीसिंह आजाद'' को 10 वर्ष की कैद का आदेश मिला। इसी बीच में गांधी जी के मन्त्री श्री प्यारेलाल व महादेव भाई बारी-बारी से रावलपिण्डी जेल में पृथ्वीसिंह से मुलाकात करने सेवाग्राम से जाते रहे, गांधी जी की सलाह के अनुसार आजाद ने अपना कैदी जीवन बिताना आरम्भ कर दिया। सैंट्रल जेल में ढाई-तीन हजार कैदी थे। पृथ्वीसिंह के प्रयास से चरखे के साथ हाथकरघे द्वारा बुनाई का काम प्रारम्भ हो गया। यहाँ तक की जेल में भयंकर सरहदी पठान कैदी भी उसके आचरण व आदेश से शांत प्रकृति के बन गए।

अब जेल अधिकारियों और कैंदियों के साथ नित्य का सिरदर्द व संघर्ष समाप्त हो गया। रावलपिण्डी जेल एक आदर्श सुधार-गृह बन गया, गांधी जी के सतत प्रयासों से व 'आजाद' के उत्तम व्यवहार से प्रसन्न व सन्तुष्ट होकर पंजाब सरकार ने कुछ वर्ष पश्चात् ही सम्मान पूर्वक पृथ्वीसिंह को स्वतन्त्र करने का आदेश दे दिया।

एक दिन प्रात: प्रार्थना सभा के उपरान्त गांधी जी सेवाग्राम में कुछ कांग्रेस के नेताओं के साथ विचार-विमर्श कर रहे थे कि पंजाब पुलिस का एक इन्सपैक्टर उनके प्राईवेट सैक्रेटरी महादेव भाई व प्यारेलाल के साथ एक अज्ञात व्यक्ति को लेकर कुटिया में प्रविष्ट हुआ। शिष्टाचार के अनन्तर यह कह कर कि अपना भेजा फरार व्यक्ति स्वीकार करें।

समस्त समाचार पत्रों ने इस घटना को मुख्य पृष्ठ पर छापा तथा संसार के राजनीतिज्ञों ने गांधी जी का लोहा माना। अब आजाद पुन: बम्बई सरकार के मुख्य व्यायाम शिक्षक पद पर कार्य करने लगा। एवं एक कर्मठ गुजराती कन्या से विवाह बंधन में बंधकर गुजरात का सच्चा सेवक व नागरिक बन गया।

स्व0 पंडित चन्द्रकेतु जी
भू.पू.अधिष्ठाता-विद्यालय
गु0 कु0 कांगड़ी ।

लेखनी के धनी

लेखनी के धनी, गर बिक जाएंगे।
गूंगा होगा वतन, जुल्म बढ़ जाएंगे।।
सुनेगा नहीं कोई, जज्बात को।
नोच खायेगा स्वार्थ तेरे भाव को।
लेखनी गर रुकी, दर्द बढ़ जाएंगे..........
जेब भर कर न कोई हुआ है अमर।
नेक नियत ही करती है सबको अमर।
लेखनी गर बिकी, हाथ कट जाएंगे.......
जिनका कोई नहीं उनके अपने हैं हम।
सबके जाने हैं हमने ही दर्दो-सितम।
रुक गयी गर गति, शब्द मर जाएंगे.......
मीठी ताने न कोयल, सुना पायेगी।
चहकना भी ये बुल-बुल भुला जायेगी।
सूना होगा चमन, नीड़ जल जाएंगे.......
भाषा बिक जाएगी, भेद बढ़ जाएंगे।
आदमी, आदमी से दूर हो जाएंगे।
स्वर को बांधा अगर, छन्द मर जाएंगे.....
भ्रष्ट जीवन की बोली, बोलेंगे सब।
डूब जायेगी किश्ती, डूबेंगे सब।
लेखनी जो बिकी, स्वप्न झर जाएंगे......
प्यार के गीत पर, वज्र गिर जाएगा।
क्रान्ति-ज्वाला पे पानी भी पड़ जाएगा।
लेखनी गर डरी, भाव डर जाएंगे......
घूसखोरी व चोरी, बढ़ेगी यहाँ।
शान मिट्टी में अपनी मिलेगी यहाँ।
लेखनी गर झुकी, लोग झुक जाएंगे....
कौन पूछेगा मीरा, व रसखान को।
सूर-तुलसी के प्यारे,भगवान् को।

लेखनी गर बिकी, गीत बिक जाएंगे.....
गीत कोई भी ऐसा, न गा पाओगे।
राष्ट्रकी वन्दना भी, न कर पाओगे।
लेखनी गर रुकी, मन बिखर जाएंगें.....
दुखडा अपना न कोई सुना पायेगा।
मन के भीतर ही घुट कर रह जायेगा।
लेखनी गर थकी, भाव थक जाएंगे.....
इक जल-जला आ रहा, इसलिए कह रहा।
उठके होओ खडे क्यों सोये पड़ें।
लेखनी गर जगी, लोग जग जाएंगे.......
देश की रूह में, शोले भर कर जियो।
'हल्दी घाटी' व 'जौहर' की भाषा लिखो।
भाव,भाषा संवारों, मन बदल जाएंगे.....
गुप्त, दिनकर, निराला, सा लेखन लिखों।
'भारतेन्दु' व 'टण्डन' सा जीवन जियो।
स्वर को ऊँचा करो, भेद मिट जाएंगे.....
प्यार की बात को, प्यार से ही लिखों।
न सोचो अधिक कुछ तो अपना लिखो।
'नीर' लिखते रहो, दिन संवर जाएंगे....

14 सितम्बर दिन्दी-दिवस

महावीर 'नीर'
गुरूकुल काँगडी,
विश्वविद्यालय
ज.प.- हरिद्वार

STUDY OF DISEASE SPREAD IN AGE BASED HUMAN POPULATION BY MATHEMATICAL APPROACH

ABSTRACT

In this paper the basic problem is to describe the spread of an infection within a population. For example consider a small group of individuals who have a communicable infection being inserted into a large population of individuals capable of "catching" the disease. Then an attempt is made to describe the spread of the infection in the larger group. To do this. certain assumptions are required to describe the characteristies of the disease and the mixiog of the From these assumptions a mathematical model is formulated. In the mathematical theory of epidemics a variety of different approaches are utilized. The models under considerations are deterministic i.e. they use differential equations to describe changed in the population.

INTRODUCTION

To introduce. the basic ideas we describe first a model due to Kermack and McKendric (1926, 1927, 1932). The population is divided into three disjoint classes of individuals:

(S) The susceptible class. i.e. those individual who are not infective but who are capable of contracting the disease and becoming infective.

(I) The infective class, i.e., those individuals who are capable of transmitting the disease to others.

(R) The removed class i.e. those individual who have had the diseas and are dead or have recovered and are permanently.

immune, or are isolated until recovery and premanent immunity occur. The spread of the infection is presumed to be governed by the follwing rules:

(i) The rate of change in the susceptible population is proportional to the number of contacts between members of classes (S) and (I), where we take the number of contacts to be proportional to the product of the number of members of (S) and the number of mimbers of (I).

(ii) Individuals are removed from the infectious class (I) at a rate proportional to the size of (I),

(iii) The population is constant.

Hypothesis (i) is a statement of the law of mass action and assumes uniform mixing of the population- contact depends only on the numbers in each class. This is neasonable if the population consists of Students in a school.where changing classes. attending athletic events, etc., mix the population. It would not be true in an environment where socio- economic factors have a major influence on contacts.

Hypothesis (ii) states that recovery is equally likely among infectives, and in particular does not take into account the length of time any particular individual gas been an infective. This is an attempt to use a "statistical quantity," the proportion recovering, to replace an accounting of an individual basis. Later we will see that (ii) yields the survival probability of an infective (as an infective).

Hypothesis (iii) states that we are considering a closed population, in particular, ignoring births, deaths, immigrations, etc,

The classical deterministic models can be divided into two broad categories depending upon the type of the disease under investigation.

(a) S-I-S MODEL
(b) S-I-R MODEL

The S-I-S models are appropriate for some bacterial agent diseases such as meningitis. plague. veneral diseases and for parasitic disease such as malaria and sleeping sickness in which individuals move from susceptible class to the infective class and back to the susceptible class after recovery. On the other hand, the S-I-R models are suitable for viral agent diseases like measles, mumps and smallpox in which individuals recover with immunity. Besides these two models a third model known as S-I model has also been constructed in order to deal with cases in which susceptible individual gets infected and he does not recover.

We treat the population as a continuum. If we denote by S (t). I(t). R(t). the number of individuals in classes (S),(I).(R) respectively. at time t, (i),(ii),(iii) yield the following S-I and S-I-R epidemic model:

$$\frac{dS}{dt} = rSI + yI ----------(1)$$

$$\frac{dI}{dt} = rSI - yI -----------(2)$$

and

$$\frac{dS}{dt} = rSI --------------(3)$$

$$\frac{dI}{dt} = rSI - yI -----------(4)$$

$$\frac{dR}{dt} = yI ------------(5)$$

One of the deficiencies of the above ordinary differential equation model is that they do not take into account any age structure which in many situations can influence population size and growth in a major way. So we consider here a first extension to include age dependence in the birth (b) and death (u) rates. The demographic rates taken as a function of age: a: for man, for example, qualitatively look like the curves in figure below :-

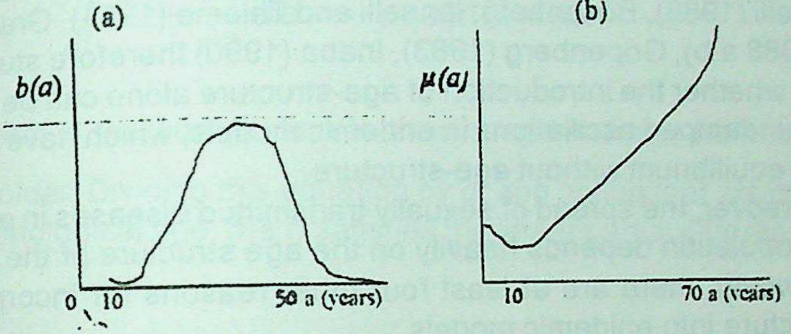

Fig :- Qualitative birth (a) and death (b) rates for man as function of age in years.

The term age is a broad meaning term. In epidemiology by age one mean chronological age i.e. the elapse of time since birth, and a class age which gives the elapsed time since entering a specific demographic or epidemiologic class of the population. Though the importance of chronological age for epidemic modelling was recognised (Kermack and Mc Kendrick, 1932), class age has been incorporated much earlier than chronological age into epidemic models. (McKendrick, 1926), Kermack & Mc Kendrick (1927, 1932, 1933), In many diseases the chronological age of the individual is an important factor in assessing his vulnerability and infectiouaness. For example, the data quoted by Bernoulli (1760) on the incidence and severity of smallpox with age is a vivid illustration, vulnerability and mortality go down markedly with age. A variety of age dependent models are discussed in the book by Hoppensteadt (1975), Dietz (1982), proposes such a model for river blindness (onchocersiasis) and uses it to compare various possible control strategies. The books by Charlesworth (1980) and Metz and Diekmann (1986) provide a good survey as well as the wide spectrum of applicability of age structured models.

Reason for Incorporating Age-structure into Epidemic Models :

The biennial outbreaks of measles have fascinated mathematical modelers of infections diseases for many years and different mecha nism have been suggessted to explain their occurrence (Schenzle (1984), Hethcote, Stech and van Driessche (1981). Aron (1989), and Hethcote and Levin(1989). Schenzle convincingly argues that the outbreak patterns are presumably caused by the interaction of age stucture and seasonal forcing due to the school system, however his work does not completely clarify the mathematical mechanism which cause the biennial oscillations, Several authors- Andreasen (1989 a,b), Busenberg, Cooke and lannelli (1988), Busenberg; lannelli and Thieme (1991), Greenhalgh (1987, 1988 a,b), Gripenberg (1983), Inaba (1990) therefore studied the question whether the introduction of age-structure alone can be responsible for undamped oscillations in endemic models, which have a stable endemic equilibrium without age-structure.

Moreover, the spread of sexually transmitted diseases in a heterosexual population depends heavily on the age structure of the population. However, there are at least four other reasons for incorporating age-structure into epidemic models :

(i) assessing the demographic impact of infectious diseasses with significant fatalities e.g.Bernoulli (1760), McLeam (1986) and May, Anderson and McLean (1988, 1989);

(ii) the estimation of parameters from age-specific data, Dietz (1975), Anderson and May (1982, 1985), Dietz and Schenzle (1985a), Aron (1989):

(iii) the protection of age-specific risk-groups (like in the case of rubella), e.g. Knox (1980), Dietz (1981), Anderson and May (1983), Katzman; Dietz (1984) and Hetheote (1988, 1989);

(iv) the design of vaccination program e.g. Dietz (1981), Anderson and May (1982, 1983, 1985), Anderson, Grenfell and May (1984), Katzmann and Dietz (1984), Schenzle (1984, 1985), Hetheote (1988, 1989), Aron (1989).

Thus age structure must be incorporated into a realistic model. The importance of age structure in disease transmission is well recognised and in the last few years several models including chronological age have been discussed. This is an area where mathematicians and biologists have been interacting successfully.

Population Model with Age Distribution :

Consider an age structured population whose age-density at time is given by n(a,t) such that

$$N(t) = \int_0^\infty n(a,t)da \text{ -----------------(6)}$$

gives the population size at time I,

Let B (a) and u (a) be the age specific fertility and mortality respectively.

In a small increment of time *dt* the number of the population of age a that dies is

$$\mu(a)\ n(a,t)\ dt$$

The birth rate only contributes to *n(0,t)*; there can be no births of age *a > 0*, The conservation law for the population now says that

$$dn(at) = \frac{\partial n}{\partial t}dr + \frac{\partial n}{\partial a}da = -\mu(a)n(a,t)dt - - - - - - - - (7)$$

The term is the contribution to the change in *n(a,t)* from individuals getting older. Dividing this equation by *dt* and noting that *da/dt =1* since a is chronological age, *n(a,t)* satisfies the linear partial differential equation

$$\frac{\partial n}{\partial t} + \frac{\partial n}{\partial a} = -\mu(a)n, - - - - - - - - - (8)$$

which holds for t > 0 and a > 0.

Equation (8) is a first order partial differential equation and in often referred to as the Von Foersher equation, which requires a condition on *n*(a,t) in t and in a. The initial condition,

$$n(a,0) = f(a) - - - - - - - - -(9)$$

indicates that the population at time t=0 has a given age distribution f (a). The other boundary condition on age 'a' comes from the birth rate and is

$$n(0,t) = \int_0^\infty \beta(a)n(a,t)da - - - - - - - - (10)$$

where, for mathematical complicity, we have taken the upper limit of ∞for the age; of course will tend to zero for large a, as in fig. 1 (a) for example, and so we could replace ∞ by a_m say where $\beta(a) =$ ofora > amr The equation (8) arises in a variety of different disciplines and theoretical biology areas, cell proliferation models for example. In such models we are mainly interested in the long time behaviour of birth and death rates on the growth of the population.

AGE STRUCTURED S-I-R EPIDEMIC MODEL :

Epidemic models of the S-I-R type have been studied in detail (Busenberg et. al., 1988, 1991) and a sharp threshold results has been established together with the global asymptotic behaviour of the disease.

Several authors (Anderson and May; 1983; Gripenberg, 1983; Schenzle, 1984; Tudor, 1985; Greenhalgh, 1988) have considered age structured S-I-R models that describe the most commen chilehood diseases such as measles, rubella, etc. Most of these models include an inter cohort transmission mechanism i.e. disease transmission to any given age class depends on the total number of infections, possibly through an age dependent proportionality constat : namely the rate at which suseceptibles of age a become infected at time *t* is assumed as

$$\kappa(a)\int_0^\infty I(\sigma,t)\,d\sigma$$

Where *I(a, t)* in the density function of the infections at tice *t*.
Inter cohort transmission is however only an extreme case in possible mechanism of disease transmission among different age classes : Inaba (1990) has analysed a general case where disease transmission at age a at time t is given by :

$$\int_o^\infty \kappa(a,\sigma)^{I}(\sigma,t)\,d\sigma$$

Since the general case is not fully understood, another extreme case, called Pure intra-cohort transmission, in which the rate at which susceptibles of age a become infected is

$$\kappa(a)I(a,t)$$

with this assumption any individual can be infected only by those having exactly its own age; therefore the function proceeds independently in the various age cohorts. Since infection proceeds within each cohort, the infection process cannot start unless one introduces some infections into each cohort : this can occur through immigration or because of vertical transmission at birth.

Here, we consider the spread of an infectious dissease whidh does not affect the mortality and reproduction rates, i.e. leaves the overall population dynamics unchanged. We ignore a possible latency period and assume that the disease induces permanent immunity after recovery. To set up the model - following Dietz (1975) or Hoppensteadt (1974) - we subdivide the age-density *n(a,t)* at time *t* into

$$n(a,t) = S(a,t) + I(a,t) + R(a,t) \text{ -----------(11)}$$

with S(a, .). I (a, .). R(a, .) denoting the age-densities of the susceptible, infective and removed individuals. We assume that every neonate is susceptible, We ignore immunity induced in newborns by maternal antibodies :

$$\frac{\partial S}{\partial t}+\frac{\partial S}{\partial a}=-\mu(a)S(a,t)+\lambda(a)S(a,t)$$

$$\frac{\partial I}{\partial t}+\frac{\partial I}{\partial a}=-\mu(a)I(a,t)+\lambda(a)S(a,t)-\gamma(a)I(a,t)\text{ - - - - - - - - -}(12)$$

$$\frac{\partial R}{\partial t}+\frac{\partial R}{\partial a}=-\mu(a)R(a,t)+\gamma(a)I(a,t)$$

$$S(0,t)=\int_0^\infty \beta(a)n(a,t)\,da$$

$$I(0,t)=R(0,t)=0$$

$$\lambda(t)=\int_0^\infty \kappa(a)I(a,t)\,da$$

$$\lambda(t)$$

$\lambda(t)$ is the rate of susceptible individual to be infected at time t. Notice that this infection rate is the same for susceptibles of all ages. Actually we have made the simplifying assumption that the transmission of the disease - described by K - from an infective individual to a susceptible individual only depends on the age of the infective individual and not on the age of the susceptible individual. Assuming an age-independent removal rate (a).

Notice that the equations are consistent with (8), (10) if n is related to S,I,R with (11).

In order to obtain a time autonomous problem we assume that the population is in an equilibrium state, i.e. its size and age-distribution are independent of time. This is feasible if and only if

$$R\rho=\int_0^\infty \beta(a)P(a)\,da=l\text{ - - - - - - - - - - - - - - - - - - -}(13)$$

where

$$P(a)=\exp\left\{-\int_0 \mu(\sigma)\,d\sigma\right\}\text{ - - - - - - - - - - - - - - - -}(14)$$

is the probability of surviving to age a. is the basic reproductive numberof the population, i.e. the mean number of offspring an average individual produces during its life. An easy computation shows that the equilibrium age density is given by

$$n(a)=\frac{NP(a)}{L}\text{ - - - - - - - -}(15)$$

With the stationary population size N and the life expectation

$$L=\int_0^\infty P(a)\,da.$$

The assumption of a stationary atate for the population under (13) is justified by the celebrated renewal theorem- Sharpe and Lotka (1911) for the formulation- which states under realistic conditions that the age distribution (15) is approached after sufficiently long time from whatever initial distribution the population has started. the equation for the infective force then takes the form

$$\lambda(f) = \int_{0}^{\infty} \frac{\kappa(a)NP(a)}{l} I(a,t)da \text{ - - - - - - - - - } (16)$$

The analysis fo the above structure $S \rightarrow I \rightarrow R$ model shows that it has an unstable endemic equilibrium at certain parameter values, if the rate of a susecptible individual to be infected is independent of its age but, as for the age of the infective individual, is highly concentrated in a specific age class. Typically this happens if. in addition, the incidence of the disease and the mean age of infectivity are relatively high. Though basic assumption- age-indipendent susceptibility and highly concentrated age-dependent infectivity - does not seem to be realistic, the above resuly is important in so far as it tells us that stability of the endemic equilibrium in an age structured endemic model can not betaken for granted but requires a sound analytical or numerical investigation.

Al though there are many methods of analyzing the epidemic models viz., analyzing through obtaintng characteristic equations, similarity transformation etc. However, every model aims to prove the existence of an important parameter, threshold parameter, from which long time effects of alterations in population via demographic agents or otherwise can be assessed.

From the many interesting problems in the age-dependent epidemiology of infectious diseases, this note only deals with the question whether the introduction of age- structure can make an otherwise stable endemic equilibrium unstable. In other works : Are age-dependent rates of infection and/ or of (natural) mortality possible sources of undamped oscillations of the disease prevalence. It is well known that $S \rightarrow I \rightarrow S, S \rightarrow I \rightarrow R(\rightarrow S)$ and

$S \rightarrow E \rightarrow I \rightarrow R(\rightarrow S)$

models - with exponentially distributed periods of laxency, infection and immunity, and with bilinear incidence rate, but without age-structure and seasonal forcing-exhibit a unique locally asymptotically stable endemic equilibrium if the basic reproductive number exceeds. l. For $S \rightarrow I \rightarrow SandS \rightarrow I \rightarrow R(\rightarrow S)$ type models the endemic equilibrium is not only locally but globally asymptotically stable. For the $S \rightarrow I \rightarrow R(\rightarrow S)$ model, this is conjectured also, but has not yet been proved (as far as the another dnows). Hethcote (1976), e.g. for $S \rightarrow I \rightarrow SandS \rightarrow I \rightarrow R$ type models and Liu, Hethcoteand Levin (1987) for $S \rightarrow E \rightarrow I \rightarrow R(\rightarrow S)$ models.

M.P. CHAUDHARY
Department of Mathematics, University of Delhi
Delhi-110007, India

REFERENCES

1. Anderson, R.M., May, R. (1982); Directly transmitted infections diseases, Control by vaccimation Science 215, 1053 - 1060.
2. Anderson, R.M., May, R.M. (1983): Vaccination against rubella and measles: quantitative investigations of different policies. J.Hygiene 90, 259-325.
3. Anderson, R.M: Grenfell, B.T., May, R.M. (1984) : Oscillatory fluc tuations in the incidence of infectious diseases and the impact of vaccination : time series analysis. J.Hyg. Camb. 93, 587-608.
4. Anderson, R.M., May, R.M. (1985): Age-related changes in the rate of disease transmission : implication for the design of vaccination programmes. J.Gyg. Camb. 94, 365-436.
5. Andreasen,V. (1989,a) : Multiple time scales in the dynamics of infectious dis eases. Mathematical Approaches to Problems in Resource Man agement and Epidemiology. Lecture Nates in Biomathematics, 81, 142-151, Springer-verlag, Berlin-Heidelberg-New York.
6. Andreasen, V.(1989,b): Disease regulation or age-structured host populations. Theor. Pop. Biol. 36, 214-239.
7. Aron, J.L. (1989): Simple versus complex epidemiological models. Applied Mathematical Ecology, S.A. Levin, T.G. Hallam, L.J. Gross, eds., Lecture Notes in Biomathematics, 18, 176-192, Springer-Verlag, Berlin-Heidelberg-New Tork.
8. Bernoulli, D: Essai d'une nouvelle analyse de la mortalite causee par la petite verole, et des avantages de l' inoculation pour la prevenir. Histoire de l' Acad. Roy. Sci. (Paris) avec Mem. Des Math. And Phys., Mem., 1-45 (1760).
9. Busenberg, S., Cooke, K.L.Iannelli, M. (1988): Endemic thresholds and stability in a class of age-structured epidemics. SIAM J. Appl. Math. 48, 1379-1395.
10. Busenberg, S., Iannelli, M. Thieme, H.R. (1991): Global behaviour of an age-structred S-I-S epidemic model. SIAM J. Math. Anal.
11. Busenberg, S., Iannelli, M. Thieme, H.R. (1991): Global behaviour of an age-structred S-I-S epidemic model. The case of a vertically transmitted disease.
12. Charlesworth, B.: Evolution in age-structured populations. Cambridge: Cambridge University Press 1980.
13. Dietz, K. (1975): Transmission and control of arbovirus diseases. Epidemiology, D. Ludwig. K.L. Cooke, eds., 104-121, SIAM.
14. Dietz, K. (1981): The evaluation of rubella vaccination strategies. The Mathematical Theory of the Dyanmics of Bioloical Population II, Hiorms, R.W., Cooke, D., eds., 82-97, Academic Press.
15. Dietx K: The population dynamics of onchocersiasis In: R.M. Anderson (ed.) Population Dynamics of Infectious Diseases. london: Chapynan and Hale 1982, pp. 209.291
16. Dietz, K., Schenzle, D. (1985a):Mathematical models for infectious disease statistics. A Celebration of Statistics. The ISI Centenary Volume, Atkinson, A.C., Fienerg, S.E. eds. 167-204. Springer- Verlag, Belin-Heidelberg-New York.
17. Greenhalgh, D. (1987): Anlaytical results of the stability of age-struc tured recurrent epidemic models. IMA J. Math. Appl.Med.Biol.4, 109- 144.

रजि0 पंजीकरण सं0 : एल - 1277

ओ३म्

गुरुकुल पत्रिका

नवम्बर - दिसम्बर 2004, जनवरी - 2005

सम्पादक

डॉ. महावीर

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

सम्पादक मण्डल

संरक्षक मण्डल **श्री सुदर्शन शर्मा**
कुलाधिपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रो. स्वतन्त्र कुमार
कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सम्पादक **डॉ. महावीर**
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

सहसम्पादक डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री, रीडर, वेदविभाग

सहसम्पादक डॉ. सत्यदेव निगमालंकार, रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

व्यवसाय-प्रबन्धक डॉ. जगदीश विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रकाशक प्रो. अशोक कुमार चोपड़ा
कुलसचिव, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मूल्य १०० रुपये वार्षिक

विक्रमी सम्वत् २०६१

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334-245975

विषयानुक्रमणिका

1.	वेदमञ्जरी	आचार्य रामनाथ वेदांलकार	1
2.	मनुस्मृते : वेदानुगामित्वम्	डॉ0 महावीर अग्रवाल:	2
3.	वैदिक वाड्मय में मानवीय तत्त्व	पदम श्री डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी	7
4.	'कुत इयं विसृष्टि:' वेद विज्ञानपरक चिन्तन	डॉ0 श्रीमती लक्ष्मी शर्मा	13
5.	वैदकम् लोक जीवनम्	डॉ0 श्रीमती कृष्णा जैन	19
6.	वैदिक भूगर्भ-विज्ञान	डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री	26
7.	वैदिक देवो की पत्नियाँ	डा0 रामनाथ वेदांलकार	30
8.	शुन: शेप आख्यान की प्रासंगिकता	डॉ0 हेरम्ब पाण्डेय	34
9.	महाभारत में पुरुषार्थ चतुष्टय	सुशिमा दुबे	40
10.	'वैदिक ओजस्वी जीवन'	सत्यदेव निगमालंकार	46
11.	रघवंश महाकाव्य में अभिव्यकत	डॉ0 नन्दिता सिंधवी	51
12.	उपनिषदों में आघ्यात्मिक तत्त्व	डॉ0 बबीता शर्मा	60
13.	महाकवि भारवि के स्थितिकाल की विवेचना	डॉ0 ज्वलन्त कुमार शास्त्री	63
14.	स्त्रियों की स्थिति : बौद्व दृष्टिकोण	डॉ0 रेणु शुक्ला	70
15.	आत्महत्या एक वर्जना	डॉ0 श्रीमती यामा खोखर	78
16.	सुश्रुतोक्त पंचकर्म	डॉ0 सुनील कुमार जोशी	84
17.	Role of vyapati in Inference	Dr. U.S. Bist	88
18.	Sat, Asat and Mithya in Advaita Vedant	Dr. Hansi	92

सम्पादकीय

23 दिसम्बर! न केवल आर्य समाज और गुरुकुल के इतिहास में अपितु भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित दिवस। भारत देश महान की संस्कृति, सभ्यता, शिक्षा और परम्पराओं की रक्षा के लिये महान् संन्यासी का बलिदान।

बलिदान की दिव्य भावना से देशवासियों को अवगत कराने और उनके हदयों में राष्ट्रभक्ति की भावना जगाने के लिये प्रतिवर्ष गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में श्रद्धानंद बलिदान दिवस का आयोजन किया जाता है। इस वर्ष भी आयोजन किया गया। मुख्य आकर्षण रहा– अखिल भारतीय श्रद्धानंद हॉकी टूर्नामेंट। पांच दिन चलने वाली इस प्रतियोगिता में देश की प्रसिद्ध 20 टीमों ने भाग लिया। बी.ई.जी. की टीम ने विजय प्राप्त की। उपविजेता का पुरस्कार पी.एन.बी को प्राप्त हुआ। पुरस्कार वितरण विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. स्वतंत्र कुमार तथा महामंडलेश्वर पूज्य स्वामी सत्यमित्रानंद जी के कर कमलों से सम्पन्न हुआ। उपकुलपति प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री, कुलसचिव डॉ. ए.के.चोपड़ा, विज्ञान महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. वीरेन्द्र अरोड़ा की उपस्थिति ने समारोह की श्रीबृद्धि की। इस सम्पूर्ण अनुष्ठान के यजमान, प्रतियोगिता के सचिव श्री करतार सिह की प्रशंसनीय भूमिका रही। वित्ताधिकरी डॉ.एस.पी. सिंह, क्रीड़ा अधीक्षक डॉ. आर.के.एस. डागर, जनसम्पर्क अधिकारी डॉ. प्रदीप जोशी ने कार्यक्रम को सफलता की ओर पहुंचाया।

हॉकी के क्षेत्र में गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. की सम्पूर्ण देश में अलग पहचान रही है। हॉकी के जादूगर मेजर ध्यानंद गुरुकुलके मैदान में पधारकर खिलाड़ियों को अपना आशीर्वाद प्रदान कर चुके हैं। महर्षि दयानंद के अनुयायी कुलाधिपति श्री सुदर्शन शर्मा एवं कुलपति स्वतंत्र कुमार गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को पुनः प्रत्येक क्षेत्र में शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित करने में प्रयत्नशील हैं। आज के विषाक्त वातावरण में दीपावली के प्रकाश पर्व पर महर्षि दयानंद के निर्वाण का, 23 दिसम्बर को स्वामी श्रद्धानंद के बलिदान का, 26 जन और 15 अगस्त को मातृभूमि की बलिवेदी पर अपने प्राणों की आहूति देने वाले असंख्य वीरों का पावन स्मरण करके ही उदात्त भावों की प्राप्ति हो सकती है।

आज विश्ववारा कालजयी वैदिक संस्कृति को मिटाने के षड़यंत्र रचे जा रहे हैं, प्रेम, करूणा,दया आदि सद्गुणों पर कुठाराघात हो रहा है, यज्ञों की पावन परम्परा लुप्त हो रही है। वेदभानु का प्रकाश मंद होता जा रहा है, गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति को कमजोर करने की योजनएं बन रही हैं। ऐसे में नमन और स्मरण करें, मानवता के उन पुजारियों को जिन्होंने स्वयं जीवन देकर हमें जीना सिखाया, शिक्षा, संस्कृति और मानवता की रक्षा की। उनके पदचिन्हों पर चलकर ही राष्ट्र गौरव का अरूणोदय होगा।

वेदमञ्जरी

जगत्प्रभोः सोमस्य महिमा

त्वं सोम क्रतुभिः सुक्रतुर्भूस्त्वं दक्षैः सुदक्षो विश्ववेदाः।
त्व. वृषा वृषत्वेभिर्महित्वा द्युम्नेभिर्द्युम्न्यभवो नृचक्षाः॥

ऋग्. १.९१.२

ऋषिः गोतमः राहूगणः। देवता सोमः। छन्दः पङ्क्तिः।

हे **(सोम)** जगदुत्पादक शुभगुणप्रेरक परमात्मन्। **(त्वं)** भवान् **(क्रतुभिः)** प्रज्ञाभिः कर्मभिश्च **(सुक्रतुः)** सुप्रज्ञः सुकर्मा च **(भूः)** जातोऽसि। **(विश्ववेदाः)** सर्वव्यापकः सर्वज्ञश्च **(त्वं)** भवान् **(दक्षैः)** चातुर्यैः बलैश्च **(सुदक्षः)** सुचतुरः सुबलश्च जातोऽसि। **(त्वं)** भवान् **(वृषत्वेभिः)** विद्यासुखधनादिवर्षणैः **(महित्वा)** महिम्ना च **(वृषा)** वर्षकः महांश्च जातोऽसि। किञ्च **(नृचक्षाः)** मानवद्रष्टा त्वम् **(द्युम्नेभिः)** तेजोभिः यज्ञैः अन्नैः धनैश्च **(द्युम्नी)** तेजस्वी, यशस्वी, अन्नवान् धनवांश्च **(अभवः)** जातोऽसि।

हे सोम! अयि जगतां रयचितः, हृदये शुभगुणानां प्रेरक परमात्मन्! यदाऽहं तव स्वरूपे दृष्टिं पातयामि तदा मुग्धो भवामि। त्वयि यद् अद्भुतगुणकर्मणां सामञ्जस्यं वर्तते, तद् दृष्ट्वा त्वां प्रति श्रद्धया मदीयं मस्तकं नतं जायते। त्वं 'विश्ववेदाः' असि, विश्वव्यापको विश्वविच्च विद्यसे, विश्वस्य कणेकणे व्यापकः सन् तस्य प्रत्येकं घटनाचक्रं वेत्सि। त्वं 'नृचक्षाः' असि, सर्वेषां मानवानां द्रष्टा वर्तसे। यदैव नरः स्वमनसि कमपि शुभमशुभं वा विचारं करोति, शुभमशुभं वा किमपि कर्म करोति तदैव त्वं तज्जानासि।

त्वं क्रतुभिः 'सुक्रतुः' असि। क्रतुशब्दवाच्यं ज्ञानं कर्म च तवाभ्यन्तरम् आदर्शरूपेण विद्यते। तव ज्ञानं कर्म च सत्यं शिवं सुन्दरं चास्ति। चत्वारोऽपि वेदास्तव शुभस्यागाधस्य च ज्ञानस्य साक्षिणः सन्ति, एतद् ब्रह्माण्डं च तव व्यवस्थितस्य शुभकर्मणः साक्ष्यं, करोति। त्वं दक्षताभिः 'सुदक्षः' असि। त्वदीयं दक्षत्वं, त्वदीयं शिल्पकौशलं, त्वदीयं कलाचातुर्यंजगति सर्वत्र, तरुवल्लरीषु पुष्पपत्रेषु, भूम्यन्तरिक्षयोः, चन्द्रतारासु प्रत्यक्षं दृष्टिगोचरं जायते। तव बलं, त्वदीयम् अपारं सामर्थ्य तदाऽनुभूमते यदा त्वं सुजनान् तादृशो भयंकरविपदस्त्रायसे यस्याः प्रतीकाराय ते स्वयमशक्ता भवन्ति, अथवा यदा त्वं कांश्चिद् दुर्जनान् तैः क्रियमाणान् सकलान् रक्षाप्रयासान् विकलीकृत्य कालकवलितान् करोषि।

अयि सोम प्रभो! त्वं स्वात्मना निरन्तरं क्रियमाणाभिः वर्षाभिः 'वृषा' भवसि। त्वमस्माकमुपरि विद्याबलधनसुखविनयसत्यन्यायदयारक्षाभौतिकजलादिवृष्टिं सततं करोषि, यथा व्यं परिदृष्टा भवामः। अयि प्रभोः। त्वं द्युम्नैः 'द्युम्नीः' असि। तेजःकीर्तिद्यानान्नादीनां प्रशस्तद्युम्मानां त्वं धनिकोऽसि। अतसत्वमस्माकं प्रशस्योऽसि, वन्दनीयोऽसि। वयं त्वां नमामः, नमामः।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

मनुस्मृते : वेदानुगामित्वम्

डॉ० महावीर अग्रवाल:
आचार्य: संस्कृत विभागस्य,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय: हरिद्वारम्

नित्यसत्यानां, कर्त्तव्याकर्त्तव्यनिर्देशकानां, परमात्मन: नि:श्वासभूतानां, सृष्ट्यादौ अग्नि-वायु-आदित्य-अङ्गिराप्रभृतीनाम् ऋषिश्रेष्ठानां पवित्रान्त: करणेषु प्रकाशितानाम्, अपौरुषेयाणां, सर्वविद्याप्रकाशकानां वेदानां महत्वं, गौरवञ्चसवैरेव मनीषिभि: स्वीक्रियते, जेगीयते च। ब्राह्मणग्रन्थानि, उपनिषद:,रामायण, महाभारतदीनि अन्यान्यपि च सर्वाण्येव ग्रन्थरत्नानि श्रुतीनां निखिलधर्ममूलकत्वं सर्वविद्यामयत्वं चोररीकुर्वन्ति।

एतेषु चतुर्षु वेदेषु यन्निगदितं बीजरूपेण, समासरूपेण सूत्ररूपेण व तदवबोद्धुं साक्षात्कृतधर्मभि: ऋषिभि: नैकानि वेदव्याख्यान ग्रन्थानि विरचितानि। 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म: षड्ङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'इति व्याहरन्' भगवान् पतञ्जलिरपि शिक्षा,कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द, ज्योतिष्प्रभृतीनां वेदांनां प्रयोजनं वेदावगमनमेव स्वीकरोति। न केवलं वेदाङ्गैरे वेदा अवगम्यन्ते, अपितु सायण, उव्वट, महीधर, दयानन्द प्रभृतय: स्वनामधन्या: वेदभाष्यकारा अपि वेदभाष्यानि विरचय वेदार्थान् प्रतिपादयन्ति। पुनरपि विष्णोरिव वेदरूपमपि ईदृक्तया इयत्तया वा अनवधारणीयमेव।

वेदप्रतिपादिता: विषया: सहजतया, सरलतया, कयाचित् हृदयावर्जिकया शैल्या वेदं पिपठिषूणां हृदयेषु प्रतिष्ठिता: भवेयुरिति चिन्तयद्भि:मन्वादिभि: स्मृतय उपनिबद्धा:।

कविकुलगुरुणा कालिदासेन रघुवंशे महाकाव्ये सूर्यवंशोद्भवानां महीभृतां चारुचरित्र चित्रणावसरे दिलीपस्य सुदक्षिणायाश्च नन्दिनीसपर्यां वर्णयता 'श्रृतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगन्छत्' इति निगद्य स्मृतीनां वेदानुगामित्वं समुद्घोषितम्। तासु स्मृतिषु मानवधर्मप्रतिष्ठापकेन मनुना विरचिता मनुस्मृति: श्रेष्ठतमा। मानव जीवने बाल्यकालादारभ्य आमृत्यो: मानवेन यत् करणीयम् अकरणीयम् वा तत् सर्वं मनुना विस्तरेण प्रतिपादितम्।

यद् यच्च प्रोक्तं तत्सर्वं वेदानुकूलमेव। बृह: स्मृति संस्कारखण्डे मनुस्मृते: प्राधान्यमित्थं निगदितम् -

वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनो: स्मृतम् ।
मन्वर्थविपरीता तु या: स्मृति: सा न शस्यते ॥
तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च ।
धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते।

बृह. स्मृति संस्कारखण्ड १३-१४

साम्प्रतिके काले स्वार्थमलीनबुद्धय:, अज्ञानान्धकार मुकुलित हृदया: वेदं मनुस्मृतिं वा याथातथ्यतोऽजानन्त:

मनुं निन्दन्ति, मनुस्मृतौ च अनेकान् दोषान् उद्भावयन्ति। मध्यकालीनैः कैश्चित् अज्ञैः मनुस्मृतौ अनेके श्लोकाः प्रक्षिप्ताः। तेन च बहूनां मतिविभ्रमो बभूव। नीरक्षीरविवेकधिया प्रक्षिप्तांशोऽपाक्रियते चेन्मनुः सर्वथा वन्द्य एव। वेदभाष्यकारः महर्षि दयानन्दः सत्यार्थप्रकाशे, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां, संस्कारविधौअन्येषु च ग्रन्थेषु मनुस्मृति पद्यानि प्रमाणरुपेण सादरं प्रस्तौति।

अत्र समासेनैव मनोः वेदानुगामित्वं प्रस्तूयते-

स्वयं मनुः वेदानां गरीयस्त्वमित्थमुदीरयति-

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'। मनु. २/६

'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' मनु २/१३

'पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् । मनु.१२/९४

'सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।।' मनु.१२/१००

वर्णाश्रम व्यवस्थाः-

गुणकर्मस्वभावानुसारिण्याः वर्णव्यवस्थयाः आधारभूताः वेदाः प्रतिपाद्यन्ति-

वर्णव्यवस्थाः-

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते।। यजु.३१/१०

रूपकालंकारेण प्रश्नास्यास्य समाधानं विदधती भगवती श्रुतिः निगदति-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोअजायत।। यजु.३१/११

इमां कर्मानुसारिणीं वर्णव्यवस्थां समर्थयन् मनुरपि प्राह-

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।।

मनु.२/१६८

न तिष्ठति तु यःपूर्वां नोपासते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवत् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ।।

मनु. २/१०३

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते' इति कथनानुसारं सर्वे मानवाः शूद्रा एव। तेषु ये अध्ययन-अध्यापनरताः ते ब्राह्मणाः, ये राष्ट्ररक्षायै कृतसंकल्पाः ते क्षत्रियाः, ये च राष्ट्रं वैभवशालिनं

कर्तु वाणिज्ये, कृषिकर्मणि व बद्धादरास्ते वैश्या:, अन्ये च शूद्रा:,। मतमिदं मनुस्मृतौ वेदानुकूलमेव।

आश्रम व्यवस्था:-

मनुप्रतिपादिता वर्णव्यवस्था यथा वेदानुकूला तथैव आश्रम व्यवस्थाऽपि श्रुतिमेवानुकरोति। चतुर्षु वेदेषु ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासाश्रम विषयका अनेके मन्त्रा: दृग्गोचरी भवन्ति। अथर्ववेदे ब्रह्मचर्यगौरवम् प्रख्यापयन्त: ऋषय: प्रोचु:-

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते. गर्भमन्त:।
तं रात्रीस्तिस उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवा:।
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ।।

अथर्व.११/५/१,५

संप्राप्ते यौवने ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रममाविशेत् इत्यस्मिन् विषये यथा बहूनि पद्यानि मनुना प्रोक्तानि तथैव वेदमन्त्रा अपि प्रमाणरूपेणोद्धर्तु शक्यन्ते-

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमाना: परि यन्त्याप:।
स शुक्रेभि:शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो धृतनिर्णिगप्सु।।

ऋग्.२/३५/४

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्व. ३/५/१८
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता। ऋग्. १०/१०९/४
गुरुणानुमत: स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।। मनु. ३१४

वानप्रस्थ: संन्यासाश्रमौ यथा वेदानुमोदितौ मनुरपि आश्रमयोरनयोस्स्वरूपं वैशद्येन प्रतिपादयति। विस्तारभयान्नात्र पद्यानि मन्त्रा: व प्रस्तूयन्ते।

नारीगौरवम् :-

आस्माकीनं निखिलमपि वैदिकं साहित्यं नारीमहिमामण्डितं वरीवर्ति। 'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ' इति वेदवाक्यं नारीणां गौरवं प्रतिपादयति। वेदाध्ययनादिषु निखिलेष्वपि श्रेष्ठकर्मसु यथा पुरुषाधिकार: तथैव नारीणामपि। श्रूयतां वेदवचनानि-

यथेमां वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेभ्य:
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।। यजु. २६/२

मनुस्मृतिकारस्य मनोरपि इयमेव मति:वर्तते ।

वैदिक ऋषीणां नारीविषये या धारणा सैव मनोरपि। मनुः नारीणां गौरवं सडिण्डिमघोषमित्थं प्रतिपादयति-

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।। ३/५६

नारी गृहशोभा, गृहलक्ष्मी, अर्चनीया खक्तु समुद्घोषिता मनुना मानवेन्द्रण-

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन।। मनु. ९/२५

एकेश्वरवादः :-

श्रुतिप्रतिपादितः, यास्कदयानन्द प्रभृतिभिः ऋषिभिरनुमोदितः एकेश्वरवादः कस्याविदितः? महर्षिणा दयानन्देन सत्यार्थप्रकाशस्य प्रथमोल्लासे परमात्मनः शतनामानि व्याख्यातानि, तानि च निखिलान्यपि इन्द्र, बरुण, यम, मित्र, अग्नि, हिरण्यगर्भादीनि नामानि एकस्यैव परमेश्वरस्य विविधान्‌गुणान् प्रकाशयन्ति इति सुस्पष्टमेव प्रख्यापितवन्तः महर्षिवर्याः। वेदमन्त्रः कथयति-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।
ऋग् १०/१६४/४६

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणामपरे ब्रह्म शाश्वतम्।। मनु. १२/१२३

गुरुशिष्यसम्बन्धः :-

वैदिकशिक्षापद्धतिरेव गुरुकुलशिक्षापद्धिति नाम्ना प्रख्याता वर्तते। गुरुकुलेषु ब्रह्मचर्यं चरन्तः ब्रह्मचारिणः गुरुं सेवमानाः शारीरिकं मानसिकम्, आत्मिकं, सामाजिकं सर्वविधं बलं लभन्ते। यथा जननी शिशुं गर्भे धारयति, तत्र च स्वशरीरेणैव तं पालयति, पोषयति च तथैवाचार्योऽपि ब्रह्मचारिणं गुरुकुले गर्भमन्तः करोति। यथा प्राह श्रुतिः-

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः
।। अथर्व. ११/५/७

ब्रह्मचर्यस्य महत्वं यथा वेदे निगदितं तथैव मनुरपि ब्रह्मचर्यस्य गौरवं आचार्य-शिष्य सम्बन्ध महत्वं च प्रतिपादयति। येनाखण्डब्रह्मचर्यव्रतं सेवितं येन च वेदः, वेदौ, वेदा च अधीता स एव

गृहास्थाश्रमे प्रवेष्टुं योग्यः नान्यथा-

य आवृणोत्यवितथं ब्राह्मणः श्रवणावुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन।। मनु. २/१४४
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्।। मनु. ३/२

वेदविदां वरेण्यो दयानन्दः स्वग्रन्थेषु पदे-पदे मनुं प्रमाणरूपेणोपस्थापयति। महर्षेः दृढोऽयं विश्वासः यन्मनुः सर्वदा वेदमेवानुसरति। न केवलं धार्मिक क्षेत्रे अपितु राजधर्मणि, सैन्याधिकरणे, दण्डव्यवस्थायां, न्यायप्रक्रियायां, अर्थव्यवस्थायां सर्वत्रैव वेदाः प्रमाणरूपेण स्वीक्रियन्ते मनुना।

राजधर्म विवृण्वता मनुना इन्द्र, अनिल, यम, अर्कप्रभृतयः राज्ञः अष्टौ गुणाः प्रकीर्तिताः। त एव अष्टौ गुणाः वेदेष्वपि अग्नि, चन्द्रमा, वरुणादि नाम्ना प्रतिपादिताः-

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।। मनु २/४
सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।
तवाहमद्यमघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातःकलशां अभक्षयन् ।। ऋग्. १०/१६७/३

राजसभा, न्याय, दण्ड, प्रशासन व्यवस्था, सैन्य संचालनादि विषये मनुना तदेव निगदितं यच्छ्रुतिषु परमेश्वरेण प्रकाशितम्। मध्ययुगे प्रक्षेपकारणाद् यत्र कुत्रचिन्मनुस्मृत्यादिषु वेदविरोधाशंका समुज्जृम्भते तत्राज्ञानमेव कारणम्।

"नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः सो भवति"

वैदिक वाड्मय में मानवीय तत्त्व

'पदम श्री' डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी
अध्यक्ष, विश्वभारती
अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर
भदोही (उ0प्र0)

मानवता क्या है? मानवता वह दिव्य गुण है, जो मनुष्य को मनन–चिन्तन व शक्ति देता है, उसे कर्तव्य–अकर्तव्य का बोध कराता है,उसमें नैतिक गुणों का संधान करता है तथा उसे मनावेतर जीवन–जगत् से पृथक् करता है। ऋग्वेद में मानवता का गुण बताया गया है– मननशीलता, चिन्तन–शक्ति और विवेक। इस गुण के द्वारा ही वह जीवन में दिव्यता और देवत्व लाता है। इसका ही मंत्र में उल्लेख किया गया है। मनुष्य स्वयं मननशील हो और अन्य लोगों में भी दिव्य गुणों का प्रसार करें।

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्। ऋग्. 10.53.6

मानव – जीवन का लक्ष्य : वैशेषिक दर्शन में मानव जीवन का लक्ष्य बताया है – अभ्युदय (भौतिक उन्नति) तथा निःश्रेयस (मोक्ष–प्राप्ति)। इन दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन धर्म बताया गया है। धर्म शब्द चारित्रिक गुणों के लिए है। इसी बात को योग दर्शन में कहा है कि यह संसार मानव के अभ्युदय एवं उपभोग के लिए तथा मोक्षरूपी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए है।

यतोऽभ्युदय–निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः । वै0दर्शन

अन्यत्र जीवन का लक्ष्य – पुरुषार्थ – चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति बताया गया है, धर्म का अर्थ है – सात्त्विक गुणों की प्राप्ति, अर्थ–ऐश्वर्य या अभ्युदय, काम–भौतिक विषयों का उपभोग, मोक्ष–मुक्ति की प्राप्ति। इस विषय में महाभारत में चेतावनी दी गई है कि इन चारों को समान महत्व दें। जो इनमें से एक में आसक्त हो जाता है, वह लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः, यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्यः। महा0

व्यक्तित्व का विकास – व्यक्तित्व के विकास के लिए वदों में इन गुणों की आवश्यकता बताई गई है। अथर्ववेद का कथन है कि व्यक्तित्व के विकास, समाज और राष्ट्र के विकास के लिए तप और दीक्षा ये गुण आवश्यक है। तप और दीक्षा को दूसरे शब्दों में अनुशासन **(Descipline)**और समर्पण **(Dedication)** कह सकते है। जिस व्यक्ति, समाज में या राष्ट्र में ये गुण होंगे, वह निरन्तर उन्नति करता रहेगा।

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः, तपो दीक्षाम् उपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं, तदस्मै देवा उपसंनमन्तु।। अथर्व. 19.41.1

यजुर्वेद में सत्य को उन्नति और प्रगति का आधार माना गया है। अतएव कहा है–

इदम् अहम् अनृतात् सत्यमुपैमि। यजु. 1.5

अथर्ववेद में संयम, अनुशासित जीवन या ब्रह्मचर्य को उन्नति या विकास का आधार बताया गया है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते। अथर्व. 11.5.17

मानव–जीवन की सफलता : यजुर्वेद में मानव जीवन की सफलता के लिए व्रत या अनुशासन को आवश्यक बताते हुए कहा गया है कि व्रत से निष्ठा, निष्ठा से विशेष योग्यता, विशेष योग्यता से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्यस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते। यजु. 19.30

मानव जीवन की सफलता के लिए सतत जागरूकता या कर्तव्यनिष्ठा अनिवार्य है। इसका ही निर्देश ऋग्वेद में किया गया है कि सतत जागरूक को ही सारे ज्ञान एवं विद्याएं प्राप्त होती हैं। उदाहरण के रूप में अग्नि को उपस्थित किया गया है कि अग्नि सतत जागरूक रहता है, अतः उसे सारे वेद चाहते हैं तथा सोमस्वरूप परमात्मा भी उससे मित्रता करता है।

यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः।।
अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः।।
ऋग्. 5.44, 14–15

मानवजीन की सफलता में सत्य का भी प्रमुख स्थान है। सत्य, सत्यनिष्ठा, सच्चरित्रता, सत्यात्मकता जीवन को प्रगतिशील बनाते हैं। ऋग्वेद का कथन है कि सत्य जीवन में जागृति देता है। महाभारत शान्तिपर्व में भी कहा गया है कि सत्य ही राजाओं को भी सर्वत्र सफलता प्रदान करता है।

तेन सत्येन जागृतम् । ऋग्. 1.21.6
नहि सत्याद् ऋते किंचिद्, राज्ञां वै सिद्धिकारकम्। महा. शान्ति. 56.17

मानवीय सफलता – हेतु हमारा दृष्टिकोण : वेद विभिन्न मार्गो, सिद्धान्तों और वादों के प्रति समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाने का निर्देश देते हैं। यथा–ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद, प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग आदि। यजुर्वेद का कथन है कि विद्या और अविद्या, संभूति और असंभूति, ज्ञानमार्ग और कर्मयोग, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद, इनमें से एक मार्ग व्यावहारिक जगत् में सफलता प्रदान करता है तो दूसरा अध्यात्म मार्ग में। इसलिए दोनों का

समन्वय अभीष्ट है।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतमश्नुते। यजु. 40.14
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा, संभूत्याऽमृतमश्नुते। यजु. 40.11

भारतीय ओर पाश्चात्य विचारधारा में यही मौलिक अन्तर है। भारतीय विचारधारा अध्यात्मयात्मप्रवण है और पाश्चात्य विचारधारा विशेषरूप से भौतिकवादी है। अतएव दोनों के लक्ष्य में अन्तर हो जाता है। एक भौतिक सुखों को प्रधानता देता है तो दूसरा मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण को ही जीवन का सर्वस्य समझता है। वेद समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाने का निर्देश देता है। अतएव कणाद ऋषि ने वैशेषिक दर्शन में अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) दोनों को लक्ष्य के रूप में उपस्थित किया है।

यतोऽभ्युदय – निःश्रेयस–सिद्धिः स धर्मः। वैशेषिक.

मानवीय व्यवहार – वेदों में मानवीय व्यवहारों के लिए भी कुछ उपयोगी निर्देश दिए गयाहै। जिससे उनका नैतिक जीवन उच्च और आदर्श हो सके। वेदों में चरित्र की उच्चताएवं पवित्रता पर बहुत बल दिया गया है। यदि मानव की इच्छाशक्ति दृढ़ है तो वह जीवन में कठिन से कठिन कार्यों को कर सकता है। ऋग्वेद का कथन है कि इस दृढ़ संकल्प–शक्ति के कारण मनुष्य जीवन में सदा विजयी होता है, उसे कभी असफलता का मुँह नहीं देखना पड़ता। इस प्रकार के दृढ़ संकल्प वाले व्यक्ति के सामने पर्वत जैसे बड़े विघ्न भी धराशायी हो जाते हैं।

क. अहमिन्द्रो न परा जिग्ये। ऋग्. 10.48.5
ख. न पर्वतासो यदहं मनस्ये। ऋग्. 10.27.5

सतत क्रियाशीलता ही जीवन है। कर्तव्य की भावना से किया हुआ निष्काम कर्म मनुष्य को बन्धन में नहीं डालता। अतः कहा गया है कि सौ वर्ष तक निष्काम भाव से निरन्तर कर्म करते रहो। ऐसा करने से मनुष्य कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता। इसी सिद्धान्त को अपनाकर भगवद्गीता में निष्काम कर्मयोग का विशद विवेचन किया गया है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। यजु. 40.2

गीता का कथन है कि :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः, मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। गीता. 2.47

परोपकार, दान, दीन–दुखितों की सहायता, धन के परोपकारार्थ उपयोग का वेदों के अनेक मंत्रों में उपदेश दिया गया है। ऋग्वेद का कथन है कि जो धनवान् अपना धन मित्र एवं पीड़ितों आदि को नहीं देता है, उसका धन उसके लिए ही मृत्यु का कारण है। अकेला खाने वाला अकेला ही पापी होता है, दूसरी ओर दानदाता और निर्धनों की सहायता करने वाला संसार

में अमर हो जाता है।

क.मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी।। ऋग्. 10.117.6
ख.न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुः। ऋग्. 10.107.8

वेद का महत्वपूर्ण उपदेश है कि स्वयं निर्भय रहो और दूसरों को अभय प्रदान करो। मनुष्य ही नहीं, अपितु पशु–पक्षियों तक को अभय प्रदान करो। इसके साथ ही उपदेश है कि जीवमात्र की हिंसा न करो और अहिंसा की प्रतिष्ठा करो।

क. अभयं पश्चाद् अभयं पुरस्ताद0 । अथर्व. 19.15.5
ख. अभयं मित्राद् अभयम् अमित्रात्,
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। अथर्व. 19.15.6
ग.यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्यो–अभयं नः पशुभ्यः। यजु0 36.22

मानव और समाज : वेदों में मानव और समाज के संबंधों पर भी विचार हुआ है। व्यक्तियों की समष्टि ही समाज है। व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है। समाज का अस्तित्व व्यक्ति के क्रियाकलाप और व्यवहार पर निर्भर है। इसके लिए वेदों में कुछ उपयोगी निर्देश दिए गए है।

क.सं गच्छध्वं सं वदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम्। ऋग्. 10.191.2
ख.समानो मंत्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम्। ऋग्. 10.191.3

सह–अस्तित्व की भावना : समाज में जब तक सह–अस्तित्व की भावना नहीं होगी, तब तक उसका विकास नहीं हो सकता है। अतएव ऋग्वेद ने सह–अस्तित्व की भावना जागृत करने का उपदेश दिया है। हमारे विचार, हृदय और लक्ष्य एक होंगे तभी यह सह–अस्तित्व की भावना आएगी। मंत्र में 'सुसहासति' सु–सह–असति के द्वारा सह–अस्तित्व का उपदेश है। समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वोमनोयथा वः सुसहासति।। ऋग्. 10.191.4

अथर्ववेद ने इसका एक सुन्दर उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार यह पृथिवी भाषाभेद, धर्मभेद आदि के होते हुए सभी भू–निवासियों को एक परिवर की तरह पालती है, उसी प्रकार कुटुम्ब की भावना उत्पन्न करो और उन्नति करो।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं, नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां, ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।। अथर्व. 12.1.45

पारस्परिक सहयोग : सामाजिक सामंजस्य के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरें का ध्यान रखे, उसे सहयोग दे और संकट में उसकी रक्षा के लिए तत्पर रहे। ऋग्वेद का कथन

है कि प्रत्येक मनुष्य दूसरे की रक्षा करें।

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः। ऋग्. 6.75.14

ऊँच–नीच का भेदभाव हटाना : ऋग्वेद का कथन है कि ऊँच–नीच, छोटे–बड़े का भेदभाव मिटाने पर ही उन्नति और समृद्धि होती है।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते।
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।।ऋग्. 5.60.5

समानता का अधिकार : ऋग्वेद में समानता के अधिकार को प्रतिष्ठित करते हुए छोटे–बड़े, युवा –वृद्ध सभी को नमस्कार प्रस्तुत किया गया है।

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो
नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः। ऋग्. 1.27.13

सामाजिक समरसता के लिए आवश्यक बताया गया है कि सामूहिक खान–पान की व्यवस्था की जाय। सग्धि का अर्थ है – एक भोजनालय और सपीति का अर्थ है – एक जलपान गृह

क. सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे। यजु. 18.9
ख. समानी प्रपा स वो अन्नभागः। अथर्व 3.30.6

अथर्ववेद में दो महत्वपूर्ण बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है कि सामाजिक समरसता के लिए आवश्यक है कि समाज में कोई भूखा–प्यासा न रहे और बलवान् निर्बलों को न सता सकें।

क. अक्षुध्या अतृष्या स्त। अथर्व. 7.60.4
ख. यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे अर्थव. 3.29.3

जन–कल्याण : वेदों में जन कल्याण और समाजसेवा को बहुत महत्व दिया गया है। समाजसेवक को पूज्य बताया गया है। जनसेवक को लोककृत्, लोककृत्नु, लोकसनि आदि कहा गया है।

क. लोकं पृण। यजु0 15.51
ख. लोककृतः पथिकृतो यजामहे। अथर्व. 18.3.25
ग. लोककृत्नुमीमहे। ऋग्. 9.2.8

जनकल्याण को सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्य बताया गया है। राजा के लिए आदेश है कि वह जन–कल्याण के कार्य करे। कोई रोगी और कुपोषण का शिकार न हो।

क. जनभृत स्थ। यजु. 10.4
ख. विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्। यजु0 16.48

मानव और राष्ट्र : मानव के राष्ट्रीय कर्तव्यों में विशेष रूप से उल्लेख है कि वह अपने देश को स्वतंत्र रखे। राष्ट्र की रक्षा के लिए सदा जागरूक रहे। देशहित के लिए बलिदान होने को उद्यत रहे।

क. स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त। यजु. 10.4

ख. वयं राष्ट्र जागृयाम पुरोहिताः। यजु. 9.23

ग. वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम। अथर्व. 12.1.62

मानव और विश्व–कल्याण : वेद मानव के लिए समाज और राष्ट्र ही नहीं, अपितु **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की शिक्षा देता है। वेद का कथन है कि **'विश्वभृत स्थ'** विश्व का कल्याण करो। संसार का प्रत्येक व्यक्ति नीरोग रहे और उसमें सद्भावनायें हों। सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें। संसार के सभी मनुष्यों एव पशु–पक्षियों का कल्याण हो। संसार में कोई भूखा–प्यासा न रहे। सभी नीरोग एवं हृष्ट–पुष्ट हों।

क.विश्वभृत स्थ। यजु. 10.4

ख.यथा नः सर्वमिज्ज्गद् अयक्ष्मं सुमना असत्। यजु. 16.4

ग.मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजु. 36.18

घ.स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। अथर्वः 1.31.4

ड.एष वा द्यावापृथिवी उपस्थे,

मा क्षुधत् मा तृषत्। अथर्व. 2.29.4

पक्षी एवं पर्यावण पर अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के जंतु एवं पर्यावरण विज्ञान विभाग द्वारा नवम्बर 21 से 24 तक पक्षी एवं पर्यावरण विषय पर एक अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें 17 देशों के 32 विदेशी वैज्ञानिकों ने एवं 115 भारतीय पक्षी विदों ने भाग लिया।

21 नवम्बर 2004 को इस सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए उत्तरांचल के राज्यपाल **श्री सुदर्शन अग्रवाल** ने कहा कि पर्यावरण की शुद्धता बनाये रखने में पक्षियों का भारी योगदान है। उन्होंने एशिया से गिद्दों की जनसंख्या में एकाएक 95 प्रतिशत तक की कमी को गंभीर बताया और वैज्ञानिकों का आह्वान किया कि वे पक्षियों एवं पर्यावरण के संवर्द्धन के उपर शोध कार्यों को तीव्रगति प्रदान करें।

कुलपति **प्रो. स्वतंत्र कुमार** ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि वैदिक साहित्य में मानव एवं प्रकृति का आपसी संबंध जिस प्रकार स्थापित किया गया है, वही सृष्टि को बचाने की सही राह है। उद्घाटन सत्र सम्मेलन को विख्यात पक्षी विज्ञानी प्रो0 आशा सकलानी, आचार्य एवं उपकुलपति प्रो.वेदप्रकाश शास्त्री, प्राचार्य विज्ञान महाविद्यालय प्रो. वीरेन्द्रअरोड़ा,कुलसचिव प्रो. ए.के.चोपड़ा व कांफ्रेंस के आयोजन सचिव डॉ. दिनेश भटट ने सम्बोधित किया। सम्मेलन की शैक्षणिक गतिविधियां 22 सत्रों में 4 दिन तक चली। प्रथम एवं द्वितीय सत्र में पक्षी गीत संगीत एवं इस संवाद की पक्षी जीवन में उपयोगिता पर सार्थक चर्चा हुई। इन सत्रों की सबसे बड़ी विशेषता थी कि पक्षी संवाद विज्ञान के 'पिता' कहे जाने वाले विषय विशेषज्ञ प्रो0 पीटर मारलर कैलि0 विश्वविद्यालय, अमरीका ने इन सत्रों की अध्यक्षता की व मुख्य वक्ता के रूप में अपना व्याख्यान दिया।

अन्य सत्रों में पक्षी कृषि विज्ञान, पक्षी प्रजनन, जैविक घड़ी की पक्षी प्रजनन में उपयोगिता, पक्षी व्यवहार, पक्षियों की विविधता, विलुप्तप्राय गिद्दों का संरक्षण, पक्षी–आवास–जैव विविधता का संरक्षण ,पक्षी एवं बायोटेक्नोलॉजी, क्यों आते हैं प्रवासी पक्षी इत्यादि विषयों पर गहन चिंतन विश्व के अग्रणी वैज्ञानिकों के साथ हुआ।

अपने अपने क्षेत्र के उच्च कोटि के वैज्ञानिक इस सम्मेलन में पधारे थे। इनमें से तो कई वैज्ञानिकों के विश्व की सबसे उंची कोटि की वैज्ञानिक पत्रिका नेचर में पब्लिकेशन है, इन विदेशी वैज्ञानिकों के पदार्पण से भारतीय वैज्ञानिकों एवं पक्षी–विदों को एक अनोखा अवसर मिला जिससे उन्हें इन वैज्ञानिकों से न केवल विचार–विमर्श का मौका मिला अपितु फोरेन कौलेबोरेशन' में कार्य करने के सुअवसर भी प्राप्त हुए हैं। कई युवा वैज्ञानिकों ने इन विश्व के अग्रणी वैज्ञानिकों से सम्पर्क साध लिया है। इस तरह से जंतु एवं पर्यावरण विज्ञान के द्वारा आयोजित यह अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठी का बेहद सफल एवं सार्थक आयोजन था जिसकी भूरि–भूरि प्रशंसा देशी विदेशी वैज्ञानिकों ने समापन समारोह के दिन एवं डा. भट्ट को ई–मेल से की।

समापन समारोह के मुख्य अतिथि के रूप में उत्तरांचल के मुख्य सचिव **डॉ. आर.एस. टोलिया** ने अपने सारगर्भित भाषण से संबोधित किया। इस अवसर पर सम्मेलन की अंतर्राष्ट्रीय सलाहकार समिति के को–चेयरमैन प्रो. पीटर मारलर ने कहा कि भारत एक रिच बायोडायवरसिटी वाला देश है। जहां प्रकृति एवं पक्षियों की विविधता एवं उनके संरक्षण पर कार्य करने की अपार संभावनाएं हैं।

डॉ दिनेश भट्ट

अखिल भारतीय श्रद्धानन्द हॉकी टूर्नामेन्ट के अवसर पर सम्बोधित करते हुए कुलपति कर्नल प्रो0 स्वतन्त्र कुमार साथ में खड़े हैं सचिव श्री करतार सिंह, श्री भारतभूषण एवं कुर्सी पर वरिष्ठ सीनेटर श्री देवेन्द्र शर्मा

अखिल भारतीय श्रद्धानन्द हॉकी टूर्नामेन्ट के समापन समारोह में आशीर्वाद प्रदान करते हुए पूज्य स्वामी सत्यमित्रानन्द जी साथ में सचिव श्री करतार सिंह जी कुर्सियों पर प्रो0 स्वतन्त्र कुमार, श्रीमती कुमार एवं डॉ0 ए0के0 चोपड़ा

अखिल भारतीय श्रद्धानन्द हॉकी टूर्नामेन्ट में वैजयन्ती प्रदान करते हुए

INTERNATIONAL CONFERENCE ON BIRD AND ENVIRONMENT
21-24 NOVEMBER 2004
DEPT. OF ZOOLOGY & ENVIRONMENTAL SCIENCE
GURUKULA KANGRI UNIVERSITY, HARIDWAR, INDIA

पक्षी एवं पर्यावरण विषय पर आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी के समापन अवसर पर 'पक्षी-संवाद-विज्ञान' के जनक कहे जाने वाले सुप्रसिद्ध पक्षी वैज्ञानिक प्रो० पीटर मारलर (कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय) समपन समारोह को सम्बोधित करते हुए, मंच पर (दायें से) बैठे हैं: कुलसचिव प्रो० ए०के० चोपड़ा, प्राचार्य प्रो० वीरेन्द्र अरोड़ा, कुलपति प्रो० स्वतन्त्र कुमार मुख्य अतिथि, मुख्य सचिव उत्तरांचल, डा० आर०एस० टोलिया [illegible]

‘कुत इयं विसृष्टिः’ वेद विज्ञानपरक चिन्तन

डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी शर्मा, विभागाध्यक्षखा
संस्कृत-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर (राज0)

“ॐ यो वेदेभ्य आतपति या देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥” (य०३१/२०)

विगत अनेक शताब्दियों से मानवीय जिज्ञासा सष्टितत्व को आत्मसात् करने के लिए निरन्तर प्रयासरत है। हमारे अन्नत प्रयासों के पश्चात् भी हमें विश्वोत्पतिके परमतत्व का ज्ञान नितान्त दुष्कर प्रतीत हो रहा है। ऋषियों ने भी सृष्टि-जिज्ञासा की शान्ति के लिए अहर्निश चिन्तन एवं उपासना की और प्राणरुप सृष्टि से सम्बद्ध प्रश्न उपस्थित किये:-

“को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजात कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव॥”
(ऋग्० १०/१२९/६)

ऋग्वेद के इस मन्त्र के द्धारा यह जटिल प्रश्न किया गया कि यह विसृष्टि कहाँ उत्पन्न हुई? कौन यहाँ इस लोक में उसका प्रवचन कर सकता है? क्योकिं देवता भी तो इस सृष्टि-उत्पति के उपरान्त ही उत्पन्न हुए है। कौन इसका समुचित उत्तर दे सकेगा अर्थात् कोई नहीं। ऋषि का मन्त्र में यही भाव है। अग्रिम मन्त्र में इसका उत्तर प्रस्तुत है:-

“इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दद्ये यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अड्.ग वेद यदि वा न वेदा॥”

ऋषि का कथन है कि यह विशेष सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई हैं वही परमात्मा इसे धारण करता है या नहीं? जो परम व्योम में इसका साक्षी दृष्टा है, वही इसे जानता है या नही सृष्टि-सम्बन्धी जिज्ञासा एवं गम्भीर रहस्यवाद का परिचायक है। क्या चिन्तन के सम्बन्ध में इससे अधिक उदात्त एवं निष्ठापूर्ण वचन अन्यत्र कहीं उपलब्ध हो सकेगे? हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रजापति की सरंचना का ज्ञान निश्चय ही भगीरथ प्रयास से कम नहीं है। ऋषियों ने जो वेदविज्ञान का मार्ग प्रशस्त किया है वहीं दृष्टि हमारे लिए आलोक स्तम्भ है। सृष्टि सम्बन्धी मानवीय जिज्ञासा की क्षुधा निरन्तर प्रदीप्त रहे, एतदर्थ ही नासदीयः सूक्त के ऋषि ने “को अद्धा वेद0” इस मंत्र के माध्यम से विश्वोत्पति के रहस्य को खोज निकालने के लिए और अधिक सचेष्ट होने के लिए यह संकल्प करवाया गया है। यहाँ को “अद्धा वेदा0” इस मंत्रांशा में “कः” का तात्पर्य कौन से है। परन्तु कः का भाव प्रजापति संज्ञक होने पर यह निश्चय ही पूर्णरुपेण जानता है यह अर्थ भी संभव है और यही समाधान है। ऋषि के प्रश्न का।

सृष्टि जिज्ञासा के साथ सृष्टिकर्त्ता को प्रजापति क्यों कहते है? इसकी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। अतः प्रजापत्य सृष्टि के पूर्व प्रजापति का स्वरुप प्रस्तुत करना परमावश्यक है। हिरण्यगर्भ सूक्त में "भूतस्य जात पतिरेक आसीत्" (ऋ0 10-121-1) का आशय भूतजात का पति ही प्रतापति है। "प्रजायन्ते इति प्रजाः तासां प्रजानां पतिः स प्रजापतिः" अर्थात् जो उत्पन्न होती है वह प्रजा है और उसका पति (रक्षक) प्रजापति है। यास्कं के मत में "प्रजानां पाता का पालयति वा प्रजापतिः" (निरुक्त 10 3-28) प्रजा का सरंक्षण एवं पालन कर्ता प्रजापति है। यहाँ प्रजापति का तात्पर्य सृष्टि से जय तक प्राणिमात्र का सरक्षंक देवता प्रजापति है। प्रजापति के व्यापक रुप का ज्ञान निम्न मंत्र में परिलक्षित होता है।

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्युर्भूव नानि विश्वा।"
(य० ३१-१९)

परंमात्मा प्रजापति समस्त पदार्थो में विचरता है (स्थित) है। वह कभी जन्म न लेने वाला बहुधा प्रतिभासित हो रहा है। उसके मूल स्वरुप को अन्तर्चक्षुसे धीर गंभीर ज्ञानीजन ही देख सकते है। उसी में समग्र भुतन स्थित है। सृष्टि का अनन्त स्वरुप विसृष्टि है अर्थात् विविधा सृष्टिः विसृष्टि तथा विशिष्टा सृष्टि विसृष्टिः। उसी प्रकार प्रजापति भी विविध एवं विशिष्ट है। यहाँ यह कथन अतिश्योक्ति नही होगी कि प्रजापति का पर्याय ही सृष्टि या विसृष्टि है। "सृज्यते इति सृष्टिः" जो उत्पन्न होती है वह सृष्टि है। "सर्जन मेव सृष्टिः" जो उत्पन्न की जाती है वह सृष्टि है।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि स्थिति और प्रलय का वर्ण प्राप्त होता है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

"नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।
तम आसीत् तमसा गूकहमग्रेऽ प्रकेत सलितं सर्वमा इदम्।"(ऋ० १०-१२९-१.३)

प्रलयकाल में सत् असत् पृथ्वी और आकाश कुछ नही भी नही था। सृष्टि के पूर्व सर्वत्र तमोमय एवं जलमय स्वरुप था। तब परमात्मा के मन मे सृष्टि की प्रबल इच्छा जागृत हुई। "एकोऽहं बहुस्याम" "सोऽकामयत स तपोऽतप्सत सोऽश्रामयंत" (श0त्रा014-3.3-10)। तैत्तिरीय आरण्य के अनुसार "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत यदिदं किंच" (तैआ0 8.6)। अन्नत प्रजाओं से युक्त होने की कामना को उसने तप से पूर्ण किया। शतपथानुसार "ब्रहम वै स्वंय भूः तपोऽतप्यत। ततः सर्वेषु भूतेष्वात्मानां छुत्वा भूतनि चांत्मानि सर्वेषां भूतनां श्रेष्ठस्यं स्वाराज्याधिपत्यं पटर्येत" (श0 ब्रा0 13-7-3-1) तपपूर्वक स्वंय उत्पन्न होकर उसने समस्त भूर्तो को आत्मतत्त्व से समुत्पन्न कर समस्त भूतों में अपना स्वराज्य अधिपत्य स्थापित किया। " आनीदवांत स्वधया तदेकं तस्माध्द्रान्यन्न परः किञ्चनास"(ऋ0 10-129-2)।

उस परमतत्व की प्राणन क्रिया हुई। इसी स्वधा या बल से असीम ससीम पुरुष कहलाता था। यही कारण भूत बीज पैदा हुआ। यह बीजरुपी सत् पदार्थ ब्रहमरुपी असत् से उत्पन्न हुआ।

“तपसस्तन्महिनाजायतैकम्” (ऋ0 10-129-3)। वह एक परंब्रहम पत के प्रभाव से समुत्पन्न हुआ। “य: सर्वज्ञ: सर्व विद्याठय ज्ञानस्यं तप:” (भु0 3.1.1.9)। समस्त विद्याओं का ज्ञान जिसमें निहित है वही सर्वज्ञ है और ज्ञानमय तप है।

सृष्टि के मूल मन का रेत: काम था।

“कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो: रेत: प्रथमं यदासीत।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।।”

(ऋ० १०-१२९-४)

यह प्रथम काम ही सृष्टि की उत्पत्ति की प्रथम कामना थी। तदनन्तर बुद्धिमानों ने चिन्तन कर बन्धन के कारण भूत विद्यमान वस्तु को अविद्यमान में पाया अर्थात् सत् जगत् का कारण असत् ब्रहम को स्वीकार किया।

“तिरश्चीनो विर्ततो रश्मिरेषामध: स्विदायीइदुपरिस्विदासीइत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन स्वधा अवस्तात् प्रयति: परस्तात्।।”

(ऋ० १०-१२९-५)

इस ब्रहम की बीज शक्ति से भोग्य और भोक्त से ही युग्म उत्पन्न हुआ। इन्हीं भोग्य और भोक्ता से ही समग्र सृष्टि हुई। इनमें भोग्य निकृष्ट होने के कारण वह भोक्ता के अधीन हुआ।

सृष्टि के क्रम में ऋग्वेद का अधमर्षण सूक्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसमें

“ऋतं च सत्यं०” (ऋ० १०-१९०-१)।

उस परमात्तना केदीप्तिमान तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए। ऋत शब्द का प्रयोग प्राय: वेदो में ही पाया जाता है। वेद विज्ञान में सत्य और ऋत की परिभाषा दैनिक व्यवहार की परिभाषा से भिन्न हैं। जो वैज्ञानिक परिभाषा है।

“सहदयं-सशरीरं-सत्यम्” अर्थात् जिस पदाथ्र का एक केन्द्र हो और पिण्ड हो वह सत्य है। सत्य का स्वरुप शरीर एवं हदय मिलकर बनता है। ऋत् की परिभाषा “अहदयं अशरीर ऋतम्” अर्थात् तिस पदार्थ का केन्द्र भी न हो और पिण्डरुप भी न हो उसे ऋत कहा गया है तथा जिस वस्तु का एक आकार शरीर या पिण्ड हो परन्तु केन्द्र या हदय न हो उसे ऋतसत्य कहा गया है। जब कि ऋत का सामाज्य अर्थ परम सत्य के रुप में प्रयुक्त है। यहाँ देवत्वाची संज्ञाओं के लिए ऋत शब्द ज्यादा तर्क संगत प्रतीत होता है। जिसमें प्राण वायु सोम इत्यादि परिगणित है। वहीं भौतिक पदार्थों को ऋत सत्य की श्रेणी में रखा गया है। सामान्यत: यह स्वीकार किया जा सकता है कि जो दर्शनीय एवं स्पर्शनीय है ऋत सत्य है और अनुभव जन्य ऋत हैं वास्तव में वेद विज्ञान की ऋत सत्य की यह विवेचना सटीक है। ऋग्वेद में “ऋतञ्च सत्यम्” का आशय सत्य के परम पवित्रता से है। जिसे हम धर्म के रुप मे उपस्थापित कर सकते है। अत: इसकी सर्वप्रथम उत्पति हुई। नासदीय सूक्तानुसार “सलिलं सर्वमा इदम्” सर्वत्र जल ही जल है। अत: समुद्र की उत्पति

से रिक्त स्थान (पृथ्वी) भू है। इस अगाध समुद्रका एक भाग पृथ्वी है। समुद्र में अग्नि की सत्ता है। "एक एवाग्नि:बहुधा समिद्ध:" (ऋ0 8-58-2) एक अग्नि अनेक रुपों में प्रकट होता है। अत: अग्नि की सत्ता को स्वीकार किया गया है। तदनन्तरं सवंतपर (खगोल) एवं निमिषोन्मेष करने वाले दिवस और रात्रि की उत्पत्ति हुई। संसार को धारण करने वाले परमात्मा ने क्रमपूर्वक सूर्य चन्द्रमा पृथिवी द्युलोक एवं अन्तरिक्ष की पूर्ववत सरंचना की। भूमि पर सौर तेज के योग सेमृत्ति का ही पाषाणादि में शनैः शनैः परिवर्तित हुई। तप से उत्पन्न इस सृष्टि का संपूर्ण ज्ञान तपोमय मार्ग से ही संभव है।

"यस्य ज्ञानमंय तप:"। (ऋ0 3.1-1-9) परमपिता प्रजापति का ज्ञानमय तप था। उसी की यह सरंचना है। "प्रजापति: प्रजा असृजत्।" (ऐ.व्रा. 3-36)।

महामनीषी वेदज्ञ पं0 ओझा जी एवं उनके शिष्य वेदवाचस्पति पं0 मोतीलाल जी शास्त्री ने वेदो के वैज्ञानिक पक्ष को विस्तार पूर्वक अपने ग्रन्थो में वर्णित किया है। जिसमें सवंत्सर एवं सृष्टि विद्या भी एक प्रमुख विषय है। मानव शरीर की सरंचना ऋतुओं का निर्माण एवं खगोलादि का वर्णन है। वही सृष्टि की उत्पत्ति का मूल स्रोत अग्नि और सोम के यजन को स्वीकार किया गया है। मानवीय श्री कुलिश द्वारा संपादित वेदविज्ञान में इसे और सरल एवं बोधगम्य गम्य बना दिया गया हैं मैं यहॉ "अग्नीषोमात्मक जगत्" इस यज्ञीय प्रक्रिया के द्वारा प्रस्तुत करना चाहूँगा। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ को प्रजापति कहा गया है "यज्ञ: प्रजापति:" (श0 ब्रा0 11/1-1) वहीं "यज्ञों कै होष्ठतम कर्म" यज्ञ ही समस्त (श0 ब्रा0 1.7.1.1-5)।

कर्मो में श्रेष्ठतम है। अर्थसंग्रह में यज्ञ के दो रुप वर्णित है "यागस्य द्वे रुपे द्रव्यं देवता च" यहॉ देवता अग्नि और द्रव्यं, हवनीय, द्रव्य (सोम) है। अग्नि यज्ञ की आत्मा है। जैसे-"सूर्य आत्मा जगतस्तस्युषश्च"(ऋ0 1-115-1) उसी प्रकार अग्नि का भी महत्व है। अग्नि के बिना यज्ञ की सत्ता नही हैं और वह निस्तेज है। ऐतरेय ब्राह्मण में "अग्नि वै देवानामवम: विष्णु: परम: तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता: (ए0 ब्रा0 1.1.1)। ऐसा कहकर अग्नि के स्वरुप को प्रदर्शित किया गया है। यही अग्रगण्य अग्नि यज्ञ का देवता है। ऋग्वेद के प्रथम अग्नि सूक्त में इसे परमतत्व तत्वाग्नि या सत्याग्नि के रुप में प्रतिष्ठित किया गया है। "अग्निर्होता कविक्रतु:" सत्यश्चित: श्रवस्तभ: (ऋ01-1-5) इस अग्नि को ऋषियों ने तपोबल से प्राप्त किया। यह सत्याग्नि ही सृष्टि का शध न बनता है और सोमतत्व से इसका संयोग होता है और सृष्टि का समारभं होता है। अग्नि भोक्ता और सोम भोग्य है। भोग्य रुप द्रव्यं का वर्णन अर्थसग्रंह में वर्णित है

"दधि मधु पयो घृतं धानां उदाकं तण्डुलास्वं संसृष्टं प्राजापत्यम्" (अर्थसंग्रह)। वही ऐतरेय ब्राह्मण में देवो से मनुष्य तक सभी के लिए (आज्य) घृत को ही प्रमुख द्रव्य कहा गया है। "आज्यं वै देवानां सुरभिघृत मनुयाषाणां आयुतं पितृणां नवनीत गर्भाणा मिति" (ऐं0ब्रा0 1-3)। यहॉ अग्नि अन्नाद और सोम अन्न है। इनका संयोग ही यज्ञ है। यज्ञ की आत्मा, अग्नि का प्राकट्य अरणि मन्थन द्वारा किया जाता है। यज्ञ प्रक्रिया अत्यन्त वैज्ञानिक है। हम इसे वेदविज्ञान की प्रयोगशाला

कह सकते है। सर्वज्ञाता ब्रहमा की उपस्थिति में ऋत्विज यज्ञ कर्म को सम्पन्न करतें है। यज्ञ का नेता अध्वर्यू होता है। जिसे "अध्वरं यज्ञं युनक्ति संपादयतीति अध्वर्यु" यज्ञ के बाद संपादनार्थ ऐसा कहा गया है। अग्निस्थापन से पूर्णाहुति पर्यन्त समस्त कर्म विधिवत होने चाहिए। लघुतम त्रुटि भी क्षम्य नहीं है और वह त्रुटि भी प्रकृति में विकृति उत्पन्न करने में सक्षम है। जिससे यज्ञ फल नष्ट व अनिष्ट कारक हो सकता है। इसमें ऋत्विजों की महती भूमिका एवं दायित्व है। ऋग्वेद भाष्यभूमिका में "ऋचां त्वा: पोषामास्ते0" (ऋ0 10-71-11) इस मंत्र के द्वारा कर्म का विभाजन है। वहीं "तत्वाग्ने होत्र0" (ऋ0 2-1-2) ऋग्वेद के इस मंत्र मे याज्ञिकों के नामो का उल्लेख है। आश्वलायन श्रौंत सूत्र में होतृ आदि चारो गणों का उल्लेख है। "होता मैत्रावरुण:" (आ0 श्रौ0 सू0 4-1-6)। यज्ञ का यथोचित संपादन ये सोलह ऋत्विक करते है। जिससे सृष्टि होती है। स्त्री और पुरुष दोनो में एक अग्नि प्रधान और दूसरा सोमप्रधान हैं पुरुष का शुक्र सोम प्रधान एवं स्त्री का शोणित अग्नि प्रधान हैं पुरुष और स्त्री के शुक्र शोणित सोमाग्नि रुप यज्ञ से प्रजोत्पत्ति का विधान है। सुप्रसिद्ध पुरुष सुक्त में ऐसी ही यज्ञीय सृष्टि का वर्णन है। जिससे परमतत्व के रुप मे विराट् पुरुष का वर्णन हैं "त्रिषादूर्ध्व उदैत्पुरुष:0" (ऋ0 10-90-1) यह चतुष्पाद वाला पुरुष एक पाद से सृष्टि क्रम में स्थित है। एवं के तीन पाद अमृत तत्त्व में है। अर्थात् तीन पाद स्थिति एवं एक पाद भाति का सूचक है। यह विराट पुरुष की मानती सृष्टि है। जिससे द्यौ, पृथिवी, ऋतुएँ, पशु, चारों वेद ब्राह्मणादि चारों वर्ष, चन्द्रमा, सूर्य, अन्तरिक्ष वायु दिशाएँ लोक और सर्वप्रथम धर्म उत्पन्न हुआ। यह विराट पुरुष प्रजापतिका स्वरुप है।

ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्ता में द्यौ और पृथवी को सृष्टिकर्ता के रुप में प्रतिष्ठित किया हैं यह एक अनुपम उदाहरण है।

"द्यौ में पिता जनिता नाभिरत्र बन्धूर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयों: चम्बोइर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितु गर्भमाधात्।।" (ऋ0 1-164-33)

द्युं मुझें उत्पन्न करने वाला पिता एवं पालक हैं वह मेरा भ्राता भी है। यह विशाल पृथ्वी मेरी माता है। पृथ्वीलोक और घुलोक ये दो पात्र है जो परस्पर एक दूसरे की और मुँह किये है। द्युलोक का सूर्य दूरस्थ पृथ्वी में वृष्टि द्वारा अन्नादि प्रसूत करने में समर्थ बनाता है। इसी विशेषता से हम इसे वसुन्धरा कहते है। ऐतरेय ब्राह्मण में "रेतो वा आप:" (ए. ब्रा. 1-3)। जल को वीर्य कहा गया है। "शिश्नाद्रेतो रेतस्य आप:" ऐसा ऐतरेय आरण्यक का मत है। वही गर्भोपनिषद् में "अस्मिन पञ्चात्मके शरीरे यत्कठिंन सा पृथ्वी यद्द्रवं तदापं:" इस पञ्चत त्वाम्तक शरीर मे जो ठोस है वह पृथ्वी है और जो द्रव हैं वह जल है, ऐसा वर्णित है।

इस अनन्त द्यावा पृथ्वी का जनक कौन है? "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।" सं बाहुभ्यां धमति सं पत्रत्रैर्द्यावाभूमी जनयन देव एक:।। (ऋ0 10-81-3)। परमपिता परमेश्वर ने ही विशाल द्यावा पृथ्वी की एक साथ सरंचना की।

यहाँ मै संवत्सर-यज्ञ को संक्षेप में वर्णन करना चाहूँगा। ऐतरेयब्राह्मण में सवंत्सर प्रजापति का

वर्णन है जो काल का सूचक है। वही वेदविज्ञान किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में संवत्सर को सप्तदश प्रजापति कहा गया है। अतः सत्रह प्रजापति जहाँ एक साथ हो वह विषय अवश्य ही अन्नत होगा। "द्वादश मासा: संवत्सर: प्रजापति:" (ऐ0 ब्रा0 1-1)।

वेद विज्ञान एवं ऐतरेय ब्राह्मण के इस वचन में ऋतुओं का साम्य है। प्रायः वसन्तादि छः ऋतुएँ हैं परन्तु वेद में पाँच ही स्वीकृत है और वैज्ञानिक व्यवस्था में वे पाँच ही है। सवंत्सर यज्ञ को पञ्चावयव कहा गया है। पञ्च प्राण: पञ्चभूत पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ पञ्च कर्मेन्द्रियाँ आदि समस्त भाव सवंत्सर की पंचावयतमयी ऋतु से ही अनुप्राणित है। हेमन्त और शिशिर के संयोग से एक ऋतु की न्यूनता है। पञ्चतत्त्वों के इस योग से उत्पन्न भौतिक पदार्थो में इसका स्वरुप दृष्टिगत होता है। कुम्भकार द्वारा रचित घट इसका लौकिक उदाहरण है।

इस प्रकार समस्त भौतिक पदार्थ अनित्य है और निर्माता नित्यं प्राजापत्य सृष्टि को हम आचार्य वार्ष्यायणि के षद्भाव विकारों में घटा सकते हैं घटित पदार्थ अनित्यता परिवर्तन शीलता एवं गति के सूचक हैं जो मरण धर्मा हैं जहाँ स्थिति है वहाँ अमरता हैं। यही परमतत्व का परिचायक है।

अन्त में मेरा यह चिन्तन है कि यदि हमें सृष्टि के रहस्य को समझना है तो परात्पर ब्रहम को जानना होगा, उसका साक्षात्कार ही उसका समाधान हैं। जिस परमतत्व को पुरुष सूक्त में "सहस्रशीर्षा पुरुष:" (ऋ0 10-90-1)।

हिरण्यगर्भ सूक्त में "कस्मै देनाय हविषा विधेम" इस समानोदर्क के साथ वर्णित किया गया है। वह प्रजापति है अन्य कोई दूसरा नही है। सूक्त की पूर्णता होती है। "प्रजानते न त्वदेतान्यन्यों विश्वा जातानि पदिता बभूव।

यत्कांमास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।।" (ऋ0 10-121-10)

हे प्रजापति! तुम्हारे सिवाय अन्य कोई उत्पन्न जगत् में व्याप्त नहीं है। हम जिस कामना से तुम्हारी उपासना करते है। हम उन समस्त ऐश्वर्यो के स्वामी हों। "एको देव: सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापि सर्व भूतान्तरात्मा" उस वचन के अनुसार परमात्मा आत्मा में स्थित है। हम स्वंय सृष्टि के अङ्ग. है सृष्टि का रहस्य आत्मतत्व में स्थित है। आत्मज्ञान ही सर्वोतम ज्ञान है। इसी से परमतत्त्व का साक्षात्कार संभवं है। ऊँ0 "वेदामेतंपुरुषम्"(य0 31-18)

वैदकम् लोक जीवनम्

डॉ0 श्रीमती कृष्णा जैन
ग्वालियर, मध्यप्रदेश

वेद मानवीय सभ्यता के आदि ग्रन्थ हैं। वेदों में आर्य जाति के अतीत जीवन के आरम्भिक सांस्कृतिक इतिहास के सूत्र हैं। वे भारतीय संस्कृति के सर्व प्राचीन स्रोत तथा दार्शनिक भाव, धर्म और विश्वास के पवित्र ग्रन्थ हैं। वेद एवं संस्कृत साहित्य हमारे देश की एक मात्र अवशिष्ट विभूति है जिसे गत् दो सौ वर्षों से योरोप अध्ययन कर रहा है और जिसके सम्मुख उसका अभिमान मस्तक नवा रहा है।

आज हिन्दू संतानों को इस साहित्य के ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। हिन्दू घरों में जन्म लेकर जो बच्चे अंग्रेजी कालेजों के सांचों में ढलकर निकलते हैं, भारतवर्ष की उस प्राचीन परम्परा को, इतिहास को क्या समझते हैं। क्या यह पश्चाताप का विषय नहीं है कि ऐसे प्राचीन देश और प्राचीन जाति की सभ्यता का प्राचीन इतिहास इस तरह नष्ट हो जाय कि उस जाति के मेधावी बच्चों को भी उसका कुछ ज्ञान न रहे? तब हजारों वर्ष तक इस महान् साहित्य को कण्ठस्थ रखना और पीढ़ी के बाद पीढ़ी के क्रम से उसे जीवित रखना व्यर्थ हुआ है। उन महान् वीतराग तपस्वियों का जीवन भर वृक्षों के पत्ते खाकर कठोर तपस्या करके अपने सम्पादित ज्ञान को देना व्यर्थ हुआ? हम श्रद्धा पूर्वक उन पाश्चात्य विद्वानों के आभारी हैं जिन्होंने सात तालों के भीतर से काल ग्रसित वह साहित्य उद्धार करके हमारे सम्मुख रखा है।

वेद भारतीय ज्ञान गंगा के उत्स हैं। इस राष्ट्र की आत्मा के वास्तविक दर्शन वेदों में ही किये जा सकते हैं। वे इस देश के उज्जवल अतीत के साक्षी हैं। ''वेद'' शब्द न तो किसी पुस्तक विशेष के परिमित अर्थ के द्योतक हैं और न एक देशीय है। वह किसी शास्त्र विशेष का भी विव्यंजक नहीं हैं। उससे तो ऐसे अखण्ड अनन्त, अपरिमित ज्ञान का बोध होता है, जिसको सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों ने हृदयंगम किया था।

जब हम वेद कालीन लोक जीवन पर बात करते हैं तो हमें यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि लोक क्या है ''लोक'' हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। ''लोक'' लोक धात्री पृथ्वी ओर लोक व्यक्त रूप मानव यही हमारे जीवन का आध्यात्मिक शास्त्र है। ''लोक'' का अभिव्यक्त रूप वह मानव यानि सामान्य जन समुदाय है, जो अपनी नैसर्गिक प्रकृति के सौन्दर्य का दिव्य ज्योति से मंगलमयी संस्कृति का निर्माण करता है। ''लोक'' की व्यापक भाव सत्ता को ''ग्राम'' या ''नगर'' की संकुचित परिधि में बद्ध नहीं किया जा सकता इसे ''जन'' तक भी सीमित करना उचित नहीं, ''ग्राम'' शब्द में संकीर्णता एवं ''जन'' शब्द में अतिव्याप्ति को स्पष्टतः देखा जा सकता है। ''लोक'' की परिधि व्यापक है। यह शब्द वर्ग भेद रहित, व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं की श्रेष्ठ राशि सहित

अर्वाचनी सभ्यता–संस्कृति के कल्याणमय विवेचन का द्योतक है। ''लोक'' मनुष्य समाज का यह वर्ग है, जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है, ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं,वे लोकतत्व किंवा लोक परम्पराएं कहलाती है। निर्णित यह कि ''लोक'' बौद्धिक चेतना, सुसंस्कृत एवं परिष्कृत रूचि वाले मनुष्यों के समुदाय से इतरा अभिजात संस्कार एवं शिक्षा से हीन एक ऐसा समुदाय है, जो आदम प्रवृत्तियों तथा परम्पराओं की धारा में बहता हुआ अकृत्रिम जीवन जीने में विश्दास रखता है।

''डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल'' का यह दृढ़ मत थाकि भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र ''लोक वेद च'' है। भारतीय संस्कृति के रथ का यह एक कर्म वेद अर्थात शास्त्र पर आधारित है, तो उसका दूसरा लोक पर टिका हुआ है। आज के बदले संदर्भो में भी जीवन भर चलने वाले संस्कारों का स्वरूप मिटा नहीं। आज भी विवाह संस्कार के अवसर पर एक ओर कर्मकाण्डी पंडित वेद विधि को अपनाते देखे जाते है, तो दूसरी ओर परिवार का महिला–समाज अपने लौकिक परम्पराओं का निर्वाह करता हुआ दिखाई देता है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में जो लोक चेतना से अनुप्राणित हैं परम्परागत विश्वास, आचार, विचार और प्रथाऐं, लोक–जीवन का सुख और दुख तथा अतीत और वर्तमान सुरक्षित है। यह लोक चेतना और लोक परम्पराऐं आदि इसके विभिन्न अंग केवल साहित्यक दृष्टि से अध्ययन की वस्तु न होकर सांस्कृतिक अर्थात मानव शास्त्र एवं समाज शास्त्र की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

आज ''लोक'' शब्द अपने संकुचितार्थ की सीमा को तोड़कर बहुत ऊपर उठ गया है। वह परम्परा का पोषक और अनुभूति की संवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति का सतत् संवाहक बन गयाहै। अब उसके पास अपने शब्द, अपनी भाषा अपनी लोकग्राही शैली भीं है। जीवन से संबंधित सभी उपकरणों को लिए हुए उसका अपना एक सामूहिक व्यक्तित्व है। वस्तुतः जिसे संस्कृति की संज्ञा दी जाती है, वह लोक से भिन्न नहीं है। उसका उत्स लोक ही है। लोक महत्व सर्वकालीन है।

जब हम वैदिक कालीन लोक जीवन पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि ऋग्वेद का मध्यकाल यह था जब आर्यों का विस्तार लगभग सिन्धु या सरस्वती नदी तक हो चुका था। उत्तर पथ में भी उनका विस्तार कठिनाई से गंगा के किनारों तक ही हुआ था। नगर नहीं थे, नागरिकता नहीं थी। किन्तु सभ्यता की उच्चता उनके रहन–सहन में पहुँच गई थी। कुटुम्बों की प्रथा प्रचलित थी और कुटुम्ब का पिता उसका मुखिया माना जाता था।

वे लोक विजयी ओर कार्य दक्षता में प्रबल और प्रेम–उत्साह से युक्त एवं आमोद प्रमोद के साथ तरूण जातीय जीवनसे परिपूर्ण थे। वे धन, प्रभुता और खेतों से भरे–पूरे एवं आनन्दित थे। उन्होंने अपने बाहुबल से नये अधिकार और नये देश को यहाँ के आदि निवासियों से छीन लिया था। उस समय वहां के आदि निवासी व्यर्थ ही उनके विरुद्ध अपना अस्तित्व बनाये रखने

की चेष्टा करते थे। यह युग उनका और आदि निवासियों के युद्ध का युग था। वे अपनी जय का अभिमान अपनी ऋचाओं में प्रगट करते थे। प्रकृति में जो तेजवान, उज्जवल और लाभदायक वस्तु होती, आर्य उसकी प्रशंसा किया करते थे।

उस समय आर्य लोग एक ही जाति के थे। इनमें कोई जाति भेद न था हाँ, देश में आर्य और आदि निवासी इस रूप में जाति भेद अवश्य था। व्यवसाय भेद भी उन दिनों स्पष्ट न था। कुछ बीघे भूमि का स्वामी जो शान्ति के समय खेती करता और अपने पशुओं को पालता था। वही युद्ध के समय अपने प्राणों की रक्षा करता था। वहीं फिर ऋचाऐं भी बनाता था। उस समय न मन्दिर थे न मूर्तियाँ। यज्ञ के लिए पुरोहितों की आवश्यकता पड़ने लगी थी और कहीं–कहीं राजा का निर्माण हो गया था। परन्तु न राजा की कोई जाति थी न पुरोहित की। वे लोग स्वतन्त्र थे।

बहुत से काम के जानवर पाल लिए गये थे। गाय, बैल, साँड़, बकरी, भेड़, सूअर, कुत्ते, और घोड़े पालतू हो गये थे। रीछ, भेड़िये, खरगोश ओर सर्प मालूम हो चुके थे। हंस बतख, कोयल ,कौआ, लवा, सारस और उल्लू भी प्राचीन आर्यों को मालूम हो गये थे।

भिन्न–भिन्न व्यवसाय प्रारम्भ हो रहे थे, किन्तु शिल्प का प्रचार बढ़ गया था। घर, गांव, नगर और सड़कें बनने लगी थी। नावों, द्वारा व्यापार की वस्तुओं का आयात–निर्यात एवं व्यापारिक यात्राएँ होने लगी थी। सूत कातना, कपड़े बुनना, तह लगाना, रोम, चर्म और ऊन को काम में लाना वे जान चुके थे। बढ़ई का काम उन्नत दशा में था और रंगने की विद्या भी जान ली गई थी। आर्य खेती की ओर अधिक ध्यान देते थे। कुछ कुलपति परिवारों को लिए अच्छी भूमि और चरागाह की तलाश में आगे को बढ़ रहे थे।

युद्ध होते थे, जंगली पशु और जंगली जातियों से। हड्डी लकड़ी, पत्थर और धातु के हथियार बनाये जाते थे। तीर धनुष अैर तलवार, भाले ये हथियार बन चुके थे। धातुओं में चाँदी (रजत), सोना (हिरण्य) लोहा (अयस) मालूम हो चुके थे। सीधी सादी छोटी सी प्रजा अभी तक राजा का निर्माण नहीं कर सकी थी। प्रजापति या विस्पति–पति ही उनका राजा था,वे उसी के अधीन रहते थे। और वह पुरुष केवल अपने बड़प्पन से बिना किसी शक्ति प्रयोग के शासन करता था। प्रजा शब्द सन्तान के अर्थ में प्रयुक्त होता था। (प्रोपश्यामि सोमन्ताषयन संस्कार) खेती की ओर ऋग्वेद के काल में अधिक ध्यान दिया गया था। यह इसी एक बात से प्रकट है कि आर्यों और जन साधारण के लिए एक शब्द का बहुधा प्रयोग मिलता है यह शब्द है "चर्षन" "कृषि" चृष और कृष धातु से बने है, जिनका अर्थ खेती करना है। ऋग्वेद के एक ममें सूक्त क्षेत्रपति की स्तुति है। देखिये यह किसानी के कितनी उपयुक्त है–

1. हम लोग इस खेत को "क्षेत्रपति" की मदद से जीतेंगे। वह हमारे पशुओं की रक्षा करें।
2. हे क्षेत्रपति, जिस तरह गाएँ दूध देती है उसी तरह मधुर शुद्ध जल की वर्षा हमें प्राप्त हो।

जल देव हमें सुखी करें।

3. बैल आनन्द से काम करें, मनुष्य आनन्द से काम करें, हल आनन्द से चलें, जोत को आनन्द बांधो, पैने को आनन्द से चलाओं।

4. हे शुन और सौर, इस सूक्त को स्वीकार कीजिए। जो मेह आपने भूलोक में उत्पन्न किय है उससे पृथ्वी को सीचियें।

5. हे शुभम सौते (हल का फाल) आगे बढ़ो, हम प्रार्थना करते हैं, हम लोगों को धन और फसल दो।

6. हल के फाल (सीता) आनन्द से जमीन को खोदें, मनुष्य बेलों के पीछे आनन्द से चले, पर्जन्य पृथ्वी को वर्षा से तर करे। हे शुन और सौर, हमें सुखी करो।

7. हलों को बांधो, जुओं को फैलाओं और जुती भूमि पर बीज बोओ, अनाज सूक्तों के साथ बड़े, आसपास के खेतों में हँसुए चलें जहाँ अनाज पक गया है।

8. पशुओं के लिए कठड़े तैयार हो गये हैं। कठरे, अच्छे और कभी न सूखने वाले कुए में चमड़े की रस्सी चमक रही है और पानी सहज में निकल रहा है। पानी निकालो।

9. घोड़ो को ठंडा करो। खेत में ढेरी लगे अनाज को उठाओ और गाड़ी में भर लाओ। वह कुआँ जो पशुओं के पीने के लिए पानी से भरा हुआ है, एक द्रोण विस्तार में है। उसमें पत्थर का एक चक्र है। मनुष्यों के पीने का कुण्ड एक स्कन्द है इसे पानी से भरो।[2]

उपर्युक्त प्रमाणों से प्रकट है कि उस काल में कृषि का प्रचार खूब था। हल्ला करके चिड़ियों को उड़ा देने[3] तथा नालियों द्वारा खेत सींचने का भी प्रसंग प्राप्त होता है। गाय चराना पशु पालना, शक लुटेरों का वर्णन तथा खरीद बिक्री आदि से सम्बन्धित लोक जीवन के विभिन्न पहलू हमें ऋग्वेद में देखने को मिलते है।

कोई मनुष्य पहले बहुत सी वस्तु कम दाम पर बेच डालता है और फिर खरीदार के यहाँ बेचना अस्वीकार कर अधिक दाम मांगता है। पर एक जो मूल्य तय हो गया है वह उससे अधिक नहीं ले सकते हैं।[4] सोने के सिक्के का भी वर्णन प्राप्त होता है।[5] "निष्क" शब्द इसके लिए प्रयोग में आया है।

विवाह पूर्ण युवावस्था में होते थे। विवाहोत्सव पर वर की अपेक्षा कन्या के घर अधिक धूमधाम होती थी। वर–कन्या वेदी पर अग्नि–प्रदक्षिणा करते थे और पत्थर पर पैर रखवाते थे। विवाह समाप्त होने पर अलंकृत वधू को लाल पुष्पों से शोभित श्वेत बैलों की गाड़ी में बैठाकर वर अपने. घर ले जाता था। बहुत सी स्त्रियाँ वृद्धावस्था तक कुमारी रहती थी। पुत्रहीन होना दुर्भाग्य समझा जाता था, दत्तक पुत्रों का भी विधान था। कन्याओं की अपेक्षा पुत्र का अधिक सम्मान होता था।

व्यभिचार, गर्हित पाप था। चोरी करना बड़ा दुष्कर्म था। प्रायः गाय चोरी जाती थी। चोरों को बांधकर पीटा जाता था, जुआ खेलते थे,[6] पर भद्र पुरुष उससे घृणा करते थे। जुआरी जुए के परिणामों से स्वयं कहता है– यह मेरी स्त्री मुझे कष्ट नहीं देती थी, न कभी क्रोध करती थी। तथा अपने परिजनों के साथ मुझसे प्रेम करने वाली थी जुए के कारण मुझे वह भी गवानी पड़ी जिसके ज्ञान और धन का नाश जुआ करता है उसकी स्त्री का दूसरे ही उपभोग करते हैं। माता–पिता और भाई उसके विषय में कहते हैं कि हम उसको नहीं जानते–इसे बांधकर ले जाओ।[7] ये जुए के पासे नीच होने पर भी ऊँचे हैं। इनके हाथ न होने पर भी हाथ वालों को हराते हैं। चौथी पर फेके हुए ये पासे जलते हुए अंगारे हैं जो स्वयं शीतल होने पर भी हृदय को जलाते हैं।[8]

स्त्री–पुरुषों में केश रखने का प्रचार था। 'शतदती' और 'कंकतिका' नामक औषधियों से केश बढ़ते थे। बालों में सुगन्धित वस्तु लगायी जाती थी। विशिष्ट लोगे केशों का दाहिनी और जूड़ा बाँधते थे। स्त्रियाँ बाल खुले रखती थी। ''रुद्र'' और ''पूषा'' केश विन्यास के प्रकार थे। उत्सवों में मालाएँ पहनी जाती थी। पुरुष दाढ़ी रखते थे। दूध मुख्य खाद्य था। दूध में अन्न पकाकर खाते थे। कभी सोमरस दूध में मिलाकर पीते थे। धृत बहुत प्रिय था। धान्य भूनकर और पीसकर पुए बनाये जाते थे। फल भी खाये जाते थे।

पकाने के पात्र लोहे और मिट्टी के तथा पीने के पात्र लकड़ी के होते थे। वे लोग शिकार करते थे। धनुष–बाण मुख्य था। हिरणों को बागुरा से, पक्षियों और सिट्टो जाल से पकड़ते थे। सूअर को कुत्तों से पकड़वाते थे। लुहार, चर्मकार, चटाई वाले, वस्त्र बुनने वाले मौजूद थे।

रथ क्रीड़ा, धूत क्रीड़ा, नर्तन ये इनके विनोद के साधन थे। नर्तन में स्त्रियाँ श्रृंगार करके भाग लेती थी।[9] बाजों में दुन्दुभी, बाण, वाद्य, वीणा आदि मौजूद थे। भोजन के सम्बन्ध में ऋग्वेद में ''यव'', धान्य को बहुतायत है। यद्यपि आज कल की संस्कृत में ''यव'' जो के अर्थ में आता है। परन्तु उस समय जौ, गेहूँ बैलों के अर्थ में आता था। बल्कि अन्न मात्र के लिए ''यव'' शब्द का प्रयोग होता था। उसी प्रकार ''धान्य'' शब्द से चावल का अर्थ होता है पर वेद में यह शब्द भुने हुए जौ के अर्थ में आया है। ब्रीहि (चावल) का ऋग्वेद में कहीं भी जिक्र नहीं है। कई प्रकारं की रोटियों का जिक्र ''पंक्ति'', ''पुरोदास'', ''अपूय'', ''करम्भ'' आदि के रूप में पाया जाता है।[10]

युद्ध और योद्धाओं के बारे में ऋषि कामना करते हैं कि ओ मनुष्यों के हितैषी। तेरी बाहुओं में कल्याणकारी धन है। छाती पर तेल का आभूषण है। कन्धों पर माला और शास्त्रों में तेज धार है। पक्षी के पंखों के समान तेरे वाणी की शोभा है।[11] वे वायु के समान बलिष्ठ, युगल भाई के समान एक वर्दी वाले, सुन्दर भूरे और लाल रंग के घोड़ों पर बैठने वाले, निष्पाप शक्तिवान्, स्वदेशी वस्त्र पहने मरने के लिए तैयार वीर हैं, इसलिए वे आकाश के समान विशाल हैं।[12] धनुयुद्ध में गोह के चमड़े का दस्ताना पहनते थे जो सर्प की तरह हाथ से लिपटकर धनुष की डोरी की चोट से उनके हाथों की रक्षा करता था।[13]

सूत कातने को तेजस्वियों का मार्ग बताते हुए कहा गया है कि सूत कातकर, उसे रंगकर उसकी गांठों को दूर करके उसका कपड़ा बुनो– यह तेजस्वियों का मार्गहै।

नौका वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि उत्तम रक्षा के साधनों से युक्त विस्तृत, न टूटी हुई, सुख देने वाली अखंडित, उत्तमता से चलती हुई, दिव्य, सुन्दर बल्लियों वाली न चूने वाली नाव पर हम चढ़ें।[14]

कबूतर का संदेशवाहक के रूप में प्रयोग किया जाता था। ऋषि कामना करते हैं कि हमारे घरों में कभी न गलती करने वाला कबूतर मंगलमूर्ति होकर रहे ओर समाचार ले जाने का काम करे।[15]

उत्तम विचार के साथ कबूतर को भेजिए और प्रसन्नता के साथ आवश्यक सन्देशा भेजिए। यह कबूतर लौटकर हमारे सन्देशों को दूर क़रेगा।[16]

उपर्युक्त वर्णनों से यह प्रतिफलित होता है कि ऋग्वेद के काल में अर्थात् आर्यों के आरम्भिक जीवन में आर्यों ने कैसी उन्नति कर ली थी। कृषि पर आधारित ऋग्वैदिक जीवन में अपार शान्ति थी। सामूहिक रूप से निवास करते हुए लोग प्रकृति की जो तेजवान् उज्जवल और लाभदायक वस्तुयें होती उनकी प्रशंसा किया करते थे। मनुष्य का मन उन वस्तुओं के प्रति पूजा करने की भावना से भर जाता था जो सृष्टि में बलवान और आश्चर्यजनक थी। लोक जीवन में व्याप्त रीतिरिवाजों एवं परम्पराओं का निर्वाह कर व्यक्ति सृष्टि देवता के प्रति कृतकृत्य होकर अपना जीवन सुख एवं शांति से यापन करता था। प्रकृति पर निर्भर आर्यों का प्राकृतिक जीवन हमें भी प्रकृति की ओर लोटने का संकेत करता है।

सन्दर्भ सूची

1. ऋग्वेद 10/101/3
2. ऋग्वेद 10/10
3. ऋग्वेद 12/6/1
4. ऋग्वेद 4/24/9
5. ऋग्वेद 5/27
6. ऋग्वेद 10/34/2
7. ऋग्वेद 10/34/4
8. ऋग्वेद 10/34/9
9. ऋग्वेद 10/76/6
10. ऋग्वेद 3/52/1–2, 4/14/7
11. ऋग्वेद 1/116/10
12. ऋग्वेद 5/57/4
13. ऋग्वेद 6/6/3
14. अ. 7/75/14
15. ऋग्वेद 10/165/2
16. ऋग्वेद 10/165/5

वैदिक भूगर्भ- विज्ञान

डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री डी. लिट्,
रीडर
वेदविभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भूगर्भशास्त्र वह विज्ञान है जो प्रकृति के जैविक और अजैविक जगत् में निरन्तर हो रहे परिवर्तनों का अध्ययन ही नही करता अपितु, ऐसे परिवर्तनों के कारणों की खोजबीन भी करता है। अपने विस्तृत अर्थ में भूगर्भशास्त्र पृथ्वी की उत्पत्ति एवं सरंचना के सम्बन्ध में ज्ञात सभी तथ्यों एवं अज्ञात संभावनाओं की व्याख्या करता है। चार्ल्स लायल पूछते हैं कि धरती किन तत्त्वों से बनी है और ये तत्व किस ढ़ग से व्यवस्थित हैं? हम इन प्रश्नों का उत्तर वेद और वैदिक साहित्य के आधार पर देने का प्रयत्न करेंगे।

हम यह जानते हैं कि अतीत में इस विषय पर लिखी गई, बहुत-सी सामग्री असहिष्णु विदेशी आक्रान्ताओं के कारण नष्ट हो गई। जिन्होंने हमारी धरती पर आक्रमण कर पुस्तकालयों में उपलब्ध विशाल साहित्य को आग लगा दी। फिर भी उपलब्ध साहित्य के आधार पर उपर्युक्त सन्दर्भ में हमें महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

छान्दोग्य उपनिषद् में भूगर्भ विज्ञान विद्या को 'निधि ' नाम से कहा गया है।[1] स्वामी वेदानन्द तीर्थ के अनुसार इस 'निधि' अर्थात् भूगर्भविज्ञान व खनन विज्ञान में धातु आदि का खनन, जल, पुरीष (पैट्रोल) आदि के खनन का विज्ञान भी सम्मिलित है।[2]

डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने भी Oil & Natural Gas के लिए यजुर्वेद 11.32, 11.28 के आधार पर 'पुरीष्य अग्नि' नाम स्वीकार किया है।[3]

सृष्टि-पूर्व की स्थिति

के बारे में ऋग्वेद 10.129.1 के कहा है-[4] कि उस समय-सृष्टि काल से पूर्व प्रलयावस्था में शून्य नही था- नितान्त अभाव नहीं था तथा सत् अर्थात् प्रकटरुप में भी कुछ वर्त्तमान न था। रञ्जनात्मक प्रदेश कणमय गगन अर्थात् अन्तरिक्ष लोक भी न था। विश्व का सीमावर्ती आंकाश-खगोल भी न था। पुनः कौन अत्यन्त घेरने योग्य-परिसीमित करने योग्य है- किसको परिसीमित किया जावे ऐसा कुछं भी न था। घेरने योग्य वस्तु के घेरने का प्रदेश भी कहां अर्थात् कहीं नहीं- कोई नहीं था, तथा किसके सुख-शान्ति के निमित्त गहन गम्भीर सूक्ष्म जल भी क्या हो अर्थात् कुछ नहीं था जिससे कि भोग्य सामग्री उत्पन्न होती है जिसमें कि आरम्भ सृष्टि में बीज ईश्वर डालता है।[5]

धरती के निर्माण की अवस्था

भारत के सबसे पहले और सबसे बड़े विधिवेत्ता मनु महाराज ने हमारी धरती के निर्माण की अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है-

"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तम् इव सर्वतः।।"(म0 स्मृ0 1-5)

अर्थात्-

यह तमोरूप हुआ-हुआ, अप्रज्ञात (अप्रत्यक्ष), लिङ्ग. (परिचायक चिन्ह) रहित, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय सब ओर से गहरी नींद में सोया हुआ-सा था।

आरम्भ में सब कुछ विप्लव(**CHAOS**) की अवस्था में था। ईश्वर ने तब जल की सरंचना की और उससे पृथ्वी का उदय हुआ तत्पश्चात् उसमें जीवन की उत्पति हुई जिससे अनेकों प्रकार के बीज निकले। तैत्तिरीय संहिता इस विषय पर निम्न प्रकाश डालती है-

आपो वा इदमग्ने सलिलमासीत्।
तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वा अचरत्
स इमामपश्यत् तां वराहो भूत्वा ऽहरत्
तां विश्वकर्मा भूत्वायमयिसा प्रथत सा पृथिव्यभवत्। (७.१.५.१)

आरम्भ में सब कुछ तरल अवस्था में था जो माना जाता था कि गैसीय अवस्था से उत्पन्न हुआ और बाद में पृथ्वी के रुप में परिवर्तित हुआ। तै0 ब्रा0 एक कदम आगे बढ़कर कहता है कि पृथ्वी प्रारम्भ में गैस का जलता हुआ गोला थी जो बाद में तरल हो गई और क्रमशः ठण्डी पडकर ग्रेनाइट के तत्वों के रुप में ठोस आकार में जम गयी और तब जीवन ने कमल के रुप में (घास पत्तियां आदि) आकार लिया। इस प्रकार पृथ्वी की भूगर्भीय उत्पत्ति (**Geological evolution and configuration of the earth**) हुई और उसकी सतह में तथा बाहरी बनावट में परिवर्तन आया। कमल आदि के रूप में जीवन की उत्पति तत्पश्चात् वराह तथा स्तनधारी जीवों की सरंचना प्रजापति के द्वारा हुई।

इदं वै अग्रे नैव किंचनासीत्-तदतप्यत। तस्मात्तपनाद्धूमो ऽजायत। तद्भूयो ऽतप्यत। तस्मात्तपनादग्निरजायत। ज्योतिरजायत। तदभ्रमिव समहन्यत। तद्धस्तिमाभिनत्। स समुद्रोऽभवत् यदप्सु अवापद्यत सा पृथिव्यभवत्

(तै0 ब्रा0 2.2.9.1;2.3.4)

सो ऽपश्यत् (प्रजापतिः) पुष्करपर्ण तिष्ठत्। स वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जत्। स पृथिवीमधः अर्धात्। तस्या उपहृत्य उदमज्जत्। ता शर्कराभिरहंहत्।

(तै0 ब्रा0 1.1.3.5)।

यहां 'वराह' जीव का प्रतीक है और 'कमल' वनस्पतियों का। तै0 उ0 में भूगर्भीय प्रगति का वर्णन और अधिक स्पष्ट एवं उल्लेखनीय है क्योंकि यह एक विशेषज्ञ की बौद्धिक क्षमता और सही वर्णन करने की शक्ति को दर्शाता है।

उपनिषदों के ऋषि सृष्टि का वर्णन तथा पृथिवी की क्रमशः उत्पत्ति, इसके कारण और प्रभाव के सम्बन्ध में कहते हैं- परमात्मा ने आकाश का निर्माण किया और उस आकाश के अनन्त विस्तार से वायु का जन्म हुआ, फिर अग्नि का, फिर जल का और फिर उसके बाद गर्म पृथ्वी का, जिसने ठण्डी पड़ने (होने) के बाद जीवन को धारण किया। आरम्भ में जीव का स्वरूप सरल था जो धीरे-धीरे जटिल रूपों (**complex**) में परिवर्तित हुआ, जिसकी चरमपरिणति मनुष्य के रूप में हुई।

उपर्युक्त कथन किस प्रकार आधुनिक भूगर्भ विज्ञान (**Geology**) के सिद्धान्त से मेल खाता है यह निम्न बातों से स्पष्ट हो जायेगा-

विविध अश्मीकृत अवशेष (**petrified remains**) जिनका वर्णन भूगर्भविज्ञान के शोध कर्त्ता करते हैं, यह सिद्ध करते हैं कि मनुष्य की रचना के पूर्व जीवन जीव (**Animals**) और वनस्पति के सरल आकारों में विद्यमान था। प्रो0 दाना, अमेरिकी भूगर्भ वैज्ञानिक कहते हैं कि धरती पर मनुष्य के जन्म के बाद कोई नया जानवर या वनस्पति का जन्म नहीं हुआ। **'डेविड्स जियोलाजी'** के अनुसार भूगर्भवैज्ञानिकों ने प्राप्त प्रमाणों के आधार पर जो उन्होंने पृथ्वी की बाहरी परत और चट्टानों के निर्माण से प्राप्त किया है, यह निष्कर्ष निकाला है कि धरती अपने गर्मतरल स्वरूप से क्रमशः ठण्ड़ी होकर वर्तमान तापमान में आयी। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हम ऋग्वेद में पूरी तरह से पाते हैं-

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः
पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्। (२.१२.२)

अर्थात्- धरती आरम्भ में कम्पायमान थी जिसे इन्द्र ने स्थिर किया (अपनी तरल अवस्था से यह ठोस अवस्था में आयी)। उन्होंने हिलते हुए पर्वतों को स्थिर किया। इस मन्त्रांश का अर्थ स्वामी ब्रह्ममुनि ने इस प्रकार किया है-'जिसने व्यथमाना-हिलजुल करती हुई- तरलरूप में हुई पृथिवी को दृढ़-स्थिर कर दिया-करता है। जिसने प्रारम्भ में उद्विग्न से अस्थिर हुए पर्वतों को संयमित किया-ठहरा दिया-ठहरा देता है।'

स प्राचीनान्पर्वतान्दृंहद् ओजसाऽधराचीनमकृणोदपामपः।
अधारयत् पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्नान्मायया द्यामवस्रसः।। (ऋग्0 2.17.5)

अर्थात्- इन्द्र ने भाप के बादलों से जल प्रवाहित किया। इस तरह तरल अवस्था को उन्होंने अपनी शक्ति से समाप्त कर पर्वतों को स्थिर किया। अथर्ववेद कहता है कि सृष्टि की रचना तरल स्वरूप से हुई-**'सलिलो.....प्रथमजा ऋतस्य।** ऋग्वेद आगे कहता है-

या ओषधीः पूर्वा जाता,
देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा (10.97.1)।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत (10.72.2)

अर्थात्- प्रारम्भिक काल में उत्पन्न वनस्पतियां[6] देवों (जीवों) से तीन युग पहले आयीं। आरम्भिक काल में असत् (अव्यक्त प्रकृति) से सत् (व्यक्त) की उत्पत्ति हुई[7]

यदि हम उपर्युक्त कथन की व्याख्या करें तो हम आधुनिक पाश्चात्य भूगर्भविज्ञान के सिद्धान्त और जो कुछ भी इस विषय में ऋग्वेद में कहा गया है, दोनों में समानता पाते हैं। वैज्ञानिक यह मानते हैं कि पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति में सबसे पहले वनस्पतियों का जन्म हुआ, फिर प्रारम्भिक जीव (पशु आदि) आये और अन्त में मनुष्य आया। ऋग्वेद की उपर्युक्त दो ऋचाओं से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य सिद्ध होता है कि जीवों की उत्पत्ति से तीन युग (**Three epochs**) पहले वनस्पतियों (ओषधी) की उत्पत्ति हुई। मानव का आगमन तीन युगों के पश्चात् हुआ और पूर्व युग में असत् से सत् की उत्पत्ति हुई। आरम्भ में पृथिवी की अवस्था जीवन-धारण करने के योग्य नहीं थी। जीवन इस पर तब आया जब उबलता हुआ जल (लावा) ठण्डा हुआ।

सारांश में हम कह सकते हैं कि वेदों में पृथ्वी की उत्पत्ति और उस पर जीवन के आगमन का वर्णन विस्तारपूर्वक मिलता है। हमारे ऋषियों ने ये बाते लाखों वर्ष पूर्व कह दीं जिन्हें आज का विज्ञान सिद्ध करने में लगा है।

पाद-टिप्पणी

1) ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि........निधिं वाकोवाक्यम्........देवविद्याम् अध्येमि।
(7 वां प्रपाठक, प्रथमखण्ड)

2) हम संस्कृत भाषा क्यों पढ़ें, पृ0 26, विरजानन्द वैदिक संस्थान, 1973 ई0।

3) देखो, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ0 335, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

4) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।।

5) देखो, स्वामी ब्रहममुनि, वेदाध्ययन प्रवेशिका।

6) फलीर्वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः।
ओषध्यः फलपाकान्ताः लतागुल्माश्च वीरुधः।। (काशिकावृत्ति 8/4/6 में उद्धृत वचन)अर्थात्- जिनमें केवल फल लगते हों पुष्प न आते हों, ऐसे पेड़ वनस्पति कहाते हैं-यथा गूलर आदि, जिनमें पुष्प और फल दोनों आते हैं वे वृक्ष कहाते हैं- यथा आम आदि, जिनका फल पकने के पश्चात् नाश हो जाए ऐसे उद्भिज ओषधी कहाते हैं- यथा गेहूँ, जौ, चना, उड़द आदि लताएं और गुल्म (झाडियाँ) वीरुद कहाती हैं।
वनस्पति, वृक्ष और ओषधी का ऐसा ही लक्षण मनुस्मृति 1.46, 47 में मिलता है। चरक सूत्र स्थान 1.72 भी इस विषय में द्रष्टव्य है।

7. Herbs that sprang up in time of old, were three ages earlier than human beings.In an earlier age Sun and other objects sprang from unmanifest nature अव्यक्त प्रकृति. Existence in an earlier age of gods, form non-existence. (Chips from a Vedic workshop. by InderDev Khosla, pages 110, 197).

वैदिक देवों की पत्नियाँ

डॉ. रामनाथ वेदालंकार, वेदमन्दिर ज्वालापुर (हरिद्वार)

वेदों में अग्नि, वायु, इन्द्र, मित्र, वरुण, सविता, सूर्य, त्वष्टा, विष्णु, भग, प्रजापति, वैश्वानर, बृहस्पति, अश्विनी, प्रभृति अनेक देवों का वर्णन मिलता है। वेद यह भी बतलाते हैं कि प्रत्येक देव के साथ उसकी अपनी पत्नी भी है। इसके प्रमाणस्वरूप अथर्ववेद का यह मन्त्र प्रस्तुत किया जा सकता है।

विश्वान् देवानिद ब्रूमः सत्यसंधान् ऋतावृधः।
विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्तवंहसः।। अथर्व 11.6.19

अर्थात् सत्यप्रतिज्ञ, सत्यवर्धक समस्त देवों से हम यह प्रार्थना करते हैं कि वे अपनी-अपनी पत्नियों के साथ मिल कर हमें पाप से छुड़ायें। जैसे पौराणिक साहित्य में इन्द्र की पत्नी शची है, विष्णु की पत्नी लक्ष्मी है, महादेव की पत्नी पार्वती हैं वैसे ही वेद में भी इन्द्र की पत्नी शची या इन्द्राणी है, वरुण की पत्नी वरुणानी है, अग्नि की पत्नी अग्नायी है, रुद्र की पत्नी रोदसी है। ऋग्वेद में सोमपान के लिए इन देवियों का इस प्रकार आवाहन् किया गया है-

इहेन्द्राणीमुपह्वये वरूणानीं स्वस्तये।
अग्नायी सोमपीतये।। ऋग् 1.22.12

अर्थात् में स्वस्ति की प्राप्ति के लिए इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी, वरुण की पत्नी वरुणानी और अग्नि की पत्नी अग्नायी को अपने यज्ञ में बुलाता हूँ।

ऋग्वेद के ही निम्नलिखित मन्त्र में कुछ अधिक देव पत्नियों के नाम आये हैं-

उतग्ना व्यन्तु देवपत्नी रिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्।। ऋग् 5.46.8

अर्थात् इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी अग्नि की पत्नी आग्नायी, अश्विनौ की पत्नी अश्विनी, रुद्र की पत्नी रोदसी, वरुण की पत्नी वरुणानी आदि समस्त देवपत्नियाँ हमारे यज्ञ में आयें और हमारी प्रार्थना को सुनें।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य देवपत्नियों के नाम भी वेदों में मिलते हैं, जैसे सूर्य की पत्नी सूर्या, वृषाकपि की पत्नी वृषाकपायी, विवस्वान् की पत्नी सरण्यू। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में कुछ देवों की पत्नियों का तो स्पष्ट नामोल्लेख ही मिल जाता है, और जिन देवों की पत्नियों का नामोल्लेख नहीं भी मिलता, उनके विषय में भी, क्योंकि इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं कि सब देव अपनी पत्नियों के साथ आयें, अतः वेद की दृष्टि में उन सब देवों की भी अपनी-अपनी पत्नियाँ हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि वेदोक्त देवपत्नियों का आशय क्या है! पौराणिक विचारधारा के अनुसार तो जैसे पृथक्-पृथक् अनेक देव हैं, जो कि स्वर्ग में रहते हैं, वैसे ही उनकी पृथक्-पृथक् पत्नियाँ भी हैं। देव अपनी पत्नियों के साथ हमारे यज्ञ में आते हैं और अदृश्य रूप से हमारी हवियों का

भक्षण करते हैं और प्रसन्न होकर हमें पुत्र, पशु, धन-धान्य आदि प्रदान करते हैं। परन्तु इस व्याख्या से हमारी सन्तुष्टि नहीं हो सकती। जैसे हमारी दृष्टि में देवों का अभिप्राय पौराणिक अभिप्राय से भिन्न है, वैसे ही देवपत्नियों का अभिप्राय भी भिन्न ही है और वस्तुतः देवपत्नियों का अभिप्राय देवो के अभिप्राय पर ही निर्भर है। विभिन्न क्षेत्रों में देवपत्नियाँ अपने विभिन्न अर्थ रखती हैं।

स्वामी दयानन्द का एक सूत्र

विभिन्न क्षेत्रों में देवपत्नियों के विभिन्न अर्थ देखने से पूर्व इस विषय में स्पष्टीकरणार्थ स्वामी दयानन्द का एक सूत्र उद्‌धृत करना परमोपयोगी होगा। ऋग् 1.22.9 का भाष्य करते हुए स्वामी जी लिखते हैं।

''यस्मिन् यस्मिन् द्रव्ये या याः शक्तयः सन्ति तास्ताः तेषां द्रव्याणां पत्न्य इवेत्युच्यन्ते।''

अर्थात् जिस-जिस द्रव्य में जो-जो शक्तियाँ हैं, वे-वे शक्तियाँ ही उन-उन द्रव्यों की पत्नियाँ कही जाती हैं।''

ऋषिकृत इस सूत्र को सूत्र को ध्यान में रखने से अनेक स्थानों पर देवपत्नी का आशय सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। अब हम पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में देवों की पत्नियों का अर्थ विचार करेंगे।

परमेश्वर के पक्ष में

पाठक इस बात से सुपरिचित ही हैं कि वेदोक्त अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण आदि विभिन्न नाम एक ही परमेश्वर के गुणवाची भिन्न-भिन्न नाम हैं। यह स्वयं वेद के ही अन्तः साक्ष्य से पुष्ट हो जाता है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। ऋग् 1.164.46
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।। यजु. 32.1

आदि वेदमन्त्र इस विषय में पुष्कल प्रमाण हैं जिन्हें ऋषि ने अपने ऋग्वेदभाष्य के प्रथम मन्त्र की व्याख्या में उद्‌धृत किया है। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में तथा यत्र-तत्र वेदभाष्य में इन नामों की परमेश्वरपरक व्याख्या की गयी है।

प्रश्न यह है कि जब अग्नि, वायु, इन्द्र आदि परमेश्वर के वाचक होंगे तब इनकी पत्नियों का क्या अभिप्राय होगा। अग्नि का अर्थ है अग्रणी परमेश्वर (अग्निः अग्रणीर्भवति, निरुक्त) उस परमेश्वर की पत्नी का अभिप्राय है उसकी सहचारिणी अग्रणीत्व की शक्ति या अग्रणीत्व क्रिया। अतः यदि मन्त्र में यह कहा गया हो कि अग्नि अपनी पत्नी के साथ हमारी रक्षा करे तो परमेश्वर पक्ष में इसका यह भाव होगा कि परमेश्वर अपने अन्दर विद्यमान अग्रणीत्व की शक्ति से हमारी रक्षा करें। इन्द्र का अर्थ है परमैश्वर्यवान परमेश्वर (इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति इन्द्रः इदि परमैश्वर्ये) अतः इन्द्र की पत्नी का अर्थ होगा परमेश्वर की परमैश्वर्यवत्ता की शक्ति। वरुण का अर्थ है पापनिवारक परमेश्वर (वारयति

पापेभ्य:) एवं परमेश्वर में जो पापनिवारण की शक्ति है, वही उसकी पत्नी है। रुद्र का अर्थ है अन्यायकारियों को रुलाने वाला परमेश्वर (रोदयति अन्यायकारिणों जनान् य: स:)। अत: रुद्र की पत्नी रोदसी का अर्थ होगा परमेश्वर की दुष्टों को रुलाने या दण्ड देने की शक्ति। इसी प्रकार ऋषि द्वारा प्रतिपादित सूत्र के अनुसार परमेश्वरवाची सब देव-नामों के पत्नियों की व्याख्या की जा सकती है।

मनुष्यों के पक्ष में

वेदों के अग्नि आदि नाम केवल परमेश्वर पक्ष में ही नहीं घटते। उनके मनुष्यपरक अर्थ भी होते हैं। मनुष्यपरक अर्थ में देवपत्नियों का अभिप्राय उन-उन दिव्यगुणविशिष्ट मनुष्यों की विवाहित पत्नियाँ ही गृहीत होगा। जैसे अग्नि का अर्थ तेजस्वी अग्रणी विद्वान् पुरुष सेनापति सभाध्यक्ष, राजा आदि होता है, अत: अग्नायी का अर्थ इन पुरुषों की विवाहित पत्नी लिया जायेगा। इन्द्र का अर्थ शत्रुविदारक राजा, पुरूषार्थी वीर मनुष्य, विद्वान् आदि होता है, अत: इन मनुष्यों की वीर विदुषी पत्नियाँ इन्द्राणी कहलायेंगी। वरुण का अर्थ होता है शत्रुओं को पाशों से जकड़ने वाला, सेनापति, श्रेष्ठ निर्वाचित राजा न्यायधीश, श्रेष्ठ विद्वान आदि, अत: वरुणानी इन मनुष्यों की विवाहित पत्नियों का वाचक होगा। रुद्र का अर्थ शत्रुरोदक राजा, सेनापति, वैद्य आदि होता है, अत: इन मनुष्यों की विवाहित पत्नियाँ 'रोदसी' पदवाच्य होंगी। यही स्थिति मनुष्य पक्ष में अन्य देवपत्नियों की भी समझनी चाहिए।

प्राकृतिक पक्ष में

प्राकृतिक जगत् में अग्नि का अर्थ पार्थिव आग, यज्ञाग्नि, शिल्पाग्नि, विद्युत और सूर्य होता है। तदनुसार इन सबकी अपनी-अपनी विशेष शक्तियाँ ही अग्नायी कहलाती है। इन्द्र का अर्थ विद्युत, सूर्य, वायु आदि होता है, अत: इनकी विशिष्ट शक्तियाँ ही इन्द्राणी हैं। वरुण का अर्थ जल, वायु, चन्द्रमा, सूर्य, मेघ आदि होता है। अत: इन पदार्थो में विद्यमान शक्तियों को ही 'वरुणानी' कहते हैं। रुद्र का प्राकृतिक अर्थ वायु, विद्युत, अग्नि आदि होता है, अत: इन पदार्थो की अपनी-अपनी शक्तियाँ ही 'रोदसी' मानी जाती है। अश्विनों का प्राकृतिक अर्थ द्यावापृथिवी, सूर्य-चन्द्रमा, अहोरस्त आदि किया जाता है, तदनुकूल इनकी पत्नी अश्विनी से इनकी विशेष शक्तियाँ ग्राह्य होती हैं। इस सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द का ऋग्वेद भाष्य 1.22.12 द्रष्टव्य है, जहां 'अग्नायी' का अर्थ अग्निज्वाला, 'इन्द्राणी' का अर्थ सूर्य की ताप-शक्ति या वायु की वेगवत्ता की शक्ति और 'वरुणानी' का अर्थ जल की माधुर्य आदि गुणों वाली शक्ति किया है।

शारीरिक पक्ष में

अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण आदि देव मानव-शरीर में भी निवास करते हैं। अथर्ववेद में कहा है कि जैसे गौएं गोष्ठ में निवास करती हैं, वैसे ही सब देव शरीर में निवास किये हुए हैं-सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावों गोष्ठ दवासते (11. 8. 32) इसी वेद में अन्य शरीर को देवपुरी कहा गया हैं अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या (10. 2.31) अत: शरीर में भी देवों के साथ अनकी पत्नियों का भी निवास अवश्यंभावी है। शतपथकार कहते हैं कि शरीर में आत्मा अग्नि है, वाक् अग्नि है, मन अग्नि है, प्राण अग्नि हैं इन आत्मा, वाक्, मन और प्राण में जो अलौकिक शक्तियाँ हैं वे अग्निपत्नी 'अग्नायी' से

गृहीत होंगी। इन्द्र के विषय में ब्राह्मणकारों का कथन है कि शरीर में प्राण इन्द्र है, वाणी इन्द्र है, हृदय इन्द्र है, मन इन्द्र है, वीर्य इन्द्र है। अत: इन प्राण आदि की अद्‌भुत शक्तियाँ ही इन्द्राणी मानी जायेंगी। इसी प्रकार मानव शरीर में प्राण रुद्र है, अपान वरुण है, दो कान या दो नासिकाद्वार अश्विनौ हैं। अत: इनकी क्रियाशक्तियाँ ही क्रमश: 'रोदसी वरूणानी' और 'अश्वीनी' नामक पत्नियाँ होगी।

पत्नियाँ कहने में स्वारस्य

इतनी व्याख्या के पश्चात् अब हम इस प्रश्न पर आते हैं कि यदि वेद में पत्नी का अर्थ शक्ति है, तो पत्नी के स्थान पर शक्ति शब्द का ही प्रयोग क्यों नहीं कर दिया गया, व्यर्थ ही भ्रमोत्पादक पत्नी शब्द ही क्यों प्रयुक्त किया गया? इसका प्रथम उत्तर यह है कि वेद पत्नी शब्द के प्रयोग से दोनों अर्थ बतलाना चाहता है – सचमुच की पत्नी तथा शक्ति। मनुष्यपरक अर्थ में सचमुच की पत्नी तथा अन्यत्र शक्ति। यह द्वयर्थकता शक्ति शब्द के प्रयोग से सिद्ध नहीं हो सकती थी। अतएव पत्नी या पत्नीवाचक प्रत्यय का प्रयोग किया गया। दूसरी बात यह है कि पत्नी एक ऐसा उपयुक्त शब्द है, जो उस द्रव्य की सहचारिणी समस्त गुणवत्ताओं, शक्तियों और क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करता है। जैसे लोक में पत्नी पति की सहचारिणी होती है, वैसे ही यहाँ भी निकट सहचारिता प्रकट करने के लिए पत्नी शब्द का प्रयोग समझना चाहिए।

अकेले महर्षि दयानन्द ने ही पत्नी का ऐसा निराला अर्थ नहीं किया, निरुक्त में टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी इन्द्राणी का अर्थ इन्द्र की विभूति, रोदसी का अर्थ रुद्र की विभूति और वृषाकपायी का अर्थ वृषाकपि आदि की विभूति किया है। देवपत्नियों जैसी आंलकारिक और द्वयर्थक भाषा वेदों में बहुत प्रयुक्त हुई है। पाठक को आलंकारिता के पर्दे में से झांक कर रहस्य के दर्शन करने होते हैं।

शुनः शेप आख्यान की प्रासंगिकता

डॉ0 हेरम्ब पाण्डेय
अतिथि प्रवक्ता
संस्कृत विभाग महात्मा गांधी
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

वैदिक वाङ्मय में संहिताओं के अनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों का स्थान है। ब्राह्मन् शब्द से अण् (तद्धित) प्रत्यय करने पर ब्राह्मण शब्द बना है, जिसका अर्थ है –ब्रह्म से सम्बन्धित रचना। ब्राह्मण में आया ब्रह्म शब्द प्रमुखतः अर्थद्वय का प्रतिपादक है– मंत्र तथा यज्ञ। इस प्रकार मंत्र और यज्ञ इन दोनों की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ का अभिधान ब्राह्मण है। तैत्तिरीय संहिता (1/5/1) के भाष्यकार भट्टभास्कर ने ब्राह्मण शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिसमें मंत्र एवं उसके विनियोगों की व्याख्या निहित होती है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों का विशाल प्रतिपाद्य भेदत्रय में विभाजित है– विधि, अर्थवाद एवं उपनिषद्। इनमें विधि भाग के अन्तर्गत यज्ञ विषयक प्रयोगात्मक नियमों का विवेचन है। अर्थवाद में उपाख्यानों एवं प्रशंसात्मक कथाओं द्वारा प्रयोगविधान का सूक्ष्म रहस्य समझाया गया है। उपनिषद् भाग में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों की व्याख्या की गयी है। उक्त भेदत्रय में विधिभाग का ही प्राधान्य है। शबरस्वामी के मतानुसार वस्तुतः विधियाँ ही अर्थवादादि के रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों में दस प्रकार से व्यवहृत हुई हैं। उन्होंने अपने भाष्य में हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, विधि, परक्रिया, पुराकल्प, व्यवधारणा–कल्पना इन दस विधियों का उल्लेख किया है–

हेतु निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण–कल्पना।।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु। शाबरभाष्य 2/18

इनमें निन्दा और प्रशंसा का अर्थवाद में सन्निवेश है। परक्रिया और पुराकल्प का समावेश आख्यान के अन्तर्गत है[1]। शेष विषयों को विधि भाग के अन्तर्गत रखा गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों में मुख्य रूप से तीन विषयों का ही उल्लेख है। वे विषय हैं– विधि, अर्थवाद एवं आख्यान।

आख्यान को इतिहास या पुराण भी कहते हैं। कौटिल्य ने इतिहास के अन्तर्गत पुराण (प्राचीन आख्यान), इतिवृत्त (इतिहास), आख्यायिका (कहानियाँ), उदाहरण, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों की गणना की है[2]। आख्यान में उन उद्देश्यपूर्ण गाथाओं का संकलन है जो कर्मकाण्ड के हेतु को स्पष्ट करने के लिए कही गयी हैं। इनमें कभी–कभी गम्भीर तात्त्विक विषयों का भी संकेत मिलता है जो ब्राह्मणों के कर्मकाण्डात्मक वर्णन से नितान्त पृथक् एवं गूढ़ गम्भीरार्थ प्रतिपादक होते हैं। प्राचीन वैदिक व्याख्याताओं– याज्ञिक, नैदान, परिव्राजक, वैयाकरण

आदि में ऐतिहासिकों का स्थान प्रमुख हैं। यास्क ने निरुक्त में स्थल–स्थल पर ऐतिहासिकों की सम्मति का उल्लेख किया है। ऐतिहासिकों ने वैदिक मंत्रों में इतिहास ढूँढने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ वृत्र की व्याख्या के संदर्भ में ऐतिहासिकों का मत है कि वृत्र त्वष्टा का अपत्य असुर है (नि. 2/5) एवं सरण्यू त्वष्टा की दुहिता (नि0 12/1)। ऐतिहासिकों की सम्मति में त्वष्टा विश्व का पिता है (वा0सं. 29/9)। देव–दानव तथा समस्त वन्यजीव उसी से समुद्भूत हैं (शतपथ ब्रा. 3/7/3/11) अतः एक ही पिता की सन्तान हैं। त्वष्टा मानव जाति का महान् पूर्वज है, क्योंकि उसी की पुत्री सरण्यू– जो विवस्वान् की पत्नी थी, यम और यमी की माता बनी (ऋ0 10/17/2,7) तदनन्तर सृष्टिचक्र प्रवर्तित हुआ। इस प्रकार ऐतिहासिकों ने वैदिक वाङ्मय में ही यत्र–तत्र प्रकीर्णावस्था में विद्यमान प्रसंगों के आधार पर अपने अभिमत को स्थापित करने का प्रयास किया है। यहाँ विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ऐतिहासिकों की वैचारिक पृष्ठभूमि प्रायः वैदिक आख्यानों एवं तत्सम्बद्ध प्राचीन जनश्रुतियों पर आधृत रही है। इन आख्यानों में कुछ वैयक्तिक देवता के विषय में हैं और कुछ आख्यान किसी सामुदायिक घटना को लक्ष्य कर प्रवृत्त होते हैं। कालान्तर में मन्त्रों में संक्षिप्त रूप से वर्णित ये आख्यान परिस्थिति–परिवर्तन एवं नवीन कल्पना के प्रभाव से परिवर्तित एवं परिबृंहित होकर ब्राह्मणों, उपनिषदों, सूत्रग्रन्थों, रामायण,महाभारत तथा विशेषतः पुराणों मं उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में दान स्तुतियों (अनेक राजाओं से सम्बद्ध) के अतिरिक्त कम से कम तीस आख्यान स्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं। वैदिक आख्यानों में शुनः शेप की विशेष प्रसिद्धि है, यद्यपि ऋग्वेद में इसका उल्लेख अतिसंक्षिप्त (ऋ.1/24 वां सूत्र एवं ऋ.1/25 के कुछ मंत्र) रूप से हुआ है। इसके अतिरिक्त यह आख्यान तैत्तिरीय संहिता (5/2/13) मैत्रायणी संहिता (3/21) कठ संहिता (19/11) तथा बृहद्देवता (2/215 तथा 3/103) में प्राप्त होता है परन्तु इस कथा का पूर्ण विस्तार ऐतरेय ब्राह्मण (7/13–18) में उपलब्ध होता है। शुनः शेप आख्यान के कारण ही ऐतरेय ब्राह्मण वैदिक ग्रन्थों में चिरस्मरणीय है। यह आख्यान बड़ा ही करुणोत्पादक होने से साहित्यिक दृष्टि से पठनीय है। निःसन्तानराजा हरिश्चन्द्र नारदमुनि के परामर्श से वरूणदेव की उपासना करते हैं। वरूण के आशीर्वाद से राजा को पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है। पूर्व में वरुण को दिये गये वचन के अनुसार वरुण पुत्र की बलि मांगते हैं परन्तु पुत्र को बलिदान के योग्य न बताकर राजा टाल देता है। अन्ततोगत्वा पुत्र की बलि के लिए जब राजा सहमत होता है तो रोहित वन में चला जाता है और इधर राजा वरुण के शाप से उदर–व्याधि से ग्रस्त हो जाता है। पिता की रुग्णता का समाचार पाकर रोहित घर लौटता है। इन्द्र उसे लौटने से रोकते हैं। अन्त में रोहित घर लौट आता है परन्तु अपने बदले बलि के लिए अजीगर्त (जिसके पास खाने को कुछ न हो) के मध्यम पुत्र शुनःशेप को सौ गायों के बदले खरीद लाता है। वरुण भी ब्राह्मण पशु को बलि के रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रियों से श्रेष्ठ होता है। यज्ञ में अजीगर्त ही सौ अन्य गायों के बदले अपने पुत्र को स्वयं बलि देने के लिए तैयार हो जाता है। असहाय शुनःशेप देवों की शरण में जाता है और उसकी वरूण स्तुति से प्रसन्न देव उसकी रक्षा करते हैं। उस यज्ञ के प्रधान होता स्वयं विश्वामित्र थे। मुक्त होकर शुनःशेप उनकी शरण में जाता है और वे उसे

अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करते हैं। सौ पुत्रों के होने पर भी विश्वामित्र शुनःशेप को अपना उत्तराधिकारी बनाते हैं।

ऐतरेय के अनुसार शुनःशेप आख्यान एक शत ऋचाओं के ऊपर आश्रित बताया गया है (ऋक् शतगाथं शांनः शोपमाख्यानम्) परन्तु आज ये उपलब्ध रूप में सत्तानवे ही है। राजसूय के समय होता जलाभिषिक्त राजा को यह आख्यान सुनाता है। इस आख्यान की चर्चा कात्यायन, आपस्तम्बक, बौधायन, वैतान तथा शांखायन श्रौतसूत्र में प्राप्त होती है। शांखायन श्रौतसूत्र में एक स्थल पर (15/17) राजसूय के सन्दर्भ में इस आख्यान की चर्चा हैं वहीं अन्यत्र (16/11/1–3) इस आख्यान का वाचन पुरुषमेध यज्ञ में किया गया है। श्रौतसूत्रों में शुनःशेप आख्यान का संदिग्ध रूप भी वर्णित है जिसके आधार पर कुछ पश्चिमी विद्वानों ने वैदिक युगीय यज्ञों में मानव हिंसा की बात कही है। विल्सन ने कहा है कि पुरुषमेध यज्ञ में मानव बलि दी जाती थी। उन्होंने अपने मत की पुष्टि में शुनः शेप की कथा उद्धृत की है[3]। मैक्समूलर भी इसी अभिमत का समर्थन करते हैं[4]। जर्मन विद्वान् हिलब्राण्ट का विचार भी शुनःशेप आख्यान पर आधृत था। उन्होंने कहा है कि वैदिक युग में मानव बलिदान की कथा पर्याप्त प्रचलित थी। हिलेब्राण्ट ने उदाहरण के रूप में पुरुषमेध यज्ञ का भी उल्लेख किया है[5]।

प्रत्युत्तर स्वरूप भारतीय मतानुसार पाश्चात्य विद्वानों का मत दुराग्रह मात्र है। शुनःशेप आख्यान एवं पुरुषमेध के सन्दर्भ में पश्चिमी विद्वानों के विचार आंशिक ज्ञान के ऊपर आधृत हैं, जो तथ्य से संगति नहीं रखते हैं। वस्तुतः राजसूय के समय होता द्वारा कहा जाने वाला आख्यान प्रतीकात्मक है। आख्यान में किसी प्रकार की हिंसा का उल्लेख नहीं है। राजसूय के सन्दर्भ में शुनःशेप आख्यान कहने का अभिप्राय यह था कि राजा को प्रजा या देव के प्रति किये गये अपने संकल्प को अवश्य पूर्ण करना चाहिए। इक्ष्वाकु वंशी राजा हरिश्चन्द्र ने अपने राजधर्म का पालन किया था, इसीलिए उन्होंने अपने पुत्र का नाम रोहित रखा। आख्यान में राजा के मानवाचित दौर्बल्य का भी उल्लेख है परन्तु अन्तर्द्वन्द्ध में धर्म की विजय होती है। राजा अपने एकमात्र पुत्र के बलिदान के लिए तैयार होता है। यहाँ राजा हरिश्चन्द्र ने वरुण के समक्ष पुत्र के बलिदान की प्रतिज्ञा को निष्कृति के दान से निभाकर अपने सत्यसन्ध होने की बात स्पष्टतः प्रमाणित की है। पुरुषमेध को आधार बनाकर शुनःशेप आख्यान को मानवबलि का परिचायक मानना सर्वथा अनुचित है। वैदिक धर्मका कोई भी कर्मकाण्ड किसी भी प्रकार की हिंसा का विरोधी है। यज्ञ तो सनातन धर्म का मेरुदण्ड है। यज्ञ को मानवकृत कर्मों में सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा गया है– 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'। यज्ञ का अध्वर अभिधान भी इसी तथ्य को प्रकाशित करता है। ध्वर का अर्थ हैं हिंसा। अतएव हिंसा का जहाँ राहित्य हो वह है अध्वर। पुरुषमेध के सन्दर्भ में जो जो भ्रम है वह श्रौतसूत्रों – विशेषतः शांख्ययन एवं वैतान श्रौतसूत्रों के कुछ ध्वन्यात्मक अर्थ के कारण है।

शतपथ (13/4/2/1) एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/4) में जहाँ इस यज्ञ की विस्तृत चर्चा है वहाँ कहीं भी मानवबलि का उल्लेख नहीं है प्रत्युत पुरुषमेध को सब कामनाओं की प्राप्ति एवं

पापक्षय का एक उत्कृष्ट माध्यम बताया गया है। शतपथ में अनेक स्थलों पर कहा गया है–

'सर्वं पुरुषमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्धयै'।

शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है कि हे पुरुष! पुरुष की हिंसा मत करो अन्यथा पुरुष ही पुरुष का भक्षण करने लगेगा[6]। पुरुषमेध के शाब्दिक अर्थ का भी अभिप्रेत यही है। ये लोक पुर हैं और पुरुष वह है जो बहता है अर्थात् वायु। इस प्रकार वह पुरुष अर्थात् वायु ही है जो इस लोक में लेटा है और श्वास बनकर लोगों को जीवन देता है। मेध का तात्पर्य यह है कि इन लोकों में जो अन्न है, वही इसका मेध्य या अन्न है इसलिए इस यज्ञ का नाम पुरुषमेध है। अन्न वेदान्त में स्थूल शरीर को अन्नमयकोष कहा गया है। इस दृष्टि से शरीर का पुरुषदेव के लिए परित्याग भी पुरुषमेध ही है। यहाँ शरीर का बलिदान प्रतीकात्मक है। भारतीय मूल्यों में संन्यास को पुनर्जन्म कहा गया है क्योंकि भौतिक जीवन से सम्बद्ध कुछ भी परिव्राजक के साथ नहीं जाता है। संन्यास व्यक्ति का आध्यात्मिक जन्म है। यथार्थ रूप में संन्यासी का जीवन ईश्वर के निमित्त होता है। पुरुषमेध का भी दर्शन इसी विचार से संगति रखता है। शतपथ ब्राह्मण (13/6/2/14) में प्रतिपादित है कि यजमान पुरुषमेध के अन्त में भगवान् आदित्य की पूजा करते हुए पीछे मुड़कर देखे बिना वन में जाकर वानप्रस्थ स्वीकार करता है और शेष जीवन पुरुष रूप परमात्मा को समर्पित कर उसकी आराधना में व्यतीत करता है। पुरुषमेध में जिन–जिन देवों को उदिष्ट कर प्रतीक रूप में पुरुष पशुओं को बांधा जाता है उन्हें भी पुरुष नारायण की पूजा के पश्चात् मुक्त कर दिया जाता है (शतपथ ब्राह्मण 13/6/2/13) और देवताओं के निमित्त आज्याहुति प्रदान की जाती है। इस प्रकार पुरुषमेध में किसी भी प्रकार की हिंसा का प्रमाण नहीं मिलता है।

कुछ पाश्चात्य विद्वान् शांखायन एवं वैतान श्रौतसूत्रों को प्रमाण स्वरूप जो उदघृत करते हैं वे यज्ञ के दर्शन एवं प्रतीकार्थ की अवहेलना करते हैं। ये दोनों श्रौतसूत्र अन्य प्रमुख श्रौतसूत्रों की अपेक्षा अर्वाचीन हैं अतः प्राचीन के खण्डन के लिए अर्वाचीन को प्रमाण के रूप में उद्धृत करना न्यायसंगत नहीं है।

कोलब्रुक,ओल्डेन बर्ग, विन्टरनिट्ज आदि पश्चिमी वेदज्ञों ने भी पुरुषमेध के प्रतीकात्मकता को मान्यता दी है। प्रो0 ए.बी. कीथ ने तो इस सन्दर्भ में हिलेब्राण्ट आदि के मत का सतर्क खण्डन किया है[9]। इस प्रकार पुरुषमेध के आधार पर शुनःशेप आख्यान को मानव बलि का परिचायक मानना उचित नहीं है।

शुनःशेप सामान्य आख्यान नहीं है अपितु वह अपने गूढ़ार्थ के कारण नितान्त प्रासंगिक है। वस्तुतः इस आख्यान का प्रमुख उद्देश्य है– कर्मवाद का प्रतिपादन। इन्द्र ने घर लौटते हुए रोहित के समक्ष कर्म के भौतिक एवं आध्यात्मिक महत्व को उपदेशात्मक शैली में रखा। इन्द्र द्वारा चरैवेति–चरैवेति का जो सुन्दर उपदेश दिया गया है, वह वस्तुतः आर्य जाति के अभ्युदय का संबल हैं। इन्द्र द्वारा दिये गये उपदेश का सार यह है कि सर्वांगीण आत्मिक उत्थान हेतु

कर्म नितान्त आवश्यक है। बैठे हुए का भाग्य भी बैठ जाता है और खड़े हुए का भाग्य वृद्धि की ओर उन्मुख होता है। यह सत्य है कि मनुष्य का भाग्य उसके हाथ में होता है। जैसा और जितना कर्म मनुष्य करता है, वैसा ही उसका भाग्य होता है। जो अकर्मण्य होकर सोया रहता है, उसका भाग्य भी मानो उसी की भांति सो जाता है। परन्तु कर्मशील का भाग्य उसे समुचित फल प्रदान करता है। शुक्ल यजुर्वेद में भी इस विचार को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जागरण वैभव के लिए होता है और शयन पतन के लिए[8]। इन्द्र का कथन है कि निश्चित रूप से श्रम से थक कर चूर हुए बिना किसी को धन सम्पदा प्राप्त नहीं होती। अपितु श्रमहीन तो अपने रिक्त की भी रक्षा नहीं कर पाता है। अकर्मण्य का पाप उसे उत्पथगामी बनाता है और जो क्रियाशील है वह सदैव सेवा का भागी बनता है। क्रियाशील के अन्तस् का ईश्वर सबल होकर उसे आरोग्यादि फल देता है। प्रकृष्ट मार्ग पर चलने के कारण पुरुष के सभी पाप स्वयमेव देवी–देवताओं के दर्शन एवं जागरित तीर्थों की यात्रा रूपी फल के प्रभाव से अशक्त होकर मानो सो जाते हैं। इन्द्र ने कहा है कि विचरण करने वाला ही मधुर उदुम्बर आदि फलों को प्राप्त करता है, अकर्मण्य नहीं। कर्मवाद का महान् प्रवर्तक तो प्रत्यक्ष देव सूर्य को माना जाता है– जो आलस्य विहीन, कोटि–कोटि वर्षों से अनन्त आकाश में निरन्तर भ्रमण करता हुआ, असंख्य लोक–लोकान्तर का आलोकित करता हुआ हमारे द्वार पर आकर हमें नित्य कठिन श्रम हेतु प्रेरित करता है, इसीलिए वह जगद् वन्दनीय भी है। अतः हे रोहित तुम विचरण करो एवं सार्वत्रिक स्वस्ति की प्राप्ति करो।

चरन् वै मधु विन्दन्ति स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रियतेचरंश्चरैवेति।। ऐ.ब्रा. 33/3
इसी प्रसंग का एक उद्धरण पूर्व में एक ऋग्वैदिक मंत्र में भी प्राप्त होता है–
'स्वति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव' ऋ. 5/51/15

मनुष्य के विभिन्न क्रिया–कलापों की तुलना विभिन्न युगों से करते हुए इन्द्र देव ने कहा है कि युगों में सर्वाधिक निकृष्ट कलियुग है, जो सोया रहता है और मनुष्य की जागरित अवस्था द्वापर है। त्रेता शय्या से उठा रहता है और सत्युग जो युगों में सर्वश्रेष्ठ है, वह संचरणशील, प्रवाहयुक्त एवं चेतनामय है। अतः अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति विचरण से ही सम्भव है।
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।

उतिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति। ऐ.ब्रा. 33/3

इन्द्र ने कहा है कि पथिक कभी एकांकी नहीं होता अपितु वह स्वयं उसका मित्र होता है। जो निरन्तर विचरणशील है। मनुष्य की क्रियाशीलता देवों को मांगलिक सहयोग देने के लिए विवश करती है, जैसा कि शुनःशेप की हृदय से की गयी स्तुति से बाध्य होकर वरुण, अग्नि, विश्वेदवा आदि देवों ने उसकी रक्षा की। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से उदघृत है कि परिश्रमी को छोड़कर किसी अन्य की सहायता देव भी नहीं करते हैं–

'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' ऋ. 4/33/11

इसीलिए योग क्षेम की प्राप्ति के लिए पथिक को बिना थके आगे बढ़ते रहना चाहिए यतः चलते रहने का नाम जीवन है। ठहरा जल, अवरुद्ध वायु दूषित हो जाता है। बहते झरने में जीवन का माधुर्य होता है और प्रवाहशील पवन में ही जीवनीशक्ति का भण्डार है। आत्मा उसी का वरण करता है जो पग आगे बढ़ाता है। भगवद्गीता एवं रामचरितमानस जैसे ग्रन्थों का मूल उपदेश भी उपर्युक्त विषय के समान ही आत्मा का उद्बोधन है।

इस प्रकार असंदिग्ध रूप से स्वीकार्य तथ्य है कि कर्म की उपासना ही महान् आर्यसंस्कृति का मेरुदण्ड है। आर्य धर्म एवं कर्म के उपासक हैं, न कि अकर्मण्यता के। देवराज इन्द्र का रोहित के प्रति चरैवेति–चरैवेति की दी गयी शिक्षा इसी तथ्य को प्रमाणित करती है।

सन्दर्भः–

1. परक्रिया में एक नायक की कथ होती है, जैसे रामायण एवं पुराकाल्प बहुनायक वाली कथाहोती है। जैसे महाभारत
2. पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरण धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं च्चेतीतिहासः' अर्थशास्त्र 1/4
3. विल्सन–ऑन हयूमन सैक्रिफाइस इन द एनशियन्ट रेलिजन लाइफ ऑफ इण्डिया, पृ0 96.
4. मैक्समूलर–हिस्ट्री ऑन एनशियन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ0 129.
5. विन्टरनिट्ज–प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास पृ0 129
6. शतपथ ब्राहमण–13/6/2/13
7. ए.बी. की थ द्वारा सम्पदित ऐतरेय ब्राह्मण के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका
8. भूत्यै जागरणम्। अभूत्यै स्वपनम् –शुक्ल यजुर्वेद 30/17
9. 'नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुत (ऐतरेय ब्राह्मण) 33/3।

महाभारत में पुरुषार्थ चतुष्टय

सुशिमा दुबे
दर्शन विभाग
रानी दुर्गावती वि.वि.
जबलपुर

भारतीय परम्परा में धर्म, अर्थ, काम के रूप में त्रिवर्ग तथा मोक्ष को साथ मिलाकर चतुर्वर्ग की अवधारणा पायी जाती है। इन्हें ही चतुर्पुरुषार्थ भी कहा जाता है। मोटे तौर पर धर्म का तात्पर्य जीवन के नियामक तत्व, अर्थ से आशय जीवन के भौतिक साधन, काम से आशय जीवन की वैध कामनाएँ तथा मोक्ष से अभिप्राय जीवन के सभी प्रकार के बंधनों से मुक्ति है। धर्म अर्थ, काम, मोक्ष के अनुरूप ही भारतीय संस्कृति में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र की परम्परायें भी रहीं है। महाभारत में वस्तुतः पुरुषार्थ का धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के रूप में सभी प्राचीन ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक वर्णन मिलता है स्वयं व्यास जी कहते हैं–

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यादिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।[1]

हे भरत श्रेष्ठ! धर्म,अर्थ, काम और मोक्ष के संबंध में जो बात इस ग्रंथ में है, वह अन्यत्र भी है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। व्यास जी ने इसे पुण्यमय धर्मशास्त्र, उत्तम अर्थशास्त्र तथा सर्वोत्तम मोक्षशास्त्र भी कहा (1/62/23) है। महाभारत में चारों पुरुषार्थों का विशद् वर्णन तथा जीवन के लिये लक्ष्यभूत इन पुरुषार्थो का क्रम तथा व्यवस्था एवं प्राप्ति या सिद्धि पर भी सूक्ष्म विचार मिलते हैं। शांति पर्व में युधिष्ठिर भीष्म से पूछते हैं–

तात धर्मार्थकामानां श्रोतुमिच्छामि निश्चयम्।
लोकयात्रा हि कात्स्न्र्येन तिष्ठेत् केषु प्रतिष्ठिता।।[2]

"मै धर्म, अर्थ और काम के संबंध में आपका निश्चित मत सुनना चाहता हूँ। किन पर अवलम्बित होने पर लोकयात्रा का पूर्ण रूप से निर्वाह होता है" धर्म, अर्थ और काम का मूल कारण क्या है? इन तीनों की उत्पत्ति का क्या कारण है? ये कहीं एक साथ मिले हुये, कहीं पृथक् क्यों रहते हैं[3]।

यहाँ पुरुषार्थ के संबंध में यह प्रश्न अति महत्वपूर्ण है और भीष्म पितामह का उत्तर इस संबंध में संक्षिप्त है तथा धर्म, अर्थ, काम (त्रिवर्ग) और मोक्ष (चतुर्वर्ग) के अर्थ, अंतर तथा सीमा को स्पष्ट कर देता है। वे कहते हैं – 'संसार में जब मनुष्य का चित्त शुद्ध होता है और वे धर्म पूर्वक किसी धर्म की प्राप्ति का निश्चय करके प्रवृत्त होते हैं, उस समय उचित काल, कारण तथा

कर्मानुष्ठानवश, धर्म, अर्थ, काम एक साथ मिले प्रतीत होते हैं। इनमें धर्म सदा ही अर्थ की प्राप्ति का कारण और काम, अर्थ का फल कहलाता है, परन्तु तीनों का मूल कारण संकल्प है और संकल्प विषय रूप है। सम्पूर्ण विषय इन्द्रियोपभोग में आने के लिये है यही धर्म, अर्थ, काम का मूल है, इससे निवृत्त होना ही मोक्ष कहा जाता है

विषयाश्रैव कार्त्स्येन सर्व आहारसिद्धये।
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते।।[4]

यहाँ पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियों के विषयों में उपभोग से निवृत्त होना या संकल्प से निवृत्त होना या बिना संकल्प या निष्कामता को ही मोक्ष कहा गया है। महाभारत में गीता के प्रसंग में काम से मोक्ष तक का सुन्दर विवरण आता है।

मंड्कि ऋषि कहते हैं – 'काम मैं तेरी जड़ को जानता हूँ तू निश्चय ही संकल्प से उत्पन्न होता है (वस्तुतः संकल्प का व्यवहार इच्छादि के मूल में है) अब मैं तेरा संकल्प नहीं करूंगा जिससे तू समूल नष्ट हो जाये[5]। तृष्णा, शोक, परिश्रम का स्थान तू (काम) ही है तू बालक के समान मूढ़ है तथा आग और पाताल के समान तेरा पेट भरना असंभव है। इस समय काम और लोभ का त्याग करके मैं प्रत्यक्ष ही सुखी हो गया हूँ।'

मनुष्य जिस–जिस कामना को छोड़ देता है, उस–उस की ओर से सुखी हो जाता है। काम के वशीभूत हो, वह सर्वदा दुःख ही पाता है[6], आगे इसी बुद्धि के आश्रय से मंड्कि ऋषि द्वारा परमानंद स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति बतलाई गई है–

एतां बुद्धिं समास्थाय मंड्किनिर्वेदकमागतः।
सर्वान् कामान् परितज्य प्राप्य ब्रह्म महत्सुखम्।।[7]

पुरुषार्थ में शरीर की रक्षा, जगत् संचालन के रूप में नियामक है। यह नियम धर्म से प्राप्त होता है,परन्तु धर्म के उपार्जन के लिये अर्थ की आवश्यकता होती है। परन्तु क्या धर्म का मात्र धर्म के लिये ही अनुसंधान होना चाहिए? इस प्रश्न पर महाभारत के वन पर्व में भीम, युधिष्ठिर से कहते हैं–

"जिसका धर्म, धर्म के लिये होता है वह धर्म के नाम पर क्लेश उठाने वाला बुद्धिमान नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे कोई व्यक्ति केवल अर्थसंग्रह के लिये ही अत्यन्त इच्छा रखने वाला है और धर्म एवं काम का अनुष्ठान नहीं करता है, वह ब्रह्म हत्यारे के समान घृणा/जुगुप्सा का पात्र है।"

अतिवेलं हि योऽर्थार्थी नेतरावनुतिष्ठति
स बध्यः सर्वभूतानां ब्रह्महेव जुगुप्सा।।[8]

इसी प्रकार जो निरन्तर काम की ही अभिलाषा रखकर धर्म, अर्थ का सम्पादन नहीं करता वह धर्म और अर्थ दोनों से वंचित रह जाता है[9], जैसे पानी सूख जाने पर उसमें रहने वाली मछली की मृत्यु निश्चित है।

सततं यश्च कामार्थी नेतरावनुतिष्ठति
मित्राणि तस्य नश्यन्ति धर्मार्थाभ्यां च हीयते।।[10]

धर्म और अर्थ से ही काम की सिद्धि होती है। इस प्रकार महाभारत का स्वर है – धर्म, अर्थ और काम तीनों को पृथक्–पृथक् समझकर मनुष्य केवल धर्म, अर्थ या काम के ही सेवन में तत्पर न रहे। उन सबका सदा इस प्रकार सेवन करे कि इनमें विरोध न हो।

पुरुषार्थों में कब मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए तथा किस समय धर्म, अर्थ, काम रूपी त्रिवर्ग की वांछना करनी चाहिए इस महत्वपूर्ण विषय पर वनपर्व में स्पष्ट विवरण आता है। यहाँ यह कहा गया है – "निरतिशय सुख की इच्छा रखने वाले मुमुक्षुओं के लिए मोक्ष ही परम कल्याणप्रद है। इसी प्रकार लौकिक सुख की इच्छा वाले के लिए धर्म, अर्थ, कामरूप की प्राप्ति ही परम श्रेय है, तो इनके बीच में रहता है (अर्थात् जो दोनों के लिये प्रयास नहीं करता हैं) उसका जीवन आर्त्त मनुष्य की तरह होता है।"

तद् वाऽऽशुक्रियतां राजन् प्राप्तिर्वीप्यधिगम्यताम्
जीवतं ह्यातुरस्येव दुःखमन्तरवर्तिनः।।[11]

उक्त संदर्भ से कहा जा सकता है कि त्रिवर्ग लौकिक सुख का आधार है परन्तु त्रिवर्ग में धर्म, अर्थ तथा काम की स्थिति क्या है? क्या काम, अर्थ से अधिक व्यापक है या अर्थ, धर्म से अधिक आधारभूत है इनके निर्धारण में महाभारत में सबसे वृहद पर्व शान्ति पर्व में एक स्थल पर अर्जुन, नकुल, सहदेव, अर्थ को अधिक आधारभूत बताते हैं और इसका कारण देते हैं कि अर्थ के बिना धर्म तथा काम भी सिद्ध नहीं होते, परन्तु भीम कहते हैं कि काम ही, अधिक व्यापक तथा आधारभूत है, क्योंकि जिसके मन में कोई कामना न हो उसे न तो धन कमाने की इच्छा होती है न धर्म करने की। कामनाहीन पुरुष तो काम (भोग) भी नहीं चाहता वस्तुतः काम ही त्रिवर्ग का सार है काम, धर्म और अर्थ का कारक है। अतः वह धर्म ओर अर्थ रूप भी है।[12]

भीम के उक्त वचन से काम, पुरुषार्थ का सूक्ष्म विवेचन मिलता है परन्तु युधिष्ठिर आगे के विवरणों में यही कहते हैं कि सबसे पहले धर्म का अनुसरण करें फिर धर्म युक्त धन का संग्रह करें इसके बाद दोनों की अनुकूलता रखते हुये काम का सेवन करें। जो मनुष्य काम से धर्म और अर्थ को और अर्थ से धर्म और काम को तथा धर्म से अर्थ और काम को हानि न पहुँचाकर धर्म, अर्थ, काम तीनों का यथोचितरुप से सेवन करता है वह अत्यन्त सुख का भागी होता है।

धर्मार्थो धर्म कामौं च कामार्थो चाप्यपीडयन्।

धर्मार्थकामान् योऽभ्येति सोऽत्यनां सुखमश्नुते।।

यद्यपि तीनों के संबंध रूप में सेवन की बात कही गयी है, तथापि शांतिपर्व के अन्य स्थल पर धर्म की अन्य पुरुषार्थ से श्रेष्ठता बतलाते हुये कहा गया है 'धर्म में' एक विलक्षण शक्ति यह है कि वह अर्थ और काम की तरह कभी व्यर्थ नहीं जाता, बिना फल दिये वह कभी क्षीण नहीं होता और उससे मनुष्य को सदा सुख मिलता है, किन्तु यह बात अर्थ एवं काम में नहीं है इसलिये मनुष्य को अर्थ, काम की अपेक्षा धर्म में ही विशेष अनुराग रखना चाहिये।

धर्म चार्थे च कामे च धर्म एवोत्तरो भवेत्।
अस्मिन लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते।।[13]

महाभारत में धर्म, अर्थ, काम के संबंध में यह विशेष बात कही गयी है कि इनमें कोई भी मनुष्य कितना भी सम्पन्न क्यों न हो, फिर भी उसे अपने को त्रिवर्ग से परिपूर्ण होकर भी पुनः पुनः इनका अनुशीलन करना चाहिये क्योंकि सारे विशव का निर्वाह इन पर टिका हुआ है –

न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः।
एतष्वेव हि सर्वेषु लोकयात्रा प्रतिष्ठिता।।[14]

धार्मिक कार्यो मे फल की इच्छा, धर्म का मूल है, संग्रहीत करके रखना, अर्थ का मल है, आमोद–प्रमोद काम का मल है[17] और इन दोषों का परिहारकर त्रिवर्ग का सेवन किया जाये तो शांति पर्वू में इसे कल्याण कर कहा गया है। इस प्रकार महाभारत में धर्म, अर्थ, काम का उपार्जन उनके मल या अशुद्धि से रहित, परस्पर हानि न पहुंचाते हुये सेवन को समस्त लोक यात्रा के आधारभूत निरूपित किया गया है। साथ ही इनके अनवरत् अनुशीलन का निर्देश भी किया गया है। इस विषय में शास्त्रों का यह विधान है कि दिन में पूर्व भाग में धर्म का, दूसरे भाग में अर्थ और तीसरे भाग में काम का आचरण किया जाये –

धर्मं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये काममाचरेत्।
अहन्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः।।[15]

वस्तुतः त्रिवर्ग का उद्देश्य लौकिक सुख की प्राप्ति है, जो दुखों से रहित नहीं है। दुःखों का कारण कर्म, पुनर्जन्म आदि हैं। अतएव महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है, वैराग्य से ही निर्वाण पद प्राप्त होता है। उसे पाकर मनुष्य किसी अनात्म पदार्थ का चिन्तन नहीं करता संसार से वैराग्य होने पर सुख स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इस ब्रह्म पद को पुनरावृत्ति रहित, एक अविनाशी, संज्ञारहित, दुःख शून्य अजर और शान्ताश्रय कहा गया है।[16]

महाभारत में प्रायः पुरुषार्थ का ही विशेष महत्व प्रतिपादित किया गया प्रतीत होता है। स्वयं युधिष्ठिर एक स्थल पर कहते हैं "मैं जीवन और अमरत्व की अपेक्षा धर्म को ही बढ़कर

समझता हूँ।[17]'' महाभारत में राजा कुशीनर तथा बाज प्रसंग में, कपोत–बहेलिये प्रसंगादि में विशिष्ट धर्मों के आचरण एवं इन्हीं धर्मों को सराहा गया है। देखा भी जाये तो महाभारत का युद्ध, धर्म एवं अधर्म के निर्णय के लिए ही हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश अर्जुन के किंकर्त्तव्यविमूढ़ होने पर धर्म अधर्म के निर्धारण के लिए ही भगवान कृष्ण द्वारा किया गया। वस्तुतः सामान्य व्यक्ति के जीवन में भी पग–पग पर कर्मों के धर्म–अधर्म, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य, औचित्य–अनौचित्य के निर्धारण की समस्या आती है। इस संबंध में महाभारत में कहे गये श्लोकों में निहितार्थ सारगर्भित हैं, स्मरणीय भी हैं साथ ही वे विभिन्न समस्याओं के समाधान पर गहरी अंतर्दृष्टि भी प्रस्तुत करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में महाभारत को पथप्रदर्शक शास्त्र तथा वैश्विक–ज्ञान की अमूल्य संचित निधि कहना अत्युक्ति न होगा।

संदर्भ सूची :

1. महाभारत (1.62.53), महाभारत (वेदव्यास प्रणीत), भाग 1–6 (अनुवादक – रामनारायण दत्त शास्त्री) गीता प्रेस, गोरखपुर

2. (शान्ति पर्व 123.1)

3. (शान्ति पर्व 123.2)

4. (शान्ति पर्व 123.5)

5. काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायते।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूला न भविष्यति।। – मंड्किगीता, महाभारत (शान्ति पर्व 177.25)

6. यद् यत् त्यजति कामनां तन् सुखस्याभपूर्यते।
कामस्य बशगो नित्यं दुःखमेव प्रपद्यते।। (शान्ति पर्व 177.48)

7. (शान्ति पर्व 177.53)

8. (वन पर्व 33.25)

9 (वन पर्व 33, 26)

10. मोक्षो वा परमं श्रेय एष राजन् सुखार्थिनाम्।
प्राप्तिर्वा बुद्धिमास्थाय सोपायां कुरुनन्दन।। (वन पर्व 33.44)

11. (वन पर्व 33, 44)

12. (शान्ति पर्व 174.11–38)

13. (शान्ति पर्व 91.52)

14. (शान्ति पर्व 92.12–13)

15. अध्यानमलो धर्मो मूलाऽर्थस्य निगूहनम्।
सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः।। – (शान्ति पर्व 123.10) एवं (आदिपर्व 139.70.71)

16. (वन पर्व 33.39–40)

17. ब्रह्मस्थानमनावर्तमेकमक्षरसंज्ञकम्।
अदुःखमजरं शान्तं स्थानं तत् प्रतिपद्यते।। – (शान्तिपर्व 199.124)

18. (वन पर्व 34, 22)

"वैदिक ओजस्वी जीवन"

सत्यदेव निगमालङ्कारः
रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान
गु. का. वि. वि. हरिद्वार

इस संसार में दो प्रकार के मानव दृष्टिगोचर होते हैं। एक वे है जिनका चिन्तन, मनन कथन पूर्णतया भाग्याक्षि है। उनका विचार है कि शत्रु हमें कितना ही उत्पीडित करे हमारी कितना ही हानि क्यों न करें, हमारा कितना ही उन्नतिमार्ग अपने छल-छद्म से अवरुद्ध कर दे, हमारा घर-बार सब लूट कर ले जाये, हमें शारीरिक, मानसिक अथवा सामाजिक पीड़ा पहुँचा दे, हमें उन्हें कुछ नहीं कहना है, मात्र सहन करना है। उनके द्वारा प्रदत्त विभिन्न व्यथाओं का स्व-सहनशीलता से प्रतीकार करना है और मन में ईश्वर के प्रति विश्वास की भावना को सुदृढ़ बनाते हुए शत्रु के द्वारा कृतकर्मों को भगवान् के ऊपर छोड़ते जाना है। वह ईश्वर ही उनके किये का फल उन्हें एक न एक दिन समय आने पर अवश्य देगा। जो जैसा करेगा, वैसा ही फल पायेगा। इत्यादि इत्यादि। इन्हीं भाग्यवादियों में से कतिपय भाषाज्ञानवान् मानवों का यह भी विचार है कि उपर्युक्त विचार अनुभवयुक्त चिन्तन की पराकाष्ठा से उत्पन्न हैं, ये सद्‌गुण हैं, अहिंसा के प्रतीकात्मक सूत्र हैं। ''अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः - योगदर्शन का अहिंसाफल शत्रु द्वारा शत्रुता का त्याग इनमें निहित है। आवश्यकता है इसको अधिक रूप में अपनाने की। अर्थात् यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम्हें दूसरा गाल भी थप्पड़ लेने के लिये उपस्थित कर देना चाहिए, यदि शत्रु तुम्हारा कुर्ता उतार दे तो तुम्हें धोती/पायजामा भी उसे निकाल कर दे देना चाहिए। यदि शत्रु तुम्हारे मार्ग में काँटे बिछाने लगे तो तुम्हें उस मार्ग को छोड़ देना चाहिये और शत्रु यदि तुम्हें प्रताडित, पीडित, अपमानित एवं लाञ्छित भी करे तो तुम्हें करबद्ध होकर उससे क्षमा याचना करनी चाहिए। परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए कि भगवन्! इसके पापों को क्षमा करना, इसे सद्‌बुद्धि देना, इसको सही मार्ग दिखवाना और हमारे पूर्वजन्म के जो दुष्कर्म हैं उनका फल इस मानव (शत्रु) द्वारा जो तूने दिलवाया है, वह पापफल आज हमारा समाप्त हो गया, अतः तेरा बहुत बहुत धन्यवाद। हम तो अहिंसा के पुजारी हैं, हमने हिंसा न करने का व्रत धारण कर लिया है। अतः हम इसमें सर्वथा, सर्वत्र और सदैव सफल होकर दिखवाना चाहते हैं।

धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।। भगवद्‌गीता 1/46
ऐसे पूर्णभाग्याश्रितों के कतिपय वचन इस प्रकार के हैं-
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।।भगवद्‌गीता 1/32

हे कृष्ण! न मैं विजय चाहता हूँ, न नाना प्राकर के सुखभोग, हे गोविन्द! हमें राज्य-भोग और यहाँ तक कि जीवन से भी क्या लाभ?

पापमेवाश्रयेदस्मान्यत्वैतानाततायिन; ।।भगवद्‌गीता 1/36

इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही प्राप्त होगा।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।। भगवद्गीता 2/8

हमें धरती पर सब प्रकार से समृद्ध शत्रुहीन राज्य पाकर तथा वायु, मेघ, विद्युत् आदि जड़ देवताओं पर आधिपत्य पाकर भी, जो इन्द्रियों को सुखा डालने वाले युद्ध-परिणाम के चिन्तन से उत्पन्न शोक को दूर कर दे, ऐसी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। इत्यादि इत्यादि।

संसार में दूसरे वे जन हैं जिनका चिन्तन, मनन, कथन पूर्णतया कर्माश्रित है। उनका विचार है कि शत्रु यदि हमें उत्पीडित करेगा, हमारी हानि करेगा, हमारे उन्नति-मार्ग में छल-छद्म से अवरोध उत्पन्न करने का प्रयास करेगा, हमारे घर- बार को लूटने की कामना मन में लायेगा, हमें शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक संताप देने का विचार करेगा-हम उसका प्रतीकार इस प्रकार करेंगे कि वह न केवल हमारे साथ ऐसे कुकर्म करने छोड़ देगा अपितु जीवन भर वह दूसरों के प्रति भी ऐसे दुष्कर्म करने का विचार नहीं लायेगा। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्''। भगवद्गीता 2/32 -इस ऐसे दुष्ट आततायी को समाप्त करने का युद्ध बड़ी मुश्किल से वेदानुयायियों को मिलता है। जो दुष्ट समाज के घातक हैं। तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। योगदर्शन 2/1-यही अवसर होता है क्रियायोग को जीवन में अपनाने का।

ये वेदानुगामी इस बाधक-शत्रु को, सज्जनों को कष्ट देने वाले को, अग्नि से दूसरे का घर-बार फूँक देने वाले को, विष पिलाकर मारने वाले को, शस्त्र से घात करने वाले को, धन, स्थान (पद/देश) और स्त्री का अपहरण करने वाले को तथा राजा से चुगली करने वाले को आततायी मानते हैं-

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः।। (विष्णुस्मृति)
पिशुनं चैव राजसु। (कात्यायनः)

ऐसे प्रबल पापियों को मारने वाले को कोई पाप नहीं लगता। उनका विनाश करने के लिये जब क्षत्रिय और वैश्य तैयार न हों, तो उस समय ब्राह्मण ही हाथों में शस्त्र धारण करके धर्म की रक्षा करे-

उद्यतानां तु पापानां हन्तुर्दोषो न विद्यते।। (कात्यायन)
शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यात्रोपरुध्यते।। (कात्यायन)

ऐसे धूर्त आततायी यदि सामने से आते दिखाई पड़े तो बिना किसी सोच-विचार के उनको मार दे। उनके वध से वध करने वाले को किसी प्रकार का पाप नहीं लगता-

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।। मनुस्मृति

स्मृतिकारों के उपर्युक्त इन वचनों को पढ़कर कोई भी मानव यह सरलता से समझ सकता है कि स्मृतिकारों का उपदेश चुपचाप बैठकर हाथ पर हाथ धरके अत्याचार सहन करने का उपदेश देने वाले भाग्याश्रितों के सर्वथा विरुद्ध है।

वेदों में जीने का अधिकार उसे ही है जो स्व-अधिकार, कर्तव्य और दायित्व के लिये संघर्ष करता है। अपनी विकास भूमि के झाड-झंखाड़ को उखाड फेंकता है, मार्ग में समागत कुटिल-कंकरों को धूलिसात् कर देता है, शत्रु को धूलि-धूसरित करने में आनन्द लेता है, सर्वथा, सर्वदा और सर्वत्र विजय की ध्वजा को अपने कर्मशील हाथों से लहराने में खुशियाँ मनाता है, और न्याय के लिये युद्ध करने में तत्पर रहता है। उसकी लौकिक कविता होती है-

अधिकार खोकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है।
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।।

-मैथिलीशरणगुप्त

और वैदिक गीतों में वह गाता है-

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्राः वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ।। ऋ0 10,103,13

वीरो, उठो, आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो। इन्द्र तुम्हें सुख दे। तुम्हारी भुजाओं में बल हो, जिससे कि तुम कभी पराजित न हो सको।

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्।। ऋ0 1,80,3

हे वीर, आगे बढ़, शत्रु पर वार कर, उसे परास्त कर दे। तेरे शस्त्र को कोई रोक नहीं सकता। शत्रु को झुका देने वाला बल तुझमें विद्यमान है। आततायी को मार दे। तेरी जिन प्रजाओं को शत्रु ने पकड़ लिया है उन्हें जीत ला। स्वराज्य का आराधक बन।

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज।
वि मन्युमिन्द्रवृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः।। ऋ010,152,3

हे वीर, राक्षसों का संहार कर, हिंसको को कुचल डाल, दुष्ट शत्रु की दाढें तोड़ दे। जो तुझे दास बनाना चाहे, उस वैरी के क्रोध को दूर कर दे।

वेद भगवान् दुष्ट को समाप्त करने के लिये, द्वेषी को मारने के लिये, हमारी निन्दा करने वाले और हमें जान से मारने वाले के लिये उसे मसलने का आदेश देता है।

यो अस्मभ्यमरातीयाद् यश्च नो द्वेषते जनः।
निन्द्याद्यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु।। यजु0 11,80

अपने शत्रु को समाप्त करने के लिये, सेना लेकर हम पर धावा बोलने वाले के लिये दिखाने हेतु तथा हमें दास बनाने वाले को अन्धकार में डालने के लिये वेद हमें निर्देश देता है-

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति।। अथर्व0 1, 21, 2

वेदानुयायी चुगलखोर को मारता है, लम्पट को समाप्त करता है, असुरों का संहार करता है और शत्रु को भगा देता है। वह आगे बढ़ने के लिये कमर कस लेता है, और हाथों में ध्वजा लेकर उन्नति करता है –

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावता।। अथर्व0 11,10,1

वस्तुतः जो लोग अपने राष्ट्र, समाज और अपने उन्नति–मार्ग में शत्रुओं, आततायियों और दुष्टों का आक्रमण होने पर तथा धन, स्त्री, स्थान का अपहरण होते समय अपनी ही खुशियों में डूबकर, निकम्मे बनकर, पूर्णतः भाग्य का सहारा लेकर अपने समय, बुद्धि, शक्ति और धन का अपव्यय करते हैं, वे कायर होते हैं, नपुंसक होते हैं तथा समाज के लिये वे बोझ होते हैं। उन्हें जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं होता। वे समाज को गलत दिशा दिखाते हैं, अपनी कायरता को अहिंसा का नाम देकर स्वयं को उच्चकोटि का ईश्वर भक्त कहलाने का दुष्प्रचार करते हैं। वेद ऐसे पुरुष की कामना करता है जो विजय और अभ्युदय की अभिलाषा करता है, शत्रु को मारने की ठान लेता है। वह तो शत्रु पुरुष और स्त्री के पुत्र के वर्चस् को, प्राण को, तेज को और आयु को समाप्त कर उसे भूमि पर पटक कर मारने की ठान लेता है –

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः।
इदमहमामुष्यायणस्याऽमुष्याः पुत्तस्य वर्चस्तेजः प्राणमायुर्निवेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि।। अथर्व010,5,36

इस संसार में विजय प्राप्ति का एक ही मार्ग है, और वह है निस्सीम शूरवीरता तथा अतुल बुद्धि का होना –

असमं क्षत्रमसमा मनीषा ।। ऋ01,54,8

वेदानुयायी मानव परमेश्वर से उत्तम राज्य की प्रार्थना करता है, किन्तु इसी के साथ–साथ वह क्षात्रतेज और उत्तम ज्ञान (बुद्धि) की भी याचना करता है –

स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनामोजश्च मे दधत् ।। अथर्व0 10,3 ,12

मानव यदि ऐसी प्रार्थना करे तो परमेश्वर भी क्या उस प्रार्थना को अस्वीकार कर सकता है? आलसी, निकम्मे, आत्मघाती, पूर्णभाग्याश्रितों की प्रार्थना का सम्मान परमेश्वर नहीं करता। किन्तु उत्साही, उद्योगी, आत्मविश्वासी और '**कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः**'' जन जब अपना कर्तव्य पूर्ण कर परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं तो परमेश्वर भी उनकी प्रार्थना को तत्काल सफल करता है। वह जय और पराजय में अधिक विश्वास भी नहीं रखता। उसे तो उसके पूर्वज एक सूत्र देकर गये थे, जो किञ्चित् परिवर्तन के साथ वह स्मरण रखता है –

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महिम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कार्यार्थी कर्मणे कृतनिश्चयः।।

यदि तू कर्म करता हुआ, सफलता प्राप्ति के मार्ग में मारा जायेगा तो स्वर्ग मिलेगा और कर्म में सफल हो गया तो पद-भोग करेगा। अतः कार्यार्थी कर्म का निश्चय कर उठ, आगे बढ़ तू विद्वान् है, वर्चस्वी है, शरीर-रक्षक है। अपने को पहचान, श्रेष्ठों तक पहुँच, बराबरवालों से आगे बढ़, तू तो शुद्ध है, तेवस्वी है, आनन्दमय है ज्योतिष्मान है। हे आत्मन्! उन्नति कर, अवनत मत हो, मौत की बेड़ी को काट डाल। तू इधर विजय पा, उधर विजय पा, कमाल की विजय प्राप्त कर, जीत,जीत, जीत, हर क्षेत्र में जीत, शाबाश!

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम।।
शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम।। अथर्व0 2,11,4-5
उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्यो पड्वीशमवमुञ्चमानः।। अथर्व0 8, 1, 4
उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।। अथर्व. 8, 1, 6
इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा।। अथर्व 8, 8, 24

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों का उपदेश सदा उत्साह, वीरता और स्फूर्ति देने वाला है, उनमें ओजस्विता और तेजस्विता भरी पड़ी है। वेदपथ का पथिक कभी आलस्य में नहीं आता, कभी भयभीत नहीं होता, उसे कभी प्रमाद नहीं सताता, आततायियों से घिर जाने पर भी वह साहस नहीं छोड़ता। अपनी बुद्धि और पराक्रम से दुष्टों के मनसूबे धूलधूसरित कर देता है। वह 'सर्वभूतहितेरतः' तो होता है किन्तु 'सर्वभूत' में वह शत्रु का समावेश नहीं करता। यतोहि मनुष्यों के अहित करने वालों का नाश करके समस्त प्राणियों को सुखी करने का तत्व सर्वभूतों के कल्याण में ही निहित है, अतः आततायी का विनाश करके सज्जनों के रक्षकों का ही समाज में सम्मान होता है।

वेदों में ऐसे ओजस्वी जीवन जीने के सैंकड़ों मन्त्र निहित हैं। प्रस्तुत लेख में विद्यमान अधिक मन्त्रों का चयन हमने सामवेद भाष्यकार आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारकृत 'वैदिक वीर-गर्जना' नामक ग्रन्थ से किया है। विस्तार में ज्ञान हेतु उसका स्वाध्याय अध्येताओं को लाभप्रद होगा। अन्त में इतना ही कह कर लेख समाप्त करता हूँ-

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद् धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।। ऋ010,48,5

सुनो, सुनो, हे आततायियों, सुनो मेरा परिचय, मैं इन्द्र हूँ, बाँका वीर हूँ, धन को कभी हार नहीं सकता तथा यो आसानी से मुझे कोई मार भी नहीं सकता।।

रघुवंश महाकाव्य में अभिव्यक्त ध्वनि जन्य श्रौतबिम्ब

डॉ0 नन्दिता सिंघवी
व्याख्यात्री, संस्कृत
0राजकीय स्नातकोत्तर डूंगा
महाविद्यालय
बीकानेर

आधुनिक साहित्य के संदर्भ में ''बिम्ब'' शब्द अंग्रेजी के ''इमेज'' का हिन्दी रूपान्तर है। कुमारी एडिथ रेकर्ड के अनुसार – बिम्ब एक मानसिक चित्र है, जिसका निर्माण अनुभूतियों के आधार पर होता है। पहले कभी देखी गयी, सुनी गयी, स्पर्श की गयी या सूंघी गयी वस्तु का वर्णन, शब्दों के माध्यम से इस रूप में कराना कि भावक के मस्तिष्क में उसका एक चित्र निबन्धित हो जाए वही बिम्ब कहा जाता हैं[1]। काव्यगत बिम्ब एक शब्द चित्र है, जो संवेग और वासना से उद्रिक्त हो जाता है। यह अनिवार्य रूप से ऐन्द्रिय गुणों से समन्वित रहता है। बिम्बों के द्वारा ही कवि वस्तु, घटना, व्यापार, विचार और मानस क्रियाओं को रूप प्रदान कर ऐन्द्रिय ग्राह्य बनाता है। बिम्बों का अनेक प्रकार का वर्गीकरण प्राप्त होता है[2]। डॉ. अवधेश पाण्डेय[3] ने कालिदास के मानसलोक को ध्यान में रखकर बिम्बों का विभाजन इस प्रकार है –

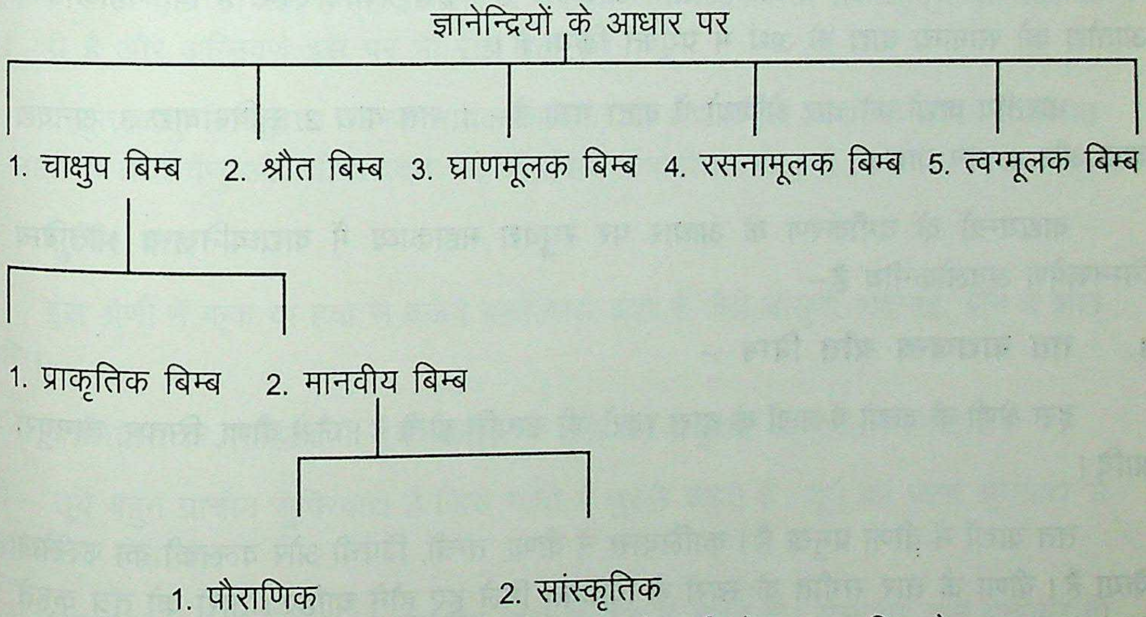
ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर
1. चाक्षुप बिम्ब
2. श्रौत बिम्ब
3. घ्राणमूलक बिम्ब
4. रसनामूलक बिम्ब
5. त्वग्मूलक बिम्ब
1. प्राकृतिक बिम्ब
2. मानवीय बिम्ब
1. पौराणिक
2. सांस्कृतिक

महाकवि की दृष्टि भावजगत् एवं रसानुभुति से पूर्णरूपेण आप्लावित है, इस आधार पर डॉ0 पाण्डेय ने बिम्बों का अन्य विभाजन इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

1. भाव एवं रसानुभूति का बिम्बात्मक प्रयोग

2. चिर परिचित उपमानों का चिर नवीन प्रयोग

महाकवि कालिदास की रचनाओं में काव्य बिम्ब प्रचुरता से दृष्टिगत होते है। सभी बिम्ब अत्यन्त मनोहर एवं प्रभावशाली है।

कवि सम्राट कालिदास ने रघुवंशं महाकाव्य में श्रौतबिम्ब का सृजन अपूर्व कौशल के साथ किया है। महाकवि ने रघुवंश महाकाव्य में सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा तलस्पर्शी भावग्राहिता के साथ विविध प्राणियों एवं वस्तुओं की ध्वनि संबंधी बिम्ब को रूपायित किया है। उन बिम्बों में ध्वनि विशेष का नामोल्लेख मात्र होता है। किन्तु उनके बिम्बन में प्रयुक्त शब्दों से पाठक के मस्तिष्क में उक्त ध्वनि चित्र अंकित हो जाता है।

रघुवंश महाकाव्य में मानवजन्य, पशुजन्य, पक्षीजन्य, भ्रमरगुंज़ारजन्य, प्रकृतिजन्य और वाद्ययन्त्रजन्य आदि विविधश्रौतबिम्ब को उपस्थापित किया गया है।

इनमें वाद्यजन्य श्रौतबिम्ब उल्लेखनीय है। कविकुलगुरु कालिदास के साहित्य में संगीत तत्वों की प्रधानता है। कालिदास के साहित्य में जितनी व्यापक और सूक्ष्म शास्त्रीय जानकारी गीत औरनृत्य के विषय में मिलती है उतनी ही वाद्यों के विषय में भी मिलती है। वाद्य के लिए उन्होंने आतोद्य शब्द का प्रयोग किया है। रघुवंश में वीणा को आतोद्य कहा गयाहै[4]। भरत सिन्धु प्रदशे में गन्धर्वो को युद्ध में हराकर उनके शस्त्र छीन लेते हैं और बदले में उनके हाथों में आतोद्य थमा देते हैं जो उनका जातीय अधिकार है[5]। इस प्रकार स्पष्ट है कि महाकवि ने आतोद्य को सामान्य वाद्य के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

भारतीय वाद्यों को चार श्रेणियों में बांटा गया है– 1. तत वाद्य 2. सुषिर वाद्य 3. अनवद्य वाद्य और 4. धन वाद्य।

वाद्ययन्त्रों के वर्गीकरण के आधार पर रघुवंश महाकाव्य में वाद्यध्वनिजन्य श्रौतबिम्ब निम्नरूपेण अवलोकनीय है–

1. तत वाद्यजन्य श्रौत बिम्ब –

इस श्रेणी के वाद्यों में तारों के द्वारा स्वरों की उत्पत्ति होती है। जैसे वीणा, सितार, तानपुरा आदि।

तत वाद्यों में वीणा प्रमुख है। कालिदास ने वीणा, तन्त्री, विपंची ओर वल्लकी का उल्लेख किया है। वीणा के तार संगीत के स्वरों से विधिवत् मिले हुए होने चाहिए। तारों को तंत्र कहते हैं। वे मिले हुए हों तो वीणा सुतन्त्री[6] अन्यथा वितन्त्री। कालिदास ने एक स्थान पर वितन्त्री शब्द का उपमा के लिए प्रयोग किया है[7]।

कालिदास ने नारद की वीणा का नाम परिवादिनी बतलाया है[8]। वे दक्षिण समुद्र के किनारे गोकर्ण निवासी शंकर जी को वीणावादन के साथ गाना सुनाने के लिये आकाशमार्ग से चले जा

रहे थे[9]। यहां ''उपवीणयितुं'' पद से ध्वनि बिम्ब का अंकन हुआ है।

वीणा का प्रयोग कामोद्दीपन के लिए किये जाने की बात ऋतुसंहार में कही गयी है– 'सवल्लकी – काकलिगीतनिः स्वनैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः।'10 अग्निवर्ण के समक्ष गोद में बैठाने योग्य दो वस्तुएं थीं, एक तो मनोहर शब्द वाली वीणा और दूसरी मधुरभाषिणी कामिनी–

अंकमंकपरिवर्तनोचिते तस्यनिन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वलल्गुवादागपि च वामलोचना।।[11]

यहाँ 'वल्लकी' के लिये प्रयुक्त 'हृदयगंमस्वना' विशेषण से वीणा का मनोहर शब्द कर्णेन्द्रिय को तृप्त कर देता है।

वेणु और वीणावादन का श्रौतबिम्ब यहाँ अवलोकनीय है –

वेणुना दशनपीडिताधरावीणया नखपदांकितोरवः।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मयना व्यलोभयत्।।[12]

अग्निवर्ण की विलासिनी स्त्रियों के ओष्ठ उसी के दान्तों से क्षत हैं फिर भी वह उनसे वेणु बजवाकर आनन्द ले रहा है और उन स्त्रियों के उसी के नखों से क्षत है फिर भी वह वीणावादन कराकर प्रसन्न हो रहा है, बिना इस बात की चिन्ता किये कि ओठों पर वेणु और ऊरू पर वीणा रखने से उन्हें पीड़ा हो रही होगी, इसलिए वे नारियाँ कुछ अप्रसन्नता लिये हुए टेड़ी भौहों से देख रही हैं और अग्निवर्ण इस पर भी रीझ रहा है।

प्रस्तुत चाक्षुषबिम्ब द्वारा कामुक नायक नायिका का रूप हमारी आंखों के सामने उपस्थित हो जाता है तथा वेणु और वीणावादन का श्रौतबिम्ब कर्णगोचर होता है।

2. सुषिर वाद्य –

इस श्रेणी में फूंक या हवा से बजने वाले वाद्य आते हैं जैसे बांसुरी, शहनाई, बीन व शंख आदि।

कालिदास के साहित्य में सूर्य, बांसुरी व शंख का प्रचुरता से वर्णन मिलता है।

तूर्य – तूर्य बहुत प्राचीन सुषिरवाद्य है जिसे गांवों में तुरही कहते है। तूर्य का जन्म श्रृंगवाद्य से हुआ प्रतीत होता है।

आरण्यक जन महिषश्रृंग का उपयोग वाद्य के रूप में करते थे। सम्भवतः इसे देखकर ही तूर्य की कल्पना ने जन्म लिया होगा।

तूर्य का प्रयोग उद्घोषणाओं और मांगलिक कार्यों से पूर्व किया जाता था। कालिदास ने इसे मंगलतूर्य कहा है।

राजा दिलीप के पुत्रजन्मोत्सव के प्रसंग में तूर्यादि वाद्य ध्वनियों का श्रौतबिम्ब चित्ताकर्षक है।

सुखश्रवा मंगलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारियोषिताम्।
न केवलं सदम्नि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपिं।।[13]

यहाँ तूर्य निःस्वन को 'सुखश्रवं' कहा गया है। इसी प्रकार दशरथ के पुत्र जन्मोत्सव पर वाद्य ध्वनियों का श्रौतबिम्ब अवलोकनीय है। इस अवसर पर पहले देवताओं ने द्यौ में दुन्दुभियाँ. बजायीं और तब दशरथ के घर तूर्यादि वाद्य बजने लगे[14]।

इन्दुमती जब स्वयं वरार्थ मंच पर लायी जा रही थी तब शंख और मंगलतूर्य बजाए जा रहे थे। उनकी ध्वनि से दिशाएं गूंज उठी थीं और उसे सुनकर गृहोपवन के मोर भी नाचने लगे थे—

पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ।
प्रध्मातशंखे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मंगलार्थे[15]।।

यहाँ चतुर्दिक् व्याप्त शंखध्वनि व मांगलिक तूर्य ध्वनियों का श्रौतबिम्ब तथा मयूरनृत्य का चाक्षुष बिम्ब चित्ताकर्ष है।

राजा कुश ने कुमुद्वती से विवाहअवसर पर हाथ पकड़ा तब दिव्य तुरही की ध्वनि से दसों दिशाएं गूंज उठी थी[16]। यहाँ तूर्य का ध्वनिबिम्ब अवलोकनीय है।

अतिथि के राज्याभिषेक के अवसर पर मृदंग व तूर्य आदि वाद्यों को बजाने से जो स्निग्ध गम्भीर शब्द निकलता था उससे यह अनुमान हो रहा था कि राजा अतिथि का सदा कल्याण होगा—

नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसन्तति[17]।।

यहाँ नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं पद द्वारा वाद्यजन्य ध्वनिबिम्ब का अंकन हुआ है।

वनवास के पश्चात् श्रीराम के अयोध्या में प्रवेशासवर पर लाजा की वर्षा हो रही थी और नगर निवासी तूर्य वाद्य की ध्वनि सुनकर प्रसन्न हो रहे थे—

स मौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दित पौरवर्गः।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम्[18]।।

यहाँ तूर्यवाद्य का ध्वनि बिम्ब कर्णेन्दिय को तृप्त करता है। तूर्य का वादन समय कोसूचित

करने एवं युद्ध में उत्साह बढ़ाने के लिए भी होता था। हेमांगदक प्रासाद समुद्र के समीप होने से प्रभात में उसका मन्द्र गर्जन ही हेमांगद को उठा देता था, इसलिए यामतूर्य को बजाने की आवश्यकता ही नहीं रह गयी थी–

यामात्मनः सदम्नि सन्निकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः।
प्रसादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एवं सुप्तम्[19]।।

यहाँ समुद्रगर्जन की उपमा यामतूर्य की मन्द्र ध्वनि से दी गयी है। इस उपमान के माध्यम यामतूर्य का ध्वनि बिम्ब कर्णगोचर होता है।

इन्दुमती स्वयंवर के पश्चात् राजसंघ के साथ अज सेना के युद्ध के समय इतनी तुरुहियाँ बज रही थी कि कुछ सुनाई ही नहीं देता था। इसलिए धुनषधारीगण अपना कुल और नाम भी नहीं बतला पाते थे। तब ये केवल बाणों पर अंकित नामादि से एक दूसरे का परिचय पाते थे–

नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान्।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः[20]।।

यहाँ तूर्यो का ध्वनिबिम्ब सजीव रूप से उपस्थित किया गया है। रघुवंश में बांसुरीजन्य श्रौतबिम्ब अवलोकनीय है। राजा दिलीप गोचारण के लिए नन्दिनी के पीछे जंगल जा रहे हैं। वहां राजा दिलीप ने बनदेवताओं द्वारा वन के कुंजों में ऊँचे स्वर से अपना यशोगान सुना। उस गीत के साथ वे बांस भी बांसुरी बजा रहे थे जिनके छेदों में वायु भर जाने के कारण मधुर स्वर निकल रहे थे–

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजादिभरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुश्रेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीमानं वनदेवताभिः[21]।।

प्रस्तुत पद्य में कीचक बांस की ध्वनि की समता बांसुरी के कर बांसुरी का श्रौतबिम्ब उपस्थापित किया गया है।

महाराज रघु जब अनेकों देशों के राजाओं के ऊपर विजय प्राप्त कर उत्तर में हिमालय की ओर अग्रसर होते हैं तो वहां सूखे भोजपत्र के वनों में मर्मर ध्वनि करता हुआ, कीचक नामक बांस के जंगलों में ध्वनि करता हुआ गंगा को शीतल जलकणों से युक्त वायु मार्ग में राजा रघु की थकान को दूर करता है–

भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः।
गंगाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे[22]।।

प्रस्तुत पद्य में भोजपत्रों की मर्मराहट एवं कीचक बांस की बांसुरी सी ध्वनि से कर्णेन्द्रिय

तृप्त हो जाती है तदुपरान्त गंगा के शीतल जलकणों से त्वगेन्द्रिय तृप्त हो जाती है। इसी प्रकार का श्रौतबिम्ब कुमारसंभव महाकाव्य में भी दृष्टिगत होता है[23]।

रघुवंश महाकाव्य में शंखध्वनि जन्य श्रौतबिम्ब अवलोकनीय है। युद्धक्षेत्र में आज ने प्रतिपक्षी राजाओं पर गान्धर्व अस्त्र छोड़ा जिससे उन्हें तथा उनकी सेनाओं को निद्रा आ गयी। तब अज ने अपने होठों से शंख फूंका। उस समय वे ऐसे प्रतीत होते थे मानों अपने बाहुबल से अर्जित मूर्तिमान यश को पी रहे हो। शंख की ध्वनि पहचानकर अज के योद्धा लौट आये[24]।

3. अवनद्य वाद्य –

इस श्रेणी में चमड़े से मढ़े हुए ताल वाद्य आते हैं, जैसे – मृदंग, तबला, ढोलक, नगाड़ा व ढोल इत्यादि।

अवनद्य वाद्यों में कालिदास ने पटह, पुष्कर, मृदंग, मुरज, मर्दल, दुन्दुभि और भेरी का उल्लेख किया है। इनमें पुष्कर सबसे प्राचीन नाम है। भरत ने 'अवनद्धं तु पौष्करम्'(नाट्यशास्त्र) कहकर इसकी प्राचीनता की पुष्टि की है। तब, ये और पटह आदि सारे वाद्य पुष्कर ही कहलाते हैं। तब पुष्कर के तीन मुखों पर मृत्तिका लेप के द्वारा विभिन्न स्वरों की स्थापना की जाती थी जिनके आधार पर तीन मार्जनाएं होती थीं जिनमें एक मायूरी मार्जना भी है। इसमें गोद में रखे हुए पुष्कर के वाममुख को गांधार, दक्षिण को षड्ज और ऊर्ध्व मुख को पंचम स्वर में मिलाते थे। मायूरी मार्जना मध्य स्वरोत्थ या मध्यम ग्राम से उत्थापित होती है। इसे सुनकर मयूर ग्रीवा उठाकर ऊपर देखने लगते हैं कि कहीं मेघ तो नहीं गरज रहे हैं। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में इसका वर्णन किया है[25]।

राजा अग्निवर्ण पुष्करवादन में इतना प्रवीण था कि अच्छी–अच्छी नर्तकियां उसके सम्मुख बेताल हो जाने पर लज्जित हो जाती थीं –

स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्तकीरभिनयातिलंधिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत्[26]।।

यहां नर्तकियों के नृत्य व मृदंग बजाते अग्निवर्ण के गले की माला हिलने का चाक्षुष बिम्ब तथा मृदंगध्वनि का बिम्ब कर्णगोचर होता है।

पुष्कर का ही नाम मृदंग भी है जो इसके खोल के मृदा से बने होने के कारण अभिहित हुआ है। अग्निवर्ण का प्रासाद सदा मृदंग ध्वनि से गूंजता रहता था। प्रतिदिन चलने वाले उत्सवों में प्रत्येक उत्सव पहले से अधिक बढ़कर होता था–

तस्य वेश्मसु मृदंगनादिषु
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्तरः[27]।

प्रस्तुत पद्य में प्रसाद में गूंजते हुए मृदंग ध्वनि का श्रौतबिम्ब हमारे मानसपटल परअंकित हो जाता है। राम ने पुष्पक विमान के द्वारा लंका से अयोध्या लौटते हुए सीता को शातकर्णीमुनि का भवन दिखाया था जिसमें होने वाले मृदंग वादन का घोष विमान की चन्द्रशाला में प्रतिध्वनित हो रहा था–

तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदंगघोषः।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति[28]।।

प्रस्तुत पद्य में मृदंगवादन का घोष श्रौत्रेन्द्रिय को तृप्त कर श्रौतबिम्ब का हृदयग्राह्य चित्र उपस्थिापित करता है।

महाकवि ने मृदंग को 'वारिमृदंग' कहा है। यह स्फालन गीतों के साथ चलता था इसलिए उसे गीतानुग भी कहा गया है।

जलक्रीड़ा के अवसर पर राजा कुश की रानियां गाती हुई मृदंग बजाने के समान थपकी दे देकर जल पीटती हैं, उसे सुनकर तट पर बैठे हुए मोर अपनी पूंछ उठाकर और बोलकर उनका अभिनन्दन करते हैं–

तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्धमानम्।
श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम्[29]।।

प्रस्तुत पद्य मिश्रिम बिम्ब का उदाहरण है। यहां मृदंग बजाने के समान थपकी दे देकर जल पीटती हुई कुश की नारियों का तथा उस ध्वनि को सुनकर मयूरों द्वारा पूंछ उठाकर किया गया अभिनन्द का चाक्षुष बिम्ब दृष्टिगोचर होता है, इसके साथही गाती हुई रानियों, मृदंग ध्वनि तथा मयूर की केका ध्वनि का श्रौतबिम्ब कर्णगोचर होता है। मृदंग ध्वनि से मोरोंका प्रगाढ़ सम्बन्ध है। मृदंग न बजने के कारण एक श्लोक[30] में मोरों का नृत्य छोड़ देने का वर्णन प्राप्त होता है।

कुमारसंभव[31] से ज्ञात होता है कि मेघ और मृदंग दोनों का घोष एक जैसा होता है। फिर भी ताल और लय मृदंग की ध्वनि को मेघ की ध्वनि से पृथक् करते हैं।

मुरज मृदंग का पर्याय है। कालिदास ने पशुपति के पूजा संगीत को समग्र बनाने के लिए कीचकों के वेणु एवं किन्नरियों के त्रिपुर विजय गीत के साथ मुरज का निर्ह्राद भी आवश्यक बतलाया है[32]। दुन्दुभि सामान्यतया युद्धवाद्य माना जाता हैं। वेदों[33] में युद्धार्थ वीररस से परिपूर्ण दुन्दुभि सूक्त उपलब्ध होता है।

दुन्दुभि झण्डे के साथ अत्यन्त शब्द करती है[34]। दुन्दुभि पृथ्वी और द्युलोक को गुंजित कर देती है[35]। उसकी गूंज को संसार सम्मान प्रदान करता है। यह अति दूर रहने वाले शत्रुओं को

दूर कर देती है। दुन्दुभि से प्रार्थना करता हुआ ऋषि कहता है– हे दुन्दुभि, तुम हमारे शत्रुओं के प्रति अपनी गड़गड़ाहट करो, उन्हें खूब डरा दो और उनके चित्त को मोहित कर दो, जिससे युद्ध में उनकी शक्ति का ह्रास हो तथा वे शीघ्र ध्वस्त हो जायें[36]।

कालिदास के साहित्य में मांगलिक अवसर पर दुन्दुभि बजाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। दशरथ के पुत्र जन्मावसर पर महल में तूर्यादि वाद्य बाद में बजे उससे पहले देवताओं ने स्वर्ग में दुन्दुभि बजाकर बधाई दी[37]। यहां दुन्दुभि जन्य श्रौत बिम्ब अवलोकनीय है।

4. घन वाद्य –

इस श्रेणी के वाद्यों में चोट या आघात से स्वर उत्पन्न होते हैं। जैसे करताल, घंटातरंग व झांझ इत्यादि।

रघुवंश में गजघण्टा ध्वनिजन्य श्रौतबिम्ब चित्ताकर्षक है। राजकुमार अज इन्दुमती को अयोध्या ले जा रहे थे तभी उनका प्रतिपक्षी राजाओं से युद्ध होता है। उस युद्ध में घोड़े एवं हाथियों के खुरों से उत्पन्न धूलिकण इस तरह सांद्र एवं सघन हो जाते है कि सूर्य छिप जाता है। उस सांद्र अंधकार के मध्य वस्तुओं का वास्तविक बोध ध्वनियों के माध्यम से ही होता है। उस घने अंधकार में पहियों के शब्द से रथ का तथा गजघण्टाओं की ध्वनि से हाथियों के अस्तित्व का बोध होता है। लड़ने वाले सैनिक जब अपने स्वामियों का नाम ले लेकर जय–जयकार करते थे उस ध्वनि से ही अपने और पराये का बोध होता था।

रथो रथांगध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नागः।
स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपराबबोधः[38] ।।

अपने साहित्य में शब्दतूलिका के द्वारा इस प्रकार महाकवि ने वाद्य जन्य ध्वनियों को बिम्बित किया है। उन बिम्बों में ध्वनि विशेष का नामोल्लेख मात्र है किन्तु उनके बिम्बन में प्रयुक्त शब्दों से पाठक के मस्तिष्क में उक्त ध्वनि चित्र अंकित हो जाता है।

संदर्भ सूची :

1. New Method for the study of literature, P. 24
2. कालिदास के रघुवंश महाकाव्य में बिम्ब विधान – डा. अवधेश पाण्डेय पृ. 62–75
3. वही, पृ. 74–75
4. रघुवंश 8.34
5. वही 15.88
6. ऋतुसंहार 1.3
7. कुमारसंभव, 1.85
8. रघुवंश 8.35

9. अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतनमीश्वरम्। उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः ।। वही, 8.33
10. ऋतुसंहार 1.8
11. रघुवंश, 19.13
12. वही, 19.35
13. वही, 3.19
14. वही, 10.76
15. वही, 6.9
16. तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते
    मांगल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य।
    दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरद्व्यश्नुवानो दिगन्तान्गन्धोद्रग्रं
    तदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्यमेघाः।। वही, 16.87
17. वही, 17.11
18. वही, 14.10
19. वही, 6.56
20. वही, 7.38
21. वही, 2.12
22. वही, 4.73
23. कुमारसंभव, 1.8
24. रघुवंश, 7.63, 64
25. मालविकाग्निमित्र, 1.21
26. रघुवंश, 19.14
27. वही, 195
28. वही, 13.40
29. वही, 16.64
30. वही, 16.14
31. कुमारसंभव, 6.40
32. मेघदूत, 1.60
33. ऋग्वेद 6.47, अथर्ववेद 5.21
34. केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीति – ऋग्वेद 6.47.31
35. वही, 6.47.29
36. एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभिकन्द प्रत्रासयाथो चित्तानि मोहय। अथर्ववेद 5.21.6
37. रघुवंश, द्रष्टव्य – 14 संकेत
38. वही, 7.41

उपनिषदों में आध्यात्मिक तत्त्व

डॉ0 बबीता शर्मा
प्रवक्ता दर्शन विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय
हरिद्वार

वेदरूपी वृक्ष की ब्राह्मण यदि शाखाएं है तो अरण्य उन शाखाओं से उद्भूत पुष्प है, तो यह मानना होगा कि उस आरण्यक रूपी पुष्प की सुगन्ध उपनिषदें ही हैं। कहने का अर्थ यह है कि प्राचीन काल में ऋषियों ने जो बीज आरण्यकों में बोया था, वही उपनिषदों में पुष्पित व पल्लवित हुआ दिखाई देता है। वेद के अन्तिम भाग होने के कारण इन्हें वेदान्त नाम से भी जाना जाता है।

आचार्य शंकर की दृष्टि में उपनिषद् ब्रह्मविद्या है। भारतीय दर्शन के बीज यद्यपि ऋग्वेदादि में भी उपलब्ध होते है, परन्तु भारतीय दर्शन का स्वरूप अपनी पूर्णता के साथ उपनिषदों में ही प्राप्त होता है। वेद के अन्तिम भाग होने के कारण हन्हें वेदान्त भी कहा गयाहै। उपनिषदों में वेद की शिक्षाओं का सार है इस अर्थ में भी उपनिषदों को वेदान्त कहा जाता है। समस्त वेदों का मूल भी उपनिषद् को कहा जाता है।

उपनिषद् शब्द के विश्लेषण करने से यह पता चलता है कि यह शब्द उप, नि तथा सद् के संयोजन से बना है। उप का अर्थ निकट, नि का अर्थ श्रद्धा और सद् का अर्थ बैठना शिष्य का गुरु के निकट उपदेश के लिए बैठना। गुरु तथा शिष्यके वार्तालाप से उपनिषद् भरा पड़ा है। उपनिषद् वह विद्या है जिसके ज्ञान से मानव भ्रम से रहित हो जाता है तथा सत्य को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान के प्रभाव से मानव का सारा अज्ञान नष्ट हो जाता है। उपनिषद् के विषय में माना जाता है कि उपनिषद् अनेक है, समान्यतः उपनिषदों की संख्या 108 कही जाती है, पर इन सब उपनिषद् में से केवल मुख्य दस उपनिषद् है जो इस प्रकार है। 1. ईशावास्योपनिषद् 2. केनोपनिषद् 3. कठोपनिषद् 4. प्रश्नोपनिषद् 5. मुण्डकोपनिषद 6. माण्डूक्योपनिषद् 7. ऐतरेयोपनिषद 8. तैत्तिरायोपनिषद् 9. श्वेताश्वतरोपनिषद् 10. छान्दोग्यपनिषद्।

उपनिषद्ों में प्रमुख रूप से ब्रह्म विद्या की ही विवेचना की गई है। उपनिषदों के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार से है जैसे – ब्रह्म, आत्मा, माया, जगत्, पुनर्जन्म इत्यादि इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

1. **ब्रह्म :** उपनिषदों के अनुसार केवल ब्रह्म ही परमतत्त्व है, यह सम्पूर्ण चराचर जगत् ब्रह्ममय है। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है[1]। यह ब्रह्म चलता भी है, तथा नहीं भी चलता, दूर से दूर है तथा पास से भी पास है[2]। जिससे सभी प्राणी उत्पन्न होते है तथा उत्पन्न होकर

जिनके सहयोग, जिनका बल पाकरये सब जीते है – अन्त में महाप्रलय के समय जिनमें विलीन हो जाते हैं, वास्तव में उसी को जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है[3]।

इस प्रकार ब्रह्म शब्द का प्रयोग, अद्वैत, सर्वव्यापी तथा सत् के रूप में हुआ है।

आत्मा – आत्मा के विषय में कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह नित्य ज्ञान स्वरूप वाला आत्मा न तो जन्म लेता है और न यह मरता ही है, यह न तो स्वयं किसी से हुआ है, अर्थात् न किसी का कार्य है, और न कारण ही है। यह सदा नित्य तथा एक सा रहने वाला है, तथा पुरातन है। शरीर के नाश किये जाने पर भी इसका नाश नहीं किया जा सकता है[1]। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा ही सब कुछ है।

ब्रह्म और आत्मा – उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म और आत्मा का प्रयोग ऐक्य भाव की प्रधानता के रूप में हुआ है। 'अयमात्मा ब्रह्म'[2] अर्थात् यह आत्मा ही ब्रह्म है 'अहं ब्रह्मस्मि[3] तथा 'तत्वमसिं'4 महावाक्य भी इसी बात की ओर संकेत करते हैं कि इन महावाक्यों के बल से ब्रह्म तथा आत्मा का भेदभाव समाप्त हो जाता है तथा एकत्व का ज्ञान हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि चेतन आत्मा तथा चेतन ब्रह्म दोनों एक ही है।

माया – माया अर्थात् अविद्या, अज्ञान को आचार्य शंकर ने 'अध्यास' का नाम दिया है। यह वह भाव रूप हैं जो वस्तु के वास्तविक स्वरूप को ढ़ककर उसमें अवस्तु को उत्पन्न कर देती है। जो यथार्थ न होकर व्यक्ति भ्रम मात्र होता है।

आचार्य शंकर ने विवेकचूड़ामणि[1] में माया के विषय में कहा है कि यह माया न सत् है, न असत् है तथा न सदसद् ही, अपितु यह भावरूप एक अनिर्वचनीय तत्व है। वस्तुतः जगत् की सत्ता का मूल कारण यही माया है। जो जगत् के ब्रह्ममय स्वरूप पर पर्दा डालकर उसे सुख, दुःख के मोह पाश में डाल देती है।

ब्रह्म और जगत् – उपनिषद् यह मानती है कि यह जगत् अव्यक्त ब्रह्म का ही रूप है। ब्रह्म ही इस जगत् का विभिन्न कारण तथा उपादानकारण है। जिस प्रकार मकड़ी अपने आप ही अन्दर से जाला बुनती है ठीक उसी तरह से अक्षर ब्रह्म से क्षर जगत् की उत्पत्ति होती है। आचार्य शंकर ने ठीक ही कहा है कि ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या अर्थात् ब्रह्म को सत्य एवं जगत् को मिथ्या स्वीकार किया गया है।

इनः सब तथ्यों के अतिरिक्त उपनिषद् के अन्तर्गत कुछ अन्य विषय जैसे प्राण सिद्धान्त पुनर्जन्म, विद्या–अविद्या, सम्भूति–असम्भूति इत्यादि विषयों का वर्णन भी किया गया है।

संदर्भ सूची :

1. ईशा वास्यामिद् सर्व यत्किच जगव्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।।

(ईशावास्यो)

2. तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य ब्राह्यतः।।

(ईशोपनिषद्)

3. यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते येन जातानि।
जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्येति।

(तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, प्रथम अनुवाक)

4. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।18।।

कठोपनिषद्, अध्याय 1, वल्ली 2, 1

5. बृहदारण्यकोपनिषद् से उदधृत।
6. तत्त्वमसि, छान्दोग्यउपनिषद् 6/8/7
7. सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नेत्युभयात्मिका नो। सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महादभुताऽनिर्वचनीयरूपा।।

विवेकचूड़ामणि 111 श्लोक

महाकवि भारवि के स्थितिकाल की विवेचना

डॉ0 ज्वलन्त कुमार शास्त्री
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
रणवीर सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय
अमेठी

संस्कृत महाकाव्यों की वृहत्त्रयी में प्रथम नाम किरातार्जुनीयम् का ही आता है। इसके रचनाकार महाकवि भारवि हैं।

महाकवि कालिदास की भांति भारवि ने अपने विषय में कुछ भी संकेत नहीं किया है। अतः अन्तरंग प्रमाणों के अभाव में बहिरंग प्रमाणों के आधार पर भारवि के स्थितिकाल पर जो प्रकाश पड़ता है, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

1. ऐहोल का शिलालेख – दक्षिण में बीजापुर जिले के ऐहोल गांव के एक जैनमन्दिर में एक शिलालेख मिला है। यह शिलालेख राजा पुलकेशिन द्वितीय की प्रशस्ति में रविकीर्ति ने उत्कीर्ण कराया है। इसमें इसका समय महाभारत युद्ध के 3735 वर्ष पश्चात् तथा शक संवत् 556 अर्थात् 634 ई0 बताया गया है[1]। अपना परिचय देते हुए रविकीर्ति ने कहा है कि अपनी कविता के द्वारा उन्होंने कालिदास और भारवि के जैसी कीर्ति प्राप्त की है– 'स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रित कालिदासभारविकीर्तिः[2]। अतः भारवि के स्थितिकाल की अन्तिम सीमा 634 ई. है।

2. काशिका में किरातार्जुनीयम् के पद्य पाणिनीय अष्टाध्यायी की सुप्रसिद्धवृत्ति 'काशिका' में किरात का संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः (3 / 14) पद्यांश उद्घृत है। काशिकाकार जयादित्य[3] का काल 600–660 ई. है, क्योंकि इत्सिंग के यात्रा विवरण[4] के अनुसार 661–662 ई. के पूर्व ही जयादित्य की मृत्यु हो चुकी थी। इस काल तक निःसन्देह भारवि बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे।

3. **महाराज पृथिवीकोंकण का दानपत्रः**– महाराज पृथिवीकोंकण के दानपत्र में लिखा है–श्रीमत्कों कणमहाराजराधिराजस्याविनीतनाम्नः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धबृहत्कथेन किरातार्जुनीयपंचदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन[5] अर्थात् महाराज दुर्विनीत ने 'शब्दावतार', संस्कृत की बृहत्कथा, और किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें या पन्द्रह सर्गों की व्याख्या लिखी थी।

4. **दानपत्र का समय** – अष्टानवत्युत्तरषट्शतेषु अर्थात 698 शकसंवत् है। इस दानपत्र के अनुसार राजापृथिवीकोंकण के सात पीढ़ी पूर्व महाराज अविनीत का पुत्र दुर्विनीत[6] हुआ। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिए25 वर्ष का समय दिया जाए तो 175 वर्ष पूर्व (689–175) 523 शकसवंत् अर्थात् 601 ई. महाराज दुर्विनीत का राज्यकाल है। इस समय तक महाकवि भारवि अतिप्रसिद्ध हो चुके थे तभी राजा दुर्विनीत ने उनके ग्रंथ की टीका लिखी। इस दृष्टि से छठी शताब्दी के मध्य 550 ई0 के आसपास किरातार्जुनीय का रचनाकाल माना जा सकता है। प्रो. कीथ ने

दुर्विनीत तथा भारवि का काल 550 ई0 के लगभग माना है। आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखते हैं– 'राजा दुर्विनीत का समय वि.स. 538 (ई. 481) है। दुर्विनीत के इस उल्लेख से भारवि का समय 450 ई. के आसपास ठहरता है– पंचमशती का मध्यकाल'[7] यदि दुर्विनीत का स्थिति काल आधुनिक इतिहास लेखकों के अनुसार 580 ई. माना जाए तब भी भारविकाल इससे पूर्व ही मानना होगा। दुर्विनीत के समय भारवि की कीर्ति चहुँ ओर फैली हुई थी उसी कीर्ति के प्रति लुब्धभाव से दुर्विनीत ने भारवि काव्य की टीका लिखने का कार्य किया। भारवि की सम्बद्धता राजा पुलकेशियन प्रथम (शासनकाल 543–566 ई. तक) से मानी जा सकती है। इनके पौत्र पुलकेशियन द्वितीय (609–642) ई. से नहीं। इस प्रकार 450 से 550 ई. के मध्य भारवि का स्थितिकाल मानना उपयुक्त प्रतीत होता है। किरातार्जुनीयम् की रचना कवि ने अपने जीवन की प्रौढ़ावस्था में ही की होगी।

5. पं0 युधिष्ठर मीमांसक का मत–मर्करा (कुर्ग) से प्राप्त शकाब्द 388 के एक ताम्रपत्र के आधार पर राजा दुर्विनीत के पिता महाराज अविनीत 466 ई. में शासन कर रहे थे। हिस्ट्री ऑफ कनाडी लिटरेचर और कर्नाटक कविचरित्र के अनुसार महाराज दुर्विनीत का राज्य काल 482–512 ई. तक रहा है। अतः भारवि 482 ई0 से पूर्ववर्ती हैं[8]।

प्रो. मैक्डॉनल[9] तथा वरदाचारी[10] भारवि का समय 600 ई. के आसपास मानते हैं। प्रो. कीथ 550 ई. तथा 'याकोबी' नाम के जर्मन विद्वान् ने भारवि का समय छठी शताब्दी का प्रारम्भ माना है। किरातार्जुनीय (प्रथमसर्ग) के सम्पादकों व्याख्याओं के मन्तव्य इस प्रकार है।

डॉ0 कपितदेव द्विवेदी (560–630 ई.)

डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा (550–600 ई.)

प्रो0 उमेशचन्द्र पाण्डेय (550–600 ई.)

डॉ0 कृष्णकुमार (छठी शताब्दी का उत्तरार्ध)

डॉ0 राजेन्द्र मिश्र (550–625 ई.)

डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी (550–615 ई. 'संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास')

आचार्य बलदेव उपाध्याय 450 ई. के आसपास

निष्कर्ष – मेरी समझ से 550 ई. के पश्चात् भारवि का काल नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से प्रो. कीथ, याकोबी तथा बलदेव उपाध्याय का विश्लेषण सत्य के समीप ठहरता है। कतिपय विद्वानों के अनुसार दुर्विनीत का काल 580 ई. मानने पर भी भारवि का जन्मकाल 560 ई. सम्भव नहीं है। क्योंकि 20 वर्ष के भारवि की रचना 'किरातार्जुनीयम्' नहीं है और न दुर्विनीत ने अपने राज्याश्रय में रहने वाले भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' की टीका लिखी है। (कोई राजा अपनी सभा के कविकृति की टीका लिखता है?) वस्तुतः दुर्विनीत ने अपने समय में पूर्व से ही ख्यातिप्राप्त

'किरातार्जुनीयम्' की टीका लिखने का उपक्रम किया। देशभर में अपनी कवित्व प्रतिभा के चमत्कार को फैलाने के लिए दुर्विनीत से अर्धशताब्दी पहले का समय भारवि को देना पड़ेगा।

दुर्विनीत के राज्यकाल में दक्षिण के लोग महाकवि भारवि और उनकी अनवद्य रचना किरातार्जुनीय से सुपरिचित हो चुके थे। जिस प्रकार 634 ई. में रविकीर्ति[11] को भारवि की कीर्ति के प्रति ललक पैदा हुई, उसी प्रकार दुर्विनीत नृपति को भी भारवि की कीर्ति से अपनी सम्बद्धता की अभिलाषा हुई होगी, जिसके फलस्वरूप उसने किरातार्जुनीय के 15वें सर्ग की या 15 सर्गतक की टीका लिखीं।

दूसरा पक्ष यह भी है – मर्करा (कुर्ग) से प्राप्त पूर्वोक्त ताम्रपत्र की उपेक्षा नहीं की जा सकती, जिसके अनुसार दुर्विनीत के पिता नृपति अविनीत 466 ई. में राज्य कर रहे थे और न हिस्ट्री ऑफ कनाडी लिटरेचर तथा कर्नाटक कवि चरित्र को झुठलाया जा सकता है, जिसके अनुसार दुर्विनीत का राज्यकाल 482–512 ई. तक रहा है।

इस मत की पुष्टि एक अन्य तथ्य से भी होती है, वह यह कि दुर्विनीत के गुरु देवनन्दी हैं। देवनन्दी जैनमत के प्रामाणिक आचार्य हैं। जैनलेखक इन्हें पूज्यपाद और जिनेन्द्रबुद्धि के नाम से स्मरण करते हैं। अरुणन्महेन्द्रो मथुराम् (जैनेन्द्र 2/2/92) के आधार पर आचार्य देवनन्दी कुमार गुप्त के समकालीन हैं और कुमारगुप्त का काल 413–455 ई. तक माना जाता है। देवनन्दी या पूज्यपाद द्वारा लिखित ग्रन्थों में पाणिनीय व्याकरण पर 'शब्दावतारन्यास' भी है। आचार्य देवनन्दी के शिष्य महाराज दुर्विनीत लिखित ग्रंथों में भी व्याकरण विषयक 'शब्दावतार' का उल्लेख मिलता है। पं. युधिष्ठिर मीमांसक का अनुमान है कि 'गुरु शिष्य दोनों के पाणिनीय व्याकरण पर लिखे ग्रन्थ का एक ही नाम होने से यह सम्भावना होती है कि आचार्य पूज्यपाद ने ग्रन्थ लिखकर अपने शिष्य के नाम से प्रचलित कर दिया हो[12]। इस स्थिति में जहाँ तक पृथिवीकोंकण के दानपत्र के अनुसार उनकी पूर्व सातवीं पीढ़ी में दुर्विनीत के होने का प्रश्न है– उसका समाधान यह हो सकता है कि पृथिवीकोंकण के पूर्व के पुरखों में प्रसिद्ध नृपतियों में सातवीं पीढ़ी पूर्व के दुर्विनीत हों। वंश परम्परा में मुख्य–मुख्य राजाओं के उल्लेख की परम्परा रही है। वाल्मीकीय रामायण में वर्णित राम की पूर्व पीढ़ियों से कालिदास के रघुवंश में पर्याप्त अन्तर है। कालिदास ने राम के पूर्वजों में मुख्य–मुख्य का उल्लेख किया है।

अवन्तिसुन्दरी कथा की अप्रामाणिकता – वस्तुतः दुर्विनीत के समकालीन भारवि को सिद्ध करने के आग्रह के पीछे 'अवन्ति सुन्दरी कथा' और उसके आधार पर रचित 'अवन्ति सुन्दरी' कथासागर का उल्लेख है। जबकि यह ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक रचना नहीं है। सभी इतिहास लेखकों ने इसे संदिग्ध माना है। इसमें भारवि को चार–चार राजाओं विष्णुवर्धन, सिंहविष्णु, दुर्विनीत तथा महेन्द्रविक्रम (या महेन्द्रवर्मन्) का राज्याश्रित कवि बता दिया है।

इसके भिन्न भिन्न पाठों के अनुसार भारवि के प्रपौत्र दण्डी हैं या भारवि के मित्र दामोदर के प्रपौत्र दण्डी हैं। जो विद्वान् दण्डी का समय 550 ई0 के लगभग मानते हैं और इसका उचित

ही कारण यह बताते हैं कि बाणभट्ट की शैली का कोई प्रभाव दण्डी की रचना पर नहीं है, अतः वे बाण (606–648 ई0) के पूर्व हो चुके थे। यह मत इसलिए भी ठीक है कि दण्डी ने अपने 'दशकुमारचरित' में जिस देशकाल या समाज का चित्रण किया है, वह गुप्तकाल के अवसान के समय का है। ये ही विद्वान् दण्डी के प्रतितामह या प्रपितामहमित्र भारवि का काल 560–630 ई0 सिद्ध कर रहे हैं। यह इतिहास की धारा को उल्टी प्रवाहित करने का प्रयास ही कहा जायेगा। अतः प्रो0 कीथ ने अवन्तिसुन्दरी कथा को दण्डी की रचना नहीं माना[13]। आश्चर्य है कि डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी ने अवन्तिसुन्दरी कथा की अप्रमाणिकता के विषय में प्रो0 कीथ के मत को उचित मानते हुए भी भारवि के सम्बन्ध में अवन्तिसुन्दरी कथा के लेख को प्रामाणिक मान लिया है। जबकि अवन्तिसुन्दरी कथा लगभग भोजप्रबन्ध के समान है, खासकर ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से किसी अन्य कवि ने दण्डी के बाद दण्डी के नाम से इसे लिखा है और इसमें वर्णित कवि–चरित तथाकथित दण्डी का जीवन चरित है। डॉ0 कपिलदेव द्विवेद्वी लिखते हैं– अवन्तिसुन्दरी कथा दण्डी की प्रामाणिक कृति नहीं है, अपितु परवर्ती किसी दण्डी उपनामक कवि की कृति है। यह प्रामाणिक कृति नहीं है, अतः इसके आधार पर दण्डी के काल सम्बन्धी सभी निर्णय निराधार समझने चाहिए। इसके आधार पर दण्डी को भारवि का प्रपौत्र मानना और तदनुसार समय निर्धारण असंगत है। कुछ विद्वानों ने इस प्रश्न को भामह के पौर्वापर्य के प्रसंग में अनावश्यक रूप से उलझाया है। इसी प्रकार कुछ ने बाण और सुबन्धु को दण्डी से पूर्ववर्ती सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु इनका मुख्य आधार अवन्तिसुन्दरी कथा ही है[14]। प्रसंगतः यह जानना दिलचस्प होगा कि दण्डी के काव्यादर्श में उल्लिखित राजवर्मा को अपनी कल्पना से पल्लवनरेश नरसिंह वर्मन द्वितीय (680–720 ई.)[15] से अभिन्न मानकर दण्डी को सातवीं शताब्दी के अन्त से आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच का मानना असंगत है, क्योंकि अवन्तिसुन्दरी कथा में दण्डी को पल्लव राजा नरसिंहवर्मन प्रथम (630–668 ई.) का दरबारी कवि माना गया है[16]। वस्तुतः दण्डी का समय गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद और हर्ष के राज्यकाल से पूर्व 600 ई0 के लगभग है।

7. **बाणभट्ट और भारवि** – इसी सन्दर्भ में महाकवि बाणभट्ट की कृति हर्षचरित[17] में भारवि के अनुल्लेख पर विचार कर लेना समीचीन रहेगा। लगभग सभी ने इस सन्दर्भ में प्रो0 की थी के इस मत का समर्थन किया है कि बाणभट्ट के समय तक भारवि ने इतनी ख्याति प्राप्त नहीं की थी कि इनका उल्लेख हो सके। कुछ का यह कहना है कि भारवि और बाणभट्ट के बीच दस–बीस वर्ष का ही अन्तर रहा होगा। ये दोनों मत अयुक्त है, क्योंकि बाणभट्ट का काल हर्षवर्द्धन का शासनकाल (606–648 ई0) है, यही समय काशिकावृति का भी है, क्योंकि काशिकाकार जयादित्य का देहावसान 661 ई0 तक हो चुका था और इससे पूर्व ही वे काशिकावृत्ति की रचना कर चुके थे। अतः जयादित्य का स्थितिकाल बाणभट्ट के समान ही 600 से 650 ई0 तक रहा है। जयादित्य जैसे महान् वैयाकरण द्वारा किरातार्जुनीय के पद्य का उदघृत किया जाना यह सिद्ध कर देता है कि निश्चय ही तब तक भारवि एक सम्मान्य महाकवि का यश प्राप्त कर चुके रहे होंगे। अतः यह कहना उचित नहीं है कि बाणभट्ट के समय तक भारवि

की ख्याति नहीं हो पायी थी। 634 ई0 में ही उत्कीर्ण ऐहोल का शिलालेख भी यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उस समय तक भारवि की कीर्तिकौमुदी चहुँ ओर छिटक रही थी। यदि यह कहा जाए कि 650 ई. तक दक्षिण भारत के लोगों में ही भारवि ख्यातनामा थे। उत्तर भारत में अभी उनकी प्रसिद्धि नहीं हो पायी थी, तो यह कथन भी उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि काशिकाकार जयादित्य कश्मीरी हैं और उन्होंने काशिका की रचना काशी[18] में की थी। रामदेव मिश्र (वृतिप्रदीप के प्रारम्भ में) उज्जवल दत्त (उणादिवृत्ति पृ. 173 तथा सृष्टिघर)– (भाषावृत्तिटीका 8/4/67) का भी यही मत है।

फिर बाणभट्ट द्वारा भारवि का उल्लेख न किया जाना' का क्या कारण हो सकता है? किरातार्जुनीय का कथानक और उसमें विशिष्ट राजनीतिक वर्णन यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि भारवि का किसी प्रख्यात नृप से अति निकट सम्बन्ध रहा है। वे उस नृप के राजसभा के पण्डित भी हो सकते हैं। चालुक्यवंशी सम्राट पुलकेशिन् प्रथम से उनकी निकटता का अनुमान सुसंगत प्रतीत होता है। पुलकेशियन् प्रथम चालुक्य राजवंश का संस्थापक था। 543–44 ई. में उसने बादामी के निकटवर्ती पहाड़ी की किलेबन्दी करके उसे सुदृढ़ दुर्ग का रूप दे दिया और एक अश्वमेध यज्ञ करके अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। नया किला मलप्रभा नदी से तीन मील की दूरी के अन्तर्गत एक ऐसी ऊँचाई पर स्थित था जहाँ से समुचित ढंग से उसकी रक्षा की जा सके। इसके पूरब के पहाड़ियों में, सबसे पहले महाकूट है, फिर उसी दिशा में पांच मील आगे नदी के किनारे पत्तदाकल तथा नदी के किनारे–किनारे और आठ मील आगे आइहोल या ऐहोल है। ये सभी पहाड़ियाँ अपने मन्दिरों तथा अभिलेखों के माध्यम से चालुक्य राजवंश के उदय के दिनों की गवाही दे रही हैं[19]।

चालुक्यवंशी राजाओं और उनसे सम्बन्द्ध कवियों तथा नृपतियों में भारवि की प्रशंसा और प्रसिद्धि के प्रमाण अधिक हैं। जिस रविकीर्ति के ऐहोल शिलालेख में उनकी चर्चा है (कविताश्रित कालिदासभारविकीर्तिः) उस शिलालेख में पुलकेशियन् द्वितीय की सफलताओं की विशद चर्चा और प्रशस्ति भी है। जिस राजा दुर्विनीत ने किरातार्जुनीय पंचदश सर्ग की टीका लिखी हे उसका सम्बन्ध भी पुलकेशियन् द्वितीय से रहा है। इतिहासकार डॉ0 के0ए0 नीलकण्ठ शास्त्री लिखते हैं– पुलकेशिन् द्वितीय ने शीघ्र ही अपने को इस राजवंश का एक सबसे योग्य राजा प्रमाणित किया। मैसूर के गंगवंशी राजा उसका प्रभुत्व स्वीकार करने को विवश हुए। गंगराजा दुर्विनीत ने अपनी एक पुत्री का विवाह पुलकेशिन् द्वितीय के साथ कर दिया और वहीं आगे चलकर विक्रमादित्य प्रथम की माता बनी। इस तरह चालुक्य साम्राज्य की उत्तरी सीमा एक स्थान पर मही नदी को स्पर्श करती थी। जब हर्ष ने दक्कन पर हमला किया तो पुलकेशिन् ने उसका सामना किया और नर्मदा के तट पर उसे बुरी तरह पराजित कर दिया। हर्ष को अपने विजयी जीवन में सिर्फ यहीं मुँह की खानी पड़ी। ये सारी सफलताएँ पुलकेशिन् को अपने शासनकाल के प्रथम तीन चार वर्षों में ही मिल गयी[20]। बाणभट्ट के हर्षचरित में हर्ष के पराजय का वर्णन नहीं है जो कि ठीक भी है। निःसन्देह हर्ष प्रतापी सम्राट था। पुलकेशन् द्वितीय से

पराजित होने पर भी उसकी महत्ता किंचित न्यून नहीं होती, किन्तु इसके विपरीत चालुक्यवंश से सम्बद्ध अभिलेखों में हर्ष पर विजय पाने का उल्लेख है[21]। जो स्वाभाविक है। अतः ब्रणभट्ट अपने आश्रयदाता सम्राट हर्षवर्द्धन को पराजित करने वाले चालुक्यवंशी सम्राट् पुलकेशिन् द्वितीय के पितामह पुलकेशिन् प्रथम के राजकवि भारवि का भी उल्लेख क्यों करते? बाणभट्ट को निःसन्देह गंगवंशी सम्राट दुर्विनीत द्वारा किरातार्जुनीय की टीका लिखने का भी ज्ञान रहा होगा और पुलकेशिन् द्वितीय द्वारा हर्ष की पराजय का भी।

टिप्पणी–

1. पञ्चात्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च।
   समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्।।34।।
2. येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
   स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।।37।।

   (Aihole Inscription of Pulkeshin -II)
3. वरदाचारी छठी शताब्दी में ही जयादित्य की स्थिति मानते हैं।

   (A History of the sanskrit Literature, P. 185)
4. इत्सिंग की भारतयात्रा पृ. 260
5. History of classicla sanskrit literature - M Krishnamachari P. 140. कुछ लोगों ने इस दान पत्र का अनुवाद बृहत्कथा का संस्कृत रूपान्तर शब्दावतार किया है। यह ठीक नहीं है। 'शब्दावतार' एक पृथक् व्याकरण का ग्रन्थहै। द्रष्टव्य पं. युधिष्ठिर मीमांसककृत संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, पृ. 455, प्रथम भाग, तृतीय संस्करण, 2030 विक्रमीय।
6. त्रिचनापल्ली से कुछ दूर 'उण्यांकौण्डनतिरूमलाई' नामक स्थान पर चोल नरेश परान्तक प्रथम का एक स्तम्भ/लेख मिला है। इसमें अनेक गंगवंशी राजाओं के साथ दुर्विनीत का नामोल्लेख भी है। अपने नाम के अभिधेयार्थ से बिलकुल विपरीत यह अत्यन्त विनम्र तथा विद्वान् नरेश था।
7. बलदेव उपाध्याय कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ. 182, दशम संस्करण– 1999 ई.
8. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास पृ. 448, 461
9. Macdonel - A History of sanskrit Literature. P. 577
10. Varadachari - A History sanskrit Literature. P. 80

11. रविकीर्ति का समय कुमारी मेबिलडफ ने 610 ई. माना है। 634 ई. उसके द्वारा शिलालेख के उत्कीर्ण का समय है। रविकीर्ति से पर्याप्त पूर्व भारवि की कीर्ति पताका फहरा रही थी। अतः डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार 615 ई. में किरातार्जुनीय का रचना काल नहीं माना जा सकता।

12. पं0 युधिष्ठिर मीमांसक – संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 456.

13. Keith : History of Sanskrit Literature, Preface, p. xvi

14. संस्कृत साहित्स का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ 472–473, पंचम संस्करण, 1989 ई.

15. क. बलदेव उपाध्याय कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 401 पर इनका राज्यकाल 680–715 ई0 दिया गया है।

    ख. राधावल्लभ त्रिपाठी कृत संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, पृष्ठ 378 पर इनका राज्यकाल 680–722 ई. दिया गया है। ये दोनों काल अयुक्त हैं, देखें डॉ0 के0ए0 नीलकण्ठ शास्त्री दक्षिण भारत का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) पृ. 1431.

16. डॉ0 के.ए. नीलकण्ठशास्त्री, दक्षिण भारत का इतिहास, पृष्ठ 299। ज्ञातव्य है कि नीलकण्ठ शास्त्री जैसे प्रसिद्ध इतिहास लेखक के अवन्तिसुन्दरी कथा के अनुसार भारवि से विष्णुवर्द्धन तथा सिंहविष्णु की सम्बद्धता को सन्देहास्पद बताया है।

17. प्रो0 राजेन्द्र मिश्र ने लिखा है– बाणभट्ट कादम्बरी की पुष्पिका में जहाँ अपने अनेक पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख करते हैं, वहीं भारवि के विषय में मौन हैं। (किरातार्जुनीयम् – प्रथमसर्ग, भूमिका, पृष्ठ 14 संस्करण 2002) जबकि कादम्बरी में ऐसा कुछ नहीं है।

18. काशिका देशतोऽभिधानम्। काशीषु भवा। हरदत्तमिश्र – पदमंजरी, भाग–1, पृष्ठ 4,

19. डॉ के0ए0 नीलकण्ठ शास्त्री, दक्षिणी भारत का इतिहास, पृष्ठ 124.

20. दक्षिण भारत का इतिहास, पृष्ठ 125.

21. अपरिमितविभूतिस्फीत सामन्तसेनामुकुटमणिमयूरखाक्रान्तपादारविन्दः।

    युधिपतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो, भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः।।23।।

    (Aihole Inscription of Pulkeshin - II)

    (हर्षवर्धन और उनका युग – भगवती प्रसाद पांथरी, पृ. 157 पर उदघृत)

स्त्रियों की स्थिति : बौद्ध दृष्टिकोण

डॉ0 रेणु शुक्ला
वरिष्ठ प्रवक्ता
प्रा0भा0 इतिहास एवं संस्कृति
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय
देहरादून

भारतीय नारी पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह के साथ सत्य की खोज एवं आध्यात्मिक उत्थान के लिए सदैव प्रयत्नशील रही। सामाजिक संस्थाओं एवं नैतिक मूल्यों के संरक्षण के प्रति पुरुषों की तुलना में अधिक संवेदनशील स्त्रियाँ धर्म एवं परंपराओं को सुरक्षित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती रहीं परन्तु उन्हें वास्तविक महत्व के उच्च स्थान कभी नहीं मिले। वे सम्मान और श्रद्धा की पात्र तो बनीं पर समाज एवं धर्म में उनकी स्थिति सदैव अधीनस्थ की ही रहीं।

स्त्रियों की स्थिति का अध्ययन प्रायः विद्वानों के लिए एक रुचिकर एवं महत्वपूर्ण विषय रहा है। वर्तमान समय में विद्वानों का इस ओर विशेष झुकाव है और स्त्रियों को लेकर उनके विचारों में भिन्नता एवं विरोध देखने को मिलता है। प्राचीन काल से आज तक स्त्रियों की स्थिति परिवर्तित होती रही परन्तु उन्हे समझने का सार्थक प्रयास कभी नहीं हो सका। संभवतः इसीलिए उनकी कठिनाइयों के निवारण में किसी को सफलता नहीं मिली। उदारवादी मनोवृत्ति के लिए पहचाने जाने वाले महात्मा बुद्ध भी स्त्रियों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण को प्रभावित नहीं कर सके और स्त्रियों को कमजोर एवं स्वतन्त्रता के अयोग्य समझने की बढ़ती जा रही मनोवृत्ति पर अंकुश नहीं लगा सके।

छठी शताब्दी ई0पू0 में बुद्ध का अभ्युदय भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण घटना थी। अतिसंवेदनशील बुद्ध मानवजीवन की व्याधियों से अत्यन्त व्यथित थे[1]। इसी व्यथा ने बुद्ध को दुःख से निवृत्ति एवं अंतिम सत्य की खोज के लिए प्रेरित किया। उन्होंने समस्त सांसारिक सुखों का त्याग किया और एक ऐसे धर्म की स्थापना की जिसका एक लम्बा इतिहास है और जो विभिन्न भौगोलिक एवं सांस्कृति–परिवेश वाले एक विस्तृत क्षेत्र में समुन्नत हुआ। सैद्धांतिक रूप से बौद्ध धर्म प्रारम्भ से ही समतावादी रहा है[2]। बुद्ध की उदारता एवं करुणा ने समभाव से समाज के सभी वर्गों को लाभान्वित किया। परिस्थितिजन्य एकाकीपन एवं दुःखों से निवृत्ति, श्रेष्ठ जीवन एवं अंततः निर्वाण की प्राप्ति की आशा ने पवित्र, अपवित्र, धनी, निर्धन, विवाहित, अविवाहित सभी वर्गो की स्त्रियों को बौद्ध धर्म अपनाने के लिए प्रेरित किया[3]। बुद्ध ने स्वीकार किया कि बौद्ध धर्म में प्रवृजित स्त्रियाँ धार्मिक जीवन के सभी लाभों सहित सर्वोच्च लक्ष्य अर्हत्व को भी प्राप्त कर सकती है[4]।

बौद्ध धर्म के माध्यम से स्त्रियाँ स्वतन्त्रता और सम्मान की पात्र बनी। यद्यपि उनके कार्य घरेलू, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों तक ही सीमित रहे तथापि सामान्यतः उनके उत्कर्ष की पुष्टि होती है[5]। उत्थान की इस प्रक्रिया के समानांतर ही युगों से चले आ रहे सामाजिक प्रतिबंध स्त्रियों की स्थिति में किसी प्रभावी परिवर्तन की प्रक्रिया को बाधित करते रहे। बौद्ध धर्म में स्त्रियों के अनुभवों में संघर्ष की प्रधानता रही। संघ में प्रवेश लेने एवं सम्मानजनक स्थिति बनाये रखने के लिये उन्हें सदैव संघर्षरत रहना पड़ा। विमाता महाप्रजापति गौतमी की प्रार्थना पर भिक्षुणी संघ की स्थापना को लेकर बुद्ध की हिचकिचाहट और चिंता के संदर्भ इसकी पुश्टि करते है[6]।

बुद्ध ने एक ओर आध्यात्मिक उत्कर्ष हेतु स्त्रियों की योग्यता में पूर्ण आस्था दिखाते हुए कहा कि स्त्रियाँ अर्हत्व प्राप्त कर सकती हैं वहीं दूसरी ओर स्त्रियों के संघ में प्रवेश को बौद्ध धर्म की प्रगति के संदर्भ में कटघरे में खड़ा करते हुए कहा कि बौद्ध धर्म, जो 1000 वर्षों तक उत्कर्ष के मार्ग पर अग्रसर रहता, और समाज में प्रभावशाली भूमिका का निर्वाह करता अब मात्र 500 वर्षों तक जीतिव रहेगा[7]। स्त्री समुदाय का बौद्ध संघ में प्रवेश सद्धर्म के लिए घातक बनेगा[8]। परन्तु इस धारणा बुद्ध की थी अथवा परवर्ती बौद्ध भिक्षुओं की, जो बुद्ध की दृष्टि में नारी समुदाय का महत्व कम दर्शाने के लिए इस वक्तव्य को अधिक महत्व देते रहे कहना कठिन है[9]। यह धारणा ने बौद्ध भिक्षुणियों को प्रभावित किया और भिक्षुणियों के लिए कुछ अतिरिक्त नियमों की व्यवस्था करके उन्हें सदैव के लिए भिक्षुओं का अधीनस्थ कर दिया गया।

भिक्षुणियों पर आरोपित अतिरिक्त नियमों में से अधिकतर को तार्किक दृष्टि से न्यायसंगत कहना कठिन है। इन नियमों के अनुसार एक वरिष्ठ चिरदीक्षित भिक्षुणी (जो 100 वर्षों से संघ में प्रवृजित हो) को भी सद्यःदीक्षित भिक्षु को अभिवादन करना आवश्यक था[10]। भिक्षुणी को प्रवृजित होने के लिए भिक्षु एवं भिक्षुणी संघ दोनों से अनुमति प्राप्त करनी होती थी जबकि भिक्षु भिक्षुणियों की अनुमति के बिना ही संघ में प्रवेश प्राप्त कर लेते थे[11]। भिक्षुणी को ऐसे स्थान में वर्षावास व्यतीत करने की अनुमति नहीं थी जहाँ कोई भिक्षु नहीं हो[12]। वर्षावास समाप्त होने पर भिक्षुणी को अपने पाप (यदि कोई हो) भिक्षु एवं भिक्षुणी दोनों संघों के समक्ष स्वीकार करने पड़ते थे[13]। किसी अपराध की दोषी होने पर भिक्षुणी को दोनों संघो से अपराध मुक्ति की प्रार्थना करनी होती थी[14]। भिक्षुणी भिक्षुसंघ को धार्मिक प्रवचन नहीं दे सकती थी जबकि चयनित भिक्षु ऐसा करने के अधिकारी थे[15]। यह नियम निश्चित रूप से भेदभावपूर्ण थे परन्तु स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति प्राप्त होना ही स्वयं में अत्यधिक महत्वपूर्ण था, जिसने उन्हें एक सम्मानजनक मार्ग दिखाया[16]। जिस पर चलकर वह अपनी एवं अन्य लोगों की आध्यात्मिक उन्नति का प्रयत्न कर सकती थी।

सामान्यतः भारतीय समाज में पुत्र का जन्म वांछित था और पुत्र के होते हुए पुत्री सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं हो सकती थी[17]। पुत्री जन्म पर पसेनदी को सांत्वना देते हुए बुद्ध कहते हैं– 'एक पुत्री बुद्धिमान गुणवान् हो सकती है। वह अपनी सास (सस्सुदेवा) का आदर करने

वाली, पतिव्रता हो सकती है एवं उसका भावी पुत्र महान् कार्यों को सम्पन्न कर सकता है[18]। बुद्ध के यह शब्द तत्कालीन समाज की आदर्श पत्नी एवं पुत्री धारणा को भी व्यक्त करते है।

स्त्री शिक्षा का प्रबन्ध तत्कालीन समाज में था निस्संदेह संगीत एवं नृत्य की शिक्षा उन्हें दी जाती थी। कतिपय प्रबुद्ध स्त्रियों के संदर्भ भी बौद्ध ग्रंथो में प्राप्त होते है परन्तु उनके छुट–पुट संदर्भ इस बात का प्रमाण हैं कि स्त्री शिक्षा को गंभीरता से नहीं लिया गया था। तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय में छात्रों के अध्ययन के तो प्रमाण मिलते है परन्तु एक भी छात्रा के अध्ययन का प्रमाण नहीं प्राप्त होता[19]।

बुद्ध ने इस तथ्य को स्वीकार किया कि पुरुषों के आध्यात्मिक उत्थान में स्त्रियों की भूमिका सक्रिय सहयोगी की होनी चाहिए। महावस्तु में बुद्ध के पूर्वजन्म के कुछ कथानकों में उनकी पत्नी सक्रिय सहयोगी रही[20] परन्तु यह भी विचारणीय है कि गौतम बुद्ध की पत्नी की उनके आंदोलन में महत्वपूर्ण भागीदारी नहीं थी यहां तक कि वह उनकी मृत्युशया पर भी उपस्थित नहीं थी।[21]।

स्त्री के मूल्यांकन का आधार उसका पति होता था[22]। मिलिन्दपन्ह में विधवा स्त्री की गणना उन दस व्यक्तियों में की गई है जो समाज में अपमानित होते है, जिनके विषय में कोई चिंता नहीं करता[23]। पत्नी का सर्वप्रथम कर्तव्य पति के प्रति पूर्ण समर्पण था, जो उसके लिए सदैव पूजनीय थ। पति के प्रति कर्तव्य के समुचित निर्वाह से ही उसे स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती था[24]।

सामान्यतः एक पत्नी प्रथा थी परन्तु बहुत से संदर्भ बहुपत्नी प्रथा की ओर भी संकेत करते है। ब्राह्मण महागोविन्द की चालीस[25], रथपाल की बहुत सी[26] और उग्ग गहपति की चार पत्नियाँ[27] थीं। यदि पति बहुत सी पत्नी रख सकते थे तो पत्नी को भी पारंपरिक रूप से संबंध विच्छेद एवं पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त था परन्तु संबंध विच्छेद एवं पुनर्विवाह[28] सामान्य परम्परा नहीं थी। सामान्यतः पत्नियाँ पति के मार्ग का ही अनुसरण करती थी[29]।

विधवा स्त्रियाँ सदैव भारतीय समाज में अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य रही हैं। पति की मृत्यु के उपरांत या तो वे गर्हित जीवन व्यतीत करती थी अथवा पति के साथ ही चिता में स्वयं को समाप्त कर देती थीं। विधवा पुनर्विवाह को भारतीय समाज में कभी भी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया। अंगुत्तर निकाय के एक उद्धरण से अप्रत्यक्ष रूप से विधवा विवाह की सूचना प्राप्त होती है। नकुल की माता अपने पति की रुग्णावस्था में उसे आश्वासन देती है कि सोलह वर्षों के सुखी वैवाहिक जीवन के बाद वह किसी दूसरे पुरुष को नहीं अपनायेगी[30]। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ भाग्यशाली विधवाएं पति की मृत्यु के बाद पुनर्विवाह कर शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करती थीं परन्तु सामान्यतः यह अवसर सभी को सुलभ नहीं था। हमें बुद्ध[31], सुदीम[32], रथपाल[33] के संदर्भों से ज्ञात होता है कि उनकी पत्नियाँ उनके भिक्षु जीवन अपनाने के बाद भी अपने गृहस्थ जीवन के दायित्वों का निर्वाह अकेले ही कर रही थी। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि

हमें बौद्ध ग्रंथों में विधवा विवाह के कम और ऐसी स्त्रियों के पुनर्विवाह के अधिक उदाहरण मिलते हैं जो विधवा नहीं थी[34]। संभवतः पुनर्विवाह में कोई सामाजिक या धार्मिक बाधा नही थी परन्तु विधवा विवाह को एक परंपरा के रूप में कभी भी अपनाया नहीं जा सका था।

स्त्रियों को स्वतंत्रता देने की दिशा में भी कुछ प्रगति हुई थी। वस्तुतः स्त्रियों की मुक्ति की तीव्र इच्दा ही बुद्ध वचनों एवं सिद्धान्तों के प्रति उनके आकर्षण का मुख्य कारण थी। थेरी गाथा में मुक्ति के लिए स्त्रियों के संघर्ष और उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों के अनेक संदर्भ प्राप्त है[35]।

बौद्ध ग्रंथों में प्राप्त वैवाहिक संदर्भ बताते हैं कि विवाह में स्त्री ही नही पुरुष के मत की भी कोई मान्यता नहीं थी[36]। इस विषय में दोनों परिवारों के वरिष्ठ सदस्य ही निर्णय लेते थे। दोनों स्त्री पुरुष के परिवारों में पुरुष परिवार के सदस्य प्रतिष्ठा की दृष्टि से श्रेष्ठ समझे जाते थे। स्त्री के परिवार जनों को दहेज (वत्थु) की भी व्यवस्था करनी पड़ती थी।

अल्पायु में विवाह (बाल विवाह) एवं कन्या का मूल्य लेने की कुप्रथा भी समाज में प्रचलित थी। मिलिन्दपन्ह के संदर्भ से इस तथ्य की पुष्टि होती है – ''महाराज ! कोई आदमी एक छोटी लड़की से विवाह कर उसके लिए रूपये देकर कहीं दूर चला जाए। कुछ दिनों बाद कोई दूसरा आदमी रूपये देकर उससे विवाह कर ले। इसके बाद पहला आदमी आकर कहे– 'तुमने मेरी स्त्री को क्यों ले लिया?' इस पर वह ऐसा उत्तर दे मैने तुम्हारी स्त्री को नहीं लिया। वह छोटी लड़की दूसरी ही थी जिसके साथ तुमने विवाह किया था और जिसके लिए रुपये दिये थे। वह सयानी और युवा स्त्री दूसरी ही है जिसके साथ मैने विवाह किया है और जिसके लिए रुपये दिये है[37]।

घरेलू कार्यों के अतिरिक्त तत्कालीन अर्थव्यवस्था में भी महिलाओं की भागीदारी थी। वे धान के खेतों की रखवाली[38], कपास के खेतो की देखभाल[39], श्मशान की चौकीदारी[40] करती थीं। स्त्री नट[41], संगीतकार[42], नर्तकी[43], घरेलू दासी[39], एवं वेश्याओं[45] के संदर्भ बौद्ध ग्रंथों में प्राप्त होते है। यद्यपि बौद्ध साहित्य में उनकी खुलकर निन्दा नहीं की गई है तथापि उन्हें दयनीय और प्रतिष्ठा की दृष्टि से गर्हित जीवन व्यतीत करने वाली कहा गया है[46]। मिलिन्दपन्ह में प्राप्त व्यवसायों की लम्बी सूची में उनका उल्लेख अंतिम व्यवसायों में होना भी इसी ओर संकेत करता है कि इस व्यवसाय को सामाजिक सम्मान नहीं प्राप्त था[47]।

यद्यपि स्त्रियाँ अनेक व्यवसायों में संलग्न थीं तथापि उन्हें किसी महत्वपूर्ण राजनीतिक या सामाजिक पद प्राप्त होने के प्रमाण बहुत कम प्राप्त होते है। सम्भवतः निर्धनवर्ग की स्त्रियां कृषि एवं उत्पादन के अन्य कार्यों में अपनी पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पुरुषों की सहायक के रूप में जुड़ी थी परन्तु उनकी आर्थिक गतिविधियों ने अप्रत्यक्ष रूप से उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त करने में सहायकता की।

राजनैतिक क्षेत्र में स्त्रियों ने कुछ प्रगति की थी। गौतम बुद्ध ने प्रशासनिक एवं राजनैतिक कार्यों में रुचि नहीं ली। राजनैतिक विचारकों में से कुछ स्त्रियों के प्रशासन में भाग लेने के पा में थे। जातक में प्राप्त एक संदर्भ के अनुसार बनारस के राजा के संन्यास लेने के बाद प्रजा के अनुरोध पर उसकी रानी द्वारा प्रशासन का दायित्व संभालने का संदर्भ प्राप्त होता है[48] परन्तु समाज की सामान्य विचार धारा स्त्रियों के राजनीति एवं प्रशासन में भाग लेने के विरुद्ध थी[49]।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था, स्त्रियों की स्थिति एवं उनके प्रति बौद्ध अवधारणा का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि बुद्ध की समदृष्टि ने स्त्रियों के आध्यात्मिक उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त किया[50]। यही नहीं थेरवादी साहित्य में कुछ धर्म ग्रंथ स्त्रियों द्वारा उपदिष्ट है[51]। महिलाओं को सामाजिक प्रतिष्ठा एवं स्वतन्त्रता भी प्राप्त हुई। बुद्ध ने इस बात पर बल दिया कि स्त्रियाँ भी पुरुषों के अनुसार अपने पिछले कर्मों का फल प्राप्त करती है और अपने अच्छे या बुरे भविष्य के लिए वे स्वयं उत्तरदायी है। बौद्ध मान्यता ने इस विश्वास पर भी आघात किया कि मृत्यु के बाद स्वर्ग प्राप्ति के पुत्र आवश्यक है क्योंकि उन्होंने स्वर्ग प्राप्ति हेतु व्यक्तिगत प्रयत्नों को महत्व दिया जिससे पुत्रियों की स्थिति स्वतः ही दृढ़ हुई। बुद्ध ने उन परंपराओं की अवहेलना की जिनमें स्त्रियों की स्थिति अधीनस्थ की थी और जिनमें निस्संतान महिलाओं एवं विधवाओं के लिए कोई स्थान नहीं था। उन्होंने आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्ति को लेकर स्त्री–पुरुष के बीच कोई भेदभाव नहीं किया। भिक्षुणी संघ को सभी वर्गो की महिलाओं के लिए खोल दिया यहां तक कि एक गणिका भी संघ में प्रवेश पा सकती थी। उन्होंने आम्रपाली का भोजन हेतु निमन्त्रण स्वीकार किया और बिना किसी संकोच के उसे संघ में प्रवेश की अनुमति दी।

भिक्षु एवं भिक्षुणियों को दी जाने वाली शिक्षा में कोई भेदभाव नहीं था परन्तु यह एक तथ्य है कि संघ व्यवस्था में भिक्षुणियों का स्थान भिक्षुओं से निम्न था। बुद्ध ने स्वयं भी बौद्ध धर्म में स्त्रियों की कठिनाइयों में बृद्धि की। भिक्षुणी संघ की स्थापना को लेकर उनकी दुविधा पूर्ण मनोवृत्ति,संघ में स्त्रियों का सशर्त (आठ नियमों को स्वीकार करने पर) प्रवेश, उन्हें अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण स्थान देना, स्त्रियों को आधिकारिक महत्व का स्थान देने में उनका विरोध वह बाधाएं थीं, जिनका बौद्ध भिक्षुणियों ने सामना किया। संभवतः बुद्ध भी तत्कालीन समाज के परंपरागत विचारों से प्रभावित एवं महिलाओं के अवमूल्यन की सामाजिक मनोवृत्ति के साझीदार थे। सामाजिक अवमानना एवं आरोपित अधीनता ने स्त्रियों को महत्वपूर्ण सामाजिक एवं धार्मिक विकास के विषयों में हाशिये पर कर दिया।

संदर्भ सूची

1. सिन्हा, एस.एन. एवं बसु, एन.के. वूमेन इन एंश्येंट इण्डिया पृ. 160, दिल्ली 2002
2. वत्स,एस. एवं मुद्गल, शकुन्तला (संपा.) वूमेन एण्ड सोसायटी इन एंश्येंट इण्डिया पृ. 185, हरियाणा, 1999.
3. सिन्हा एस.एन. एवं बसुत्र एन.के. पूर्वोदत पृ. 178
4. अंगुत्तर निकाय **IV** 276, विनयपिटक।।. 254
5. हार्नर, आई.बी. वूमेन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज्म पृ. 84 राय कुमकुम द्वारा संपादित वूमेन इन अली इण्डियन सोसायटीज नई दिल्ली 1999
6. महात्मा बुद्ध की विमाता महाप्रजापति गौतमी ने उनसे भिक्षुणी संघ की स्थापना हेतु तीन बार प्रार्थना की परन्तु उन्होंने उनकी प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया। तदुपरान्त अपने प्रिय शिष्य आनंद के अनुरोध पर बुद्ध भिक्षुणी संघ की स्थापना के लिए सहमत हुए।
7. चुल्ललवग्ग द्रष्टव्य सैकेंड बुक्स आव दि ईस्ट वाल्यूम XX, पार्ट।।।. पृष्ठ 320–22,,. चुल्लवग्ग X।.।., X.1.2X.1,3. पृ. 320–22 1.6, सेकरेड बुक्स आव दि ईस्ट पृ. 325
8. वार्डर ए.के. इण्डियन बुद्धिज्म, पृ. 60 दिल्ली
9. बुद्ध के इस कथन की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। महापरिनिबानसुतान्त के अनुसार बुद्ध ने ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त व्रत लिया कि वे उपासक, उपासिका, भिक्षु एवं भिक्षुणी संघ की स्थापना एवं सफलता के बाद ही जीवन का त्याग करेंगे। संभवतः विनयपिटक परिवर्ती भिक्षुओं की मानसिकता को व्यक्त करता है जिसे प्रामाणिक बनाने के लिए उन्होंने इस वक्तव्य को बुद्ध वचन से जोड़ दिया। दृष्टव्य वत्स एस. एवं मुद्गल शकुन्तला (संपा) पूर्वोद्धत पृ. 185
10. भिक्षुणी समुदाय के लिए निर्धारित आठ गुरु धर्मो के लिए दृष्टव्य चुल्लवग्ग का भिक्षुणी रवन्दक, सेकरेड बुक्स आव दि ईस्ट वाल्यूम XX पृ. 322–24
11. तदैव
12. तदैव
13. तदैव
14. तदैव
15. तदैव

16. अल्केटकर, ए.एस., दि पोजीशन आव वूमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ. 209 दिल्ली 1959.

17. दीघ निकाय, ।। पृष्ठ 331, संपा. रीज डेविड्स, टी. डब्लू एवं जे एस्टलिन कार्पेन्टर, पी. टी. एस. लंदन, 1890–1991

18. संयुत्त निकाय ।, पृ. 86

19. भट्टाचार्य, बेला, बुद्धिस्ट वूमेन सेंटस ऑव इण्डिया पृ. 45, कलकत्ता 2000.

20. महावस्तु– 11–48, 11. 67, 11. 69, 11. 83, 11.89 11.94.

21. हरदयाल, दि बोधिसत्व डाक्टरिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर पृ. 224 दिल्ली 1970

22. अल्टेकर, ए.एस. पूर्वोद्धत पृ. 353

23. मिलिन्दपन्ह (भागिनी सम) 3.2 पृ. 205

24. अंगुत्तर निकाय के एक संदर्भ में बुद्ध अनाथपिण्डक की पुत्रवधु सुजाता को सात प्रकार की पत्नियों के विषय में बताते हुए कहते है कि इनमें से अंतिम चार अर्थात् माता के समान पत्नी (मातुसम) बहिन के समान पत्नी (भागिनी सम) साथी के समान पत्नी (साथी सम)एवं दासी के समान पत्नी (दासी सम) ही गुणगान होती है एवं मृत्यु के उपरांत स्वर्ग की अधिकारिणी होती है। सुजाता दासी के समान पत्नी (ऐसी पत्नी जो शांत, धैर्यवान और आज्ञाकारिणी हो। यहाँ तक कि पति से मार खाने पर भी जो धैर्य न खोये) होना स्वीकार करती है। दृष्टव्य अंगुत्तर निकाय IV पृ. 92–93.

25. दीघ निकाय।।. पृ. 239

26. मज्झिम निकाय।।. पृ. 64, पत्नियों की संख्या का उल्लेख प्राप्त नहीं है।

27. अंगुत्तर निकाय **IV** पृ. 210

28. उग्ग गृहपति ने प्रवृजित होते समय अपनी चारों पत्नियों से कहा कि यदि वे किसी पृरुष के साथ जाना चाहें तो वह उन्हें इसकी अनुमति दे देगा। उनकी वरिष्ठतम पत्नी ने एक व्यक्ति से विवाह की इच्छा प्रकट की जिसे उग्ग गृहपति ने पूरा किया। अंगुत्तर निकाय ।।पृ. 245

29. जब ब्राह्मण पुरोहित महागोविन्द प्रवणित हुआ तो उसने भी अपनी 40 पत्नियों के सामने यही विकल्प (कि वह जिससे चाहे पुनर्विवाह कर सकती हैं) रखा। दृष्टव्य दीघ निकाय ।।पृ. 296

30. अंगुत्तर निकाय ।।. पृ. 61, ।।।. पृ. 296

31. विनयपिटक । पृ. 82

32. तदैव ।।।. पृ. 17

33. मज्झिम निकाय ।।. पृ. 64

34. इसिदासी ने तीन बार विवाह किया पर 408–425, काना के पति द्वारा दूसरी स्त्री से विवाह करने पर उसके पुनर्विवाह का संदर्भ प्राप्त है धम्मपाद टीका पद 8, एक संदर्भ में पत्नी के संबंधियों द्वारा पति एवं पत्नी को संबंध विच्छेद एवं पुनर्विवाह के लिए बाध्य किये जाने का विवरण भी मिलता है मज्झिम निकाय ।।, 109

35. थेरीगाथा।

36. वागले, नेरन्द्र, सोसायटी एट दि टाइम आव बुद्धा पृ. 96 बाम्बे 1988

37. मिलिन्दपन्ह ।।. 2.6

38. धम्मपाद टीका पद 118

39. जातक 548

40. थेरीगाथा 221

41. धम्मपाद टीका पद 348

42. गौतमबुद्ध के गृहत्याग से पहले उनके मनोरंजन के लिए स्त्री संगीतकार नियुक्त थीं मज्झिमनिकाय ।. 504, यशराज वर्षा के चार माह स्त्री संगीतकारों के साथ ही व्यतीत करता था महावग्ग ।।।. 7

43. जातक 539

44. थेरीगाथा 145, 341

45. थेरीगाथा 72–76, सुत्तनिपात ।. 144, धम्मपाद 21–23, महावग्ग **VIII**.–1.4

46. मिलिन्दपन्ह **IV.** 1.5

47. तदैव **V.** 4.1

48. जातक **IV** 5

49. मज्झिमनिकाय **III** 65–66

50. थेरीगाथा में ऐसी अर्हत्व प्राप्त भिक्षुणओं के अनुभवों का विवरण प्राप्त है।

51. भिक्षुणी धम्मदिन्ना का अपने पति को दिया गया उपदेश इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। बुद्ध ने एतदग्ग वग्ग में धर्मोपदेशिकाओं में धम्मदिन्ना को अग्रगण्य कहा है। अंगुत्तर निकाय एकेक निपात 14

आत्महत्या एक वर्जना

डॉ0 श्रीमती यामा खोखर
सहनिदेशक, गो0ब0प0
कृषि एवं प्रो0 विश्वविद्यालय
पन्तनगर

वर्तमान समय में व्यक्ति अनेक समस्याओं से जूझ रहा है। मानव स्वभाव ऐसा है कि वह समस्याओं से जूझता हुआ उनका निदान भी निकालता रहता है परन्तु व्यक्ति की कुछ अवस्थाएं और समझयाएं ऐसी भी हैं जिनके आगे वह हथियार डालने को मजबूर हो जाता है और आत्महत्या की ओर अग्रसर हो जाता है।

युवावस्था मैं ऐसा शायद ही कोई युवा हो जो कभी न कभी जीवन के इस सोपान पर स्वयं मर जाने के बारे में न सोचता हो। क्योंकि सभी कुछ उसकी इच्छाओं एवं आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं होता और वह सोचता है कि संसार उसके लिए उपयुक्त नहीं हैं उसे मरही जाना चाहिए। इसका कारण चाहे परीक्षाओं में अच्छे अंक न आ पाना, भविष्य अंधकारमय दिखायी देना, प्रेम में असफल होना, पारिवारिक समस्याएं आदि कुछ भी हो सकता है। इन समस्याओं कसे कुछ युवा तो सफलतापूर्वक निबटते रहते है और जो जूझने का प्रयास नहीं कर पाते वे आत्महत्या कर लेते हैं। जब कभी भी युवा आत्महत्या की ओर अग्रसर होता है तो यह उसका समाज से व स्वयं से समायोजन न कर पाना ही है। आत्महत्या की ओर अग्रसर हो जाना स्वयं को अस्वीकार करना ही नहीं वरन् व्यक्ति की अपनी जीवन परिस्थितियों से निराशा का द्ययोतक भी है। आत्महत्या को व्यक्ति कभी तो अचानक अंगीकार कर लेता है और कभी यह प्रक्रिया लंबा समय लेती है।

कभी–कभी व्यक्ति उम्मीद करता है कि मैं इस प्रकार का व्यवहार करके दूसरों की सहानुभूति प्राप्त कर लूंगा या दूसरे लोग मेरे इस व्यवहार को देखकर सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने लगेंगे। युवावस्था मं की जाने वाली आत्महत्या के कुछ प्रमुख कारण हैं। आमतौर पर अधिकतर आत्महत्या की घटनाओं में दबाव की परिस्थितियों में युवा अचानक पराजित महसूस करता है और गहन निराशा में चला जाता है या बहुत अधिक गुस्सा करता है या प्रतिरोध के प्रति विद्रोह कर देता है। ऐसे अक्सर डराने के इरादे से किया जाता है। और प्रयास किया जाता है कि प्रतिरोध करने वाला व्यक्ति उसके आत्महत्या करने के प्रयास से डर जाए और उसके प्रति अपना व्यवहार परिवर्तित कर लें। यह प्रयास एक तरह से माता–पिता या जो उसे प्यार करते हैं उनके लिए चेतावनी दिए जाने के इरादे से किया गया प्रयास होता है कि वह उनके व्यवहार से असंतुष्ट है, नाखुश है। ऐसे प्रयास के पीछे वर्तमान परिस्थितियों में अच्छे संबंध स्थापित करने का अधिकतर असफल प्रयास होता है। / जैकोवजाइनर[1]।

आत्महत्या करने वाले का व्यक्तित्व

विभिन्न आयु के व्यक्तियों पर किये गए अध्ययनों से पता चलता है कि वे सभी व्यक्ति जो आत्महत्या करते हैं उन सभी में मुख्यतः एक विशेषता सामान्य पायी गयी कि वे कठोरता से स्वयं को अस्वीकार करते पाये गये हैं। स्वयं की अस्वीकारोक्ति बहुत सी असफलताएं जो उनके जीवन में आकर इकठ्ठी होती जाती हैं, का ही परिणाम है। अक्सर वे दृढ़ता के साथ यह निश्चय कर लेते हैं कि ये असफलताएं उनकी स्वयं की गलतियों या कमियों के कारण ही हैं। कभी कभी जब व्यक्ति बहुत अकेला हो जाता है या स्वयं को अपनी असफलताओं या कमियों के कारण समाज से स्वयं को अलग कर लेता है। इसी असावधानी के कारण व्यक्ति अत्यधिक चिन्तित और निरीह महसूस करता है। अक्सर वह स्वयं को किसी भी समस्या से निबटने में असहाय पाता है और धारणा बना लेता है कि वह कुछ नहीं कर सकता। यह झूठा विश्वास व्यक्ति में और दृढ़ होता जाता है जो स्वयं में ही उसे छलता रहता है। वह समझता है कि उसके आसपास व समाज के लोग उसे नाकारा मानते हैं। इसी अपराध बोध और शर्म के कारण वह आत्महत्या की ओर अग्रसर हो जाता है। अधिकतर व्यक्ति जो आत्महत्या करते पाये गये हैं यदि उनकी आत्महत्या से पूर्व की जिन्दगी को ध्यान से देखा जाए तो वे लम्बे सयम से बात–बात पर उद्विग्न हो जाना, अलग सा रहना, निरीह सा महसूस करना जैसी समस्याओं से ग्रस्त रहते पाये गये। वे अपने बीमार व्यक्तित्व से ग्रसित रहे और वे अधिकतर इसी ओर बढ़ते गए जब तक कि उन्होंने स्वयं को त्याग नहीं दिया। आत्मतिरस्कार की स्थिति के कारणों के अतिरिक्त चिन्ता और निराशा की स्थितियाँ, तथा अत्यधिक अनुपयुक्तता एवं तुच्छता की भावना एवं असहाय महसूस करने की स्थति व्यक्ति को परिस्थितियों का सामना करने में निरन्तर कमजोर करती रहती हैं। स्वयं को परस्थितियों के प्रति जिम्मेदार समझना तथा सदैव शर्मशार रहना आत्महत्या की सोच अग्रसारित करता है। ऐसा देखने में आया है कि आत्महत्या करने वाले व्यक्ति खोया–खोया रहने, सभी आयोजनों से स्वयं को अधिकतर अलग रखने एवं चिंताओं से घिरे हुए पाए गये हैं।

आत्महत्या में शोचनीय समय

एक समय ऐसा आता है जब आत्महत्या करने के प्रयास के घटित होने की संभावना अधिक होती है इस खतरनाक समय में सभी प्रकार के समायोजन क्षीण स्थिति में होते हैं तथा भावनात्मक तनाव पराकष्ठा पर होता है। छोटी छोटी समस्याएं जिन्हें सामान्य व्यक्ति सहज रूप से हल कर लेता है उन्हें कमजोर भावनात्मक समायोजन वाला व्यक्ति कर पाने में अक्षम महसूस करता है। और जब वह देखता है कि उसकी परेशानियाँ बढ़ती ही जा रही हैं तो तेजी के साथ उसका आत्म विश्वास कम होता है कि वह निरन्तर असंतुलन के अंधकार में जा रहा है। युवाओं में यह समस्या शिक्षा, नौकरी एवं प्यार को लेकर जीवन के उच्चतम खतरों में शुमार हो जाती है। यह प्रवृत्ति 14 से 20 वर्ष के मध्य अत्यधिक पायी जाती है। इसी समयान्तराल

में किशोरों को नयी परिस्थितियों एवं सामाजिक अपेक्षाओं के साथ सामंजस्य स्थापित करने की विशिष्ट आवश्यकता होती है। यदि इस अंतराल में किशोर अपने समायोजन को सफलतापूर्वक अंजाम दे पाने में समर्थ होता है तो आत्महत्या करने की प्रवृति सार्थक रूप से क्षीण होती चली जाती है।/ एडमम्स[2]/ बास्टर[3]/ हेडर [4]/

महिलाओं के लिए सबसे कठिन समय उनकी मध्य आयु 45 से 55 वर्ष के बीच का होता है। यह समय बहुत से कारणों से समायोजन में बाधायें पैदा करता है जैसे बच्चे बड़े हो जाते हैं अच्छे रोज़गार की तलाश में इधर उधर भटकते हैं। कई बार अच्छी नौकरी न मिल पाने के कारण उनके विवाह संस्कारों का समय पर न हो पाना सदैव माता के लिए चिंता का विषय रहता है। उपरोक्त दोनों ही कारणों से महिला स्वयं को अनुपयोगी, अनावश्यक एवं असहाय करार दे देती है। उपरोक्त बातें इकट्ठा होकर पूर्व स्थित कुसमोयाजन को और बढ़ा देते हैं। यह कारण बहुत से संदर्भों में आत्हत्या को बढ़ावा देता है। पुरुष उपरोक्त के विपरीत इतनी सहजता से आत्महत्या के प्रति ग्राह्यय नहीं है। वह सेवानिवृत्ति या 65 वर्ष के आसपास इन भावनाओं से ग्रस्त होताहै। इस आयु में अक्सर वह महसूस करता है कि उसकी उपयोगिता समाप्त हो गयी है और वह अपने शारीरिक स्वास्थ्य एवं क्षमताओं मे लगातार गिरावट को अपनी अनुपयोगिता से सम्बद्ध करता पाया गया है। यह सभी बातें उसके पहले से चले आ रहे कुसमायोजन के साथ जुड़कर उसे आत्महत्या की सोच की ओर अग्रसर करती हैं। अंततः व्यक्ति सोचता है कि यही उसकी समस्याओं का निदान है।

आत्महत्या ग्रस्तता में लैंगिक व अन्य विभिन्नताएं

देखने में आया है कि महिलाओं व बच्चों की अपेक्षा पुरुष सभी आयुवर्गों में अधिक आत्महत्या विचारों से ग्रस्त पाये गये। यह इसलिए नहीं कि पुरुष महिला और बच्चों की अपेक्षा अधिक कुसमोयोजित हैं बल्कि इसलिए कि जन्म से उन्हें इसप्रकार से प्रशिक्षित और उत्साहित किया जाता है कि वह बहुत बहादुर हैं और वे सभी तनावपूर्ण परिस्थितियों में तीव्र क्रोध के साथ समस्याओं का सामना करने की क्षमता रखते हैं। जबकि भारत ही नहीं विश्व की सभी संस्कृतियों में लड़की और महिलाओं को अधिकतर सभी परिस्थितियों में सौम्य एवं शालीनता प्रदर्शित करने की सीख दी जाती है।

आत्महत्या का विचार अधिकर ऐसे व्यक्तियों में जागृत होता पाया गया है जो स्वयं को असफल करार देते हैं। जब व्यक्ति अपनी सफलताओं एवं उपलब्धियों का मूल्यांकन सदैव अपनी अपेक्षाओं एवं किये गए सार्थक प्रयासों से कम आंकलित करताहै तो अपने को सदैव एक निकृष्ट प्राणी समझने की ओर ले जाता है। अक्सर ऐसी समस्यायें विद्यालयों एवं कॉलेजों में बच्चों द्वारा अपने आंकलन एवं प्र्प्तांकों में अंतर के कारण उत्पन्न हो जाती है जो उन्हें आत्महत्या विचार की ओर अग्रसर करती है। पाया गया है कि ऐसे लोग जो आत्मकेन्द्रित एवं सनकी हैं वे समाज में पूर्ण रूप से घुले मिले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक आत्महत्या विचार केन्द्रित हैं। ऐसा भी पाया

गया है कि विचार, संवेग एवं व्यक्तित्व में अस्थिर व्यक्ति सभी आयु में स्थिर व्यक्तियों की अपेक्षा आत्महत्या विचार से अधिक ग्रस्त हैं। / हूर्ष[5]।

आत्महत्या के प्रति सांस्कृतिक एवं सामाजिक धारणा

आत्महत्या के प्रति विभिन्न संस्कृतियों में अलग प्रकार की धारणाएं हैं। विश्व की कुछ पुरानी संस्कृतियां आत्महत्या को व्यक्तिगत एवं पारिवारिक सम्मान के रूप में लेती हैं जबकि अधिकतर नवीन संस्कृतियाँ इसे व्यक्ति एवं परिवार के लिए अगरिमापूर्ण व्यवहार का सूचक मानती हैं। यदि किसी एक संस्कृति के अन्दरविभिन्न समूहों को देखें तो स्थिति स्पष्ट होती है कि समूह का स्थायित्व उसके सदस्यों में आत्महत्या विचार को पनपने में असहयोग करता है। आत्महत्या की अधिकतर घनाएं शहरी क्षेत्र एवं परिवारों के उच्च एवं मध्य वर्ग का पर्याय बन चुकी हैं। जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसी घटनाएं बहुत ही कम घटित होती हैं। इस संदर्भ में ग्रामीण और शहरी सोच में भारी अंतर देखा गया है। ग्रामीण क्षेत्र में आत्महत्या विचारों के प्रति सम्पूर्ण समाज का भारी तिरस्कृत भाव जागृत होता पाया गया है। /नोयस[6]/रैसनिक[7]/। धर्म भी विभिन्न प्रकार से आत्महत्या विचारों को अर्थ प्रदान करता है। यदि प्राचीन साहित्य का अवलोकन करें तो पुराने धर्म एवं संस्कृतियाँ भी आत्महत्या को अस्वीकार करते हुए पाये गए हैं। लोग हमारी संस्कृति में अच्छी तरह से वाकिफ हैं कि समाज आत्महत्या के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखता है। यदि आत्महत्या करने वाला व्यक्ति जीवित बच जाता है तो उसे सदैव आत्मतिरस्कृतता से ग्रसित रहना पड़ता है और यदि मर जाता है तो समाज की तिरस्कार भावना उसके परिवार को लंबे समय तक एक कलंक के रूप में सहन करती होती है।

आत्महत्या की रोकथाम

प्रश्न उठता है क्या किया जाये यदि कोई आपसे कहे कि वह आत्महत्या की सोच रहा है। आप यह सुन कर घबरा भी सकते हैं, बेचैन हो सकते हैं और सोच सकते हैं कि मेरे ऊपर एक अनावश्यक भार मात्र ऐसा सुनने से आ गया है और ऐसा निश्चित रूप से होता भी है। ऐसी परिस्थितियों में व्यक्ति को मानसिक स्वास्थ्यकर्ता से सलाह लेने को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए या फिर आप इस संदर्भ में मानसिक चिकित्सक से जितना शीघ्र हो सके संपर्क करें। लेकिन अक्सर पाया गया है कि आत्महत्या विचारग्रसित व्यक्ति किसी दूसरे से बात करने से मना कर देता है। ऐसी परिस्थितियों में आपको कुछ निम्नलिखित कदम अवश्य उठाने चाहिए।

1. व्यक्ति को उसके निर्धारित स्थान से बाहर ले आइए और पूछिए क्या चल रहा है तुम्हें कहाँ से आघात पहुँचा है क्या तुम घटना का अवलोकन करना चाहोगे ऐसे प्रश्न व्यक्ति को उसकी कुंठाओं को बाहर निकालने में मदद करते हैं तथा मानसिक शांति प्रदान करते हैं। साथ ही साथ आपको खतरे का आंकलन करने तथा आगे सोचने का समय मिल जाता है।

2. सहानुभूतिपूर्वक विचारशीलता प्रदर्शित कीजिए और यह प्रदर्शित करने का प्रयास कीजिए

कि व्यक्ति कितना परेशान एवं विचलित है, लेकिन ऐसा कहिए मत, बस मात्र ऐसा उसको एहसास कराइए। उसे मत कहिए कि तुम कमजोर हो गए हो।

3. आत्महत्या विचारग्रस्त व्यक्ति को आत्महत्या के अतिरिक्त दूसरे समस्या समाधान के तरीके समझाइए। यद्यपि ऐसे सुझाये गए तरीके पूर्णतया तत्काल प्रामाणिक नहीं होते। ऐसी परिस्थितियों में आत्महत्याग्रस्त व्यक्ति दो ही उपाय अपनी समस्या समाधान के मानता है एक मृत्यु तथा दूसरा करिश्माई समाधान। कोशिश कीजिए कि व्यक्ति की मानसिक अवरोधकात्मकता को दूर कर उसकी सोच को विस्तृत किया जा सके।

4. जानने की कोशिश कीजिए कि वह आत्महत्या कैसे करने जा रहा था, उसकी क्या निर्धारित योजना थी। क्या किसी हथियार, द्रव्य आदि का इस्तेमाल करने वाला था। कई बार व्यक्ति विश्वास में आकर बता देता है। ऐसी स्थिति में यदि संभव हो, हथियार, द्रव्य आदि अपने कब्जे में ले लीजिए।

5. पीड़ित व्यक्ति को मनोचिकित्सक की सहायता हेतु चलने के लिये कहें जिसके लिए उसे अस्पताल के किसी आपातकालीन कक्ष या परिसर सुझाव एवं सहायकता केन्द्र ले जाए। आवश्यक हो तो पुलिस की सहायता भी ले सकते हैं। बड़े शहरों में कुछ हाटलाइन उपलब्ध हैं जो आत्महत्या रोकथाम केन्द्रों तक ऐसे विचार पीड़ित व्यक्ति को पहुँचाने में सहायता करती है।

6. पीड़ित व्यक्ति से शब्द ले लीजिए कि वह पुनः आत्महत्या जैसा कोई कार्य दोबारा उससे मिले बिना नहीं करेगा। एक निर्धारित स्थान और निश्चित समय मिलने के लिए तय कर लें। आत्महत्या ग्रस्त व्यक्ति के करीब रहिए जब तक उसको कोई सहायता उपलब्ध न हो जाए।

7. पीड़ित व्यक्ति को आत्महत्या का भयावह वर्णन करते हुए उसे कमजोर या अत्यधिक महत्वाकांक्षी न कहें। परिवार के विशिष्ट लोगों जैसे माता, पिता, पति, पत्नी आदि से बात करने या संपर्क करने के लिए दबाव न दें। इन लोगों से किसी भी प्रकार के द्वन्द्व आत्महत्या की सोच को पुनः जागृत कर सकते हैं।

कुछ व्यावहारिक बातें

1. स्वयं कुछ कहने के बजाय उसको ध्यान से सुनिए। उसको झूठी सांत्वना न दें।

2. आत्महत्याग्रस्त व्यक्ति की किसी भी चेतावनी को अनदेखा न करें।

3. पीड़ित व्यक्ति यदि आपके पास आता है और बात करना चाहता है तो उससे अवश्य बात कीजिए और जानने का प्रयास कीजिए कि वह आत्महत्या क्यों करना चाहता है कभी भी भय एवं घृणा के साथ प्रतिक्रिया न दें। पीड़ित व्यक्ति से कभी ऐसा न कहें कि सब कुछ ठीक चल रहा है। सब ठीक हो जायेगा।

4. परिवार के किसी भी व्यक्ति से मिलने के लिए बाध्य न करें जिससे वह मिलना नहीं चाहता हो। घटना गुजर जाने के बाद पीड़ित व्यक्ति पर नाराज न हों, कोई गलत प्रतिक्रिया न दें।

5. आत्महत्या ग्रस्त व्यक्ति की तनावग्रस्त परिस्थितियों से बाहर आने में सहायता करें।

6. आपका प्रमुख उद्देश्य उपरोक्त सभी बातों के बावजूद किसी मनोचिकित्सक से सम्पर्क करना है।

अतः समय गंवाये बिना परिस्थिति को नियंत्रित कर सहायता देने वाली संस्था से संपर्क करें।

संदर्भ :

1- JecoveniZer H. Attempted sucides in adolescence by poisioning. Amer. J. Psychother. 1965, 19, 247-252.

2. Adems, K.S. : Sucide : A critical review of the literature Canad. Psychiat. Ass. J., 1967, 413-420.

3. Bartrr, J.T., D.O. Swabach, and D. Todd: Adolescent sucide attempts. 1968, 19, 523-527.

4. Haider, i. : Sucidel atempts in children and adolescents. 1968, Brit J. 114, 1144-1134.

5. Hirsh, J. : Ment Hyg., N.Y., 1969, 43, 516-525.

6. Noyes, R : The taboo of sucide. 1968, 31, 173-183.

7. Resnick, H.E. (Ed): Sucidel Behaviors : Diognosis and management, 1968.

सुश्रुतोक्त पंचकर्म

डा० सुनील कुमार जोशी रीडर एवं विभागाध्यक्ष
शल्य तंत्र विभाग राजकीय आयुर्वेदिक कालेज चिकित्सालय
गुरुकुल कांगडी, हरिद्वार

मनुष्य की प्रकृति है कि वह अपने स्वास्थ्य को ठीक करने एवं रोगनिवृत्ति के लिये सतत प्रयात्नशील रहता है। इसलिये अनेक प्रकार की औषधियों एवं खान पान की वस्तुओं को आवश्यकतानुसार एवं सुविधानुसार प्रयोग करता रहता है। वेसे तो इस शरीर को 'व्याधि मन्दिर कहा गया है। परन्तु ऋतु परिवर्तन से होने वाले रोग सामान्य उपायों से ठीक हो जाते है। इसके विपरीत बदलती जीवन शैली और खान–पान के कारण वर्तमान समय में स्वास्थ्य समस्या तेजी से बढी है। पर्यावरण प्रदूषण, औद्योगिक एवं आतंकवादी दुर्घटनायें,युद्व की विभीषिका से निज एवं आगन्तुक रोग तेजी से बढे है। वातावरण मे होने वाले परिवर्तनों का मौसम पर भी विपरीत प्रभाव पड़ा है। इसके लिये विभिन्न रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक औषधियों का अंधाधुंध, अविवेकपूर्ण प्रयोग उत्तरदायी है। जल, वायु, मिट्टी, ध्वनि का प्रदूषण अनेकानेक रोगों का कारण है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के विकास की इस चरमोत्कर्ष अवस्था में भी सबके लिए स्वास्थ्य सन् 2000 तक की अवधारणा पूरी तरह ध्वस्त हो गई है। जहॉ कुछ रोगों के निदान चिकित्सा एवं शल्य चिकित्सा की आधुनिक विधाओं में आशातीत सफलता मिली है वहीं हिपेटाईटिस, मधुमेह एड्स, क्षयरोग' हृदय रोगों का प्रतिशत बडी तेजी से बढा है। इन रोगियों की बढती संख्या एवं इन रोगों के निदान एवं चिकित्सा के बढते मूल्यों के कारण पुनः अन्य विकल्प ढूढने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

इस स्थिति में रोग प्रतिषेधात्मक उपाय एवं रोग निवारणात्मक उपाय के रूप मुें आयुर्वेद की पंचकर्म चिकित्सा अत्यन्त लाभकारी है।

संशोधन एवं संशमन चिकित्सा हेतु वमन, विरेचन, अनुवासन, निरूह एवं नस्य का प्रयोग किया जाता है। आज भारत वर्ष के विभिन्न भागों में पंचकर्म चिकित्सा के द्वारा हजारों रोगियों की सफल चिकित्सा की जा रही है।

आयुर्वेदीय शल्यतंत्र में अन्य पूर्वोक्त चार कर्मो के साथ रक्त मोक्षण का निर्देश किया गया है। जैसे वस्ति चिकित्सा को काय चिकित्सा में चिकित्सार्थ कहा गया है। उसी प्रकार रक्त मोक्षण को शल्य चिकित्सा को विचकित्सार्थ कहा जाता है। सुश्रत संहिता, शल्य विषयक ग्रंथ है, इसमें मुख्यतया व्रण, भग्न, अर्बुद, भगन्दर, अर्श, गलगण्ड, उदररोग, अश्मरी आदि रोगों का विशद वर्णन मिलता है। इसके बावजूद महर्षि सुश्रुत ने स्नेहन, स्वेदन, श्वमन, विरेचन, अनुवासन, आरस्थापन, नस्य, सिरामोक्षण को पर्याप्त महत्व किया क्योंकि उपरोक्त उपक्रमों का वर्णन, द्विव्रणीय चिकित्सा अध्याय के अन्तर्गत वर्णित, षष्टिउपक्रमों में तो किया ही गया है। इसके

अतिरिक्त पृथक–पृथक अध्यायों में भी इनका विस्तृत वर्णन किया गया है। आयुर्वेद के प्रयोजन के सन्दर्भ में महर्षि सुश्रुत का विचार, पूर्ववर्ती एवं समकालीन विद्वानों से भिन्न है इह खल्वायुर्वेद प्रयोजन–व्याध्युपसृष्टानां व्याधि परिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च।। सु.सू.1/14 आपके अनुसार व्याधि से ग्रस्त व्यक्तियों के रोगों को दूर करना, और स्वस्थ की रक्षा करना, आयुर्वेद का प्रयोजन है।

व्यवहारिक रूप में चिकित्सा कर्म की दृष्टि से देखा जाए तो महर्षि सुश्रुत द्वारा वर्णित प्रयोजन अधिक सटीक प्रतीत होता है। विशेषकर शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में आयुर्वेद, चिकित्सा का प्रथम प्रयोजन रोगी के रोग की निवृत्ति करना ही है। इसके साथ ही यदि 'स्वस्थस्य रक्षणं' का संदर्भ देखें तो रोगी व्यक्ति के व्याधि परिमोक्ष के अनन्तर एवं पश्चात् उसके स्वास्थ्य की रक्षा से भी इसका बोध किया जा सकता है। क्योंकि प्रतिदिन की चिकित्सा में शल्य कर्म के अनन्तर एवं शल्यकर्मोपरान्त रोगी व्यक्ति/चिकित्साधीन पुरूष के स्वास्थ्य संरक्षण की भी महती आवश्यकता होती है। इसी पर व्याधि परिमोक्ष की सपफलता निर्भर होती है।

शल्य तंत्र की त्रिलक्षण परिभाषा अद्वितीय है। इसके अनुसार (अ) विभिन्न शल्यों के निर्हरण हेतु (ब) यंत्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि के प्रयोग के लिए एवं (स) व्रण विनिश्चय के लिए शल्य तंत्र का विधान है। परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से औषध द्वारा ठीक न हो सकने वाली व्याधियों आत्यायिक तथा आगन्तुज/आघातज व्याधियों की चिकित्सा शल्य तंत्र द्वारा की जाती है। शल्य तंत्र के प्रसिद्ध ग्रंथ सुश्रुत संहिता में, सभी व्याधियों की सद्यः चिकित्सा/उपक्रम वर्णित है।

इसी संदर्भ में यह बात विचारणीय है कि शल्य तंत्र प्रधान तंत्र सुश्रुत संहिता में पंचकर्म चिकित्सा का समावेश क्या मात्र काय चिकित्सा से सम्बन्धित रोगों के निवारणार्थ ही किया गया है? अथवा पंचकर्म का शल्य कर्म साध्य रोगो में भी उपयोग संभव है। इसी दृष्टि से सम्पूर्ण सुश्रुत संहिता का अनुशीलन करने का अकिंचन प्रयास किया गया है। इस अध्ययन के अनन्तर अन्य ग्रन्थों में वर्णित पंचकर्म के मूल उद्देश्य को भी ध्यान में रखकर वर्तमान समय में उसकी उपादयेता को समझने का भी प्रयत्न किया गया है।

स्नेहन एवं स्वेदन को यूं तो पंचकर्म के पूर्व कर्म के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु अनेक वात व्याधि, संधि, अस्थि, स्नायु रोगों तथा अन्य आघातज रोगो में वेदना, शोथ के शीघ्र शमनार्थ स्नेहन, स्वेदन का प्रभावकारी रूप से प्रयोग किया जाता है।

वमन एवं विरेचन से साध्य रोगों में कफज एवं पित्तज व्याधियाँ आती है। चरक सहिता के सूत्र स्थान बीसवें अध्याय महारोगाध्याय में महर्षि चरक ने वात के 80 नानात्मज विकारों का वर्णन किया है जिनमें 1. नखभेद, 2. विपादिका, 3. पादशूल, 4. पादभ्रंश, 5. पादसुप्तता, 6. वातखुड्डता, 7. गुल्फग्रह, 8. पिडिकोद्वेष्टन, 9. गृध्रसी, 10. जानुभेद, 11. जानुविश्लेष, 12, उरूस्तम्भ, 13. उरूसाद, 14. पांगुल्य, 15. गुदभ्रंश, 16. गुदाप्रदेश में वेदना, 19. वृषणोत्क्षेप, 18. शेफः, स्तम्भ 19. वंक्षणानाह, 20. श्रोणिभेद, 21. विड्.भेद, 22. उदावर्त, 23.खजता, 24. कुब्जत्व, 25. वामनत्व, 26. त्रिकभेद, पृष्ठग्रह, 27. पार्श्वावमर्द, 28. उदरावेष्ट, 29 हृन्मोह, 30 हृद्रव, 31 वक्षोद्वर्य,

32 वक्षापरोध, 33 वक्षस्तोद, 34 वायुशोष, 35 ग्रीवा स्तम्भ, 36 मन्यास्तम्भ, 37 कण्ठेद्ध्वंस, 38 हनुभेद, 39 ओष्ठभेद, 40 अक्षिभेद, 41 दन्तभेद, 42 दन्तशैथिल्य, 43 मूकत्व, 44 वाक्संग, 45 कषायास्यता, 46 मुखशौष, 47 अरसज्ञता, 48 ध्राणनाश, 49 कर्णशूल, 50 अशब्दश्रवण, 51 उच्चैश्रुति, 52 वाधिर्य, 53. वर्त्मस्तम्भ, 54. वर्त्मसंकोच, 55 तिमिर, 56 नेत्रशूल, 57. अक्षिव्युदास, 58. भ्रूव्युदास, 59. शंखभेद, 60. ललाटभेद, 61. शिरःशूल, 62. केशभूमिस्फुटन, 63. अर्दित,64. एकांग रोग, 65. सर्वाङ्ग रोग, 66. आक्षेपक, 67 दण्डक, 68. तम, 69. भ्रम, 70. वेपथु, 71. जृम्भा, 72. हिक्का, 73. विषाद, 74. अतिप्रलाप, 75. रौक्ष्य रूक्षता, 76. परूषता, 77. श्याव भासता, 78. अरूण भासता, 79. अस्वप्न, 80. अनवस्थित चित्त, सम्मिलित हैं। वायु के द्वारा उत्पन्न निम्न विशिष्ट लक्षणों को देखकर वातदोष प्रधानन्य/ वैगुण्य का निश्चयात्मक निदान हो जाता है यथा रूक्षता, शीतलता, लघुता, विशदता, गति, अमूर्तता इन उपरोक्त गुणों से वायु शरीर के विभिन्न अंगों में (1) स्त्रांशन, (2) भ्रंश (3) व्यास, (4) संग, (5) भेद, (6) साद, (7) हर्ष, (8) कम्प, (9) वर्त, (10) चाल, (11) तोद, (12) व्यथा, (13) चेष्ठा, (14) खर, (15) परूष, (16) विशद, (17) सुषिर, (18) अरूणवर्ण, (19) कषाय, (20) विरसमुखत्व, (21) शोष, (22) सुप्ति, (23) संकोच, (24) स्तम्भन, (25) खंजत्व आदि वायु के कर्म हैं इस प्रकार के लक्षण वात विगुणता/प्रकोप को प्रदर्शित करते हैं।

महर्षि चरक के अनुसार विकृत वात की चिकित्सा मधुर अम्ल, लवण रसों द्वारा निर्मित, स्निग्ध एवं ऊष्ण वीर्ययुक्त स्नेह एवं स्वेद, आस्थापन वस्ति, अनुवासन वस्ति, नस्य कर्म, भोजन, अभ्यंग, उत्सादन, परिषेक आद वातनाशक उपायों द्वारा मात्रा एवं काल का विचार कर करनी चाहिये। इसी प्रकार चालीस प्रकार के पित्त रोगों की चिकित्सा मधुर, तिक्त, कषाय रस युक्त, शीतवीर्य स्नेह, विरेचन, प्रदेह, परिषेक, अभ्यंग अवगाह आदि पित्तनाशक उपायों द्वारा मात्रा और काल का विचार करके करनी चाहिये। बीस प्रकार के कफज रोगों की चिकित्सा हेतु कटु, तिक्त, कषाय, रस युक्त, तीक्ष्ण, ऊष्ण, रूक्ष, स्वेदन वमन, शिरोविरेचन और व्यायाम आदि कफनाशक उपायों द्वारा मात्रा एवं काल का विचार कर चिकित्सा का निर्देश किया गया है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि विशेष रूप से 80 प्रकार के वात रोगों में वेदना, भ्रंश आदि लक्षण आत्यायिक रोगों के सूचक होते हैं। अस्सी प्रकार के वात रोगों का वर्तमान सन्दर्भ में विवेचन करने से ज्ञात होता है कि अधिकांश वातरोग, स्नायु, अस्थि, संधि एवं तंत्रिका तंत्र से सम्बन्धित रोग होते है।

शस्त्र साध्य व्याधियों की चिकित्सा में पंचकर्म का क्या योगदान हो सकता है? यह एक विचारणीय प्रश्न है, क्योंकि यह एक आम धारणा है कि पंचकर्म, काय चिकित्सा का मुख्य अंग है तथा शल्य विषयक रोगों में पंचकर्म की भूमिका अति संक्षिप्त है परन्तु यह तर्क नितान्त गलत है क्योंकि अधोकायिक व्रण, आधातज अर्धा पक्षवध पौरुष ग्रंथि वृद्धि मूत्राावरोध, वस्थिकुण्डल, भगन्दर/अर्श आदि गुद रोग, भग्न एवं भग्न संधानोपरान्त होने वाली विकृतियों में पंचकर्म एवं योग चिकित्सा के द्वारा अत्यंत चमत्कारी लाभ होता है यह विभिन्न शोध कार्यों से स्पष्ट हो चुका है। आवश्यकता है कि पंचकर्म चिकित्सा के शल्यतंत्रा में योग दान को प्रचारित एवं प्रसारित

किया जाये जिससे कि अधिक से अधिक शस्त्रा साध्य रोगों को इसके द्वारा ठीक किया जा सके।

प्रत्येक शल्य चिकित्सक को 'शस्त्रा शास्त्रा व्याधि एवं पंचकर्म' के सन्दर्भ में महर्षि सुश्रुत का यह कथन सर्वदा याद रखना चाहिए।

द्विविधास्तु व्याधयः शस्त्र साध्याः, स्नेहादि क्रिया साध्याश्चोत तत्र शस्त्र साध्येषु स्नेहादिक्रिया न प्रतिषिध्यते। स्नेहादि क्रिया साध्येषु शस्त्र कर्म न क्रियते।। ;सु0 सू0 24/3

महर्षि सुश्रुत के अनुसार व्याधि दो प्रकार की होती हैं– शस्त्र साध्य और स्नेहादि क्रिया पंचकर्म 'साध्य' शस्त्र साध्य व्याधियों में स्नेहादि क्रिया पंचकर्म का प्रतिषेध, निषेध नहीं है। पर स्नेहादि क्रिया साध्य व्याधियों में शस्त्र कर्म नहीं किया जाता है।

Role of vyapti in Inference

(With Rererence to Nyaya)

Dr. U.S. Bist
Reader, Dept.of Philosophy
G.K.U. Haridwar

In the Nyaya system inference is defined as a dnowledge arising from परामर्श (परामर्श जन्य ज्ञानं). Paramarsa is defined as the knowledge of the characteristics of पक्ष qualified by Vyapti (व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मताज्ञानं), Therefore inference is the knowleege arising out of another knowledge. In this sense inference in relational and in this relation परामर्श precedes anumana. Therefore परामर्श is the cause of anumana, because Paramars acts (व्यापार) in order to produce inferential knowledge.

The व्यापार of Paramarsa is a special kind of mental activity. Nyaya says that the speciality of this activity consists in the knowledge of Vyapti and relating this Vyapti to the special characteristic of पक्ष. Th erefore Paramarsa is also a complex knowledge.It consists of three simpler elements viz the knowledge of Vyapti, knowledge of special characteristic of पक्ष, and the knowledge of their relation, Each one of these three elements separately can not give us inferential knowledge. Only when they are united in the knowledge of परामर्श than परामर्श yields inference. Paramars thus has a unifying role and therefore a necessary final step to inference.

We have seen that in परामर्श the first and fore-most element in the knowledge of Vyapti, is the knowledge of Vyapti. Though Vyapti itself is neither inference nor is it a direct cause of inrerence, yet no inference is pissible without Vyapti. So in the language of leibnitz "Vypati is a necessary but not the sufficient condition of inference."

Vyapti has been defined by Nyaya as "the absence of the erlation of a hetu with a place where sadhya does not esist. (साध्यवदन्यस्मिन् असमन्धः).In the case of inference of fire from smoke, smoke is the getu, fire is sadhys, In order to have Vyapti vetween smoke and fire we ahall have to find out all those instances where the two exist together. But these instances are too many to be exhaustively enumerated. Therefore, the easier method would be to look for even a single instance where the hetu may possibly exist without sadya. This one instance if discovered would be sufficient to show that no sage inference can be obtained from a sadhya of this kind. Hence, Vyapti has been defined in a negative way, emphasizing the absence of the possibility of a hetu existing in a place where sadhya does not exist. For example, the sadhya i.e. fire exists in places like kitchen, but it does not exist in a pond. If a getu i.e. smoke were to be found esisting in a pond where the saghya does not exist then there could never have been the Vyapti vetween smoke and fire. But the fact in that actually smoke does not exist in a pond or similar other places where fire does not exist. Therefore there is Vyapti between smoke and fire accrding to this definition.

In case of attempted inference of smoke as sadhya and fire as a hetu, the relation of Vyapti does not exist, because the hetu i.e. fire is found existing in a fire ball where saghya i.e. smoke is not existing.

According to this definition, Nyaya does not seek to establish relationship between a saghya and a hetu. The relationship between the two is already existing in the world of nature, The natural erlation does not lead to inference automatically unless this natural relation is comprehended in a conceptual scheme. The erlation between smoke and fire is in the world of nature called causal relation, This causal relation has to be shown in the form of a genetal rule i.e. where there is a smoke there is a fire. This general rule itself is not a statement of causal erlation. Therefore we can't find this general rule in a relation between two things. Therefore, The instances satisfying the general rule are to ve discovered in places where sadhya and hetu are found existing together. Hence, in the definition of vyapti the emphasis is on the place where the two are found together and not on their own direct relation.

Another point is to be noted in this connection is that the Vyapti is not a matter of relation between two particular things. Here we deal with the whole class e.g. the class of fire snd the class of smoke. Thus when we talk of the existence of two things together at one place we should mean the existence of all the existence of two things together at one place we should mean the existence of all the things belonging to one class separately. Similarly the relation of a sadhya to the place should be identified with the relation of a hetu to the same place. This means that the inference is based on the uniformity of relations.

The definition of Vyapti given above is defective because when it says negatively that the hetu should not have a relation with a place, where the sadhya is absent, implies the necessary possivility of the absence of sadhya. In case a sadhya by nature is such that it can never be found absent e.g. knowability then no vyapti can be established in respect of sudh a sadhya. Therefore in order to remowe this defect, the Nyaya proposes a second definition of Vyapti. This second definition is not substantially different from the first definition. It is only a reformulation of the first. The second definition is that a-hetu should exist in the same place along with such a sadhya which is not found absent from a place where it (hetu) exists. In this definition the sadhya has been qualified by the absence of its own absence from a place where the hetu exists. Anything whether it is a limited class like the class of fire or the infinite class like the class of knowables will be qualified by the absence of its absence. The absebce of its absence being a double negation implies identity. This means like th Buddhist concept of apoha (अपोह) it identifies with itself. Therefore in plain language, the defination simply means that the sadhya should not be absent from a place where the hetu exists. This has been stated as व्यापक सामानाधिकरण्यं व्यापप्ति:। A hetu must be co-existing with sadhya.

In the second definition it is not necessary that the sadhya should be found actually absent. But in the first definition the actual existence of sadhya was implied. It is also to be voted that in the second difinition the absence of the sadhta should be in the same place. It has to be the absence in a place other than the place where sadhya and hetu are found co-existing. Therefore one contact and also not to be in contact with a monkey. because one part of that tree may not be in contract with monkey when the monkey is sitting on another part.

The Nyaya definition of Vyapti as given above is an attempt to specify all those instances where the sadhya and the hetu are found existing together. This definition therefore does not say that the sadhya and the hetu are themsilves related. Since the relation between sadhya and tetu acdording to Nyaya may be of different types like समवाय, संयोग, विशेष्झणता, प्रकारता etc, these relations are incapable of making ang general rule, helpgul for inference. Therefore Nyaya conscentrates on defining the Adhisaran (अधिकरण) which will illustrate the general rule of co-existence. This means that according to Nyaya, there is always the posibility of variation between sadhya and hetu. It only insures that the insstances generalized under Vyapti or such that as a matter of rule, sadhya & hetu are found co-existing.

From such a Vyapti one can not draw any necessaty conclusion about the relationship between sadhya and a hetu. If there is for example Vyapti vetween smoke and fire one can not infer that there is a causal relation between the two, In Buddhism the case is different. There the concepts of sadhya and hetu have to be inter-related. Any inference drawn from thes inter-erlation carries with it the necesscity implicit in the conceptual relation. In Nyaya this is not possible. But at the same time the scope for inference in Buddhism is licoted only to the conceptual relationship, so inference has a limited scope but the Nyaya by insisting os adhikaran offers unlimited possigility of the co-presence of sadhya and hetu which themselves need not be related at all. When thes Vyapti is remembered and the characteristics of पक्ष are known and these two are combined in a single knowledge then we have परामर्श which leads to a new knowledge called (anumans) inference.

REFERENCES

1. Potter, Karl H. - Encyclopedia of Indian Philosophies, Motilal Banarasidas, Delhi.
2. Bhattacharya, J.V.- Tr. Jayanta Bhatt's Nyaya Manjari,
3. Commentary on Vyapti Panchak - V.N. Giri, K.N. Prakashan
4. Raju P.T. - Struptural Depth of Indian thought

1. परामर्श जन्य ज्ञानम्।
2. व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञानम्।
3. साध्यवदन्यस्मिन् असमन्धः।

SAT, ASAT AND MITHYA IN ADVAITA VEDANT

Dr. Hansi
Dept. of Philosophy
S.P.M. College for Women,
University of Delhi
New Delhi

The concept of mithya plays a very significant role in the Advait Vedantic epistemology and metaphysics. In the Vedantic metaphysics, the Ultimate Reality is शुद्ध चैतन्य. It is pure uniting consciousness. But in our empirical cognitions we never experience pure consciousness or शुद्ध चैतन्य. Instead what we experience is the (उपहित चैतन्य) Conditioned Conciousness in the form of विषय चैतन्य, प्रमातृत्व चैतन्य and (प्रमाण चैतन्य). Now the question arises as to how instead of experiencing the, शुद्ध चैतन्य we experience the उपहित चैतन्यं. Answers given by advait vedantins is that this is due to (अध्यास) super impsoition. Because of अध्यास the unitary is experienced as multiple. The शुद्ध चैतन्य is experienced as the उपहित चैतन्य. However शुद्ध चैतन्य alone is sat and the उपहित चैतन्य is neither sat nor asat but mithya. Epistemologically the consideration of mithya is significant because all presentational cognitions are not true (यथार्थ) and non-contradictory (अवाधित). Some presentational cognitions are यथार्थ and अवाधित and they are known as प्रत्यक्ष. But there are some presentational cognitions which are अयथार्थ and बाधित. They are not pratyakah (प्रत्यक्ष) but illusion (भ्रम) just like the experience of snake in a rope. which is called mithya.

In order to understand the concept of mithya it is desirable to distinguish it form both Sat and asat, Sat is that which is eternal, non-substantiable and never falsifiable. Asat is that which is absolutely non-existant, which is always false and which can never be experienced. The उपहित चैतन्य as the experience of snake in a rope is neither sat nor asat in the above mentioned ways. It is other than asat and also other than sat and therefore it is regarded as mithya.

Mithya is a complex concept. It stands for that which is in a way sat and in a way asat or which is in a way diferent from sat and asat. The entire world and wordly experiences are characterized as mithya in the advait Vedanta. This मिथ्यात्त्व does not at all mean falsity but only phenominality.

It can be asked as to how the शुद्ध चैतन्य is mistaken as उपहित चैतन्य or in other words how the mithya is experienced as sat ? To answer this the advait Vedantins analyse the nature or process of अध्यास. Like प्रत्यक्ष in अध्यास also there is some object. Some substratum of experience. In प्रत्यक्ष there is an identification between the प्रमाण चैतन्य and the real object. But in अध्यास there is no such identification between the pramana चैतन्य and the really given object. Instead an imagined or hypothetised object is projected over the really present and really existent object. This happens because of the pre-pondering role of memory. For example when we mistake the rope as a snake it is due to strong memory impressions.

There is identification of प्रमाण चैतन्य not with the real object (rope) but with the hypothesied object snake that is why such an experience is not प्रत्यक्ष but mithya.

Both प्रत्यक्ष and mithya are one thing in common and that is presentativeness (साक्षात्कारित्व). But the point of difference between the two is that प्रत्यक्ष is अबाधित whereas mithya is बाधित. Sooner or later the mithya jnyana is contradicted and replaced by यथार्थ ज्ञान. With the help of the concept of mithya the advait Vedantins explain the phenominality of the worldly experiences and there by establish the ultimate nature of reality which is pure unconditioned consciousness. Thus the concept of mithya has epestimic as well as ontological significance.

REFERENCE

Sadanand Yogi's Vedantsar.

इतिहास विज्ञान है, न कम और न अधिक

डॉ0 दीपा गुप्ता
एम.ए.,एम.फिल.,पी.एच.डी.
प्रवक्ता प्राचीन मा.इ.सं. एवं
पुरातत्व, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय
हरिद्वार

''ट्रेवेलियन'' के अनुसार – विज्ञान ने मानव जाति के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में परिवर्तन कर शिक्षित समाज के धार्मिक एवं अंतरिक्ष संबंधी दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन किया है। भौतिक विज्ञान की आश्चर्यजनक उपलब्धियों ने अर्धशताब्दी पूर्व अनेक इतिहासकारों को विचार–विमर्श के लिए बाध्य किया कि अन्य विधियों का परित्याग कर इतिहास को वैज्ञानिक उपादानों से परिष्कृत किया जाए तथा उसके अध्ययन में वैज्ञानिक विधियों तथा आदर्शों का प्रयोग किया जाए तो निश्चय ही इतिहास की उपयोगिता एवं महत्व में वृद्धि होगी[1] इस प्रकार आधुनिक विज्ञान की आश्चर्यजनक उपलब्धियों ने इतिहासकारों को विवश कर दिया कि वे इतिहास को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने के विषय में सोचें। यूरोप के अधिकांश देशों तथा विशेषकर जर्मनी के इतिहासकारों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ।

इंग्लैंड में सर्वप्रथम प्रो0 जे0बी0 यूरी ने सन् 1903 ई0 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के सत्रारम्भ के अवसर पर अपने अभिभाषण में कहा था कि इतिहास विज्ञान हैं न कम और न अधिक कारण बतलाते हुए उन्होंने पुनः कहा था कि जब तक इतिहास को कला मात्र स्वीकार किया जायेगा, तब तक उसमें यथार्थता एवं सूक्ष्मता का समावेश गंभीरतापूर्वक नहीं हो सकेगा। ''आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय'' के प्रो0 यार्क पाँवेल ने भी ब्यूरी के मत का समर्थन किया है[2]। इतिहास संबंधी वैज्ञानिक अवधारणा उन्नीसवीं सदी की देन हैं।

विज्ञान का अर्थ – आधुनिक युग में विज्ञान शब्द का प्रयोग सर्वाधिक प्रचलित हैं। क्योंकि उसने मानव जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया हैं। विज्ञान अंग्रेजी शब्द 'साइंस' का हिन्दी रूपान्तरण हैं। यह लैटिन भाषा साइन्टिया से बना है, जिसका अर्थ बोधगम्य नियमों से हैं। विज्ञान शब्द दो शब्दों के मेल से बना हैं– वि+ज्ञान वि का अर्थ विशिष्ट तथा ज्ञान का अभिप्राय जानकारी से हैं। कार्ल पियर्सन का अभिमत है कि तथ्यों का वर्गीकरण,उनके क्रमों की स्वीकारोक्ति तथा सापेक्षिक महत्व को जानना ही विज्ञान हैं[3]। कोहन तथा नागल के अनुसार मानवीय मस्तिष्क की शंकाओं को दूर करके स्थिर विश्वासों को जन्म देना ही विज्ञान हैं[4]। विज्ञान की कुछ स्पष्ट विशेषतायें हैं –

1. विज्ञान तथ्यात्मक हैं।
2. विज्ञान कार्य कारण संबधों की गवेषणा करता हैं।

3. विज्ञान सार्वभौमिक होता हैं।
4. विज्ञान प्रामाणिक होता हैं।
5. विज्ञान भविष्यवाणी करता हैं।

इन तथ्यों के समष्टि स्वरूप से विशिष्ट विज्ञान का उद्‌भव होता है। क्या इतिहास में उपुर्युक्त विशेषताओं का समन्वय हैं। अथवा नहीं, यह विषय विद्वानों के बीच गंभीर चर्चा तथा विवाद का विषय बना हुआ हैं। इतिहास के वैज्ञानिक स्वरूप के संबंध में दो परस्पर विरोधी अवधारणायें हैं।

1. इतिहास विज्ञान नहीं हैं
2. इतिहास विज्ञान हैं।

इन दोनों ही विचार धाराओं का सूक्ष्मतापूर्वक विस्तृत विवेचन निम्नाकिंत है –

1. **इतिहास विज्ञान नहीं है** – अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इतिहास को विज्ञान के समकक्ष रखना कठिन है। 'ब्ल्यूक' के अनुसार इतिहास विज्ञान नहीं हो सकता[5]।

विवादग्रस्त विषयों का संतोष जनक समाधान ढूँढ़ने के लिए वैज्ञानिकों की अपनी निश्चित विधियाँ एवं नियम हैं। जबकि इतिहास संबंधी समस्याओं के समाधान के लिए निशिचित नियमों एवं विधियों का निर्धारण अभी तक नहीं किया जा सका है। विज्ञान में एक सुनिश्चित अवधारणा हैं। जबकि इतिहास में सुनिश्चित अवधारणा का स्पष्ट अभाव दिखाई देता हैं[6]।

जेम्स वी. कोनेट ने लिखा है कि इतिहास को विज्ञान इसीलिए भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें तथ्यों के अन्वेषण के लिए क्रमबद्ध तथा निश्चित नियमों का अभाव है[7]।

बंकल के अनुसार गणितज्ञों, भौतिकशास्त्रियों, रसायन शास्त्रियों की मानसिक क्षमता की अपेक्षा इतिहासकारों में क्षमता का स्पष्ट अभाव दिखता हैं। गैलिलियों तथा न्यूटन जैसे प्रतिभावान वैज्ञानिकों से विज्ञान क्षितिज सुशोभित हैं। यदि ऐसे ही प्रतिभावान इतिहासकार हुए तो इतिहास को विज्ञान की श्रेणी में रखना संभव है अथवा नहीं[8]।

आज तक इतिहास में विज्ञान की भांति सार्वभौमिक नियम नहीं बनाये जा सके, जो सभी देशों युगों तथा परिस्थितियों में कार्यान्वित किये जा सकें।

इतिहास विज्ञान इसीलिए भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि विज्ञान में हम प्रकृति का अध्ययन करते हैं जब कि इतिहास में मनुष्य के क्रिया–कलापों का दोनों की अध्ययन प्रवृत्ति में मूल भूत अन्तर है।

इतिहास विज्ञान इसीलिए भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि इतिहास में तो इतिहासकार

कल्पना का प्रयोग करके घटनाओं या स्थितियों का पुर्ननिर्माण करता हैं। जबकि विज्ञान में काल्पनिकता का कोई स्थान नहीं हैं। विज्ञान में तो ठोस तथ्यों के आधार पर ही वैज्ञानिक पूर्णतः निर्भर होता है। वैज्ञानिक और इतिहासकार में यही अन्तर हैं।

इतिहासकारों के लिए सिद्धान्तों तथा नियमों में आस्था अपशब्द के समान हैं। परन्तु वैज्ञानिक सामान्य नियमों में विकास किये बिना एक क्षण भी कार्य नहीं कर सकता है[9]।

ट्रेवोलियन के अनुसार – इतिहास को विज्ञान स्वीकारना नितान्त असंभव है क्योंकि विज्ञान में जैसे – एक धातु संबंधी निष्कर्ष सार्वभौमिक होता है। इसी प्रकार जीव संबंधी निष्कर्ष का स्वरूप भी सार्वभौमिक होता है जबकि इतिहास में एक व्यक्ति संबंधी निष्कर्ष सभी व्यक्तियों के संबंध में सार्वभौमिक नहीं होता है[10]।

विज्ञान किसी भी वस्तु का एक क्रमबद्ध ज्ञान हैं। जबकि इतिहास में इसका अभाव है। क्रमबद्धता के कारण विज्ञान वर्ग विशेष कां ज्ञान प्रदान करता हैं, जबकि इतिहास में किसी व्यक्ति विशेष अथवा घटना विशेष का अध्ययन होता है[11]।

'रेनियर' ने भी इतिहास को विज्ञान स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट की हैं। एक वैज्ञानिक के लिए प्रयोगशाला, दूरवीक्षक तथा सूक्ष्मवीक्षक यंत्रों का प्रयोग आवश्यक हैं। निष्कर्ष की उद्घोषणा के पहले वह अपने निष्कर्ष को बार–बार यथार्थता की कसौटी पर पर खरा हैं। उसे भय रहता है कि अन्य वैज्ञानिक उसके निष्कर्ष का पुर्ननिरीक्षण करेंगे। जबकि एक इतिहासकार के लिए समय तथा स्थान का प्रतिबंध नहीं होता है। वह अपने निष्कर्ष की उद्घोषणा के समय पूर्ण आश्वस्त रहता है कि उसके प्रस्तुतीकरण का पुर्नमूल्याकंन कई पीढ़ियों तक कोई नहीं करेगा। इतिहास तथा विज्ञान में इस अन्तर को देखते हुए इतिहास को विज्ञान स्वीकार करना हास्यास्पद हैं[12]।

डिल्थे की दृष्टि में इतिहास ज्ञान का एक अनुभव है। जबकि विज्ञान बाह्य तथ्यों का सूक्ष्म दर्शन है[13]।

प्रो0 वाल्श ने इतिहास को विज्ञान स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ प्रस्तुत की हैं। इनके निवारण के पश्चात् ही इतिहास को विज्ञान स्वीकार करना विचारणीय होगा–

1. विज्ञान में सामान्यीकरण्स होता हैं। इतिहास में इसका अभाव है।
2. वैज्ञानिक भविष्यवाणी करने में समर्थ होता है। इतिहासकार भविष्यवक्ता नहीं हो सकता।
3. विज्ञान में किसी भी वस्तु का क्रमबद्ध ज्ञान है। जबकि इतिहास में इसका अभाव स्पष्ट दिखाई देता है।
4. विज्ञान में सामान्य तथ्यों का समावेश रहता है जब कि इतिहास विशेष तथ्यों का प्रस्तुतीकरण है।

5. विज्ञान शिक्षाप्रद हैं। इतिहास में इस गुण का अभाव है।

6. विज्ञान तथ्यों पर आधारित वस्तुनिष्ठ होता हैं जब कि इतिहास का स्वरूप विषयनिष्ठ होता है।

7. इतिहास में धर्म तथा नैतिकता के लिए स्थान होता है, विज्ञान में जबकि धर्म तथा नैतिकता का कोई महत्व नहीं हैं।

उपर्युक्त कठिनाइयों के संतोषजनक समाधान के पश्चात् ही इतिहास को विज्ञान स्वीकार किया जा सकता हैं।

2. **इतिहास विज्ञान है** – जैसा कि प्रो0 जे0बी0 ब्यूरी का कथन है कि इतिहास विज्ञान है न कम और न अधिक सो उन्होंने इतिहास को विज्ञान के समकक्ष स्वीकार किया है। अपने विचार के समर्थन में उन्होंने कतिपय तथ्य प्रस्तुत किये हैं। जिनका वर्णन अग्रलिखित है :–

1. **इतिहास सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध ज्ञान** – प्रो0 बाल्श के अनुसार इतिहास एक वैज्ञानिक अध्ययन है। इतिहासकार प्रस्तावित विषयों का निष्कर्ष सामान्य नियम एवं साक्ष्य पर आधारित नवीन विधियों द्वारा निकलता है। परिणाम स्वरूप अन्य विषयों की भांति इतिहास अध्ययन के अपने नियम तथा विधियाँ है। ऐतिहासिक चिंतन की तुलना वैज्ञानिक चिंतन से की जा सकती है। ए0एल0 राउज ने इस तर्क का समर्थन किया है कि विज्ञान की भांति इतिहास में वस्तुनिष्ठ यथार्थता का अन्वेषण क्रमबद्ध विधियों एवं नियमों के माध्यम से किया जाता हैं। अतः इतिहास भी एक सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध विज्ञान हैं[15]।

2. **इतिहास और विज्ञान एक दूसरे के पूरक** – डिलो ने स्पष्ट कहा है कि विज्ञान प्रकृति का तथा इतिहास मनुष्य का अध्ययन है[16]। सर जान मायर्स के अनुसार प्रकृति तथा मनुष्य का संबंध इतना घनिष्ठ है कि एक दूसरे से दोनों को अलग नहीं किया जा सकता है[17]। क्योंकि प्रकृति के परिवेश में ही मानवीय कार्यों एवं उपलब्धियों का अध्ययन इतिहास में होता है। मनुष्य हमेशा प्रकृति, भौगोलिक परिस्थिति तथा वातावरण के अनुसार ही कार्य करता है। सो मनुष्य प्रकृति से अभीष्ट रूप से जुड़ा हुआ है इसीलिए यह कथन बिलकुल सत्य है कि इतिहास और विज्ञान एक दूसरे के पूरक है।

3. **इतिहास शिक्षाप्रद है** – इतिहास भी विज्ञान की भांति शिक्षाप्रद है। इसीलिए अनेक विद्वानों ने इतिहास को विज्ञान स्वीकार किया हैं। बेकन के अनुसार इतिहास मनुष्य को बुद्धिमान बनाता हैं[18]। एक कहावत है कि गधा एक बार पत्थर पर चोट खाकर पुनः उस पर लात नही मारता हैं चार्ल्स फर्थ ने भी इस तथ्य को पुष्टि की है कि इतिहास विज्ञान की भांति उपयोगी एक शिक्षाप्रद हैं। इसके अनुसार इतिहास एक प्रकार का ऐसा ज्ञान हैं, जो मनुष्य के जीवन को प्रकाशित कर उसके लिए एक सुखद एवं सुन्दर उज्जवल भविष्य का निर्माण करता हैं। क्योंकि मनुष्य इतिहास के अतीत के उदाहरणों से शिक्षा प्राप्त कर अपने वर्तमान को प्रकाशित करता

है तथा भविष्य के प्रति सचेत हो जाता है तथा एक सुखदमय भविष्य का निर्माण करता हैं। इतिहास दूसरे शब्दों में मनुष्य के भविष्य का पूर्णतः दिशा निर्देशक होता है[20]। अतः स्पष्ट है कि इतिहास भी विज्ञान की भांति उपयोगी एवं शिक्षाप्रद हैं।

4. **इतिहास में भविष्यवाणी** – कतिपय विद्वानों की अवधारणा है कि वैज्ञानिक भविष्य वक्ता होता है और इतिहासकार भावी घटनाओं के संबंध में भविष्यवाणी करने में असमर्थ होता हैं। जैसा कि ई0 एच0 कार तथा शेकअली का मन्तव्य है कि इतिहासकार को भविष्यवक्ता के रूप में देखना तथा उससे भविष्यवाणी की अपेक्षा करना एक महान् भूल हैं[21]। प्रो0 वाल्श ने भी इस तर्क का समर्थन किया हैं[22]। लेकिन कतिपय इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि एक वैज्ञानिक की भांति एक इतिहासकार भी भविष्यवाणी कर सकता हैं। अन्तर केवल इतना होता है कि एक वैज्ञानिक तो कहता है कि अमुक तिथि समय स्थान पर इतने बजकर इतने मिनट पर सूर्यग्रहण या चन्द्र ग्रहण होगा, जबकि एक इतिहासकार सामान्य रूप से भविष्यवाणी करता है, उसकी भविष्य वाणी में सूक्ष्मता का पुट दिखाई देता हैं। एक वैज्ञानिक की भांति वह यह भविष्यवाणी नहीं कर सकता हैकि अमुक तिथि समय स्थान पर यह क्रांति होगी। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वैज्ञानिक की भांति इतिहासकार भी भविष्यवक्ता होता है या वह भी भविष्यवाणी कर सकता है।

5. **इतिहास में सामान्यीकरण** – प्रो0 ई0एच0 कार के अनुसार इतिहास को सामान्यीकरण के सिद्धान्त से अलग करना मूर्खता है। इतिहास में भी सामान्यीकरण का तत्व विद्यमान रहता है। इतिहास सामान्यीकरण पर आधारित और विकसित होता है[23]। एल्टन ने भी सामान्यीकरण को इतिहास का एक अभिन्न अंग स्वीकार किया है[24]।

जैसे कि कहा जाता है कि विज्ञान में निष्कर्ष एक सामान्य निष्कर्ष के रूप में रहता है। इसी प्रकार इतिहास में भी इतिहासकार सामान्यीकरण के आधार पर ही तथ्यों की पुष्टि करता है। तथा अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। सामान्यीकरण का सिद्धान्त इतिहासकार के निष्कर्ष को पूर्णतः प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ – यह कहा जा सकता है कि फाबूर के नेतृत्व में इटली के एकीकरण (1861 ई.) तथा विस्मार्क के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण के पश्चात् इतिहासकारों ने सामान्यीकरण सिद्धान्त के आधार पर यह कहना प्रारम्भ कियाकि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की उपेक्षा करना इतिहास की गति से टकराना होगा। इसीलिए यह कहना उचित ही है कि इतिहास में भी विज्ञान की ही भांति सामान्यीकरण तत्व विद्यमान रहता है।

निष्कर्ष – इतिहास में उपर्युक्त विशेषताओं का प्रतिरोपण करके उसे विज्ञान का स्तर प्रदान किया जा सकता है। यह कहने में कोई संदेह नहीं है कि इतिहास में भी प्रायः विज्ञान संबंधी सभी विशेषताये दृष्टिगत होती हैं। इसीलिए इतिहास को विज्ञान कहा जा सकता है। रेनियर की दृष्टि में इतिहास विज्ञान हैं, जिसका एकमात्र उद्देश्य ज्ञानार्जन है तथा इस ज्ञान की उपयोगिता को सिद्ध करना है। विज्ञान की ही भांति मानव जीवन के लिए इतिहास अत्यन्त

उपयोगी है[25]। डिल्थे ने इतिहास को विज्ञान के समकक्ष ही नहीं बल्कि विज्ञान से भी बढ़कर स्वीकार किया हैं। परन्तु प्रो0 जे0वी0 ब्यूरी ने बढ़ाने तथा घटाने की उलझनों में न पड़कर केवल इतना ही कहा है कि इतिहास विज्ञान है, न कम और न अधिक।

संदर्भ सूची :

1. ट्रेवेलिन ए0एल0 राउज द्वारा उद्धत पृष्ठ संख्या 80
2. यार्क पॉवेल राउज द्वारा उद्धत पृ. 74
3. कार्ल पियर्सन ''दि ग्रामर ऑफ सांइस'', लंदन 1911, भाग–1, पृ. 6–7
4. आर. कोहन, इ. नागल, एन इंट्रोडैक्शन टू लॉजिक एण्ड साइंटिफिक मैथड़, न्यूयार्क 1939, पृत्र 193–96.
5. पी. गार्डिनर 'हिस्ट्री ऑफ हिस्टोरिकल राइटिंग' पृ. 366
6. पी. गार्डिनर द्वारा उद्घृत–पृ. 388
7. वही पृष्ठ–369.
8. शेक अली – 'हिस्ट्री इट्स थ्योरी एण्ड मेथड 1–1978–पृ. 86.
9. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, 'इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त– पृ0 144–145
10. ट्रेवेलियन, ए.एल., राउज द्वारा उद्घृत–पृ. 80–81.
11. कलिंग वुड– 'आइडिया ऑफ हिस्ट्री इट्स पर्पज, पृ.–170
12. रेनियर, जी.आई. 'हिस्ट्रीइट्स पर्पज एण्ड मेथड्स –1950– पृ. 182.
13. कलिंग वुड आइडिया ऑफ हिस्ट्री इट्स पर्पज पर्पज' पृ.170
14. प्रो. वाल्श 'एन इन्ट्रोडक्शन टू फिलास्पी ऑफ हिस्ट्री' पृ. 37 तथा 47
15. ए.एल. राउज–पृ. 81 तथा 85
16. कलिंग वुड–आइडिया ऑफ हिस्ट्री' पृ. 180
17. राउज द्वारा उद्घृत–पृ. 85–86 / 18. राउज पृ.–10 / 19 रेनियर पृ.–19
20. राउज पृ. 18 / 21 इ.एच.आर. 'इतिहास क्या है पृ. 67 शेक अली 'हिस्ट्री इट्स थ्योरी एण्ड मेथड्स–पृ. 79 / 22 प्रो. वाल्श पृ. 45 1123 ई.एच.आर. 'इतिहास क्या है पृ. 64
24. कैम्बिज मॉर्डन हिस्ट्री भाग 1958–पृ. 20
25. रेनियर, जी.आई. 'हिस्ट्री ऑफ इट्स पर्पज एण्ड मेथड्स–1950 / पृ. 245